दर्शनशास्त्र का परिचय

जार्ज टामस व्हाइट पैट्रिक

5-5

दर्शनशास्त्र का परिचय

दर्शनशास्त्र का परिचय

संशोधित संस्करण

जार्ज टामस व्हाइट पैट्रिक
पी-एच० डी०
ऐमेरिटस प्रोफेसर
दर्शन विभाग, आयोवा विश्वविद्यालय

संशोधन सहायक
फ्रैन्क मिलर चैंपमैन
हार्वर्ड विश्वविद्यालय में दर्शन के सहायक

अनुवादक
उमेश्वरप्रसाद मालवीय
एम० ए०, एल-एल० बी०
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
(शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय), नई दिल्ली

पुनरीक्षक
डॉ० राजनारायण
अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ० देवीदत्त शर्मा
संस्कृत विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
चण्डीगढ़

This book is the translation of revised 1958 edition of the original English book entitled *Introduction to Philosophy* by George Thomas White Patrick published by Ruskin House, George Allen & Unwin Ltd., Museum Street, London. The translation rights were obtained by the Commission for Scientific and Technical Terminology. It has been brought out under the scheme of production of university level books sponsored by the Ministry of Education and Social Welfare, Government of India.

एकाधिकृत वितरक :
इन्डियन पब्लिशिंग हाउस, 23 दरियागंज, दिल्ली-110006

प्रथम संस्करण : 1973
मुद्रित प्रतियाँ : 1100
मूल्य : बीस रुपये (Rs. 20.00)

भारती प्रिंटर्स, के-16, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 द्वारा मुद्रित

प्रस्तावना

राष्ट्रभाषा हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं के विकास एवं प्रसार तथा इन्हें विश्वविद्यालयों में सभी स्तरों पर शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने के प्रयत्नों की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि इन भाषाओं में ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं के पर्याप्त ग्रंथ उपलब्ध हों।

इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा एक विशेष योजना प्रचालित की गई है। इस योजना के अनुसार इन भाषाओं में मौलिक ग्रंथों की रचना करवाई जा रही है तथा अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में उपलब्ध प्रामाणिक साहित्य के अधिकृत अनुवाद भी सुलभ किए जा रहे हैं। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को कम से कम समय में सम्पन्न करने के लिए भारत सरकार की प्रेरणा और आर्थिक सहायता से सभी राज्यों में स्वायत्तशासी संस्थाओं की स्थापना की गई है। इन संस्थाओं की स्थापना से भारतीय भाषाओं में पुस्तक-निर्माण के कार्य को बड़ा प्रोत्साहन मिलने लगा है और आशा की जाती है कि सामान्य पाठकों विशेषत: छात्रों को भारतीय भाषाओं में सम्बन्धित विषयों की वे प्रामाणिक पुस्तकें, जो उन्हें अब तक सामान्यत: बाज़ार में उपलब्ध नहीं थीं, यथाशीघ्र सुलभ होंगी।

हरियाणा में पुस्तक-निर्माण का यह कार्य हरियाणा हिन्दी ग्रंथ अकादमी के माध्यम से करवाया जा रहा है। यह हर्ष का विषय है कि प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक इस कार्य में अकादमी को अपना हार्दिक सहयोग देने लगे हैं।

'दर्शनशास्त्र का परिचय' नामक पुस्तक अकादमी द्वारा इस योजना के अन्तर्गत प्रकाशित किया जाने वाला तेरहवाँ प्रकाशन है। यह रस्किन हाउस, जार्ज एलन एन्ड अनविन लिमिटिड, म्यूज़ियम स्ट्रीट, लन्दन द्वारा अंग्रेज़ी में प्रकाशित जार्ज टामस व्हाइट पैट्रिक कृत 'इन्ट्रोडक्शन टु फिलासफी' का हिन्दी रूपान्तर है। इसके अनुवादक डॉ० उमेश्वरप्रसाद मालवीय हैं। इसका पुनरीक्षण डॉ० राजनारायण और डॉ० देवीदत्त शर्मा ने किया है। इसका सम्पादन एवं सज्जा-संयोजन अकादमी के प्रकाशन अनुभाग ने किया है।

पुस्तक में भारत सरकार द्वारा तैयार की गई शब्दावली का प्रयोग किया गया है, ताकि देश में एक ही पारिभाषिक शब्दावली को बढ़ावा दिया जा सके। आशा है प्रस्तुत पुस्तक 'दर्शनशास्त्र' में रुचि रखने वाले सामान्य पाठकों, विशेषत: इस विषय के छात्रों और अध्यापकों में लोकप्रिय सिद्ध होगी।

निदेशक,
हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

शिक्षा मंत्री, हरियाणा,
एवं अध्यक्ष,
हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

द्वितीय संस्करण की भूमिका

कालेजों तथा विश्वविद्यालयों ने इस 'परिचय' के प्रथम संस्करण का जो भव्य स्वागत किया है वही इस पूर्ण संशोधित संस्करण के प्रकाशन के लिए अनुप्रेरित कर रहा है। जैसे-जैसे समय व्यतीत हो रहा है दर्शनशास्त्र तथा विज्ञान के बीच के सम्बन्ध पर अधिकाधिक बल दिया जा रहा है, और विज्ञान की कुछ शाखाओं में इतनी तीव्रता से परिवर्तन हो रहा है कि इस प्राथमिक पुस्तक में भी कम-से-कम कुछ नवीन धाराओं का उल्लेख अवश्य करना चाहिए। भौतिकी में जिसमें विकास की गति सबसे अधिक तीव्र रही है, तथा जो कि लगभग आन्दोलन का रूप धारण कर चुकी है, वहाँ भी यह बात रुचिकर तथा उत्साहवर्धक है कि भौतिकीविदों में भी दार्शनिक बन जाने की और स्पष्ट रूप से अपनी कुछ रचनाओं में दार्शनिक रूपों को स्वीकार करने की प्रवृत्ति पायी जाती है, जबकि दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी अधिकाधिक उत्सुकता से विज्ञान की नवीन खोजों की प्रतीक्षा करते हैं। उदाहरण के लिए, अनिश्चितता के नियम के विषय में कुछ भौतिकीविद् यह स्वीकार करते हैं कि उसकी व्याख्या व्यक्ति के दार्शनिक दृष्टिकोण पर निर्भर होती है, तथा दर्शनशास्त्र के कुछ विद्यार्थी यह स्वीकार करते हैं कि कुछ समस्याओं को --उदाहरण के लिए, संकल्प की स्वतन्त्रता को - नवीन भौतिकी में हो रहे अनुसंधान की परिणति तक रुके रहना चाहिए। इससे हमें यह आशा बँधती है कि रूढ़िवाद के अन्तिम चिह्न दर्शनशास्त्र से लुप्त हो रहे हैं और अभिमान के अन्तिम चिह्न विज्ञान से।

दर्शनशास्त्र में सृजनात्मक विकास का सिद्धान्त तथा जीवन और मन पर लागू होने वाला उन्मज्जन का सिद्धान्त—निःसन्देह इन नए वर्षों में और अधिक व्यापक रूप से मान्य हो गए हैं, और यह मत कि उद्गामी मूल्य अथवा आदर्श मूल्य की भी, निश्चित रूप से, परिकल्पना का खंडन नहीं किया गया है।

'परिचय' के इस संशोधन में अध्यायों की संख्या तेईस से बढ़ा कर उनतीस कर दी गई है, यह वृद्धि कुछ तो नवीन सामग्री के कारण और कुछ नवीन

व्यवस्था के कारण हुई है। केवल एक अध्याय को छोड़कर सभी अध्याय या तो संशोधित हैं अथवा फिर से लिखे गए हैं—और कुछ नए जोड़े गए हैं। इस आवृत्ति में मुझे डॉक्टर फ्रैन्क मिलर चैपमैन से जो मूल्यवान् सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

पालो आल्टो, कैलिफोर्निया

जी० टी० डब्ल्यू० पी०

प्रथम संस्करण की भूमिका

यह पुस्तक कॉलेज तथा यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों के लिए दर्शनशास्त्र के परिचय की दृष्टि से तथा ऐसे सामान्य पाठक की निर्देश पुस्तक की दृष्टि से लिखी गई है, जो जिज्ञासा के रुचिकर क्षेत्र में अपना मार्ग ढूँढ़ना चाहता है। यह दर्शन की किसी पद्धति को प्रस्तुत नहीं करती—कम-से-कम मैं यह आशा नहीं रखता। दर्शनशास्त्र का उद्देश्य चिन्तन के लिए प्रेरित करना है, किसी पद्धति के द्वारा जिज्ञासा को शांत करना नहीं।

फिर भी यह पुस्तक पूर्णतः निर्वैयक्तिक नहीं है। जो व्यक्ति दर्शनशास्त्र का आरंभिक परिचय लिखे, उसे संभवतः सैद्धान्तिक रूप से, विभिन्न सिद्धान्तों को निष्पक्ष रूप से पाठक के सामने प्रस्तुत करना चाहिए और उस पर अपनी टिप्पणी नहीं देनी चाहिए। किन्तु मुझे इसमें सन्देह है कि लोग पूर्णतः निर्वैयक्तिक पुस्तक पढ़ना पसंद भी करेंगे। वे निष्पक्ष पुस्तक तो पढ़ना पसंद करेंगे किन्तु निर्वैयक्तिक नहीं। पाठक सामान्यतः लेखक का मत जानना चाहता है—चाहे वह पाद-टिप्पणी में दिया हुआ हो। इसलिए मैंने अपना मत देने में अथवा कम-से-कम वह दिशा बतलाने में जहाँ कि मुझे प्रकाश मिलता प्रतीत होता है, हिचकिचाहट नहीं दिखाई। इस आलोचनात्मक तथा वैयक्तिक युग में यह पद्धति पाठक को बहका देगी ऐसा नहीं लगता। वह स्वयं भी तो किसी प्रकार का विचार करेगा।

मेरा अनुमान है कि पुस्तक का सामान्य दृष्टिकोण वास्तववादी और बहुतत्त्ववादी, तथा मैं आशा करता हूँ कि ईश्वरवादी, निश्चय रूप से प्रत्ययवादी तथा निस्संदेह रूप से आशावादी है। विशेष विज्ञानों के वास्तववादी दृष्टिकोण की प्रामाणिकता बिना किसी लज्जा के स्वीकार कर ली गई है, और यह भी मान लिया गया है कि वे वास्तविकताओं के साथ प्रयोग करते हैं न कि प्रतीतियों के साथ। इस योजना के अनुसार यह विश्वास करते हुए कि बहुत कुछ उलझन तथा हतोत्साह को विशेष विज्ञानों के आधार पर वस्तुनिष्ठ रूप से आरम्भ करते हुए टाला जा सकता है मैंने ज्ञान-मीमांसा के समूचे विषय को बाद के अध्याय के लिए रख दिया है। अंत में मैंने दार्शनिक पद्धतियों में उनकी भिन्नताओं की अपेक्षा उनकी समानताओं पर अधिक विचार किया है, क्योंकि दर्शनशास्त्र के अध्ययन को चाहिए कि वह चिन्तन को प्रोत्साहित करने के साथ-साथ मानव-द्वेषी संशयवाद को उत्पन्न करके सतत चिन्तन को निरुत्साहित न करे। मेरा

यह भी विचार है कि दर्शनशास्त्र में असहमतियों की अपेक्षा सहमतियों पर ध्यान देने का ही आज अवसर है।

दर्शनशास्त्र के प्राचीन तथा आधुनिक आलोचकों के लिए दार्शनिक तंत्रों में भेद देखना प्रिय कार्य होता है। किन्तु बाद के वर्षों में निश्चय ही एक प्रकार के बिन्दु पर मिलने की क्रिया का प्रादुर्भाव आरम्भ हो गया है, और यह भौतिक विज्ञानों की तुलना में वास्तविक प्रगति का आश्वासन देता है। उदाहरण के लिए, तर्कवाद तथा इन्द्रियानुभववाद भी प्रोफेसर डिवी के जननिक प्रस्तुतीकरण के बाद से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध में आ गए हैं, यंत्रवाद तथा प्राणतत्त्ववाद किसी सृजनात्मक विकास में मिलते हुए प्रतीत होते हैं, प्रत्ययवाद तथा प्रकृतिवाद, जो पुराने समय से कभी न मिलने वाले शत्रु थे, अब समझौता न कर सकने वाले नहीं प्रतीत होते। नार्मन कैम्प स्मिथ अपनी हाल की पुस्तक 'प्रलिगोमना टु एन आडियलिस्टिक थ्योरी ऑफ़ नालेज' में प्रत्ययवाद की परिभाषा करते हुए कहता है कि यह ऐसा शब्द है जो उन समस्त दर्शनों को एक सूत्र में बाँधता है जो यह स्वीकार करते हैं कि जगत् की व्यवस्था में आध्यात्मिक मूल्य निर्धारक होते हैं, तथा प्रकृतिवाद की परिभाषा करते हुए कहता है — कि यह ऐसा मत है जिसमें ये सभी मूल्य पैदा होते हैं और विकास की प्रक्रिया बाद के किसी स्तर में अपनी सत्ता को व्यक्त करती है। यह केवल प्रथम दृष्टि में ही होता है कि ये दोनों सिद्धान्त परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं।

प्रत्ययवाद तथा प्रकृतिवाद के बीच के भेद हमारे पुद्‌गल तथा मन के नवीन संप्रत्यय के ज्ञान के आधार पर और भी नरम हो गए हैं। हार्नले द्वारा उद्धृत बात किसी ने कही है, "भौतिकवादी कहलाने के लिए हमें जड़तत्त्व का पर्याप्त ज्ञान है।" यदि अब भी इसे स्वीकार किया जाए तो यह सिद्धान्त यंत्रवादी, निरीश्वरवादी, अधार्मिक तथा यहाँ तक कि एकतत्त्ववादी कहलाने के लिए अपनी प्रतिष्ठा खो चुका होगा। और जहाँ तक प्रकृतिवाद का सम्बन्ध है हम प्रकृति को उसकी अपेक्षा एक बहुत ही अधिक जटिल वस्तु पाते हैं जो कि हर्बर्ट स्पेन्सर तथा डार्विन के आरम्भिक अनुयायियों के सरल समय में थी — फलतः इसमें सभी कुछ समा सकता है—उदाहरण के लिए, गौण गुण, सामान्य तत्त्व, और प्लेटो के प्रत्यय भी। अतः यदि प्रकृतिवाद तथा प्रत्ययवाद के बीच प्रतिपक्ष पूरी तरह घुल-मिल नहीं गया है तो कम-से-कम प्रकृतिवाद की तथाकथित सूक्ष्मता तथा दुर्बलता के लिए अब कोई प्रमाण नहीं होना चाहिए।

प्रत्ययवाद के लक्षण भी अब परिवर्तित हो रहे हैं और वह अपनी कठोरता को कम कर रहा है। उसके विषयीनिष्ठ रूपों को बनाए रखना अधिकाधिक कठिन हो रहा है। अनेक ऐसे लोग अपने को प्रत्ययवादी कहते हैं, जो न तो यह मानते हैं कि जगत् मन से स्वतन्त्र होता है, न ही उसे मन की उत्पत्ति मानते हैं और न उसे परमतत्त्व की अभिव्यक्ति और न मन के उपादान से निर्मित मानते

हैं। यह कहना पर्याप्त है कि आध्यात्मिक मूल्य महत्त्वपूर्ण होते हैं, अर्थात् वे जगत् में वास्तविक होते हैं और संभवतः उसकी व्यवस्था में उनकी निर्धारक आवाज होती है।

सितम्बर 1923 के 'फिलासफिकल रिव्यू' में प्रोफेसर अरबन के एक विचार-पूर्ण लेख को मैं अभी पढ़ रहा था जिसका शीर्षक है "ऑरिजन एन्ड वेल्यू"। लेखक दर्शनशास्त्र की आधुनिक प्रवृत्तियों से चिंतित है जो अब तक के विचारों के निष्ठापूर्ण सम्बन्धों में विश्वास नहीं करतीं। इनमें सर्वाधिक गंभीर प्रवृत्ति उत्पत्ति अथवा मूल्य में अविश्वास की है अथवा मूल्य और वास्तविकता में अविश्वास की है, और वह आधुनिक प्रवृत्तियों में उद्गामी सृजनात्मक विपरिणाम तथा पश्चजनन के सिद्धान्तों को इन एकनिष्ठ सम्बन्धों का उग्र विरोधी मानता है।

मैं प्रोफेसर अरबन से इस बात में सहमत हूँ कि मूल्य तथा वास्तविकता दर्शनशास्त्र के पतन की ओर संकेत करती हैं, किन्तु मैं इस बात से सहमत नहीं हो सकता कि उत्पत्ति तथा मूल्य में अविश्वास भी उतना ही हानिकारक होगा। पाठकों के लिए इस पुस्तक में दिए हुए आश्वासन के रूप में बतलाए हुए मार्ग निश्चय ही पश्चजनन तथा उद्गामी सिद्धान्तों के साथ सहानुभूतिपूर्ण हैं - किन्तु निश्चय ही ये मूल्य तथा उत्पत्ति के विच्छेदन का संकेत नहीं देते। मैं यह विश्वास नहीं कर सकता कि सभी मूल्य तथा सभी वास्तविकताएँ उनकी उत्पत्तियों में ही बंद कर दी जानी चाहिएँ, और न ही मैं ऐसा कोई कारण देखता हूँ जिससे इस जगत् में फलती-फूलती ऐसी प्रक्रिया न हो जिनमें निरन्तर नवीन मूल्य प्राप्त होते रहते हों। यदि हम इन नए मूल्यों को नवीनताएँ कहें तो भी मूल्य तथा वास्तविकता में विच्छेदन अनिवार्य नहीं है। किन्तु यदि कहीं स्वर्ग में ऐसी संरचनाएँ हैं जिनके आधार पर हम इन मूल्यों को नाप सकते हों तो भी ऐसा कोई कारण नहीं है कि वे विकास के किसी स्थानीय कार्य-क्रम में पैदा न हो जाएँ।

किन्तु मैं सोचता हूँ कि क्या कोई इससे भी अधिक गहन सत्य नहीं है जो इन उपर्युक्त विचारों में अभिव्यक्त किया गया है। क्या हम जगत् को "जीव-केंद्रिक" अथवा "मनोनुवर्ती" नहीं मान सकते? जो सत्यता के लिए क्षुधा एवं पिपासा के रूप में सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् की इच्छा रखता है और इस बात का विचार नहीं करता कि ये मूल्य किसी प्ररूप अथवा प्रतिमान के आधार पर बनाए गए हैं अथवा मन में चित्रित किए गए हैं? अरस्तू पर बहुत अधिक विचार करते हुए, जब मैंने आगे आने वाले पृष्ठों को लिखा था, कुछ ऐसे विचार मेरे मन में थे। जड़तत्त्व रूप ले रहा है, और यह रूप ही, जीवन, मन, सामाजिक संगठन तथा कला, विज्ञान, दर्शन और धर्म है, ये सभी मूल्य हैं और जगत् की व्यवस्था में इनका हाथ होता है क्योंकि जो कुछ भी उनके पहले होता है वह अनिवार्य होता है। इसलिए मैं यह विश्वास नहीं करता कि उद्गामी तथा पश्चजनन सम्बन्धी विचारों में मूल्य तथा सत्ता में विच्छेदन हो। यथार्थ में तो मैं यह समझता हूँ कि

एस० अलेक्ज़ेन्डर तथा लॉयड मॉर्गन ने भौतिक तत्त्वों के संघटन का आध्यात्मिक मूल्यों के साथ सम्बन्ध बतलाने के लिए **उद्गमन** की संज्ञा देकर बहुत बड़ी सेवा की है।

आगे के अध्यायों में पाद-टिप्पणियों पर एक दृष्टि डालने से यह पता चलेगा कि मैंने अनेक लेखकों के प्रति आभार प्रकट किया है। किस एक व्यक्ति का मैं सर्वाधिक आभारी हूँ यह बतलाना तो कुछ कठिन है, किन्तु यह निश्चित ही है कि मैं जॉन डिवी, एस० अलेक्ज़ेन्डर, एडवर्ड ग्लेसन, स्पॉल्डिन्ग तथा राल्फ बार्टन पैरी का बहुत आभारी हूँ। हम सभी जेम्स के बहुत आभारी हैं, और इसका विशेष उल्लेख उनके लिए एक उपहार के अन्यथा निरर्थक है, और कम-से-कम मैं बर्गसाँ का भी आभारी हूँ। मैं प्रोफेसर जे० सी० मेनरी को अपनी पाण्डुलिपि पढ़ने के लिए और बुद्धिमत्तापूर्ण सुझाव देने के लिए तथा डॉक्टर एच० हीथ वार्डेन को उनकी यदा-कदा ऐसी टिप्पणियों के लिए, जिन्हें मैंने उपयोगी पाया है, धन्यवाद देना चाहूँगा। मैं प्रोफेसर सी० एफ० टाश का उनके सुझावों के लिए तथा श्री एच० पी० फिलिप्स का प्रूफ-संशोधन के लिए बहुत आभारी हूँ। चार्लस स्क्रिबनर्स एन्ड सन्स उद्धरणों को छापने की अनुमति के लिए तथा अन्य अनेक प्रकाशक अपनी पुस्तकों में से विभिन्न सन्दर्भ उद्धृत करने की अनुमति प्रदान करने के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

आयोवा सिटी, आयोवा — जी० टी० डब्ल्यू पी०

विषयानुक्रम

भाग एक

दर्शनशास्त्र की परिभाषा, मूल्य एवं विधि

1. परिचय 1
2. दर्शन और विज्ञान 19
3. धर्म-मीमांसा तथा दर्शनशास्त्र 35
4. क्या दर्शनशास्त्र समयोचित है ? 47
5. अध्ययन की प्रणालियाँ 55
6. दार्शनिक प्रकरण 68

भाग दो

विश्व, इंद्रिय सम्बन्धी जीवन, विकास

7. विश्व 73
8. दिक्, काल और सापेक्षता 83
9. जैविक जीवन—उसका स्वभाव और उत्पत्ति 94
10. विकास का दर्शन 120
11. विकास, डार्विन के समय से 133
12. क्या प्रकृति में प्रयोजन है ? 157

भाग तीन

वास्तविकता के सिद्धान्त

13. वास्तविकता के सिद्धान्त 181
14. पुद्गल का संगठन 187
15. यांत्रिकतावादी जगत् विषयक मत 200
16. प्रत्ययवाद 211
17. बहुतत्त्ववाद 228

भाग चार

मनस् तथा ज्ञान की प्रकृति

18.	मनस् क्या है ?—ऐतिहासिक	238
19.	मनस् क्या है ?—पुनर्निर्माणात्मक	266
20.	मन और शरीर	295
21.	स्वतंत्रता	306
22.	हम क्या जान सकते हैं ?—परिचयात्मक	328
23.	हम क्या जान सकते हैं ?—ज्ञान के स्रोत	341
24.	हम क्या जान सकते है ?—ज्ञान की सत्यता तथा प्रामाणिकता	349
25.	अर्थक्रियावाद	368

भाग पाँच

जीवन के उच्चतर मूल्य

26.	ईश्वर का प्रत्यय	390
27.	शुभ और अशुभ	407
28.	हमें क्या करना चाहिए ?—नैतिकता का सिद्धान्त	428
29.	कला का दर्शन	458
	पारिभाषिक शब्दावली	487
	अनुक्रमणिका	499

भाग एक
दर्शनशास्त्र की परिभाषा, मूल्य एवं विधि

अध्याय 1
परिचय

एक नन्हीं बालिका विचारमग्न हो वातायन में खड़ी बाहर निहार रही थी। तत्काल उसने मुड़कर कहा, "मां! मेरी यह समझ में नहीं आता कि यह दुनिया कैसे बनी?" और इस जिज्ञासा के उत्पन्न होने के साथ ही वह दार्शनिक बन गई। अधिकतर बालक संसार को यों ही स्वीकार कर लेते हैं—यहां तक कि पुरुष तथा स्त्रियां भी, किन्तु कुछ बच्चे और वयस्क अत्यन्त विचारवान् और चिन्तनशील होते हैं, उन्हें विश्व क्या है, उसकी उत्पत्ति कैसे हुई है, उसका निर्माण किन तत्त्वों से हुआ है और उसका ध्येय क्या है? इन बातों पर आश्चर्य होता है। जब उनका यह आश्चर्य गम्भीर होकर व्यवस्थित जिज्ञासा का रूप ले लेता है तो वे दार्शनिक बन जाते हैं।

प्लेटो ने कहा है कि दर्शन का आरम्भ आश्चर्य से होता है। यूनानवासी दर्शनशास्त्र में निष्ठा रखते थे, किन्तु हम लोगों की तुलना में जगत् के विषय में उनके दृष्टिकोण में बचपना था और वे बाधक सन्देहों से मुक्त थे। किन्तु उन्हें आश्चर्य बहुत था और शीघ्र ही उनका यह आश्चर्य गम्भीर और विचारपूर्ण हो गया।

सन्देह और दुविधा

परन्तु, जबकि प्राचीन युग में दर्शन का आरम्भ आश्चर्य से हुआ था, आधुनिक काल में साधारणतः इसका आरम्भ सन्देह से होता है। हमारे अपने कठिन युद्धोत्तर काल में सन्देह मनुष्य का एक गम्भीर एवं विक्षुब्धक रोग बन गया है।

"ऐसा समय कभी नहीं था जबकि इतने व्यक्ति इतने विषयों पर इतने अनिश्चित रहे हों जितने कि आज।" ये शब्द स्टेनफर्ड विश्वविद्यालय में एक विशिष्ट वक्ता के थे। हममें से बहुत-से व्यक्ति आज सरकार के सर्वश्रेष्ठ रूप के विषय में, सर्वश्रेष्ठ आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था के विषय में, कौनसी वस्तुएं शुभ हैं, कौनसी अशुभ, इस विषय में, ईश्वर की सत्ता के विषय में और आत्मा और उसकी भवितव्यता के विषय में अनिश्चित हैं। हम इस विषय में भी अनिश्चित हैं कि लोगों का व्यवहार पहले ज्यादा अच्छा था या आज ज्यादा अच्छा है, उनकी स्थिति पहले ज्यादा अच्छी थी या आज ज्यादा अच्छी है।

पहले हम सभी विश्वस्त थे कि गणतंत्र सभी सभ्य लोगों के लिए सरकार का सर्वश्रेष्ठ रूप है तथा वही सामाजिक संगठन सर्वश्रेष्ठ है जो व्यक्ति को पहल करने का तथा स्वतन्त्रता को पूर्ण रूप से विकसित होने का अवसर प्रदान करे। हमारा ऐसा विश्वास था कि शुभ अथवा अशुभ वही है जो हमारे माता-पिता ने हमें बताया है। हमने ईश्वर की सत्ता में ईसाई मत या बाइबिल के प्रमाण के आधार पर विश्वास किया था। किन्तु अब इन पुराने विश्वासों से हमारी आस्था डिग चुकी है और उलझन और सन्देह उत्पन्न हो गए हैं।

किन्तु हमसे यह कहा जा रहा है कि स्थिति इससे भी अधिक ख़राब है। नीतिशास्त्र के मूलभूत सिद्धांतों अथवा ईश्वर मीमांसा या आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था तथा शासन के सिद्धान्तों पर सन्देह हो सकता है, किन्तु एक प्रमाण ऐसा है जो सिद्ध नियमों पर स्थिर है तथा जिसके सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता—वह प्रमाण है विज्ञान। किन्तु अब हमें यह भी सुनाई पड़ने लगा है कि विज्ञान की पुरानी नींवें भी ढह रही हैं।

> वर्तमान युग में तकनीकी वैज्ञानिकों के सामने ऐसे समीकरण हैं जिनकी व्याख्या वे स्वयं नहीं कर पाते तथा कुछ ऐसे सिद्धान्त भी हैं जिन्हें वे बिना दार्शनिक रंग चढ़ाए बोधगम्य नहीं बना पाते, परन्तु इसे उनके कुछ सहयोगी स्वीकार नहीं करते। यदि स्पष्ट रूप से कहा जाय तो इसका अर्थ यह है कि वैज्ञानिक अपनी खोजों को स्वयं ही पूरी तरह नहीं समझते, क्योंकि प्रथम सिद्धान्त जो तकनीकी खोजों को बुद्धिगम्य बनाते हैं स्वयं एक अस्थिर स्थिति में हैं। यही कारण है कि एडिंगटन, आइन्स्टाइन तथा व्हाइटहेड जैसे भौतिकीविद्, ड्रीश, हाल्डेन तथा हेन्डरसन जैसे शरीर-क्रियाविद् तथा ब्रोवर, हिलबर्ट और वेल जैसे शुद्ध गणितज्ञ भी दर्शनशास्त्र की रचना कर रहे हैं। जगत् में एक नवीन स्फूर्ति तथा स्वभाव का वातावरण बन रहा है। वैज्ञानिकों के मन में प्रकृति की जो पुरानी रूपरेखा थी, वह उन्हीं के हाथों से मिट चुकी है और वे प्रकृति किन तत्त्वों से निर्मित है इस बात पर ध्यान न देकर उसकी सामान्य रूपरेखा क्या है, इस पर ध्यान देने को विवश हो गए हैं, जिससे विज्ञान अपनी ही खोजों से अभिभूत न हो और उसकी सफलता ही उसके नाश का कारण न बने। हमारे सामने यह एक ऐसा परिवर्तन है जो वस्तु के मूल पर ही प्रहार करता है।[1]

ऐसी परिस्थिति में हमें क्या करना है ? मैं सोचता हूँ कि एक बात ऐसी है जिसे हम नहीं करेंगे और वह है सन्देहवादी या छिद्रान्वेषी अभिवृत्ति अपनाना। इन समस्याओं का समाधान होने जा रहा है—कुछ का तो शीघ्र ही। हम संक्रमण के उस काल में रह रहे हैं जब अनेक विज्ञान तथा पुरानी आस्थाएँ परिवर्तन की

---

1. F. S. C. Northrop, *Science and First Principles*, p. 2. By permission of the publishers: The Macmillan Company.

स्थिति में हैं। इस प्रकार के संक्रमण काल में ख़तरा तथा आश्वासन दोनों ही हैं—और ऐसे काल में रहना, विशेषकर नवयुवकों के लिए, बहुत साहस कर्म है। विचार करने के लिए बहुतसी बातें हैं—और इन पर विचार करने से जो आनन्द मिलता है उससे बढ़कर कोई आनन्द नहीं है। ऐसे कई विषय हैं जिन पर विचार करके हमें उनकी तह तक पहुँचना है और दर्शनशास्त्र की परिभाषा करते हुए यह कहा जा सकता है कि यह विषयों पर विचार करके उनकी तह तक पहुँचने की कला है—अथवा, यदि आप इसे अधिक ठीक समझें, यह वस्तुओं के बारे में तह तक विचार करने की आदत है।

परन्तु इस कथन में क्या निहित है? इसमें प्रस्तुत विषय पर न केवल तर्क-सम्मत किन्तु विधिवत् और अनवरत चिन्तन करना निहित है। जिस शब्दावली का प्रयोग किया गया हो या हम स्वयं करें, उसकी परिभाषा अत्यन्त सावधानी से करनी चाहिए तथा उसके अर्थ और गूढ़ार्थ को भी परख लेना चाहिए। स्पष्टीकरण करने की आदत तो दार्शनिकों का स्वभाव ही है। दार्शनिक चिन्तन का अर्थ है स्पष्ट संप्रत्ययों की खोज करना—जैसा प्लेटो ने किया था। अधिक तकनीकी भाषा में दर्शनशास्त्र संप्रत्ययों का आलोचनात्मक विश्लेषण और उनके परस्पर सम्बन्धों की खोज है; इस प्रकार वह ज्ञान को समाकलन करने की, उसे एकता प्रदान करने की तथा उसकी व्याख्या करने की आशा करता है। परिणामतः शायद तर्कशास्त्र दार्शनिक का एक अत्यन्त आवश्यक मानसिक साधन है। किन्तु संप्रत्ययों का केवल आलोचनात्मक विश्लेषण दर्शन को एक नीरस अध्ययन का विषय बना देगा तथापि यदि अध्ययन के विषय जीवन के किसी अति रोचक तथा महत्त्वपूर्ण क्षेत्र से चुने जाएँ तो वे नीरस न रहेंगे।

जो सिद्धान्त सन्देहपूर्ण हैं उनमें से कुछ का स्पष्टीकरण शीघ्र कर लेना चाहिए। मुझे न तो व्यवस्थित समाज के भंग हो जाने का और न ही "अपनी सभ्यता के पतन" का अधिक भय है, जिसकी इतनी चर्चा की जाती है; किन्तु जब तक हम अपनी कतिपय नैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं को हल नहीं कर लेते, तब तक यदि सामाजिक ह्रास का नहीं तो हमारे रहन-सहन के स्तर के शीघ्र गिर जाने का बड़ा गम्भीर ख़तरा है।

दर्शनशास्त्र का उद्देश्य हमारी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक समस्याओं का समाधान करना नहीं है; किन्तु इसका उद्देश्य उन कतिपय मौलिक प्रश्नों पर ध्यानपूर्वक व व्यवस्थित रूप में विचार करना अवश्य है जिनका सम्बन्ध हमसे, हमारे आचरण से तथा हम जिस संसार में रहते हैं उससे है। मैं कह चुका हूँ कि किसी संक्रान्ति काल में, जैसा कि हमारा युग है, ख़तरा और आश्वासन दोनों ही होते हैं। मेरा ऐसा विश्वास है कि ख़तरे की अपेक्षा आश्वासन अधिक है। उदाहरण के लिए वे कौनसे तथ्य हैं जो कि विज्ञान को विध्वंस करने की धमकी देते हैं? यह सम्भव है कि विज्ञान के परिणाम हमारी

आशा से कम रहे हों, किन्तु जहाँ तक विज्ञान के सिद्धान्तों के विध्वंस की धमकी का प्रश्न है, जाँच करने पर, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसमें कोई गम्भीर बात नहीं है। जहाँ तक उन विज्ञानों का उन बातों के साथ सम्बन्ध है जो कि मानव की आवश्यकताओं तथा मानवी सुख से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती हैं, उनके सिद्धान्त अडिग रहे हैं। इस स्वयंसिद्ध सत्य को कहने की आवश्यकता नहीं है।

हुआ यह है, कि भौतिक विज्ञान का वह सम्पूर्ण रूप जिसके अध्ययन से हम सभी परिचित हैं एक ऐसे विस्तृत विश्व का अंग बन चुका है जिसकी हमें पहले कोई धारणा नहीं थी। विज्ञान का क्षेत्र अब इतना आश्चर्यजनक रूप से विस्तृत हो गया है कि इस समय हम थोड़ा चकित हैं। अब हमें नवीन आधारों के अनुसार देखना पड़ेगा तथा और व्यापक क्षितिज से अभ्यस्त होना पड़ेगा। सापेक्ष सिद्धांत, क्वांटम सिद्धान्त, अनिश्चितता का नवीन सिद्धान्त, यह खोज कि शारीरिक तथा सामाजिक नियम न्यूनाधिक मात्रा में सांख्यिकीय विशेषतायुक्त होते हैं, यह तथ्य कि हम किसी व्यक्ति के आचरण करने के ढंग—यहाँ तक कि अलग-अलग परमाणुओं और इलेक्ट्रॉनों के व्यवहार—के विषय में पूर्वकथन नहीं कर सकते, ये सभी नवीन तथा कुछ-कुछ चौंकाने वाली खोजें हैं जिनमें से बहुतसी ऐसी हैं जिन्हें समझना कठिन है।

किन्तु हमारे अनुमान से इसका अर्थ यही है कि हम उन्नीसवीं शती की यांत्रिक विश्व की धारणा को लेकर ही कूपमंडूक नहीं बने हुए हैं। शायद हमारे विश्व में भी कुछ ऐसी सम्भावनाएँ हैं जिन पर हमने सन्देह नहीं किया है—इसमें स्वतन्त्रता के लिए भी स्थान हो सकता है। सम्भवत: हम भौतिकी और रसायन-विज्ञान का अध्ययन अत्यधिक करते हैं तथा जीव विज्ञान और मनोविज्ञान का बहुत कम। यह हो सकता है कि जीव विज्ञान भौतिकी की एक शाखा मात्र न हो और न ही मनोविज्ञान जीव विज्ञान की। गणितज्ञ भी विचित्र कार्य कर रहे हैं। वे ऐसी गहराइयों के मापन में भी समर्थ हो गए हैं जिन्हें कि भौतिकीय मापनों तथा बारीक औज़ारों द्वारा भी नहीं खोजा जा सका है, ऐसा प्रतीत होता है कि गणित के समीकरणों ने सहसा अविश्वसनीय सम्भावनाओं को पा लिया है।

अत: हमारा नया विश्व आश्वासन से परिपूर्ण तथा सम्भावनाओं से समृद्ध है; किन्तु मानवीय सम्बन्धों के विषय में यह काल अत्यन्त दुविधाजनक है। स्पष्ट है कि यह काल विमर्शात्मक चिन्तन का काल है—और वास्तव में यही दर्शन है।

अब हमें अवश्य सोचना चाहिए

"अब हमें अवश्य सोचना चाहिए" शीर्षक के अन्तर्गत चैस्टर रॉवेल ने अनिश्चित काल के लाभ तथा हानि का विवेचन यों किया है :

संकटहीन काल की आकांक्षा कौन नहीं करता, अब मनुष्य को

चिन्तित रहने की आवश्यकता नहीं पड़ती ?

रोम का शान्तिकाल एक उदाहरण है जब युद्ध नहीं होते थे क्योंकि विश्व शान्ति की अवस्था में था; जब रोम के सम्पन्न लोगों के लिए सभी कुछ था, और कष्ट केवल मौन गुलामों के लिए ही था। अथवा तेरहवीं शताब्दी का यूरोप भी इसका उदाहरण है, जब मानव की चिन्ता का मुख्य विषय धर्म था और जब सभी धार्मिक सिद्धान्त तथा संस्थाएँ सुस्थापित थीं। या इसका उदाहरण है उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध, जबकि शासन में उदार गणतन्त्र तथा व्यापार में वैयक्तिक पूँजीवाद विकसित देशों में आ चुका था तथा अन्य देशों की ओर बढ़ रहा था। या कूलिज का वह काल भी एक उदाहरण है जिसमें अब हम सभी लौट जाने के व्यर्थ स्वप्न देखते हैं और जब इस सर्वश्रेष्ठ जगत् में सभी कुछ सर्वश्रेष्ठ था।

तब सभी कुछ व्यवस्थित था। हमें मालूम था कि सत्य क्या है, झूठ क्या है, उचित क्या है, अनुचित क्या है। वस्तु जगत् के विषय में हमारे पूर्वज पहले से ही सोच-विचार कर गए थे, हमारा काम केवल उनके विचारों से अपना समायोजन कर लेना भर था। वस्तुओं को जानने-पहचानने के लिए कुछ निश्चित धारणाएँ थीं। हमें पूछताछ, परीक्षण अथवा तौलने की आवश्यकता नहीं थी। हम अच्छी तरह जानते थे। यहाँ तक कि भविष्य भी निश्चित था क्योंकि सभी आवश्यक बातें निश्चित थीं और छोटी-मोटी बातों को छोड़कर और किसी चीज़ को परिवर्तित नहीं किया जा सकता था। हम एक ऐसे जगत् में पहुँच चुके थे जो पूर्ण था, जिसमें हम अपने व्यक्तिगत मामलों के बारे में तो सोच सकते थे किन्तु किसी मौलिक बात पर फिर से विचार करने की आवश्यकता नहीं थी।

अब हम अपने को ऐसे भँवर में पाते हैं जिसमें कुछ भी स्थिर नहीं है, यहाँ तक कि उस प्रवाह की दिशा भी स्थिर नहीं है जिसमें हम बह रहे हैं।

अन्ततोगत्वा क्या इस अस्थिर काल में रहना हमारा सौभाग्य नहीं है ? निश्चितता का काल विकासहीन काल होता है। जब हमें यह मालूम होता है कि क्या विचार करना है तो हमारा विचार करना रुक जाता है। जब जीवन की परिस्थितियाँ स्थिर होती हैं तो हम उसे केवल यन्त्र के पहिए की भाँति चलाते चलते हैं। महान् तो नवीन युग ही होते हैं जब कि सभी सभी कुछ उखड़ जाता है और सभी कुछ करने को रह जाता है। पूर्वी राज्य में रोम का शान्तिकाल बाईज़न्टाइन युग की तंद्रिलता में डूब गया और पश्चिम में उसे बर्बरों के आक्रमण से ही रोका जा सका। तेरहवीं शताब्दी की धर्मपरायणता का स्थान पुनरुत्थान और सुधार काल की हलचल ने ले लिया जब कुछ भी निश्चित नहीं था, किन्तु वह गतिहीन भी नहीं था।

हमारा दुर्भाग्य यह नहीं है कि हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें चिन्तन करना आवश्यक है वरन् यह है कि हम चिन्तन नहीं करते। रोम साम्राज्य के पतन के एक हज़ार वर्ष पश्चात् लोगों ने यह समझा कि वे उस साम्राज्य में नहीं रह रहे हैं। हममें से कई आज भी यह कल्पना करते हैं कि हम उस जगत् में रह रहे हैं जो 1 अगस्त, 1914 को सदा के लिए समाप्त हो चुका है। तात्कालिक घटनाएँ हमारे इस भ्रम को दूर कर रही हैं। यद्यपि यह प्रक्रम कष्टकारक है तथापि लाभप्रद भी हो सकता है। यह हमें नए विचारों को सोचने की चुनौती देता है। इस प्रक्रम में सबसे पहला और कठिन चरण है पुराने विचारों को बहिष्कृत करना या शायद हममें से कुछ लोगों के लिए तो किसी प्रकार का भी चिन्तन करना ही कठिन है। यह समय निश्चेष्ट रहने का नहीं है।[1]

पिछले युगों में हमारे कठिन प्रश्नों का उत्तर देने, हमारे संदेहों का निवारण करने और हमारे आचरण का मार्गदर्शन करने के लिए कुछ प्रथा, परम्परा और समूह की धार्मिक आस्थाओं जैसे कुछ प्रतिष्ठित प्राधिकरण हमेशा हुआ करते थे। हमने यह जान लिया है कि इन सभी प्राधिकरणों में संशोधन की घोर आवश्यकता है जो अभी तक नहीं हुआ है। आज सब लोग जिस प्राधिकरण पर विश्वास करते हैं वह है केवल विज्ञान —और हमने विज्ञान की जिन कमियों को अभी बताया है उनके बावजूद भी विज्ञान पर हमारी आस्था पूरी तरह से न्यायोचित साबित हुई है। किन्तु परेशानी केवल यह है कि विज्ञान मूल्यों, जीवन तथा मानवीय आचरण जैसे अनिवार्य प्रश्नों का समाधान करने की चेष्टा नहीं करता जो कि हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। विज्ञान हमें वायु, समुद्र तथा भूमि के विषय में, तारों और उनकी आकृति, दूरी तथा उनके निर्माण के विषय में, पृथ्वी की सतह से बहुत नीचे स्थित चट्टानों के विषय में, परमाणुओं और प्रकाश लहरों के विषय में तथा पौधों, पशुओं और हमारे अपने शरीर के विषय में पर्याप्त ज्ञान दे सकता है। किन्तु भौतिक क्षेत्र से परे जो कुछ है विज्ञान उसके विषय में अनिश्चित है। चट्टानों की आकृति, तारों की दूरी या स्वयं अपनी हड्डियों अथवा पेशियों के विषय में हममें से अधिकांश लोगों को बहुत कम रुचि है—जो सम्भवत: वैज्ञानिक कुतूहल मात्र है—किन्तु मानवीय, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, नैतिक तथा धार्मिक विषयों में हमारी रुचि सदा रहती है। हम उसके अर्थ, उसके भविष्य तथा उसके व्यवहार के विषय में जानने को ज़्यादा महत्त्व देते हैं।

अत: हमें क्या करना चाहिए? ये सभी प्रश्न विज्ञान के वर्तमान क्षेत्र से बाहर हैं और उनका उत्तर देने के लिए हमारे पूर्वजों ने जिन प्राधिकरणों पर

---

1. Chester Rowell, Editor *San Francisco Chronicle*, in the *Chronicle*, August, 1934.

विश्वास किया था उन पर हमें संदेह हो गया है।

हम इतिहास के एक अनूठे क्षण में रह रहे हैं। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से यह संकट का समय है। आध्यात्मिक तथा भौतिक सभ्यता के प्रत्येक क्षेत्र में हम एक संकटपूर्ण मोड़ पर आ चुके हैं, यह बात वस्तुतः सार्वजनिक क्षेत्र में ही नहीं, वरन् व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के मूलभूत मूल्यों के सामान्य दृष्टिकोण के विषय में भी दिखाई देती है। बहुत से लोगों का यह मत है कि ये लक्षण एक महान् पुनरुत्थान के सूचक हैं जबकि अन्य लोगों का यह भी मत है कि ये लक्षण उस पतन के आसार हैं जो कि हमारी सभ्यता की घातक भवितव्यता है।[1]

ऐसे संकट के समय हम कम-से-कम एक काम तो कर ही सकते हैं। हमारे पास परामर्श के लिए एक और प्राधिकरण है और यह है—**विमर्शात्मक चिन्तन।** यह मनुष्य की विशेष शक्ति और चिन्तन करने का परमाधिकार है। संसार के विभिन्न क्षेत्रों में वास्तविक प्रगति अधिकांशतः विमर्शात्मक चिन्तन के माध्यम से ही हुई है—वह भी विशेषकर सभी कालों के महापुरुषों के चिन्तन से। जब यह चिन्तन गम्भीर, स्थिर, तर्कयुक्त ढंग से जीवन और मूल्यों के प्रश्नों पर किया जाता है तो यह दर्शन बन जाता है। जैसाकि प्रोफेसर जेम्स ने कहा है कि असाधारण रूप से आग्रह के साथ स्पष्ट चिन्तन करने का प्रयास ही दर्शन है। मैं यह नहीं देख पाता कि जो स्थिति हमारे सामने है उसमें अपनी समस्याओं पर विचार करने, प्राचीन तथा आधुनिक विचारकों के विचारों को सावधानी से परखने तथा अनुभवों और प्रयोगों द्वारा अपने निष्कर्षों का परीक्षण करने के अलावा हम कुछ और भी कर सकते हैं। ऐसा करने का अभिप्राय होगा विज्ञान की पद्धति को मानवीय सम्बन्धों एवं मानवीय समस्याओं के क्षेत्र तक ले जाना।

वास्तविक रूप से मैं यह कहूँगा कि आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्रों को विस्तृत करना, जिससे कि मानव सम्बन्धी सभी विषय समा सकें। इसका अर्थ होगा विज्ञान का उस क्षेत्र तक विस्तार करना जो कि अभी दर्शनशास्त्र के अधीन है। दर्शनशास्त्र सामान्यतः सीमावर्ती समस्याओं से व्याप्त रहा है जो प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र से परे है तथा जो फिर भी मानवीय रुचियों का केन्द्र बनी हैं। जब इन समस्याओं का समाधान हो जाता है तो वे वैज्ञानिक प्रगति का एक अंग बन जाती हैं, तथा दर्शनशास्त्र उन नवीन क्षेत्रों की ओर अग्रसर होता रहता है जो सदा पहुँच के बाहर होते हैं।

कुछ लोग इससे भी आगे जाकर यह कहेंगे कि विज्ञान को केवल अपने क्षेत्र का विस्तार ही नहीं करना चाहिए, वरन् अपनी खोजों को भौतिक जगत् से हटाकर मानवीय सम्बन्धों पर केन्द्रित करना चाहिए। सम्भवतः हमने इस समय

1. Max Planck, *Where is Science Going?* (W. W. Norton and Company, Inc.; New York), p. 64.

दिक्, काल, ईथर तरंगों, न्यूट्रान तथा इलेक्ट्रॉन के सम्बन्ध में जो कुछ भी जानना आवश्यक है उसकी जानकारी प्राप्त कर ली है। ऐड्वांसमेंट ऑफ साइंस के लिए ब्रिटिश एसोसिएशन की एक बैठक में जो कुछ ही समय पूर्व हुई थी, यह सुझाव दिया गया था कि विज्ञान को दस वर्ष के लिए अवकाश ले लेना चाहिए; और लोगों ने कई बार यह भी कहा है कि विज्ञान को भौतिक परिवेश के ज्ञान को बढ़ाने तथा उस पर नियंत्रण करने के प्रयत्नों से हटकर अन्य दिशाओं की ओर जाना चाहिए। हमारा भौतिक जगत् का ज्ञान हमारे आत्म-ज्ञान से आगे बढ़ गया है और हमारा प्रकृति पर नियंत्रण भी हमारे आत्म-नियंत्रण की शक्ति से आगे बढ़ गया है। हमारी सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, दार्शनिक तथा धार्मिक समस्याओं पर विज्ञान को अब और अधिक ध्यान देना चाहिए, और प्रखर बौद्धिक शक्ति को, जो वैज्ञानिक चिन्तन और अनुसंधान में प्रदर्शित होती है, अब इन दिशाओं की ओर मोड़ना चाहिए।

अब हमें अपने लिए स्वयं जीवन की, उसके अर्थ की और उसके सापेक्ष महत्त्व की व्याख्या करने की आवश्यकता है। दर्शनशास्त्र का सदा से ही यह कार्य रहा है। इसलिए दर्शन की परिभाषा यों भी की जाती है कि यह अर्थों और मूल्यों का सांस्कृतिक अध्ययन या जीवन की व्याख्या है। मैथ्यू आर्नाल्ड ने ट्रेजिक कवि सोफोक्लीज़ के सम्बन्ध में कहा है कि उन्होंने जीवन को सुस्थिर और पूर्ण रूप से देखा था। इस सारगर्भित कथन में दर्शन के ध्येय और उसकी प्रणाली दोनों का ही समावेश है। ध्येय है जीवन को पूर्ण रूप से देखना, न कि व्यापारी, कलाकार, कवि या उपदेशक और विश्वविद्यालय के प्राचार्य के दृष्टिकोण से अथवा किसी अन्य दृष्टि से देखना, वरन् इस तरह देखना जिस तरह उसे "शाश्वत काल और पूर्ण सत्ता का द्रष्टा" देखेगा।[1] और प्रणाली है उसे सुस्थिर दृष्टि से देखने की, जिसमें न तो पक्षपात हो, न कोई विशेष झुकाव और न अर्धज्ञान।

जगत् विषयक एक दृष्टिकोण

पुनः दर्शनशास्त्र की परिभाषा करते हुए यह कहा गया है कि **जिस संसार में हम रहते हैं उसे वैज्ञानिक प्रणालियों से समझने का प्रयत्न ही दर्शन है।**

दर्शनशास्त्र का ध्येय प्रथम यूनानी दार्शनिक थैलीज़ के समय से आज तक सदा ही जगत् को इस प्रकार समझने और विशेष विज्ञानों के निष्कर्षों को सम्मिलित करके एक संगतिपूर्ण **जगत् विषयक दृष्टिकोण** बनाना रहा है। परन्तु जगत् से हमारा क्या अभिप्राय है? यूनानियों में इसका अर्थ था **कॉसमॉस** (यानी-ऋत), या जिसे हम लैटिन भाषा में **यूनीवर्स** (एकसूत्रबद्धता) कहेंगे;

---

1. प्लेटो ने कहा है कि दार्शनिक शाश्वत काल और शाश्वत सत्ता का द्रष्टा है, और वह व्यक्ति है जिसका झुकाव उस वस्तु की ओर होता है जिसकी वास्तविक सत्ता है—*The Republic*, VI, p. 486।

और सभी युगों के दार्शनिकों ने 'यूनीवर्स' (विश्व), उसके विस्तार और कालावधि (दिक् और काल) उसके स्रष्टा (ईश्वर), उसके उद्देश्य, उसके मूलतत्त्व या सामग्री, मनुष्य और उसकी आत्मा तथा प्रारब्ध से उसके सम्बन्ध के विषय में सिद्धान्त बनाने के महान् कार्य का बीड़ा उठाया है। इसी ध्येय के निमित्त डिमाक्रीटस और प्लेटो, अरस्तू और सेन्ट आगस्टाइन, ब्रूनो, देकार्ट और स्पिनोज़ा, कान्ट, हैगेल, हर्बर्ट स्पेन्सर तथा अन्य महान् "दार्शनिकों" ने मेहनत की थी और विश्व की ये बड़ी समस्याएँ आज भी हमें परेशान करती हैं और उनका अध्ययन अवश्य किया जाना चाहिए।

किन्तु आज के युग में हमारे विचारों में "विश्व का" यह खगोलीय अर्थ बहुत कम है। अपने आधुनिक व्यक्तिवादी मानववादी तथा रोमांसवादी रुझान के कारण हम अपनी तात्कालिक रुचियों की ओर अधिक आकृष्ट होते है और "विश्व" का अर्थ हमारे लिए कुछ और ही होता है। हमारी उत्तरीय जलवायु, हमारे घर के अंदर का सीमित जीवन, हमारे बड़े शहर, हमारी अपार जनसंख्या और अपने सामाजिक जीवन के साथ जिस जगत् में हम रह रहे हैं वह खगोलीय जगत् नहीं है, वरन् वह तो सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यिक, नैतिक और धार्मिक जगत् है।

प्राचीन यूनानी स्थायित्व और परिवर्तन की समस्या से बहुत चिन्तित थे, परन्तु परिवर्तन से उनका अभिप्राय भौतिक परिवर्तन, भौतिक अणुओं और परमाणुओं की गति से और वृद्धि और ह्रास की घटनाओं से था। इन प्रश्नों का उत्तर आज तक नहीं दिया गया है, किन्तु हमारी रुचि अब अन्य प्रकार के परिवर्तनशील जगत् की ओर है जिसमें बदलते हुए सामाजिक रिवाज, राजनैतिक सम्बन्ध, नैतिक सिद्धान्त, धर्म और बदलते हुए साहित्यिक मानक हैं। इस "जगत्" की व्याख्या की भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि दूसरे 'जगत्' की व्याख्या की है—इसलिए दर्शनशास्त्र का महत्त्व आज भी बना हुआ है, केवल वह अब **जीवन**, उसके अर्थ और मूल्यों, उसके स्रोत और उसके प्रारब्ध की व्याख्या बन गया है। इसलिए विकास, प्रगति, ज्ञान, मानसिक पद्धतियाँ, समाज और आचरण की समस्याओं का ज़्यादा महत्त्व हो गया है, तथापि यह बात हमेशा की भाँति आज भी सत्य है कि दर्शनशास्त्र उस जगत् को समझने का प्रयास है जिसमें कि हम रहते हैं।

हममें से अधिकांश लोगों द्वारा खेलकूद और सामाजिक कार्यों, पुस्तकों और पत्रिकाओं, कॉलेज के दैनिक कार्यों, मनोरंजनों और मनोविनोदों में व्यस्त रहने के कारण अविश्रान्त जीवन बिताने पर भी, मेरा विश्वास है कि हम पहले के लोगों से अधिक चिन्तनशील और आंतरिक रूप से अधिक गम्भीर हैं और हमारे जीवन में दार्शनिक प्रेरणा का उदय अपेक्षाकृत शीघ्र हो जाता है। पुराने दर्शन और प्रतिष्ठित परम्पराओं को भी अब असंदिग्ध रूप से ग्रहण नहीं किया

जाता। सभी ओर फिर से जाँच करने की स्फूर्ति है, कठिनाई केवल यही है कि हमारे सामाजिक जीवन के भार के कारण निरन्तर रूप से और सावधानी के साथ जीवन की समस्याओं का अध्ययन करने के लिए समय का अभाव है। दर्शन-शास्त्र के अध्ययन में हम साधारणतः अपनी समस्याओं की तह तक सोचने के लिए काफी समय लेते हैं।

सम्भवतः हममें से बहुत कम ही ऐसे होंगे जिन्होंने गम्भीरता से ऐसे प्रश्नों की जिज्ञासा न की हो—जैसे, क्या विश्व विचारों का विश्व है अथवा वह केवल जड़ पदार्थ का है? क्या वह यांत्रिक नियमों से संचालित है या उसमें कोई आयोजना, ध्येय या उद्देश्य है? क्या हम विश्व के सम्बन्ध में किसी धार्मिक मत को अब भी स्वीकार कर सकते हैं? क्या ईश्वर का अस्तित्व है या केवल जड़ तत्त्व और शक्ति के अलावा और कुछ नहीं है? जड़ तत्त्व किस वस्तु से बना है? क्या मेरा मनस्, जो इस समय विचार और आश्चर्य कर रहा है, जड़ तत्त्व से भिन्न कोई वस्तु है? या वह केवल परमाणुओं का समूह या मेरे शरीर का ही कोई कार्य है? मैं जीवित हूँ। जीवन क्या है? मैं कभी-न-कभी मर जाऊँगा। मृत्यु क्या है और मैं यहाँ से फिर कहाँ जाता हूँ? कल मैं अनेक कार्य करूँगा। उनमें से कुछ उचित और कुछ अनुचित होंगे। उचित क्या है और अनुचित क्या है? मैं अपने चारों ओर मनुष्य को धन, प्रसिद्धि और सुख के लिए प्रयत्न करते हुए देखता हूँ। क्या ये उच्चतम मूल्य हैं या इनके अतिरिक्त भी ऐसे मूल्य हैं जो इनसे उच्चतर हों, जैसे शान्ति, सरलता, आस्था, प्रेम, कार्य, कला का आनन्द और विज्ञान का अनुशीलन? सर्वोत्तम क्या है? क्या मैं ये सभी प्रश्न पूछ सकता हूँ? क्या उनका उत्तर पाना सम्भव है? ज्ञान की सीमाएँ क्या हैं?

पुनः प्रकृति और कला की सुन्दर कृतियाँ हमारे चारों ओर हैं। हमारे नगर या कॉलेज के अहाते की कुछ इमारतें सुन्दर हैं और कुछ भद्दी, तो सुन्दरता क्या है? वह क्या है जिसका आनन्द हम शास्त्रीय संगीत में लेते हैं या जिसकी प्रशंसा हम प्राचीन कलाकारों में, गोथिक शैली के गिरजाघरों में और यूनान के मन्दिरों में करते हैं? मैं सूर्यास्त की, बादलों से आँख-मिचौनी खेलते हुए चन्द्रमा की, जंगली फूलों और हेमन्त ऋतु में गिरते पत्तों की प्रशंसा करता हूं। यदि इन्हें देखने के लिए आँखें और प्रशंसा करने के लिए मस्तिष्क न होता तो भी क्या प्रकृति सुन्दर होती? मैं भीड़भाड़ वाले नगर से गुज़रता हूँ तो लोगों को सम्पत्ति, पद और शक्ति पाने के लिए मेहनत और प्रयत्न करते देखता हूँ। कुछ लोग अन्याय की ज़ोर-शोर से निन्दा कर रहे होते हैं और मुझे यह जानने की इच्छा होती है कि न्याय क्या है और लोग संघर्ष और प्रयत्न क्यों करते हैं? ये सभी दार्शनिक समस्याएँ हैं। इन बड़े-बड़े प्रश्नों को **उठाना**, उन पर **चिन्तन** करना, उनका वैज्ञानिक रूप से **अध्ययन** करना और उनका **उत्तर देने का प्रयत्न करना**—यही दर्शनशास्त्र है।

एकता की खोज

हर्बर्ट स्पेन्सर ने दर्शनशास्त्र की परिभाषा करते हुए तथा विज्ञान से इसकी पृथक्ता दर्शाते हुए कहा है कि जहाँ विज्ञान अंशतः व्यवस्थित ज्ञान है, वहाँ दर्शन-शास्त्र **पूर्ण व्यवस्थित ज्ञान है**। उनकी यह धारणा थी कि दर्शनशास्त्र विभिन्न विज्ञानों को एक व्यवस्थित तन्त्र में पिरोने का प्रयत्न उसी तरह करता है जिस तरह प्रत्येक विज्ञान अपने क्षेत्र के विशेष तथ्यों को व्यवस्थित तन्त्र में पिरोने का प्रयत्न करता है। यह दर्शनशास्त्र का एक बड़ा उमंग भरा संप्रत्यय था जिसे अब हम पूरा करने की आशा नहीं करते। किन्तु यह एक और प्रकार से दोषपूर्ण था। यह संप्रत्यय पिछली सदी में बना था जब भौतिकी, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र जैसे प्राकृतिक विज्ञानों से हमें काफी आशा थी कि वे जगत् की पहेली का समाधान करेंगे। ये आशाएँ कुछ-कुछ विफल हो गई हैं। एक बात बिना व्याख्या के बच जाती है। वह है—जीवन में—रोमांसवादी तत्त्व और ट्रेजेडी का तत्त्व भी—जिस पर किसी वास्तविक दर्शनशास्त्र में विचार किया जाना चाहिए। और साथ ही, विशेष विज्ञानों के एकीकरण के अलावा दर्शनशास्त्र कुछ और भी है, उसे केवल हमारी वैज्ञानिक अभिरुचियों को ही नहीं वरन् हमारी सामाजिक और धार्मिक आवश्यकताओं, हमारी लालसाओं और आकांक्षाओं को भी संतुष्ट करना चाहिए; ये भी ऐसे तथ्य हैं, जिन पर किसी भी विचारतन्त्र को अवश्य विचार करना चाहिए। यदि हम इन **सभी** तथ्यों को ले सकें और उन पर **एक साथ विचार कर सकें** तो वह दर्शनशास्त्र होगा।

प्रज्ञा

अंत में दर्शनशास्त्र की परिभाषा करते हुए उसे **प्रज्ञा** कहा गया है। अंग्रेजी का **फिलॉसफी** शब्द यूनान के **सोफिया** से, जिसका अर्थ है प्रज्ञा, और **फिलीन** क्रिया से, जिसका अर्थ है प्रेम, लिया गया है। यह प्रज्ञा के प्रति प्रेम है। साक्रेटीज़ ने प्रज्ञावान् होने का दावा नहीं किया; किन्तु उसने कहा कि उसे प्रज्ञा के प्रति प्रेम है। किन्तु प्रज्ञा वही थी जो उसके समकालीन उसमें मानते थे, वह लाक्षणिक प्रज्ञावान् और विश्व-स्तर का दार्शनिक है। यह समझाने का प्रयत्न करना कठिन हो सकता है कि प्रज्ञा और ज्ञान में क्या भेद है, हम भेद का अनुभव कर सकते हैं, किन्तु हम उसे व्यक्त नहीं कर सकते। शायद इसमें रुचि और मूल्यांकन निहित है। क्या दर्शनशास्त्र अच्छी बौद्धिक रुचि की तरह ही कोई चीज़ है? और क्या अच्छी बौद्धिक रुचि कोई ऐसी वस्तु है जो हमें अपने समृद्ध और आश्चर्यजनक आधुनिक ज़गत् में मिलने वाले विभिन्न मूल्यों का उचित मूल्यांकन करने में समर्थ बनाती है? हम अच्छी तरह से आश्वस्त हो चुके हैं कि न तो सम्पत्ति और न ही सुख उच्चतम मूल्य है और हम यह खोजने का प्रयत्न कर रहे हैं कि उच्चतम मूल्य क्या है। प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी काम में लगा है—परन्तु

क्यों ? हमें काम, खेल, मनोरंजन, अध्ययन, खाना, पीना, प्रेम करना, विज्ञान, कला, संगीत, कविता, समाज-सेवा, राजनीति, व्यापार इत्यादि सभी बातों के सापेक्ष मूल्यों की इस पहेली को समझने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

तत्त्व-मीमांसा

अभी हाल ही में दर्शनशास्त्र के इस मानववादी पहलू पर, जीवन की व्याख्या करने के इस प्रयास पर, वस्तुओं को व्यापकता से देखने पर, और उनका ठीक परिप्रेक्ष्य पाने पर अधिक बल दिया गया है जबकि इसकी अपेक्षा प्राचीन तत्त्व मीमांसा में ईश्वर, जगत्, प्रयोजन, कार्य-कारण, मन विषयक समस्याओं पर बल दिया जाता था। दर्शनशास्त्र तत्त्वमीमांसा से ज़्यादा व्यापक शब्द है जिसमें इन सब विषयों के अतिरिक्त ज्ञान-मीमांसा या ज्ञान का सिद्धान्त और तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र जैसे विषय भी सम्मिलित हैं।

काव्य और दर्शनशास्त्र

इस प्रसंग में पेरी ने दार्शनिक कवियों और उन कवियों में जो दार्शनिक नहीं है, जो भेद किया है वह ज्ञानवर्धक है।[1] वह दर्शनशास्त्र को विशेषकर उसके नवीन पहलुओं को समझने में हमारे लिए और भी अधिक सहायक होगा। महान् कवियों में से कुछ ने जीवन का केवल वर्णन मात्र किया है, अन्य उसकी व्याख्या करते हैं। बाद के कवि दार्शनिक कवि हैं। इस प्रसंग में लुक्रेशस, उमरखैयाम, दांते, गेटे, वर्डस्वर्थ, ब्राउनिंग और यूनान के नाटककारों की ओर हमारा ध्यान जाता है। ईस्काइलस, सोफोक्लीज़, यूरिपिडीज़ या हास्य कवि एरिस्टोफेनीज़ पर भी विचार करें। ये लोग भयानक रूप से सच्चाई के भक्त थे। वे अपने लोगों की राष्ट्रीय चेतना को प्रतिबिंबित करने वाले होने के साथ-साथ नैतिकतावादी, विचारक और मसीहा थे। मसीहा वह है जो कुछ सन्देश लाता है और यदि मसीहा कवि है तो वह दार्शनिक कवि कहलाता है। उदाहरण के लिए, ईस्काइलस ने गौरवपूर्ण भाषा में नीति और धर्म के प्राचीन नियमों का तिरस्कार करने वाले लोगों के विरुद्ध प्रारब्ध की प्रचण्ड शक्ति का वर्णन किया है। सोफोक्लीज़ के उत्कृष्ट नाटकों में भी अपरिवर्तनीय नैतिक नियम और मनुष्य के भाग्य में बदी मुसीबतों का चित्रण है; जबकि एरिस्टोफेनीज़ ने हास्य के माध्यम से यूनान की प्राचीन परंपराओं का समर्थन किया है। रोम में लुक्रेशस ने जड़वाद का प्रतिपादन करने और लोगों को दैवी भय से बचाने के लिए एक लम्बी कविता छः पंक्ति के छन्दों में लिखी थी; उसने यदि गद्य ही में लिखा होता तो भी वह दार्शनिक माना जाता। उमर खैयाम ने भी उत्कृष्ट चतुष्पद छन्दों में जीवन के एक अलग ही दर्शन को सुन्दरता से प्रस्तुत किया है। फिट्ज़जेराल्ड के अनुवाद में खैयाम के छन्दों का

1. Ralph Barton Perry, *The Approach to Philosophy*, chap. II.

जो आनन्दप्रद रूप है उमर खैयाम उसी से कुछ हद तक इतना लोकप्रिय बना है; किन्तु उसकी लोकप्रियता का कारण अंशतः उसका विचित्र दर्शन और निष्कर्ष भी है जो हमारी बुद्धि को अग्राह्य है किन्तु हमारी कल्पना के अनुकूल है।

ज्ञात नहीं **क्यों,** इस जगत् में,
कबसे जल यत्र-तत्र प्रवाहित है।
उसमें से, पुनः, वायु निरर्थक ही,
किस-किस ओर बहा करती है।।

× × ×

है न विचित्र ? वे सहस्रों, जो
अन्धकार में अपने ही समक्ष हो चुके हैं विलीन।
लौटा नहीं उनमें से एक भी मार्ग वतलाने को,
खोजने जिसे हमको भी जाना होगा।।

× × ×

अरे प्यार ! यदि तुम और मैं कर सकते विधि से गठबन्धन
और समझ पाते समस्त दुःख भरी योजना।
तो टूट न जाते यों तिल-तिल कर,
ढाल लेते उसे पुनः मनचाहे रूप में।।

किन्तु यह दांते ही है जो सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक कवि है। उसने अपनी पुस्तक **डिवाइन कॉमेडी** में विश्व के स्वरूप और तत्त्व, मनुष्य की उत्पत्ति और उसके प्रारब्ध और अशुभ के आरम्भ और उसके उपचार के विषय में वतलाया है। **पैराडाइजो** की सुन्दर पंक्तियों में हम पढ़ते हैं कि जगत् के अन्तस् से दैवी प्रेम की ज्योति फूट पड़ती है जिसका उद्देश्य मानव को पापों से मुक्त करना है। गेटे भी चिंतक और दार्शनिक है। इसी तरह उसका कथानक भी मानव का उद्धार है किन्तु अब उसका आधार बलि और आज्ञापालन न होकर अनुभव है। वर्ड्सवर्थ पर भी "समझ में न आने वाले इस जगत् को भारी और थका देनेवाला वोझ" पड़ा, और "आत्मा के विश्लेषक" ब्राउनिंग अपने ईश्वर सत्य और प्रेम में विश्वास द्वारा हमें धैर्य बँधाते हैं।

इन दार्शनिक-कवियों की विलक्षण रचनाएँ मानव-हृदय में विश्व की समस्याओं के समाधान की शाश्वत चाह को प्रकट करती हैं। कभी हमारा मनोभाव कविता पढ़ने का या काव्य-गाथा, अथवा नाटक या रोमांटिक साहित्य पढ़ने का होता है तो हम साफो, होमर, वार्जिल, होरेस, शेक्सपियर, शैली, कीट्स, बायरन और स्विनवर्न की रचनाओं में आनन्द लेते हैं, किन्तु इन सबके ऊपर होता है दार्शनिक मनोभाव जिसमें हम सांत्वना और आलोक पाने के लिए दार्शनिक कवियों की ओर मुड़ते हैं।

आज के युग की दार्शनिक मान्यताओं का विवरण देते हुए यह समझ लेना महत्त्वपूर्ण है कि नाटक किस तरह दर्शन से प्रभावित हो गए हैं। आधुनिक नाटककार जीवन की समस्याओं के साथ जूझता है। इब्सन इस नवीन नाटक का मूलस्रोत है जिसमें कवि और चित्रकार का स्थान विचारक और शिक्षक ने ले लिया है। इब्सन का कथानक है निरुपयोगी और अप्रिय परम्पराओं से मुक्ति दिलाना और वह अपने पाठकों या दर्शकों में जो भावनाएँ जगाता है वे सौन्दर्यात्मक आनन्द की भावनाएँ न होकर चिंतन और विद्रोह की भावनाएँ अधिक होती हैं।

तथाकथित समस्यापूर्ण नाटकों में रुचि उत्पन्न करने के लिए लेखक प्रचलित दार्शनिक मनोदशा से लाभ उठाते हैं। अन्त में, बर्नार्ड शॉ में सौन्दर्य की प्रवृत्ति अपनी निम्नतम सीमा तक पहुँच गई है और उसमें उपदेश के अतिरिक्त कुछ नहीं रह गया है। हम जिस उमंग से इब्सन, शॉ या गाल्सवर्दी और रूसी परम्परा के लेखकों के नाटकों को पढ़ते हैं उससे हमारी अपने सन्देहों के निवारण करने की और जीवन के रहस्यों में घुसने की इच्छा का पता चलता है, जबकि हम यह भी जानते हैं कि कविता या नाटक की सुन्दरता जब ज़्यादा विचारप्रधान हो जाती है तो वह फीकी पड़ जाती है। किन्तु कविता की यह दार्शनिक प्रवृत्ति दर्शनशास्त्र में गहन और व्यापक रुचि का लक्षण है।

सात्रेटीज़ के समय में **दर्शन** शब्द का सर्वप्रथम सामान्य रूप से प्रयोग हुआ। प्लेटो और अरस्तू के समय इस शब्द का वास्तविक ज्ञान या चरम सत्ता के ज्ञान का और भी तकनीकी अर्थ मिला जो कुछ-कुछ जर्मन भाषा के **विसनशाफ्ट** शब्द या वृहत् अर्थ में अंग्रेज़ी के **साइंस** शब्द के समकक्ष है। बाद के युग में स्टोइक और इपीक्यूरस के अनुयायियों में इस शब्द का अर्थ संकुचित हो गया, यानी जीवन का मार्गदर्शन। राजनैतिक उथल-पुथल और धार्मिक उलझन वाले समय में, जो ईसवी पूर्व काल में था, लोगों की गहन दार्शनिक चिन्तन में न तो रुचि होती है और न उसके लिए समय मिलता है। किन्तु उन्हें जीवन के मार्गदर्शन के लिए किसी ऐसे दर्शन की आवश्यकता होती है जो उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनुकूल लगता हो। दर्शन इस प्रकार जीने की कला बन जाता है, स्टोइकवादियों के लिए बुद्धिमत्ता से जीने की कला, और इपीक्यूरसवादियों के लिए सुखपूर्वक जीने की कला। अब तक भी यह शब्द प्रायः इसी प्रचलित अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है जैसे जब हम "दार्शनिक अभिवृत्ति" की बात करने या किसी बात को, विशेषकर किसी संकट को "दार्शनिकता" से लेते हैं तो हमारा मतलब धैर्य और शान्ति से ही होता है। एकत्व और सत्य की खोज के अपने वास्तविक अर्थ में दर्शनशास्त्र ऐसी शान्ति और धैर्य की ओर ले जा सकता है।

यदि हम कुछ समय के लिए अपनी विशेष आवश्यकताओं पर से

ध्यान हटाकर स्वतन्त्रतापूर्वक सत्ता के रहस्यों पर ध्यान दें और जब हम फिर से अपनी आवश्यकताओं की ओर लौटें तो दृष्टिकोण बदलने के कारण हम स्वयं भी बदल चुके होंगे। जो कुछ होता है उसका वर्णन करना कठिन है, किन्तु यह हम सब जानते हैं कि वह होता अवश्य है। एक प्रकार से व्यक्ति का परिवर्तन होता है और वस्तुओं को उनके व्यापक सम्बन्धों में देखने की शक्ति आती है, एक शान्तभाव उत्पन्न होता है और मानसिक उन्मुक्तता आती है।

युग की सभी महान् आत्माओं में हम यही देखते हैं। कोई भी यह देखकर प्रसन्न होगा कि सात्रेटीज़ ने एथेन्स के मार्गों पर अपना समय व्यर्थ बिताया था। कोई यह शंका कर सकता है कि चूंकि स्पिनोज़ा ने चश्मे के शीशे तैयार करने से समय निकालकर विश्व पर मनन किया इसलिए हमें कुछ महत्त्वपूर्ण देन मिली। यही दांते, लियोनार्डो, गेटे, शेक्सपियर, बीथोवन और ब्राह्मस जैसे सभी महान् कलाकारों के विषय में सोचा जा सकता है। ये लोग भोजन और मकान की आवश्यकताओं से आगे गए। वे जीवन, मृत्यु, साहस, प्रेम, घृणा, द्वेष, कुण्ठा, भक्ति का सामना कर रहे थे।...

यही कारण है कि काव्य, नाटक, विज्ञान और दर्शन सभी युगों में जीवित रह सके हैं। इनके माध्यम से मनुष्य को अपनी मुख्य मानवीय अभिरुचियाँ प्राप्त हुई हैं। उन्हीं में वह अपनी पाशविकता से ऊपर उठा है। जैसा कि अरस्तू ने कहा है, "उन मनुष्यों की सलाह मानना ठीक नहीं है जो यह कहते हैं कि मानवता के लिए मनुष्यों के विचार बहुत ऊँचे नहीं होने चाहिएँ या नश्वरता के लिए नश्वर लोगों के विचार बहुत ऊँचे नहीं होने चाहिएँ क्योंकि मनुष्य के लिए जहाँ तक उससे हो सके अमरत्व की खोज करनी चाहिए और अपनी शक्ति-भर अपनी प्रकृति के उच्चतम स्तर के अनुकूल रहना चाहिए।"[1]

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Wm. Pepperell Montague, "Philosophy as Vision," *International Journal of Ethics*, 44, 1—22. Oct., 1933.

अन्य सन्दर्भ

Ralph Barton Perry, *The Approach to Philosophy* (Charles Scribner's Sons), chaps. I, II.

1. Overstreet, H. A., *The Enduring Quest* (W. W. Norton and Company, Inc., New York), pp. ix, x.

William James, "Philosophy and Its Critics," *Some Problems of Philosophy* (Longmans, Green and Company), chap. I. Also in Everyman's Library, *Selected Papers in Philosophy*.

C. D. Broad, *Scientific Thought* (Harcourt, Brace and Company), Introduction.

Mary Whiton Calkins, *The Persistent Problems of Philosophy* (The Macmillan Company), chap. I.

H. A. Larrabee, *What Philosophy Is* (The Vanguard Press, 1928).

Susanne K. Langer, *The Practice of Philosophy* (Henry Holt and Company, 1930).

विद्यार्थियों के लिए सन्दर्भ

कोश

J. M. Baldwin, Editor, *Dictionary of Philosophy and Psychology*, 3 vols. (The Macmillan Company).

Encyclopaedia Britannica.

Encyclopaedia of Religion and Ethics.

दर्शनशास्त्र के इतिहास

J. Burnet, *Greek Philosophy: Thales to Plato* (The Macmillan Company).

E. Zeller, *Outlines of the History of Greek Philosophy* (Henry Holt and Company).

W. T. Stace, *A Critical History of Greek Philosophy* (The Macmillan Company).

H. E. Cushman, *A Beginner's History of Philosophy*, 2 vols. (Houghton Mifflin Company).

T. Gomperz, *Greek Thinkers* (Charles Scribner's Sons).

A. Weber and R. B. Perry, *History of Philosophy* (Charles Scribner's Sons).

W. Windelband, *A History of Philosophy*, translated by J. H. Tufts (The Macmillan Company).

H. Hoffding, *A History of Modern Philosophy*, translated by B. E. Meyer, 2 vols. (The Macmillan Company).

F. Ueberweg, *History of Philosophy*, translated by Morris (Charles Scribner's Sons).

J. E. Erdman, *History of Philosophy*, translated by Hough, 3 vols. (The Macmillan Company).

G. P. Adams and W. P. Montague, Editors, *Contemporary American Philosophy: Personal Statements*, 2 vols. (The Macmillan Company).

A. K. Rogers, *English and American Philosophy since 1800* (The Macmillan Company).

J. H. Muirhead, Editor, *Contemporary British Philosophy* (The Macmillan Company).

W. R. Sorley, *A History of English Philosophy* (Cambridge University Press).

Edward L. Schaub, Editor, *Philosophy Today* (Open Court Publishing Company).

Harvey Gates Townsend, *Philosophical Ideas in the United States* (American Book Company).

स्रोत-ग्रन्थ

B. Rand, *Modern Classical Philosophers* (Houghton Mifflin Company).

C. M. Bakewell, *A Source Book in Ancient Philosophy* (Charles Scribner's Sons).

D.S. Robinson, *An Anthology of Modern Philosophy* (Thomas Y. Crowell Company).

R. B. Perry, Editor, *Scribner's Philosophy Series* (Charles Scribner's Sons).

A. E. Avey, *Readings in Philosophy* (R. G. Adams and Company).

दर्शनशास्त्र की अंग्रेजी एवं अमेरिकी पत्रिकाएँ

The Journal of Philosophy, fortnightly (Columbia University).

The International Journal of Ethics (The University of Chicago).

The Philosophical Review, bi-monthly (Longmans, Green and Company).

The Monist. A Quarterly Magazine devoted to the Philosophy of Science (Open Court Publishing Company, Chicago).

Mind. A Quarterly Review of Psychology and Philosophy (The Macmillan Company).

The Hibbert Journal. A Quarterly Review of Religion, Theology, and Philosophy (Williams and Norgate, London).

The Personalist. A Quarterly Journal of Philosophy, Theology, and Literature (The University of Southern California, Los Angeles).

Philosophy of Science (The Williams and Wilkins Company, Baltimore).

The Journal of Philosophical Studies (The Macmillan Company).

अध्याय 2

दर्शन और विज्ञान

विज्ञान और दर्शनशास्त्र का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि विशिष्ट विज्ञानों का कुछ ज्ञान—विशेषकर गणित, भौतिकी, रसायन, जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान जैसी सामान्यीकृत शाखाओं का ज्ञान, दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इन विज्ञानों का क्षेत्र नित्य विस्तृत होते रहने के कारण दार्शनिक के लिए इनका पूर्ण अध्ययन करना और भी कठिन होता जा रहा है। यह स्वस्थ नम्रता के अनुरूप है। बिना निरीक्षण और परीक्षण के पहले से ही बने-बनाए सिद्धान्तों का आदर उत्तरोत्तर कम हो रहा है। इसलिए वर्तमान समय में दर्शनशास्त्र संप्रत्ययों, अर्थों और मूल्यों के आलोचनात्मक विश्लेषण की दिशा में मुड़ रहा है—संक्षेप में, तार्किक और मानवीय अध्ययन की ओर। फिर भी एक आदर्श दार्शनिक को सभी विशेष विज्ञानों का ज्ञाता होना ही चाहिए।

विज्ञान क्या है ?

साइंस शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा में ज्ञान के लिए जो शब्द प्रयुक्त होता है उससे हुई है और जिसे हम किसी भी लैटिन प्रवेशिका में सबसे पहले पढ़ते हैं जिसकी लैटिन धातु है Scio (सिओ), Scire (साइरे)। विज्ञान ज्ञान है। किन्तु ज्ञान कई प्रकार का होता है; वैज्ञानिक ज्ञान से हमारा तात्पर्य उस ज्ञान से है जो निश्चित, यथार्थ और पूर्ण रूप से व्यवस्थित होता है; वास्तविक और सुव्यवस्थित ज्ञान ही वैज्ञानिक ज्ञान है।

चूँकि दर्शनशास्त्र भी जगत् के विषय में ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, इसलिए दोनों विषयों का उद्देश्य एक जैसा प्रतीत होता है; तथापि उनमें एक अन्तर है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि विज्ञान **वर्णन** करता है, जबकि दर्शनशास्त्र **अर्थ-निरूपण** करता है। पाठकों को भी जे० आर्थर टाम्सन की पुस्तिका '**एन इन्ट्रोडक्शन टू साइंस**' को पढ़ना चाहिए। इसमें लेखक ने पियर्सन और कई अन्य आधुनिक विद्वानों का अनुसरण करते हुए विज्ञान की परिभाषा इस प्रकार दी है :

विज्ञान अनुभव के तथ्यों का सरलतम भाषा में पूर्ण एवं संगत वर्णन है।

किसी भी घटना-समूह का अध्ययन करने में वैज्ञानिक पहले तथ्यों को एकत्र

करता है, उनका विश्लेषण और वर्गीकरण करता है, उन परिस्थितियों का जिनमें वे घटती हैं ? (अर्थात् इनके कारणों का) अध्ययन करता है। उनके व्यवहार के एक रूप तरीकों का निर्धारण करता है, तथा इन सब बातों का एक व्यवस्थित लेखा तैयार करता है। यहाँ उसका कार्य समाप्त हो जाता है।

अब उन परिस्थितियों को दिखाना जिनमें कोई बात घटित होती है अर्थात् उसके कारणों को बताना निश्चय ही एक प्रकार की व्याख्या है। उदाहरण के लिए, जब हम मोतीझरा बुखार में एक प्रकार के बेसिलूस या दंडाणु की अनुपस्थिति की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं तब हम उसकी व्याख्या देते हैं और यह दिखाना भी एक प्रकार की व्याख्या है कि एक चीज़ एक सामान्य एकरूपता या **नियम** का दृष्टान्त है, जैसे यह दिखाना कि निरन्तर अपने निम्नतम बिन्दु पर गिरता हुआ पैंडुलम् गुरुत्वाकर्षण के सामान्य नियम का ही एक उदाहरण है: पैंडुलम् और पृथ्वी इत्यादि सब प्राकृतिक पिंड एक-दूसरे की ओर आने की प्रवृत्ति रखते हैं। किन्तु इसके बावजूद यह सत्य है कि विज्ञान असल में वस्तुओं की अन्तिम व्याख्या देने का प्रयत्न नहीं करता; वह केवल उनका विश्लेषण और वर्गीकरण करता है, जिन परिस्थितियों में वे घटती हैं उनका निश्चय करता है और उनकी व्यवहार-प्रणालियों को सूत्रबद्ध करता है।

अतः विज्ञान का कार्य निम्न प्रकार से होता है :[1]

I. तथ्यों को एकत्र करना
II. तथ्यों का वर्णन
   1. परिभाषा और सामान्य वर्णन
   2. विश्लेषण
   3. वर्गीकरण
III. तथ्यों की व्याख्या
   1. कारणों (नियत पूर्ववर्तियों) का निर्धारण
   2. नियमों (व्यवहार की एकरूपताओं) को सूत्रबद्ध करना

दर्शनशास्त्र और विज्ञान

दर्शनशास्त्र निश्चित, यथार्थ और सुव्यवस्थित ज्ञान की प्राप्ति में विज्ञान के ही समान है। किन्तु दर्शनशास्त्र इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होता है; यह ऐसा ज्ञान चाहता है जो सर्वग्राही भी हो। मनुष्य की बुद्धि केवल घटनाओं के नियत अनुक्रमों को निर्धारित करने और उनकी व्यवहार-प्रणाली को सूत्रबद्ध करने से ही सन्तुष्ट नहीं रहती। वह वस्तुओं की अन्तिम व्याख्या की लालसा रखती है— उनके प्रथम कारण प्रेरक कारण, उनके प्रयोजन, उनके अर्थ और उनके मूल्य की

---

1. Compare, Jared Sparks Moore, *The Foundations of Psychology*, p. 97.

भी जिज्ञासा करती है। इस तरह जगत् के **अर्थ-निरूपण** का यह प्रयत्न दर्शनशास्त्र के उद्देश्यों में से एक है जबकि विज्ञान का कार्य वर्गीकरण, सूत्रबद्ध करना और वर्णन करना है। जैसा कि ब्राड महोदय का कथन है, "दर्शनशास्त्र का उद्देश्य विभिन्न विज्ञानों के परिणामों को लेना, उनके साथ मनुष्य जाति के धार्मिक और नैतिक अनुभव के परिणामों को जोड़ना तथा इस समष्टि के ऊपर चिन्तन करना है। यह आशा की जाती है कि इस प्रकार हम विश्व की प्रकृति, तथा उसमें अपनी स्थिति और भविष्य के सम्बन्ध में कुछ सामान्य निष्कर्षों तक पहुँच सकते हैं।"[1]

इसमें सन्देह नहीं है कि यह **महत्त्वाकांक्षी** उद्यम, विशेष विज्ञानों के कार्य का सारसंग्राही दृश्य प्राप्त करने की और फिर उन सब में कोई **अर्थ** खोजने की यह आशा ही वे बातें हैं जिन्होंने भूतकाल में वैज्ञानिकों को दर्शनशास्त्र की प्रतिकूल आलोचना करने को उकसाया है। परन्तु निश्चय ही न तो सम्पूर्ण का सारसंग्राही दृश्य प्राप्त करने का प्रयत्न और न उसके अर्थ-निरूपण का प्रयत्न स्वतः आलोचना का कारण बन सकता है, क्योंकि मनुष्य की बुद्धि इन दोनों के प्रति प्राथमिक रुचि रखती है और मनुष्य की रुचि की कोई भी वस्तु वैज्ञानिक गवेषणा का, जिसमें वैज्ञानिक तरीकों का उपभोग हो, उचित विषय है। आलोचना की अभिवृत्ति तभी उत्पन्न होती है जब कार्य में ग़लत तरीके उपयोग में लाए जाते हैं या हाथ में लिया हुआ कार्य निराशापूर्ण समझा जाता है। बाद में उल्लिखित आलोचना बड़ी शिथिल है और विचारों की प्रगति के किसी भी स्तर पर उपलब्धियों की सम्भावना के विरुद्ध की जा सकती है। जहाँ तक प्रणाली का सम्बन्ध है, यह निश्चित ही सत्य है कि अतीत में तार्किक प्रणालियों का उपयोग विज्ञान की भाँति दर्शनशास्त्र के अध्ययन में भी हमेशा नहीं किया गया है।

अब हम प्रणाली के प्रश्न को बाद के अध्यायों के लिए छोड़कर दर्शनशास्त्र की विषयवस्तु को अपने मन में ठीक तरह से बैठा लें। मेरे विचार से यह कहा जा सकता है कि दर्शनशास्त्र के दो विभिन्न कार्य हैं, जो दोनों ही विज्ञान के कार्य से भिन्न हैं और दोनों ही स्पष्ट रूप से मानवीय विचार के उचित क्षेत्र हैं। तो, प्रथम है सम्पूर्ण विश्व के विषय में, विशेषकर उसके अर्थ, उद्देश्य और मूल्य को लेकर सचेत होकर विमर्श करना और दूसरा है उन संप्रत्ययों का आलोचनात्मक परीक्षण जो विज्ञान और सामान्य बुद्धि दोनों के उपयोग में आते हैं। पहले को परिकल्पनात्मक दर्शन (specualtive philosophy) और दूसरे को आलोचनात्मक दर्शन (critical philosophy) कहते हैं।[2]

1. C. D. Broad, *Scientific Thought* (Harcourt, Brace and Company, 1923), p. 20.
2. C. D. Broad, '*Scientific Thought*' (Harcourt, Brace and Company) की भूमिका से तुलना कीजिए। बाद के किसी अध्याय में हम 'परिकल्पनात्मक' शब्द का अर्थ बताएँगे।

इन दोनों क्षेत्रों में से प्रथम के सम्बन्ध में हम दोबारा यह बता दें कि जीवन का सारसंग्राही ज्ञान प्राप्त करने की मानव मन की यह एक उत्कट लालसा रही है जिसे दर्शनशास्त्र पूरा करने का प्रयत्न करता है। हम जगत् के केवल परिमाणात्मक ज्ञान, उसके गणितीय सम्बन्ध का ज्ञान, उसकी घटनाओं के पूर्व-कथन की क्षमता की ही इच्छा नहीं करते, अपितु उसके **आंतरिक गुणात्मक स्वरूप** का कुछ ज्ञान अथवा कम-से-कम कोई सिद्धान्त भी चाहते हैं और वह हमें प्राप्त होना ही चाहिए।

विज्ञान आज गुणात्मक होने के बजाय परिमाणात्मक है। वह दो घटनाओं की तीव्रताओं के सम्बन्ध को अभिव्यक्त करता है—उदाहरण के लिए विद्युत् धारा और तापदीप्त बल्ब के प्रकाश की तीव्रताओं का सम्बन्ध व्यक्त करता है तथा "कैसे" सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देने की अपनी अयोग्यता की प्रतिपूर्ति 'कितना' सम्बन्धी सामग्री से करता है। अनु-संधानात्मक निबन्ध और पाठ्यपुस्तक दोनों ही प्रेक्षणीय परिमाणात्मक सम्बन्ध पर बल देते हैं और शायद ही कभी परिकल्पनाकी उस पश्चभूमि में जाने का साहस करते हैं जहाँ "कितना" से "कैसे" को प्राथमिकता अवश्य दी जाती है। विज्ञान का अध्यापन आज हम अपने विद्यालयों में जिस तरह करते हैं, उस तरह परिमाणात्मक सम्बन्धों को सीखने का प्रयत्न प्रायः शिक्षक के लिए या विद्यार्थियों के लिए, स्वयं यंत्रवत् प्रक्रिया के समान उपयोगी जाँच या परिकल्पना के निमित्त कोई अवकाश नहीं छोड़ता है।[1]

वैज्ञानिक सदा ही, मापन, तोलन, परिकलन करता, और विस्तारपूर्ण खाके बनाता रहता है। दार्शनिक कहता है, "यह सब उपयोगी और आवश्यक कार्य है; किन्तु मैं यह जानना चाहूँगा—या इस बात की कम-से-कम एक झलक लेना चाहूँगा कि यह सब करने के बाद मकान कैसा दिखाई देगा। मैं वैज्ञानिकों के कठिन परिश्रम का वास्तव में आभार मानता हूँ, किन्तु कभी-कभी—इन विस्तारपूर्ण बातों के अध्ययन से मैं थक जाता हूँ—और किसी सम्पूर्ण चित्र को देखने की लालसा करता हूँ।"

दर्शनशास्त्र ज्ञान के सैंकड़ों विचित्र आकार-प्रकार के पुंजों की इस चित्र-पहेली को यह देखने के लिए संकलित करने का प्रयत्न करता है कि उनसे जगत् की कैसी तसवीर बनती है। इसी अर्थ को लेकर बेकन ने दृढ़ता से कहा था कि "दर्शनशास्त्र समस्त ज्ञान को अपने क्षेत्र में समेट लेता है।" वह वैज्ञानिकों, मनोवैज्ञानिकों और इतिहासकारों के परिश्रम से किए कार्यों को कम अथवा वृथा करने की अनधिकार चेष्टा नहीं करता है—और न उसे करना चाहिए; उसका उद्देश्य उनके कार्यों को संश्लेषित करके

1. John Mills, *Within the Atom* (D. Van Nostrand Company), p. xi.

मनुष्य की आत्यंतिक आवश्यकताओं पर केन्द्रित करना है। **दर्शनशास्त्र ज्ञान का एकीकरण है और विज्ञानों का संश्लेषण है।**[1]

मिस्त्री आपको कल के सभी पुर्ज़ों का काम बतला देगा; किन्तु स्वयं कल का क्या अर्थ है ? वनस्पतिज्ञ आपको वृक्ष की जड़, शाखा, पत्ते और तने का अर्थ बतला देगा और सम्भवतः वनस्पति-जीवन की व्यवस्था में उस वृक्ष का भी अर्थ बतला दे; परन्तु स्वयं जीवन का क्या अर्थ है ? जीवन का क्या कोई अर्थ है भी ? क्या प्रकृति का कोई अर्थ है ? क्या इस जगत् का कोई अर्थ है ? चेतना का कोई अर्थ है ? शायद किसी का भी कुछ अर्थ, मूल्य या उद्देश्य नहीं है; **किन्तु इस परिणाम पर विमर्शात्मक जाँच के बाद ही पहुँचा जा सकता है—और यह विमर्शात्मक जाँच ही दर्शन होगा।**

जैसे-जैसे विज्ञान स्वयं को प्रतीकों और गणित के समीकरणों की रहस्यात्मक पृष्ठभूमि में समेटता जा रहा है और इन प्रतीकों के पीछे जो बातें हैं उनके प्रति बलात् उदासीन होता जा रहा है, वैसे-वैसे विज्ञान को दर्शन की सहायता की आवश्यकता है— यह माँग उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण होती जा रही है। आर्थर एडिन्गटन महोदय ने कहा है, "भौतिक जगत् की घटनाओं को समझने के लिए समीकरणों को जानना आवश्यक है जिनके अनुसार प्रतीक कार्य करते हैं, परन्तु जिनके वे प्रतीक हैं, उनकी प्रवृत्ति को जानना आवश्यक नहीं है। यहाँ इस परिवर्तन का पक्ष-पोषण करना, इन प्रतीकात्मक समीकरणों से प्राप्त बौद्धिक संतोष को स्पष्ट करना, अथवा इस बात की व्याख्या करना कि जनसाधारण की एक ठोस व्याख्या की माँग को क्यों ठुकरा दिया जाना चाहिए, अप्रासंगिक होगा।"[2] किन्तु दार्शनिक यह उत्तर दे सकता है कि जो बौद्धिक संतोष वैज्ञानिक को प्रतीकों और समीकरणों से मिलता है वही दार्शनिक को प्रतीकों के पीछे निहित वास्तविकता के बारे में प्राक्कल्पनाएँ करने से मिलता है। दार्शनिक होने के रूप में ही एडिन्गटन आगे कहते हैं कि संवृत्तियों की पृष्ठभूमि में ही हमारा अपना व्यक्तित्व और हमारी चेतना निवास करती है।

• संप्रत्ययों का विश्लेषण

ऊपर बतलाये हुए संप्रत्ययों का आलोचनात्मक परीक्षण दर्शनशास्त्र का दूसरा कार्य है। तार्किक क्रम में इसे प्रथम होना चाहिए, किन्तु अधिकतर विद्यार्थियों की रुचि की दृष्टि से यह दूसरा है।

---

1. Durant Drake, *Invitation to Philosophy* (Houghton Mifflin Company), p. ix.

2. Sir Arthur Eddington, *Science and the Unseen World*, p. 30. (Allen and Unwin Ltd. and the Macmillan Company). प्रकाशकों की अनुमति से उद्धृत।

सभी विज्ञान कुछ संप्रत्ययों और अभिगृहीतों का उपयोग करते हैं जिनके आलोचनात्मक परीक्षण की आवश्यकता है। एक ऐसे सामान्य विज्ञान की आवश्यकता है जो इन संप्रत्ययों और अभिगृहीतों की संपरीक्षा का कार्य हाथ में ले और इस कार्य को अन्य विशेष विज्ञानों की जितनी आवश्यकता है उससे भी आगे बढ़ा ले जाए। उदाहरण के रूप में जड़ द्रव्य, मनस्, ऊर्जा, दिक्, काल, कारण, नियम—अर्थात् प्राकृतिक नियम—क्रम, गुण, परिमाण, शृंखला, व्यक्तित्व जैसे संप्रत्ययों को लिया जा सकता है। इनके परीक्षण को संभालना दर्शनशास्त्र का कार्य है।

किन्तु केवल विज्ञान के ही संप्रत्यय ऐसे नहीं जिनके आलोचनात्मक विश्लेषण की आवश्यकता है। जिन संप्रत्ययों का दर्शनशास्त्र में उपयोग होता है और जिनका दैनिक जीवन में उपयोग होता है उनके अध्ययन की आवश्यकता भी उतनी ही है। दृष्टान्त के लिए हम सत्य, प्रयोजन, ज्ञान, शुभ, अशुभ, ईश्वर, सौन्दर्य और आनन्द जैसे संप्रत्ययों का उल्लेख कर सकते हैं। यहाँ भी दर्शन-शास्त्र और विज्ञान के भेद पर बहुत बल देने की आवश्यकता नहीं है। दोनों ही अपने संप्रत्ययों का ठीक-ठीक अर्थ जानने और उनका सही उपयोग करने को उत्सुक हैं।

विश्लेषण की यह आवश्यकता दो ऐसे संप्रत्ययों के उदाहरण से दिखाई जा सकती है जिनका हमेशा विज्ञान और दर्शनशास्त्र में उपयोग किया जाता है। वे हैं **कारण** (कार्योत्पादन और कारणता सहित) और **नियम** (अर्थात् प्रकृति के नियम)।

कारण

सभी विज्ञान कारणों की खोज में केवल इसलिए व्यस्त नहीं हैं कि उनका ज्ञान हो जाय, वरन् इसलिए भी हैं कि यदि कारण समझ में आ जाएँ तो प्रकृति की शक्तियों को नियन्त्रित किया जा सकेगा और भविष्य बतलाया जा सकेगा। इसलिए वैज्ञानिक क्रिस्टलीकरण, ज़ंग लगने (rust), दूध के फटने, फ़सल खराब होने, मलेरिया और मोतीझारा बुखार और नासूर, व्यापार की मन्दी और उसके अच्छे समय, हड़तालों, युद्ध और सामाजिक नैतिकता के पतन के कारणों को जानना चाहता है। दैनिक जीवन में भी हम सब कारणों की खोज में रहते हैं; उदाहरण के लिए, अपनी कलम के लीक करने, अपनी त्वचा के रंग के फीका पड़ने अथवा अपने बालों के झड़ने, पड़ोसी के पुत्र की सफलता, और खिलाड़ी की पराजय इत्यादि के कारणों को जानना चाहते हैं।

कारण के संप्रत्यय के अध्ययन में दो समस्याएँ हैं—1. कारण क्या है ? 2. क्या जगत् की प्रत्येक घटना का कोई कारण होता है—या कि कुछ घटनाएँ पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होती हैं ? जहाँ तक इनमें से दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है, भौतिक विज्ञान कारणता के नियम को सार्वभौम मानते हैं। कारण के बिना और

पर्याप्त कारण के बिना कुछ नहीं घटता —वर्तमान पूर्ण रूप से भूतकाल की उपज या परिणाम है और भविष्य वर्तमान का परिणाम होगा। जो भी घटना हमारे सामने प्रस्तुत होगी, हम पूर्ण विश्वास के साथ उसके कारण को ढूँढ सकते हैं। वह पिछली किसी घटना के कारण होती है। सभी वैज्ञानिक अनुसंधान इसी अभ्युपगम को आधार मानकर किए जाते हैं, जिनके बिना वे सब निरर्थक हो जाएँगे। जैसा कि मेक्स प्लैन्क कहता है, कारणता के नियम को अनुसंधान के आरम्भ में ही मानकर वैज्ञानिक तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में कूद पड़ता है, क्योंकि कारणता का नियम इन्द्रियानुभव से बिलकुल भी प्राप्त नहीं होता।[1]

परन्तु दर्शनशास्त्र को अब इसे पड़ताल का विषय बनाना चाहिए। क्या कारणता एक सार्वभौम नियम है? क्या मानव-कर्म के क्षेत्र में इसके अपवाद नहीं हैं? क्या मानव की संकल्प-शक्ति स्वतन्त्र नहीं है? क्या यह नियम नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान या जीव-विज्ञान में भी सर्वत्र लागू हो सकता है? क्या जीवन किसी भी अर्थ में स्वतन्त्र है?

अभी कुछ दिनों से संकल्प-स्वातन्त्र्य और नियतत्ववाद की पुरानी समस्या में रुचि जाग्रत हुई है। यह एक नए नियम के कारण हुआ है जो भूतद्रव्य के उन सूक्ष्म एककों के व्यवहार के बारे में ज्ञात हुआ है जिनका सूक्ष्म भौतिकी में अध्ययन किया जाता है। यदि हमें किसी पिंड के वेग और उसकी स्थिति का ज्ञान है तो हम पहले से यह जान सकते हैं कि अगले क्षण वह कहाँ होगा; किन्तु ये प्रसंग प्राप्त कण उस प्रकार से व्यवहार नहीं करते जैसा कि जड़द्रव्य के संयत टुकड़ों को करना चाहिए। उनके व्यवहार को नियमित करने वाले सांख्यिकीय नियमों को हम निर्धारित कर सकते हैं, किन्तु किसी एक कण के व्यवहार को नहीं। इसलिए विज्ञान के एक नए और चौंका देने वाले सिद्धान्त का प्रादुर्भाव हुआ है—जिसे अनिश्चितता का नियम या हाईजेन्बर्ग (Heisenberg) महोदय के अनुसार **अनिर्धार्यता-सिद्धान्त** कहा जाता है। इसका प्रभाव संकल्प-स्वातन्त्र्य की पुरानी समस्या पर पड़ता मालूम देता है। जिन लोगों की इसमें पक्की आस्था है उन्होंने इस अनिर्धार्यता के सिद्धान्त की खोज का अनियतत्ववाद के सिद्धान्त को नया बल देनेवाले के रूप में स्वागत किया है। यह नया बल स्वयं विज्ञान के क्षेत्र से सीधे मिला है। किन्तु इस विषय के ध्यानपूर्वक अध्ययन की आवश्यकता है। हम बाद के किसी अध्याय में पुनः इसकी चर्चा करेंगे।

किन्तु यदि हम कारणता-नियम की सार्वभौमिकता के प्रश्न को हल भी कर लें तो भी हमारे सामने एक और प्रश्न रहेगा। कारण क्या है? विज्ञान यद्यपि कारणों की खोज में अधिकांशतः व्यस्त है तथापि वह इस प्रश्न की तत्त्वमीमांसा से सम्बन्धित नहीं है। कारणों के निर्धारण के लिए निश्चय ही उसे कोई आधार

---

1. Max Planck, *Where is Science Going?* p. 158 f.

चाहिए और उसके पास इसका एक साधारण नियम है। कारण एक नियत पूर्ववर्ती है। यदि हम किसी चीज़ का कारण खाज रहे हैं जैसे टाइफाइड बुखार का, और नियत रूप से किसी दंडाणु को उपस्थित पाते हैं, तो उसे इस बुखार का कारण कहा जाता है। इस संप्रत्यय से लैस होकर कि कारण एक **अनुक्रम** मात्र है और यह मानकर कि प्रकृति में एकरूपता है, वैज्ञानिक को वह सब कुछ प्राप्त हो जाता है जो उसे घटनाओं को नियन्त्रित करने और भविष्य का पूर्वानुमान करने के लिए आवश्यक है। अनुक्रम के साधारण ज्ञान मात्र से वह टाइफाइड बुखार को रोक सकता है, फसल को बरबादी से बचा सकता है और अपने बच्चों की सफलता तथा स्वास्थ्य प्राप्त कर सकता है।

किन्तु फिर भी हम यह नहीं जानते कि कारण वास्तव में है क्या ? ऐसा लगता है कि कारणता में समय के अनुक्रम मात्र के अतिरिक्त कुछ और भी अवश्य होना चाहिए; कार्य और कारण के मध्य कोई अन्तरंग सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। दर्शनशास्त्र इस सम्बन्ध की खोज करता है।

अप्रशिक्षित बुद्धि कार्य और कारण के सम्बन्ध को ऐसा समझती है कि मानो कारण कार्य को **उत्पन्न** करता है। कारण एक प्रकार का **कारक** होता है जो कार्य पर किसी न किसी तरह का प्रभाव डालता है; कारण और कार्य के बीच एक **प्रवर्त्तक** प्रक्रिया होती है। यांत्रिक कारणों के विषय में हमारे लिए यह विश्वास करना बहुत कठिन है कि यह ठीक नहीं है, और यह सिद्ध करना बहुत कठिन होगा कि कार्य-कारण में एकत्व लाने के लिए यांत्रिक अनिवार्यता नाम की कोई वस्तु नहीं है। किन्तु विज्ञान को किसी ऐसे अनिवार्य सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है और दर्शनशास्त्र उसे दृढ़तापूर्वक स्वीकार करने में संकोच करता है, क्योंकि जैसाकि ह्यूम ने संकेत किया था कि ऐसे मामले में जो भी अनिवार्यता हो वह केवल विचार की अनिवार्यता ही हो सकती है। हम वस्तु-निष्ठ अनिवार्यता के विषय में कुछ नहीं जानते और कारण का यह संप्रत्यय कि एक **कारक** की हैसियत से कार्य के ऊपर कुछ प्रभाव डालता है; निःसंदेह ही कारक के रूप में हमारे अपने अनुभव से ही प्रकृति पर आरोपित किया गया एक तरह का साम्यानुमान है। जब मैं प्रयत्न करता हूँ और बाधाओं को हटाने के लिए ताकत का प्रयोग करता हूँ, जैसे किसी भौतिक वस्तु को हटाने के लिए, तो एक प्रकार के **प्रवर्त्तन** की भावना उत्पन्न होती है, यह भावना कि मैं स्वयं कारक के रूप में परिवर्तन ला रहा हूँ। जब हम कुछ करते हैं या अपने साथ कुछ होता देखते हैं तो हमें किसी **शक्ति** या **ताकत** का अनुभव होता है, इसलिए जब हम प्रकृति में कुछ होता देखते हैं तो हम अपने प्रयत्न का, अभिकर्त्ता के इस आन्तरिक अनुभव का, जिसे हम अपने जीवन में होने वाली घटनाओं का कारण समझते हैं, अक्षुण्ण रखते हैं और यह मानते हैं कि कारणता सामान्य रूप से ऐसी ही शक्ति या प्रवर्त्तन है। इसी को कारणता की **जीवत्वारोपी** या **सजीवत्वारोपी** व्याख्या

कहा जाता है अर्थात् प्राकृतिक वस्तुओं की व्याख्या अपने मनोभावों और अनुभवों के आधार पर करना। और विज्ञान में ऐसी मान्यता करना बिलकुल अनावश्यक है, क्योंकि अनुभव की नियमितता मात्र में देखी जाने वाली एकरूपता से ही उसके साध्यों की सिद्धि पूरी तरह हो सकती है। घटनाओं में नियमितता और एकरूपता होती है। इसके आगे हमें यह भी मालूम हो रहा है कि प्रकृति के नियम अधिकांशतः सांख्यिकीय हैं जो समानुपातों के प्रेक्षण पर आधारित हैं। जैसा कोंजर का कथन है, "यह प्रतीत होता है कि हमारा वैज्ञानिक ज्ञान अपने मूल में ही शिथिल और अनिश्चित है, जो कुछ बिखरे ज्ञान के चुनाव पर आधारित है, जिसमें प्रसंग की अन्य बातों का या तो ज्ञान नहीं होता या उन्हें छोड़ दिया जाता है। और हमारे कारणता के नियमों में भी इस प्रारम्भिक दोष का कुछ अंश होना चाहिए।"[1]

परन्तु यह हमें समझाया जा चुका है, तब भी हमारा ऐसा विश्वास है कि घटनाओं में नियतक्रम के अतिरिक्त भी कोई और मेल या सम्बन्ध होना चाहिए, इसलिए दर्शनशास्त्र ने विज्ञान से भी आगे बढ़कर इस सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए कारणता के विभिन्न सिद्धान्त बनाए हैं। सम्भवतः यह जगत् अनन्त प्रक्रिया है जिसमें कारणता का सिद्धान्त तार्किक आधार के सिद्धान्त में परिवर्तित किया जा सकता है। सम्भवतः जगत् एक ऐसा अवयवी है जिसमें प्रत्येक अवयव का दूसरे अवयव से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सम्भवतः जगत् ऐसी गतिपरक एकता है जिसमें उसके सभी भागों में अन्योन्यक्रिया है। सम्भवतः अलग-अलग वस्तुओं में एकता लानेवाले अलग-अलग अनुबन्ध नहीं हैं, ईश्वर ही जोड़ने वाली शक्ति है जो अपने में सब वस्तुओं में एकता लाती है। सम्भवतः सभी वस्तुएँ एक ही अस्तित्व के अंग हैं; जिससे वस्तुओं में प्रकट रूप से व्यवस्था और मेल होता है, वस्तुओं की एकता ऐसी एकता होती है जिसे व्यक्तित्व कहा जाता है। सम्भवतः —और यह व्याख्या सब व्याख्याओं में अत्यन्त सारयुक्त हो सकती है—कारण वास्तव में वही है जो प्रचलित धारणा के अनुसार माना जाता है, अर्थात् **उत्पादक क्रिया, सर्जनात्मक शक्ति**, और सम्भवतः कारण को काल में पूर्ववर्ती मानकर उसका वैज्ञानिक प्रयोग इस बात की ओर इंगित करता है कि वह घटनाओं का पूर्वकथन करने का एक उपयोगी चिह्न मात्र है।[2]

---

1. G. P. Conger, *New Views of Evolution*, p. 213 (The Macmillan Company). प्रकाशकों की अनुमति से।
2. कारणता की समस्या पर चर्चा के लिए पढ़िए :
   Hume, *A Treatise on Human Nature*, bk. I, part III.
   Karl Pearson, *The Grammar of Science*, 3d ed. part I, chap. IV.
   John Stuart Mill, *Logic*, bk III, chaps. III IV V XXI XXII.
   Bertrand Russell, *Principles of Mathematics*, 1, chap. LV.
   W. T. Marvin, *A First Book of Metaphysics*, chap. XI.

आदि कारण

पुन: चूंकि विज्ञान इस विश्वास से सन्तुष्ट है कि प्रत्येक घटना का कोई कारण होता है और यह मान्यता उसके परिणामों से पूरी तरह प्रमाणित है तो दर्शन का विद्यार्थी आदि कारण की खोज करने का आग्रह करेगा। किसी कार्य से कारण पर और फिर उसके कारण पर जाने की अनन्त शृंखला से उसकी किसी प्रकार की अवयवी या सम्पूर्ण तन्त्र को जानने की जिज्ञासा शान्त नहीं होती। इसलिए हम सरलता से यह कह सकते हैं कि आरम्भ में ईश्वर ने जगत् की सृष्टि की और इस प्रकार चित्र को पूरा कर सकते हैं किन्तु इससे अन्य उलझनें पैदा होंगी जिन्हें हम हल करने की इच्छा रखते हैं।

आगे चलकर हम यह भी प्रश्न कर सकते हैं -- अच्छा क्या यह पूर्णत: निश्चित है कि प्रत्येक घटना का कोई कारण होता है? क्या यह नहीं हो सकता कि घटनाएँ बिना किसी कारण के ही हों? और इसके अतिरिक्त क्या मैं रोज़ और शायद हर घड़ी, स्वतन्त्रता के कार्यों के प्रति चेतन नहीं हूँ जिसमें मेरी वरणशक्ति किसी पूर्वगामी घटना से निर्धारित न हो? क्या मैं घटनाओं का स्वयं स्वतन्त्र और सृजनात्मक स्रोत नहीं हूँ—और क्या ऐसे अन्य स्रोत नहीं हो सकते?

प्रयोजन कारण

किन्तु कारणता समस्या का एक दूसरा पहलू भी विज्ञान की सीमाओं और दर्शनशास्त्र की आवश्यकता दर्शाता है। प्रयोजन कारणों के विषय में हम क्या कहेंगे? **प्रयोजन कारण** शब्द का प्रयोग अरस्तू ने एक विशेष अर्थ में किया था। यहां **प्रयोजन** शब्द किसी प्रथम या अन्तिम कारण का बोधक नहीं है वरन् किसी कर्म के **उद्देश्य** अथवा **साध्य** के अर्थ में है, जैसाकि लैटिन भाषा में 'फिनिस' (finis) शब्द का अर्थ होता है। मानव-सम्बन्धी विषयों में किसी कर्म के उद्देश्य या प्रयोजन अथवा कर्म के फल को ही कारण कहा जाता है जैसे सूर्यग्रहण का पूर्व विचार करने के कारण ही हम दूरबीन को किसी विशेष स्थिति में रखते हैं। इसलिए प्रश्न यह उठता है कि क्या मनुष्य सम्बन्धी विषयों से बिलकुल अलग प्रकृति में भी पाने योग्य कुछ उद्देश्य हैं जिन्हें किसी प्रकार से सारी संरचनाओं और प्रक्रियाओं को निर्धारित करने वाला समझा जा सकता है; अर्थात् क्या प्रकृति में प्रयोजन और साथ ही साथ निमित्त कारण होते हैं। विज्ञान का प्रयोजन-कारण से कोई सम्बन्ध नहीं है; किन्तु फिर भी जिज्ञासु यह आश्चर्य करता है कि क्या प्रकृति की वस्तुएँ प्राप्य उद्देश्यों से किसी न किसी प्रकार निर्धारित नहीं हैं?

प्रकृति के नियम

अब विज्ञान की दूसरी मौलिक अवधारणा, अर्थात् **नियम** पर विचार कीजिए। प्रकृति का नियम क्या है? विज्ञान इन नियमों की खोज तथा उनकी

सूत्रबद्ध करने में बहुत व्यस्त है; उदाहरण के लिए रासायनिक संयोजकता, ऊष्मागति विज्ञान या गिरनेवाली वस्तुओं के नियम। हम यह कहते हैं कि वस्तुएँ प्रकृति के नियमों का **पालन** करती हैं और जगत् प्राकृतिक नियमों से **संचालित** होता है। यहाँ जनसाधारण में बड़ी भ्रान्ति है और विद्यार्थी को समझना चाहिए कि विज्ञान में नियम का क्या अर्थ है और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की क्या सीमाएँ हैं। **नियम** शब्द दो नितान्त भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है और इसलिए यह अच्छा होता कि हमारे पास इन दोनों भिन्न अर्थों के लिए दो भिन्न शब्द होते। नीति और विधिशास्त्र में तो नियम एक आदेश या विधि हैं जिन्हें कोई प्राधिकारी लोगों पर आरोपित करता है और जिसका उन्हें पालन करना होता है। विज्ञान में इस शब्द का ऐसा कोई अर्थ नहीं है; इसका अर्थ घटनाओं में पायी जानेवाली एकरूपता है। सही अर्थों में प्रकृति का नियम प्राकृतिक वस्तुओं में पाई जाने वाली एकरूपता के लिए केवल एकसूत्र मात्र या संक्षिप्त अभिव्यक्ति है। पियर्सन ने कहा है कि नियम, कुछ वर्ग के प्रत्यक्षीकरणों और धारणाओं के सम्बन्धों तथा उनके अनुक्रमों का **सारांश या संक्षिप्त विवरण** है और तभी अस्तित्व में आता है जब मनुष्य उसे बनाता है।[1]

अतः हम देखते हैं कि प्रकृति के नियम, कोई ताक़त या शक्ति या आदेश नहीं हैं। वे घटनाओं की एकरूपता के संक्षिप्त कथनों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। इसलिए जगत् प्रकृति के नियमों से "संचालित" नहीं है; न ही जगत् की वस्तुएँ इन नियमों का "पालन" करती हैं। हमें जगत के **संचालन** के लिए कहीं और खोज करनी होगी क्योंकि प्रकृति के नियम तो इसके लिए अशक्त हैं।

इस तरह विज्ञान हमें यह नहीं बतलाता कि वस्तुएँ कार्य **क्यों** करती हैं वरन् यह बतलाता है कि वे **कैसे** करती हैं; उनके कार्य करने की **आदत** क्या है? जब हम परमाणुओं की क्रिया का अध्ययन उनके रासायनिक संयोग में करते हैं तो यह पाते हैं कि वे निश्चित तरीक़ों से क्रिया करते हैं; किन्तु हम यह नहीं जानते कि वे ऐसी क्रिया क्यों करते हैं। उनमें परस्पर वह बात देखने को मिलती है जिसे हम पारस्परिक **बन्धुता** कहा करते थे, उदाहरण के लिए जल का एक बिन्दु बनाने के लिए हाइड्रोजन के दो परमाणु और ऑक्सीजन का एक परमाणु मिलाते हैं। किन्तु **बन्धुता** (affinity) शब्द मानवीय साम्यानुमान से लिए गए किसी सिद्धान्त की ओर संकेत करता है और शायद कोई रसायनविद् इसका समर्थन नहीं करेगा। वह केवल देखी गई एकरूपताओं का लेखा रखकर ही सन्तुष्ट होता है।

गुरुत्वाकर्षण नियम जिसे न्यूटन ने पहले-पहल प्रतिपादित किया था यह नहीं बताता कि वस्तुएँ एक-दूसरे की ओर क्यों खिंचती हैं; वरन् केवल यह

1. Karl Pearson, *Grammar of Science*, 3d ed., part I, p. 82.

बतलाता है कि यह कैसे होता है। नियम यह बतलाता है कि "विश्व में पदार्थ का प्रत्येक कण अपने द्रव्यमान के अनुसार दूसरे कण को आकर्षित करता है, और प्रतिलोमतः उसकी दूरी के वर्ग की भाँति उसे अलग करता है।"[1] यह कहा जाता है कि न्यूटन के दिमाग में यह बात सेब को गिरता हुआ देखने पर आयी थी कि सारे ब्रह्मांड के पिंड—उदाहरणार्थ, पृथ्वी और चंद्रमा—एक-दूसरे की ओर उसी तरह खिंचते हैं जैसे सेब पृथ्वी की ओर खिंचता है। नियम उनके खिंचने के ढंग को बतलाता है किन्तु कारण को नहीं बतलाता। न तो न्यूटन को यह मालूम था कि वस्तुओं में पारस्परिक खिंचाव क्यों होता है और न ही आज तक किसी और को मालूम है। नियम में प्रयुक्त होने वाले **आकर्षित** शब्द का भी तकनीकी अर्थ है, क्योंकि उसका अर्थ यह नहीं है कि भौतिक पिंडों में मानवीय अर्थ में कोई "आकर्षण" होता है। वे एक साथ चल सकते हैं; या जैसा आइन्स्टाइन का विचार है कि उनकी गति पिंडों के बीच या उनके ऊपर पड़ने वाले बल के कारण न होकर दिक् के स्वरूप के कारण हो सकती है।

इसलिए, हम देखते हैं कि विज्ञान की दृष्टि से प्रकृति का नियम न केवल एक ताक़त या बल नहीं है। अपितु यह भी कि हमें कार्य करनेवाले बलों के स्वभाव के विषय में अथवा ऐसे बल हैं भी, इसके विषय में कुछ नहीं बताता। परन्तु मनुष्य का मस्तिष्क ऐसा बना है कि वह केवल यही नहीं जानना चाहता कि वस्तुएँ कैसे कार्य करती हैं बल्कि यह भी जानना चाहता है कि वे इस प्रकार कार्य **क्यों** करती हैं। इसलिए विज्ञान को दर्शनशास्त्र की सहायता की आवश्यकता है।

नियम के विषय को छोड़ने से पूर्व एक और प्रश्न भी उठ सकता है। यदि यह मान भी लिया जाय कि नियम हमें उन शक्तियों के विषय में जिसके कारण उनमें गति आती है और वे क्रिया करती हैं, कुछ नहीं बतलाता तो भी क्या यह कहना बिलकुल सत्य है कि प्रकृति का एक नियम प्रेक्षित एकरूपता के आधार पर बनाए गए नियम के अलावा और कुछ नहीं है और वह मनुष्यकृत होता है और मनुष्य के द्वारा बनाए जाने से पहले उसका अस्तित्व नहीं होता? जैसाकि हम देख चुके हैं यह कथन पियर्सन का है इसलिए ऐसा प्रतीत होगा कि न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के नियम की खोज नहीं की वरन् उसका निर्माण किया। निश्चय ही, आप यह कहते हैं कि खगोलीय पिण्डों का व्यवहार न्यूटन के देखने या किसी मनुष्य के अस्तित्व में आने के पूर्व ठीक इसी तरह का था; जबकि पियर्सन अपने कथन की रक्षा करने के लिए यह तर्क दे सकते हैं कि नियम देखी गई एकरूपता के आधार पर ही बनाया जाता है इसलिए किसी प्रेक्षक का होना आवश्यक है और प्रकृति में केवल कुछ अनुक्रम और सम्बन्ध ही होते हैं; तथापि ऐसे कई दार्शनिक

1. Simon Newcomb, *Popular Astronomy*, 6th ed., revised, p. 81.

हैं जो इस विषय में पियर्सन से बिलकुल सहमत नहीं होंगे।

कुछ और भी मत हैं जिन्हें अपनाया जा सकता है। कोई यह कह सकता है कि प्रकृति के नियम ईश्वर के **व्यादेश** हैं इसलिए वे मनुष्य के उन नियमों के समान हैं जिस अर्थ में हम उन्हें विधिशास्त्र में प्रयुक्त करते हैं। या यदि यह स्थिति बहुत सरल लगे तो प्लेटो के साथ यह कहा जा सकता है कि नियम वस्तुओं से परे शाश्वत सत्ताएँ हैं और सभी वस्तुएँ नियम का पालन करती हैं। या कोई नियम की धारणा का तार्किक विश्लेषण करते हुए पीछे जाकर उसे प्रकृति की एकरूपता की सामान्य धारणा से व्युत्पन्न या इससे भी पीछे जाकर क्रम की और भी सामान्य धारणा से व्युत्पन्न बता सकता है; **क्रम** की धारणा विश्व की धारणा में निहित है।[1]

मैंने दो संप्रत्ययों का उल्लेख किया है—**नियम** का और **कारण** का जिनका प्रयोग हर विज्ञान में लगातार किया जाता है; और फिर भी विज्ञान में जिनकी परिभाषा इस तरह नहीं दी जाती जिससे जिज्ञासु सन्तुष्ट हो सके। यही बात उन अनेक शब्दों पर भी लागू होती है जिनका प्रयोग विज्ञान में किया जाता है, जैसे, **दिक्, काल, ऊर्जा, जड़तत्त्व** और **मनस्**। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि इन शब्दों का परीक्षण करने के लिए दर्शनशास्त्र अथवा तत्त्व-मीमांसा जैसे किसी सामान्य विज्ञान की आवश्यकता है।

अनुभव के तथ्य

कम से कम एक शब्द ऐसा है जिसकी आलोचनात्मक परीक्षा की विशेष आवश्यकता है और यह शब्द है **तथ्य** या **अनुभव का तथ्य**।

यदि विज्ञान अनुभव के तथ्यों का पूर्ण और संगत विवरण हो तो प्रश्न यह उठेगा, कि अनुभव का तथ्य क्या है? निस्संदेह विज्ञान को "तथ्य" की परिभाषा की आवश्यकता है। इसकी परिभाषा साधारणतः इस प्रकार की जाती है कि इस का तात्कालिक प्रेक्षण होता है, अनुमान नहीं किया जाता और हमारे प्रेक्षण का माध्यम आमतौर से हमारी कोई न कोई ज्ञानेन्द्रिय होती है; जैसे, आँख, कान या हाथ; किन्तु कभी-कभी तथ्य का प्रेक्षण आन्तरिक रूप से भी होता है, उदाहरण के लिए, भाव या संवेग। साधारण तौर से हम यह कह सकते हैं कि **इन्द्रिय-दत्त सामग्री** ही वह तथ्य है जिसके आधार पर विज्ञान का निर्माण हुआ है।

किन्तु अब दार्शनिक तथ्यों के इस विवरण से संतुष्ट नहीं है; उसे इनके

---

1. इस विषय पर स्पष्ट विवेरण के लिए देखिए : Marie T. Collins, *Some Modern Conceptions of Natural Law* तथा इसकी गहन चर्चा के लिए Bernard Bosanquet कृत *The Principle of Individuality and Value* तथा Josiah Royce's essay on "The Principles of Logic" in the *Encyclopaedia of the Philosophical Sciences I*, pp. 67—135. में प्रकाशित।

विषय में और भी बहुत कुछ जानने की इच्छा है। तो विज्ञान के तथ्य संवेदनों के समूह या राशि से मिलकर बने प्रत्यक्षीकरणों के सिवा कुछ नहीं हैं ? मैं समझता हूँ कि पाठक यह कहेंगे कि विज्ञान की नींव अधिक दृढ़ है। मैं समझता हूँ कि विज्ञान ही जगत् में ऐसी वस्तु है जिसका निर्माण "इन्द्रिय-दत्त सामग्री" से न हो कर ठोस बाह्य वस्तुओं की सत्ता पर हुआ है। यदि विज्ञान का निर्माण इन्द्रिय-दत्त सामग्री या मनुष्य के प्रत्यक्षों से हुआ है तो उसका समस्त ताना-बाना एक तरह से आत्मगत क्यों है ? मैं अनुमान करता हूँ कि विज्ञान हमें वास्तविक वस्तुओं को उस रूप में बताता है जिस रूप में वे वस्तुतः हैं और जैसा कि मनुष्य के अस्तित्व से पहले उनका रूप था।

जब हम इस बात पर विचार करते हैं तो विज्ञान वैज्ञानिक की ज्ञानेन्दियों से पृथक् इन ठोस बाह्य सत्ताओं का ज्ञान कैसे करता है ? अतः यह समस्या उठती है कि यह इन्द्रिय-दत्त सामग्री क्या है और वह जगत् की वास्तविक वस्तुओं से कैसे सम्बन्धित है ? या क्या वही वास्तविक वस्तुएँ भी हैं ? इस तरह हमें दर्शन के क्षेत्र में बलात् प्रवेश करना पड़ता है—उसके उस क्षेत्र की विशेष शाखा में जिसे 'ज्ञान मीमांसा' या ज्ञान का विज्ञान कहा जाता है।

इस तरह अंत में हम दर्शनशास्त्र और विज्ञान के परस्पर सम्बन्ध को कुछ जान लेते है। उन दोनों की एक ही भावना है और एक ही उद्देश्य—अर्थात्-ईमानदारी और मेहनत से सत्य की खोज। सत्य की इस खोज में विज्ञान अपने लिए कुछ विशेष कार्य ले लेता है और उस कार्य में कुछ मर्यादाएँ निहित होती हैं। किन्तु आश्चर्यान्वित और जिज्ञासु मानव मस्तिष्क इन मर्यादाओं पर खीझ-कर विज्ञान के क्षेत्र से परे पहुँचने का आग्रह करता है—और इस तरह दर्शन-शास्त्र का प्रादुर्भाव होता है।

अनुप्रयुक्त विज्ञान

इस प्रकार विज्ञान और दर्शनशास्त्र का घनिष्ठ संपर्क दर्शाते हुए मैंने "विज्ञान" (science) शब्द का प्रयोग उसके व्यापक तथा प्रतिष्ठित अर्थ में किया है, यानी एक प्रकार का ऐसा निश्चित ज्ञान जो यथार्थ, सुनिश्चित और पूर्णरूप से व्यवस्थित होता है। कहना न होगा कि यह विज्ञान का वह प्रचलित अर्थ नहीं है, जो उसके व्यावहारिक पक्ष पर बल देता है। कभी-कभी तो हम यह सोचते हैं कि विज्ञान ऐसा चमत्कार है जिसके बल पर आगे आनेवाला युद्ध लड़ा जायगा। विज्ञान एक ऐसी अद्भुत शक्ति है जिसका जीता-जागता उदाहरण हमें एडीसन और बर्बैंक में मिलता है। वह प्रकृति की शक्तियों पर आधिपत्य जमाने की राह सुझाता है। वह ऐसी शक्ति है जो प्रकृति के रहस्यों को व्यावहारिक उप-योग में लाने के लिए उनका उद्घाटन करती है। हम अपने आपको प्रयोगशालाओं

कैद रखकर विज्ञान से स्वर्ण पाने की खोज करते हैं ताकि उसके बदले पृथ्वी, जल अथवा हवा में शीघ्र परिवहन, ईथर तरंगों द्वारा तत्काल संचार-व्यवस्था, चलचित्र द्वारा मनोरंजन और निदेश, तथा सूक्ष्म आविष्कारों द्वारा सुख, सहूलियतें और आराम के रूप में हम श्रम तथा समय की बचत कर सकें। या विज्ञान को मानव का ऐसा सहयोगी माना जाता है जिसकी ओर ज़रूरत पड़ने पर हम भूमि की उर्वराशक्ति बढ़ाना सीखने के लिए, या युद्ध के समय अपने दुश्मनों का नाश करने के लिए, हथियार प्राप्त करने के लिए, या बीमारी के समय बीमारी का पता लगाने के लिए ऐक्सरे, या उससे बचने के लिए ऐण्टी टाक्सिनों, या उसकी चिकित्सा के लिए सीरम प्राप्त करने के लिए मुड़ सकते हैं।

दूसरे शब्दों में बहुत लोगों के लिए विज्ञान केवल प्रकृति के ऊपर मनुष्य का और अधिक प्रभुत्व बढ़ाने का एक अस्त्र मात्र है जो स्वयं में कोई अच्छी चीज़ नहीं है। यहाँ उनका अभिप्राय अनुप्रयुक्त विज्ञान से है। फिर भी, यह जानना रुचिकर है कि विज्ञान की महान् खोजें, वे भी जिनके कारण व्यावहारिक प्रयोग संभव हुआ है और जिन्हें बड़ा महत्त्व दिया जाता है, सामान्यतः ऐसे व्यक्तियों द्वारा की गई हैं जिनकी रुचि व्यावहारिक प्रयोग में नहीं थी, किन्तु जो केवल वैज्ञानिक रुचि से ही प्रेरित थे, जिनमें ज्ञान की रुचि ज्ञान के लिए ही थी। निस्सन्देह, यह सैद्धान्तिक विज्ञान ही दर्शनशास्त्र से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। और सबसे अधिक व्यावहारिक लोग भी, जो हमेशा ज्ञान के व्यावहारिक प्रयोग पर चिन्तन करते रहते हैं, हमेशा "व्यावहारिक" मनोभाव में नहीं रहते। कभी-कभी हम सभी "ज्ञान को ज्ञान के लिए" पाने के इच्छुक होते हैं। तब हम विज्ञान के व्यापक अर्थ में—यथार्थ ज्ञान के प्रेम के अर्थ में—उसकी ओर मुड़ते हैं। कभी-कभी हम आश्चर्य के मनोभाव में रहते हैं और सोचते हैं कि क्या जगत् का कोई अर्थ, उद्देश्य या मूल्य है। तब हम दर्शनशास्त्र की ओर मुड़ते हैं। या शायद हम संदेह या निराशा के मनोभाव में होते हैं और उलझनों और चिन्ताओं के बोझ से दबे होते हैं—तब हम धर्म की ओर मुड़ते हैं।

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

J. Arthur Thomson, *Introduction to Science* (Home University Library, Henry Holt and Company).

अन्य सन्दर्भ

Ralph Barton Perry, *The Approach to Philosophy* (Charles Scribner's Sons), chap. V. *Present Philosophical Tendencies* (Longmans, Green and Companv), chaps. III, V.

James Ward, *Naturalism and Agnosticism* (The Macmillan Company), part I, lectures 2—5. (The classical discussion

of recent years on the meaning of law).

C. D. Broad, *Scientific Thought* (Harcourt, Brace and Company).

L. T. More, *The Limitations of Science* (Henry Holt and Company).

Carl Pearson, *The Grammar of Science*, 3rd ed. (Adam and Charles Black), chaps. I-V.

Max Planck, *Where is Science Going*? (W. W. Norton and Company), chaps. II, III.

Ray H. Dotterer, *Philosophy by Way of the Sciences* (The Macmillan Company), chap. I.

Henry Margenau, "Meaning and Scientific Status of Causality," *Philosophy of Science*, I, no. 2.

F. S. C. Northrop, *Science and First Principles* (The Macmillan Company).

अध्याय 3

धर्म-मीमांसा तथा दर्शनशास्त्र

दर्शनशास्त्र और धर्म का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है, किन्तु यह सम्बन्ध दर्शन-शास्त्र और विज्ञान के सम्बन्ध से भिन्न प्रकार का है। विज्ञान की अपेक्षा दर्शनशास्त्र और भी अधिक जगत् का एकीकृत और पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करता है, किन्तु धर्म इससे भी अधिक पूर्ण एकता का प्रयत्न करता है। जबकि दर्शनशास्त्र जगत् को एकीकृत करने वाले किसी ऐसे संप्रत्यय को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जो हमें अपने विचारों में उसका अर्थ समझने में योग दे, धर्म-मीमांसा व्यक्ति और जगत् में सामंजस्य या वास्तविक एकता से कम कुछ और प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता। धर्म में हम जगत् के साथ अभियोजन करने या जगत् को अपने साथ अभियोजित करने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरणार्थ धर्म का सम्बन्ध ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने से उतना नहीं जितना ईश्वर की कृपा प्राप्त करने से अथवा उसके साथ मित्रता और सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने से है।

पूरे जगत् की सृष्टि, उसके संगठन तथा उसके अन्तिम प्रारब्ध के सम्बन्ध में कई धर्मों में विस्तृत मत दिए गए हैं; परन्तु धर्म की रुचि का केन्द्र वस्तुओं के विषय में ज्ञान प्राप्त करना न होकर उनसे हमारा जो सम्बन्ध है उसे बताना है। इस प्रकार आस्तिक धर्म ईश्वर के ज्ञान को पहले से मान लेता है—किन्तु यह उसकी रुचि का केन्द्र नहीं है—उसकी रुचि का केन्द्र है ईश्वरोपासना या उसकी कृपा और उसका संरक्षण प्राप्त करना।

आचार्य लैड ने एक लेख लिखा था जिसका शीर्षक था—"क्या विश्व मित्रता-पूर्ण है?"[1] यह स्पष्टतः एक धार्मिक समस्या है। विश्व को मित्रतापूर्ण बनाना निश्चय ही धर्म के उद्देश्यों में से एक है। आदिम व्यक्ति का यह विश्वास था कि वह विरोधी शक्तियों से घिरा हुआ है जिन पर उसका कोई नियंत्रण नहीं है—अर्थात् सूर्य और समुद्र से, हवा और तूफ़ान से, बिजली और महामारी की बीमारी से। वह आहुतियों, बलिदानों तथा प्रार्थनाओं द्वारा इन शक्तियों को मित्रतापूर्ण बनाने की आशा करता था। धर्म से प्रभावित होकर जगत् ऐसी दयापूर्ण तथा

1. George T. Ladd, "Is the Universe Friendly ?" *Hibbert Journal*, 10, pp. 328—43.

हितकर शक्तियों से भर गया जिनका मानव के साथ सहानुभूतिमय सम्बन्ध था, जिनका वह समादर, पूजा और आज्ञापालन करता था और जो उसका संरक्षण करती थीं और उसकी मित्र थीं। प्राचीन भारत में इन्द्र, वरुण तथा सोम का यही स्थान था और यही स्थान प्राचीन यूनान में ज्यूअ, पोसीडान, अपोलो और एथिना का था। इसी प्रकार हेब्रू जाति में जेहोवा का भी यही स्थान था।

यह कहा गया है कि धर्म का काम मनुष्य को जगत् में अपनापन अनुभव कराना है। किन्तु दर्शनशास्त्र और विज्ञान भी हमारे ज्ञान को बढ़ाकर, और जानने में जो आनन्द मिलता है उसे देकर हमें जगत् में अपनेपन का अनुभव कराते हैं। धर्म यह कार्य अधिक सीधे और मानवीय ढंग से मनुष्य और विश्व की शक्तियों में व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करके करता है। विज्ञान, दर्शनशास्त्र और धर्म इस बात पर एक हैं कि उन तीनों का उद्देश्य इस जगत को समझना है; किन्तु उनके समझने का प्रयोजन भिन्न-भिन्न है। विज्ञान में यह प्रयोजन प्राय: सैद्धान्तिक या ज्ञान के लिए ज्ञान है; किन्तु और भी साधारण रूप में यह ज्ञान आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होता है। दर्शनशास्त्र में यह प्रयोजन है ज्ञान का अनुराग और उससे प्राप्त मानसिक शान्ति और सन्तोष। धर्म-मीमांसा में यह प्रयोजन है शान्ति, सामंजस्य, अभियोजन तथा मोक्ष। इस तरह दर्शनशास्त्र और धर्म-मीमांसा, प्राय: आत्मा, उसकी उत्पत्ति तथा प्रारब्ध, ईश्वर तथा सृजन जैसे एक-से ही विचारों का अध्ययन करते हैं; किन्तु इन विषयों में दोनों क्षेत्रों की रुचियाँ भिन्न हैं। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में रुचियाँ सैद्धान्तिक तथा बौद्धिक हैं जबकि धर्म-मीमांसा के क्षेत्र में ये रुचियाँ संवेगात्मक तथा व्यक्तिगत हैं—जो एक अर्थ में तो व्यावहारिक हैं किन्तु उनकी व्यावहारिकता का अर्थ अनुप्रयुक्त विज्ञान की व्यावहारिकता से अलग है।

धर्म-मीमांसा क्या है ?

यदि किसी ऐसे व्यक्ति से, जिसने इन विषयों पर अधिक मनन नहीं किया है, यह पूछा जाय कि धर्म-मीमांसा क्या है तो उसे उत्तर देने में कठिनाई होगी। सम्भवत: वह इस कथन का आश्रय लेगा कि धर्म-मीमांसा की सभी परिभाषाएँ असन्तोषजनक हैं; और धर्म विशेष रूप से एक ऐसी वस्तु है जिसका अनुभव किया जाना चाहिए—उसकी परिभाषा नहीं दी जानी चाहिए। यह सत्य है किन्तु फिर भी धर्म-शब्द का शुद्ध अर्थ है और उस अर्थ को जान लेना ज्यादा अच्छा है।

जब हम धर्म के बारे में सोचते हैं तो कुछ बातें हमारे मस्तिष्क में आती हैं; जैसे गिरजाघर, प्रार्थनाएँ, धर्मोपदेश, भजन, चंदा, धार्मिक संप्रदाय, कर्मकाण्ड या व्यक्तियों का मौन धारण कर एक साथ बैठना। किन्तु स्पष्टत: यह सब चीजें धर्म नहीं हैं। यदि हम विश्व के सभी प्राचीन व आधुनिक धर्मों का अध्ययन

करें और उनके सामान्य तत्त्वों का सार देखने का प्रयत्न करें तो हम किसी न किसी परिभाषा पर पहुँच जाएँगे जो सम्भवतः इस प्रकार होगी :

"धर्म उन अदृश्य शक्तियों पर आश्रित होने की भावना है जो हमारी भवितव्यता नियंत्रित करती हैं; और जिनके साथ हमें मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाने की इच्छा होती है।"

धर्म "उस शक्ति में आस्था है जो हममें तो नहीं है किन्तु औचित्य निर्धारण करती है[1]" तथा धर्म हमारी उस शक्ति से सामंजस्यपूर्ण संबन्ध स्थापित करने की इच्छा है।

"धर्म किसी अदृश्य आध्यात्मिक व्यवस्था से हमारे व्यावहारिक सम्बन्ध की चेतना है।"

ईश्वर-प्रेम ही धर्म है। वह परमात्मा से हमारा संसर्ग है। यह हमारे अन्तर् में जो कुछ सर्वश्रेष्ठ है उसके प्रति निष्ठा है। इमर्सन ने कहा है, "मैं, जो अपूर्ण हूँ, अपने में पूर्णता की आराधना करता हूँ।" इस तरह धर्म उच्चतर मूल्यों की गहरी, सहज प्रवृत्त्यात्मक भावनाओं पर आधारित है। यह हमारे अन्तर् की वह दिव्यता है जो ईश्वरीय दिव्यता तक पहुँचती है। यह बहुत ऊँचे जाकर चरम मूल्यों की ओर देखना है और उनकी ओर सहानुभूति तथा मान्यता के साथ आकृष्ट होना है। वुंडट ने कहा है कि "जो विचार और भावनाएँ आदर्श अस्तित्व की ओर संकेत करते हैं वे धार्मिक हैं।" इसलिए धर्म में नाम, प्रतीक और व्यक्ति पवित्र तथा शुद्ध हैं क्योंकि वे सामान्य वस्तुओं से परे जाने वाले सर्वोत्तम मूल्य हैं। अतः धार्मिक अभिवृत्ति निष्ठा, आत्मोत्सर्ग, समादर तथा विनय की अभिवृत्ति है।[1]

दर्शनशास्त्र निरन्तर खोज, जाँच तथा प्रश्न करना है—धर्म एक अभिवृत्ति है—आस्था की अभिवृत्ति, यह आस्था कि इस जगत् का कुछ मूल्य है। विश्व केवल एक बड़ी मशीन नहीं है, कुछ मूल्य हैं—सम्भवतः शाश्वत मूल्य, जिन्हें मनुष्य आंशिक रूप से जान सकता है, आख़िरकार कुछ नैतिक अधिकार है, और अनुचित अनुचित ही है, वह कभी उचित नहीं हो सकता।

आध्यात्मिकता

धार्मिक रचनाओं में **चित्, आध्यात्मिक, आध्यात्मिकता** शब्द सदा ही विद्यमान रहते हैं। शायद पाठक इन शब्दों से उलझन में पड़े हों। ये शब्द धुंधली और भूत-प्रेत सम्बन्धी ऐसी वस्तुओं की ओर संकेत करते हैं, जिनकी सत्ता

1. धर्म-मीमांसा की परिभाषा के सम्बन्ध में देखिए जेम्स बी॰ प्रेट, 'दि रिलीजस कान्शसनेस' अध्याय 1। प्रेट धर्म की परिभाषा करते हैं कि भवितव्यता के निर्धारक की ओर गम्भीर तथा सामाजिक प्रवृत्ति की रुचि ही धर्म है।

पर पाठक सन्देह करने लगा है। किन्तु इन शब्दों का निश्चित अर्थ है जो न तो भूत-प्रेत सम्बन्धी है और न ही रहस्यपूर्ण। ये शब्द सर्वोच्च महत्त्व की वस्तुओं की ओर निर्देश करते हैं। चित् मनस् से कोई भिन्न वस्तु नहीं है, वरन् मनस् को मूल्य के दृष्टिकोण से देखना ही चित् है। सान्तयाना ने कहा है कि आदर्श को सामने रखकर जीना ही आध्यात्मिक होना है। आध्यात्मिकता का अर्थ और उसका धर्म-मीमांसा से जो सम्बन्ध है उसे ड्रेक ने इन शब्दों में सबसे अच्छी तरह व्यक्त किया है--

> हृदय और संकल्पशक्ति की उस वृत्ति को, जिसके द्वारा मनुष्य सर्वोच्च वस्तुओं की ओर ध्यान देता है तथा दिखावटी पहलुओं और जीवन की आकस्मिक घटनाओं से ऊपर उठकर आन्तरिक शान्ति और सौम्यता से जीवन व्यतीत करने को उद्यत होता है, हम उसे उसके आन्तरिक स्वरूप में आध्यात्मिकता कहते हैं; जब वह बाह्य रूपों और संस्थाओं में व्याप्त हो सम्पूर्ण समाज में फैल जाती है तो उसे हम धर्म कहते हैं।[1]

इस प्रकार धर्म अपने रहस्यमय, सैद्धान्तिक और दिव्य कथन की विशेषता को खो देता है और वह ज़रूरतमन्द आत्मा की स्वाभाविक प्रतिक्रिया बन जाता है। यह कोई ऐसी बात नहीं है जिसकी "सत्यता" पर हम संशय करें और उसके लिए तर्क और प्रमाण खोजें। यह उच्च मूल्यों की जगह और उनसे एक प्रकार की सहज सहानुभूति और उनकी कामना करने की मान्यता पर आधारित है। चूंकि दर्शनशास्त्र का उद्देश्य जगत् में अर्थों और मूल्यों का अध्ययन करना है इसलिए हम देखते हैं कि धर्म-मीमांसा और दर्शनशास्त्र में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है।

हमारे धार्मिक विश्वासों पर दर्शनशास्त्र का प्रभाव

प्रायः यह पूछा जाता है कि हमारे धार्मिक विश्वासों पर दर्शनशास्त्र का क्या प्रभाव हो सकता है। आरम्भ में, दर्शनशास्त्र का अध्ययन विघटनकारी हो सकत है, विशेषकर जब किसी का धार्मिक मत कुछ संकीर्ण और असहिष्णु हो। किन्तु यदि वह मत व्यापक और सरल हो तो दर्शनशास्त्र उसे और सुदृढ़ बना देगा। "ईश्वर तुमसे क्या अपेक्षा करता है, केवल यही न कि न्यायसंगत ढंग से काम करो, दया से प्रेम करो और अपने ईश्वर के बतलाए हुए मार्ग पर विनय से चलो ?" सहानुभूति, सत्यता और विनय की दर्शनशास्त्र में ज्यादा आलोचना होने की सम्भावना नहीं है। जैसा बेकन ने कहा है, "दर्शनशास्त्र का अल्प अध्ययन मनुष्य के मस्तिष्क को नास्तिकता की ओर झुकाता है किन्तु गहन अध्ययन उसे धर्म की ओर ले जाता है।"[2] वास्तव में, दर्शनशास्त्र को हमें अपने मौलिक धार्मिक विश्वासों को दृढ़

1. Durant Drake, *Problems of Religion* (Houghton Mifflin Company), p. 244.

2. *The Essays of Lord Bacon*, XVI, "of Atheism."

बौद्धिक आधार पर रखने और इस प्रकार हमें अपनी बहुत-सी उलझनों और संशयों से मुक्त कराने में सहायता देनी चाहिए। कभी-कभी हमारे धार्मिक विश्वासों में भीरुता और संशय होता है। हमें अचेतन में यह भय बना रहता है कि कहीं विज्ञान की "लौकिकता" हमारे विश्वासों को छिन्नभिन्न न कर दे। दर्शनशास्त्र हमें पर्वत-शिखर पर ले जाकर अनिश्चितता की इन घाटियों को देखने का अवसर देता है। अनेक स्थितियों की भाँति इस स्थिति में भी ज्ञान भय को हटा देता है। निकृष्टतम भी यदि देखने पर उतना बुरा न निकले तो उसके बाद बड़ी शान्ति मिलती है।

नीतिशास्त्र और धर्म-मीमांसा

धर्म को नीतिशास्त्र नहीं समझना चाहिए, जो एक मानक विज्ञान है जिसमें उचित आचरण के मानकों का अध्ययन किया जाता है; धर्म को स्वयं उचित आचरण भी नहीं समझना चाहिए। धर्म सत्यता की ओर अग्रसर कराने वाला एक शक्तिशाली प्रेरक है, किन्तु वह सत्यता के अतिरिक्त कुछ और भी है। धर्म की मुख्य बात है आदर-भाव और उसका विशिष्ट उद्देश्य है सामंजस्य और समायोजन; और उच्चतम सत्ता के साथ सामंजस्य में आचरण का औचित्य निहित है। इतिहास बतलाता है कि मनुष्य को उचित काम के लिए **बाध्य** करना कितना कठिन है; किन्तु किसी महान् **कार्य** के लिए उनकी शक्ति एकत्र की जा सकती है और उनसे अच्छे से अच्छा लाभ प्राप्त किया जा सकता है। वह भय नहीं वरन् प्रेम ही है जो वास्तव में कारगर होता है। निष्ठा की अभिप्रेरणा ही मनुष्य को सबसे अधिक प्रभावित करती है। एल० पी० जैक्स का कथन है कि "सर्वोच्च सत्ता में दृढ़ निष्ठा रखना ही धर्म की आत्मा है।"

धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन

हाल ही में धर्म में रुचि को फिर उत्पन्न करने में जितना कार्य धर्मों के इतिहास के अध्ययन ने किया है उतना और किसी ने नहीं। इस विषय पर कोई अच्छी पुस्तक प्रत्येक पाठक के पास होनी चाहिए और उसे प्राचीन भारत, यूनान, रोम, स्केन्डिनेविया के धर्मों, इस्लाम और प्राचीन हेब्रू लोगों के धर्म और ईसाई मत के अर्थ और इतिहास से परिचित होना चाहिए। इन सबमें प्राप्त होने वाला सर्वसामान्य तत्त्व होगा उन अदृश्य शक्तियों में विश्वास, जो जगत् का नियन्त्रण करती हैं और औचित्य का निर्धारण करती हैं; और उनसे सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा, जो सम्भवत: सदा ही एकता और अनुक्रिया के निश्चय की भावना से युक्त होती है, पाई जाएगी।

धर्म की सामाजिक विशेषता

धर्म की उत्पत्ति और स्वभाव पर लिखे गए हाल ही के साहित्य में उसकी

सामाजिक विशेषता पर काफी बल दिया गया है। ऐसा लगता है कि यह आंदोलन इस शती में मनुष्य को सामाजिक प्रवृत्ति पर दिए गए सामान्य बल का एक अंग है। उन्नीसवीं सदी ने मनुष्य के विकास तथा निम्नतर पशुओं से उसके सम्बन्ध की ओर ध्यान आकर्षित कराया था। बीसवीं शती का एक और भी सुन्दर कार्य है, मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति और सामाजिक सम्बन्धों का पता लगाना। इस दृष्टिकोण से धर्म के अध्ययन ने समस्त विषय पर काफ़ी नया प्रकाश डाला है।[1]

इस आधुनिक सम्प्रदाय ने यह बताया है कि धर्म अपनी उत्पत्ति से ही सामाजिक है—एक प्रकार से उसकी सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति है। आरम्भ में धार्मिक संस्कारों और उत्सवों को पूरा समूह या उसकी ओर से ही किया जाता था, और आरम्भिक धर्मों का एक महत्त्वपूर्ण काम स्पष्टत: सामाजिक नियन्त्रण करना था। वास्तविक अर्थ में, धर्म समूह की सामूहिक भावना की संवेगात्मक अभिव्यक्ति है और जिसका उद्देश्य समूह में और भी निकटता और सक्रिय एकता लाना है। ईसा मसीह के उपदेश प्रमुख रूप से सामाजिक हैं, जिनमें प्रेम, सहानुभूति, सहयोग और औचित्य पर बल दिया गया है। विशेषकर वर्तमान समय में हम एक व्यवहार्य, वैज्ञानिक और सामाजिक युग में रह रहे हैं। हमारे धर्म को भी, यदि उसे जीवित रहना है, उसी तरह व्यवहार्य और सामाजिक होना चाहिए और उसका उद्देश्य मानवता का और भी पूर्ण समाजीकरण और प्रेम, त्याग और हित पर बल देना होना चाहिए। जैसाकि अभी-अभी संकेत किया गया है कि जगत् में अपार जनसंख्या के कारण समाजीकरण करने वाली शक्ति के रूप में धर्म की तात्कालिक और अत्यावश्यक जरूरत है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए धर्म का पुनर्गठन करने की आवश्यकता है जिसमें धर्म की सामाजिक उत्पत्ति और वर्तमान समय की सामाजिक आवश्यकताओं को मान्यता दी जाय।

ड्यूई द्वारा अभी हाल ही में येल विश्वविद्यालय में दी गई टेरी व्याख्यानमाला में, जो **ए कॉमन फेथ** शीर्षक से प्रकाशित हुई है, धर्म के सामाजिक पहलू एक भिन्न प्रकार से व्यक्त किए गए हैं। ड्यूई का यह विश्वास है कि आधिदैविक विचारों से धर्म की क्रमिक मुक्ति होने से उसका सामाजिक महत्त्व बहुत बढ़ जाएगा, क्योंकि उस विचार के प्रभाव ने धार्मिक क्रिया को उसके मूल सामाजिक

---

1. तुलना करो—

Emile Durkheim, *The Elementary Forms of the Religious Life.*

Jane Ellen Harrison, *Themis; A Study of the Social Origins of Greek Religion.*

Charles A. Ellwood, *The Reconstruction of Religion.*

E. S. Ames, "Religious Values and the Practical Absolute", *International Journal of Ethics*, XXXII, no. 4.

Charles Willis Cooke, *The Social Evolution of Religion.*

उद्देश्य से हटाया है।

ड्यूई ने संज्ञा रूप में प्रयुक्त **धर्म** शब्द और विशेषण रूप में प्रयुक्त **धार्मिक** शब्द में भेद करते हुए धार्मिक अभिवृत्ति को हमारे अनुभव का एक गुण बतलाया है। धार्मिक अनुभव कोई विशेष अनुभव नहीं है। इसके विपरीत हमारे अनेक अनुभवों में धार्मिक गुण होता है, क्योंकि उसकी विशेषता है आदर्श उद्देश्यों अथवा मूल्यों में आस्था होना; इन आदर्शों में आस्था रखने के माध्यम से वास्तविक स्थितियों से अपना समायोजन करना। इस तरह धर्म का अर्थ आदर्श उद्देश्यों में निष्ठा के माध्यम से आत्मा का एकीकरण है। इन आदर्शों को अपनी इच्छाओं और पसंदों का नियन्त्रण करने के योग्य समझकर हम उनके प्रति अनुक्रिया करते हैं। "जिन आदर्श उद्देश्यों पर हम आस्था रखते हैं वे अवास्तविक अथवा परिवर्तनशील नहीं हैं। वे हमारे पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान और उन सम्बन्धों में निहित मूल्यों में मूर्त रूप पाते हैं।"[1]

यदि धर्म की परिभाषा यों दी जाए कि "वह उस किसी चीज़ की उपस्थिति में अनुभूत संवेग है, जिसे हम अपने ध्यान और भक्ति के लिए **सर्वाधिक** उपयुक्त समझते हैं,"[2] तो सामाजिक अनिश्चितता के इस काल में ऐसा लगेगा कि हमारी अभिवृत्ति को ज़्यादा से ज़्यादा धार्मिक होना चाहिए क्योंकि हमारा ध्यान और श्रद्धा सामाजिक आदर्शों की ओर ज़्यादा से ज़्यादा बढ़ रही है।

ड्यूई का धर्म के किसी ऐसे संप्रत्यय पर आने का प्रयत्न, जो कि धर्म को औद्योगिक तथा सामाजिक युग, जो बहुत संकटपूर्ण युग है, के अनुकूल करे, रुचिकर और महत्त्वपूर्ण है। किन्तु धर्म के पुनर्गठन के ऐसे प्रयत्न दर्शनशास्त्र के क्षेत्र से बाहर हैं क्योंकि दर्शनशास्त्र उस जगत को समझने का प्रयत्न करता है जिसमें हम रहते हैं, और स्वयं धर्म को नहीं वरन् उन प्रत्ययों का मूल्यांकन करने का प्रयत्न करता है जो उसकी चर्चा में निहित होते हैं। इस दृष्टिकोण से धर्म को मुख्यतः एक सामाजिक अभिवृत्ति नहीं कहा जा सकता चाहे उससे किसी समूह में कितना ही एका क्यों न आया हो और स्वयं समूह ही समाजीकृत क्यों न हुआ हो। कभी-कभी तो धर्म को समाज से बचने का एक सुन्दर उपाय भी समझा जाता है। धर्म, एकांतता, प्रार्थना और मनुष्यों से नहीं वरन् ईश्वर से लौ लगाना सिखाता है। वह ऐसी सत्ता पर निर्भर होने का सुझाव देता है जिसके हाथों में हमारा प्रारब्ध है और जिसकी कृपा हम सब प्राप्त करना चाहेंगे। वह पूजन, समादर, आराधना, आस्था, प्रेम और आशा का सुझाव भी देता है।

यदि हम धर्म पर इस ढंग से सोचें तो समझ सकते हैं कि आज के जीवन में

1. John Dewey, *A Common Faith* (Yale University Press, 1934), pp. 33, 87.

2. Durant Drake, *Invitation to Philosophy* (Houghton Mifflin Company, 1933), p. 475.

उसका स्थान पहले की अपेक्षा इतना कम कैसे हो गया है। वर्तमान युग ने अपनी आस्था कुछ नए ईश्वरों में कर ली है, जैसे विज्ञान, आविष्कार, औद्योगिक और वाणिज्य का विस्तार, सामाजिक पुनर्गठन, सामाजिक संगठन के नए रूप, श्रमिक संघ, मनोरंजन-गृह, भ्रातृ परिषदें, तथा इसी प्रकार के और हज़ारों संगठन।

इस समय इन बातों में, विशेषकर विज्ञान और उसके व्यावहारिक लाभ और प्रकृति की शक्तियों पर हमें जो नया नियन्त्रण मिला है उसमें हमारा विश्वास कम हो रहा है। ऐसे संकेत हैं कि ये चीज़ें शान्ति और सुख का स्रोत बनने में हमें धोखा दे सकती हैं। हम सम्भाव्य सामाजिक और राजनैतिक क्रांतियों की वर्गों में और राष्ट्रों में आपस में बढ़े हुए संघर्ष की और सर्वनाश की बातें सुनते हैं।

जिस युग में अब तक हमारा इतना आत्मविश्वास था उसमें जब सन्देह होने लगता है तो धर्म की महत्ता बढ़ जाती है। धर्म की उन्नति किसी एकदम निश्चित और आत्मश्लाघा से भरे युग में नहीं होती जैसा युग महायुद्ध के पूर्व था। धार्मिक अभिवृत्ति के लिए कुछ विनम्रता आवश्यक है। जब तक विज्ञान में नित्य-प्रगतिशील खोजें हमारी तकलीफ़ों को कम करने और डर और परेशानियों को दूर करने में प्रयुक्त की जाती रहीं तब तक हमने धर्म की कोई विशेष आवश्यकता अनुभव नहीं की। किन्तु, जब हमें यह पता चलेगा कि हमारे आश्चर्यजनक आविष्कार, हमारे युद्धपोत और हवाई जहाज़, और हमारे अनगिनत संगठन हमें शान्ति और समृद्धि दे सकने में असमर्थ हैं और सामाजिक विनाश को भी नहीं रोक सकते, और हमारी जड़वादी सभ्यता ने उच्चतर मूल्यों—कला, साहित्य, नैतिकता, शान्ति तथा सामाजिक स्थायित्व—को बढ़ावा देने के लिए कुछ नहीं किया है, तो शायद हम धर्म की ओर फिर लौट जाएँगे। हमें इस अन्तर्भाव के फल, जैसे प्रेम, शान्ति, दया, निष्ठा और संयम की आवश्यकता पड़ेगी।

हर दशा में, हम देखते हैं कि धर्म और दर्शनशास्त्र के बीच सबसे अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि हम धर्म-मीमांसा की परिभाषा इस तरह करें कि **यह उन आध्यात्मिक मूल्यों को विकसित करने का यत्न है जो मनुष्य की आत्मा में नित्य-वर्तमान हैं परन्तु कभी-कभी प्रच्छन्न रहते हैं**, तो इन मूल्यों की परीक्षा, उनके स्रोत तथा उनके वस्तुनिष्ठ समकक्ष मूल्यों को निर्धारित करने का कार्य दर्शनशास्त्र करता है। फिर यदि, धर्म विश्व की दैवी शक्तियों के प्रति आत्मा की अनुक्रिया है, तो दर्शनशास्त्र के द्वारा हमें इन दैवी शक्तियों की जानकारी मिलनी चाहिए और उनका कोई अस्तित्व है या नहीं यह स्पष्ट किया जाना चाहिए। जैसाकि किसी लेखक ने कहा है, यदि धार्मिक अभिवृत्ति के लिए यह विश्वास करना आवश्यक है कि जगत् की वस्तुओं से परे कोई ऐसी शक्ति अथवा तत्त्व है जो हमारे स्वभाव से मेल रखता है, जिसे भावों के दुरुपयोग के बिना व्यक्तिगत

कहा जा सकता है, तो दर्शनशास्त्र को यह निर्धारित करना चाहिए कि क्या विज्ञान और तत्त्वमीमांसा में कोई ऐसी बात है जो हमें इस तरह की व्यक्तिगत शक्ति में विश्वास करने से रोकती है, और यह विश्वास करने के लिए विज्ञान अथवा तत्त्व-मीमांसा में कोई कारण है, यदि है, तो वह क्या है।

विज्ञान वास्तव में क्या है इसे अच्छी तरह समझ लेने और धर्म वास्तव में क्या है इसकी पूरी जानकारी प्राप्त कर लेने पर शायद यह पता चलेगा कि धर्म और विज्ञान का पुराना द्वन्द्व समाप्त हो गया है।

अतिप्राकृतिक सत्ता

हमने देखा है कि ड्यूई का यह विश्वास है कि अतिप्राकृतिक सत्ता के अनधिकार प्रवेश से धर्म की उपादेयता कम हो गई है। यह चर्चा दर्शनशास्त्र का काम नहीं है। किन्तु फिर भी इस शब्द के अर्थ का विश्लेषण करना दर्शन के क्षेत्र के अन्तर्गत है। यह विश्लेषण धर्म के लिए दर्शनशास्त्र की अनेक सेवाओं में से एक होगा। यहाँ हमारी शीघ्रता से वदलने वाली वैज्ञानिक अभिवृत्ति का इस संप्रत्यय पर जो प्रभाव पड़ा है उसकी ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। ऐतिहासिक संस्कृतियों में, और कुछ हद तक हमारे अपने समय में भी, "अति प्राकृतिक" शब्द का अर्थ वह है जो प्राकृतिक नियम के क्षेत्र में नहीं आता। अतिप्राकृतिक सत्ताओं को, जैसेकि प्राचीन यूनान के देवताओं की, जोकि साधारण प्राकृतिक नियमों से नियन्त्रित अथवा सीमित नहीं हैं और अतिप्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या ज्ञात प्राकृतिक नियमों से नहीं की जा सकती। यह सम्भव है कि इस शब्द का धार्मिक विश्लेषण अब किसी विरोधी दिशा की ओर ले जाय। हमारी परिकल्पना आदर्श उद्देश्यों और मूल्यों का सतत सर्जन करती है, जो प्रकृति के उस सम्पूर्ण क्षेत्र से, जिस रूप में हम उसे जानते हैं, परे है; और ये अतिप्राकृतिक उद्देश्य केवल कल्पित ही नहीं किए जाते किन्तु वास्तविक और सतत रूप से प्राप्त भी किए जाते हैं। उदाहरण के लिए, मानव अब सामाजिक विवेक का निर्माण कर रहा है जिसका अस्तित्व प्रकृति अथवा उसकी किसी अभिव्यक्ति में पहले कभी नहीं था। बहुत पहले भूवैज्ञानिक दृष्टि से पृथ्वी पर जीवन नहीं था और जब आया तो वह अति प्राकृतिक था। ऐसा ही मन, नैतिक भावना, सामाजिक व्यवस्था, कला और विज्ञान के साथ भी हुआ। अतिप्राकृतिक सत्ता का खण्डन या मण्डन दोनों ही तब तक व्यर्थ है जब तक कि हम यह निश्चय न कर लें कि हम "प्रकृति" को किस अर्थ का बोधक मानते हैं। आजकल भौतिकीविद् किसी ऐसे नियम की खोज में हैं जिसके द्वारा वे इलेक्ट्रॉन के परमाणु की नाभि के चारों ओर अपनी कक्षा में चक्कर लगाने के अतिप्राकृतिक व्यवहार को समझ सकें, क्योंकि ऐसा मालूम होता है कि इलेक्ट्रॉन भौतिकी के सभी ज्ञात नियमों का उल्लंघन करता है।

प्राचार्य ओटो के शब्दों में "ब्रह्मांड में कोई आश्रय पाने की इस भूख की उत्पत्ति तारों के बीच वृहत् अन्तरिक्ष में किसी अकेले यूथकारी प्राणी की अपने यूथ या यूथ नेता की खोज में है या वह आदर्श मूल्यों के दूरस्थ जगत् से मैत्रीपूर्ण साहचर्य पाने के लिए किसी गृहचेता आत्मा की सहज लालसा है" यह बात एक और दार्शनिक "समस्या" ही है। प्लेटो ऊपर कथित द्वितीय मत का समर्थक था।[1]

यदि "अतिप्राकृतिकता" शब्द का स्थान आज के विज्ञान में बहुत अच्छा नहीं है तो यही बात "रहस्यमय" शब्द के लिए नहीं कही जा सकती। आइन्स्टाइन ने कहा है कि "सबसे अधिक सुन्दर बात जो हम व्यक्त कर सकते हैं वह है रहस्यमय। यही समस्त वास्तविक कला और विज्ञान का स्रोत है। वह व्यक्ति जो रहस्यमय भावना से शून्य है, जो आश्चर्य से ठगा नहीं रह सकता और जो संभ्रम में डूब नहीं सकता वह मरे हुए के समान है; उसकी आँखें बन्द होती हैं······। मेरे लिए इस चेतन जीवन के रहस्य पर, जो अनन्तकाल से चलता चला आ रहा है, चिन्तन करना; विश्व की उस विलक्षण संरचना पर, जिसे हम धुंधला-धुंधला देख सकते हैं, सोच-विचार करना; और प्रकृति में अभिव्यक्त होनेवाली प्रज्ञा के अति सूक्ष्म अंश को भी विनय से समझ लेने की चेष्टा करना पर्याप्त है।"[1] इस प्रसंग में यह महत्त्वपूर्ण है कि हमारे एक विख्यात वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स की हाल ही में प्रकाशित पुस्तक का शीर्षक है **दि मिस्टीरियस यूनिवर्स** (रहस्यमय विश्व)। और जे० डब्ल्यू० एन० सलीवन ने सन् 1935 में जनवरी मास की **एटलांटिक मंथली** में लिखते हुए कहा है, "इतिहास में आज संभवत: यह प्रथम अवसर है जब विश्व वास्तव में रहस्यमय हो गया है···। ऐसा प्रतीत होता है, कि हम वस्तुओं के बारे में जिस तरह से सोचते हैं उसी के कारण यह विश्व इतना रहस्यमय हो गया है। किन्तु यह ठीक ही हो सकता है कि हम वस्तुओं पर चिन्तन करने के उस तरीके को कभी न पा सकें जो उस रहस्य को मिटा दे।"[2]

सम्भवत: हम धर्म-मीमांसा की परिभाषा नहीं कर सकते, और न ही पूरी तरह से अपने धार्मिक अनुभवों और संवेगों का वर्णन कर सकते हैं; किन्तु उसका अर्थ हमारे लिए बहुत गहन और महत्त्वपूर्ण है। यह बात विल ड्यूरेन्ट ने सन् 1935 में 26 जनवरी के **सैटर्डे ईवनिंग पोस्ट** में लिखते हुए बड़े अच्छे ढंग से कही है। उन्होंने जो कहा है वह यों है :

> अपनी युवावस्था में हम धर्म को एक विचार-समूह मानते हैं, और अपनी वृद्धावस्था में यह देखते हैं कि यह विचार धर्म द्वारा व्यक्ति तथा

---

1. तुलना करो—M. C. Otto, *Things and Ideals* (Henry Holt and Company), p. 287. यह उद्धरण गिल्बर्ट मरे से लिया गया है।
2. Albert Einstein, "What I Believe" in '*The Forum Magazine*', October, 1930.

राज्य के प्रति पूरे किए जाने वाले कार्यों के कितने अधीन है। सर्वप्रथम धर्म व्यक्ति की जिज्ञासा को शांत करता है; वह उसे विज्ञान और दर्शनशास्त्र द्वारा प्रस्तुत विकल करने वाले अनिश्चित, अधूरे और दुःखदायी जगत् के चित्र को प्राक्कल्पना और विश्वास के योग्य बनाकर कुछ मानसिक स्थायित्व और शान्ति देता है। वह उसके एकाकीपन में उसे ढाढ़स प्रदान करता है और उसे अज्ञात के भय से मुक्त करता है; वह विश्व को उसके पक्ष में लाता है, और उसकी चरम शक्ति से मिलन की और जगत् का अर्थ समझने की उसकी रहस्यमय लालसा को सन्तुष्ट करता है। वह उसके पार्थिव अस्तित्व की कठिन गद्यात्मकता और नीरस जीवन को रीति-रिवाजों के नाटक और आस्था के काव्य द्वारा मुक्त करता है; वह सृजन और मोक्ष के उस दिव्य काव्य की कल्पना करता है जिसके माध्यम से व्यक्ति के अन्यथा क्षुद्र और संक्षिप्त जीवन को ब्रह्माण्डीय अनुपात और असीमित महत्त्व मिलता है; वह जीवन को ऐसा अर्थ देता है जो मृत्यु के बाद भी बना रह सकता है और मृत्यु और दरिद्रता से उनका कुछ आतंक और उनकी कुछ कचोट छीन लेता है; किन्तु इससे भी अधिक वह नैतिकता को दैवीय संरक्षण और उत्कंठा का संवेगात्मक और अतिप्राकृतिक आधार प्रदान कर हमारे अन्तर्विवेक को और भी गहन बनाता है; वह दंड का भय और पुरस्कार का लालच देकर सामाजिक मूल प्रवृत्तियों को उन अलग-अलग आवेगों के प्रति दृढ़ बनाता है जिन पर रोक न रहने पर समाज टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा। उसने राष्ट्रों को और कभी-कभी महाद्वीपों को जैसे कि मध्यकालीन युग में—एक ही पंथ और एक ही नैतिक नियमावली की सामाजिक एकता प्रदान की है। इसीलिए राज्यमर्मज्ञों ने उसका समर्थन किया है और उसे राज सम्मान दिया है, रैमिनीज की भाँति उसे अंधाधुन्ध धन दिया, अशुर-बनिपाल की तरह उसे अपनी विजय का कारण माना, पेरिक्लीज़ की भाँति उसके लिए निर्दोष मंदिरों का निर्माण किया, शार्ल माग्ने की भाँति उससे अपनी मित्रता स्थापित की और यहाँ तक कि अशोक और अकबर, कान्स्टेन्टाइन और पीटर, नैपोलियन और मुसोलिनी जैसे अभिमानी क्रान्तिकारियों ने भी उसे स्वीकार किया ताकि नैतिकता के पतन और विभिन्न आस्थाओं के द्वन्द्व से उनके शस्त्रों के बल पर स्थापित व्यवस्था भंग न हो जाए।

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Edgar S. Brightman, *Introduction to Philosophy* (Henry Holt and Company), chap. X.

अन्य सन्दर्भ

W. K. Wright, *A Student's Philosophy of Religion* (The Macmillan Company).

Arthur C. McGiffert, *The Rise of Modern Religious Ideas* (The Macmillan Company).

William James, *The Varieties of Religious Experience* (Longmans, Green and Company).

Richard Cabot, *What Men Live By* (Houghton Mifflin Company).

Josiah Royce, *Sources of Religious Insight* (Charles Scribner's Sons).

G. A. Barton, *The Religions of the World* (The University of Chicago Press).

Edwin D. Starbuck, *The Psychology of Religion* (Charles Scribner's Sons. Contemporary Science Series).

James Bissett Pratt, *The Religious Consciousness* (The Macmillan Company).

John Dewey, *A Common Faith* (Yale University Press, 1934).

J. H. Leuba, *A Psychological Study of Religion* (Open Court Publishing Company, 1923).

Salomon Reinach, *Orpheus* (Liveright).

Kirsopp Lake, *The Religion of Yesterday and Tomorrow* (Harvard University Press).

G. Galloway, *Philosophy of Religion* (Charles Scribner's Sons), chap. IV.

H. S. Coffin, *What is There in Religion?* (The Macmillan Company).

अध्याय 4

क्या दर्शनशास्त्र समयोचित है ?

दर्शनशास्त्र को पहली बार पढ़ने वाला व्यक्ति उसमें चर्चित विषयों के विस्तार से प्रभावित होता है और शायद भयभीत भी होता है। वास्तविकता की प्रकृति, जगत् का अर्थ और उसका प्रयोजन, और जीवन का मूल्य जैसे महान् प्रश्नों का अध्ययन दुःसाहस-सा लगता है। जो वैज्ञानिक आवश्यकतानुसार वास्तविकता का अध्ययन करता है— जैसे पशु आकृति विज्ञान, भूवैज्ञानिक स्तर या राजनैतिक संगठन—वह शायद दर्शनशास्त्र के व्यापक क्षेत्र के लिए दार्शनिक की आलोचना करने को प्रवृत्त हो सकता है।

चाहे जो भी उसका क्षेत्र हो, वैज्ञानिक, फिर भी, शीघ्र ही यह समझ जाता है कि उसके अध्ययन का क्षेत्र आवश्यकतानुसार सीमित नहीं है। उसे पता चलता है कि उसका अध्ययन-क्षेत्र इतना बड़ा है, उसके इतने ज़्यादा अन्तःसम्बन्ध हैं और उसकी अन्य विज्ञानों में इतनी अतिव्यापकता है कि वैज्ञानिक बर्बस ही स्वयं दर्शन में पहुँच जाता है— या कम से कम वह दर्शनशास्त्र की व्यापकता के कारण उसकी आलोचना करना बन्द कर देता है।

फिर भी, चिन्तकों के ऐसे समुदाय भी हैं जो दर्शनशास्त्र की वृहत् समस्याओं से डरकर या हार मानकर उनके अध्ययन से मुँह मोड़ चुके हैं। यहाँ ऐसे दो सम्प्रदायों, भाववादी और संशयवादी, का उल्लेख किया जा सकता है।

भाववाद

भाववादी दर्शन एक तकनीकी शब्द है जिसका प्रयोग फ्रांसीसी दार्शनिक आगस्ट कौम्ते (1798—1857) ने जगत् विषयक अपने दृष्टिकोण के लिए किया है। कौम्ते का विश्वास था कि प्रथम कारणों की, चरम वास्तविकता की और ऐसी ही बातों की खोज बिलकुल व्यर्थ है। मानव मस्तिष्क को अपना ध्यान वास्तविक तथ्यों तक या जिन्हें हम **घटना** कहते हैं, उन्हीं तक सीमित रखना चाहिए; अर्थात् उन चीज़ों पर जो हमारे वास्तविक अनुभव में घटती हैं। घटनाओं के पीछे क्या होता है, वस्तुओं का निज रूप क्या होता है, इसे जानने का प्रयत्न करना बेकार

है। दर्शनशास्त्र की घटनाओं और उनके अपरिवर्तनीय व्यवहार के तरीकों के बीच के सम्वन्धों को जानने तक ही अपने को सीमित रखना चाहिए।

कौम्ते की रुचि समाजशास्त्र में थी, जिसका वह स्थापक होने का दावा करता था; और उसका यह विचार था कि मानव कल्याण को बढ़ाने के उद्देश्य से वैज्ञानिक प्रणालियों को समाज के अध्ययन में लगाया जा सकता है। इसलिए भाववाद का यही अर्थ है कि विज्ञान मानव-चिन्तन की अन्तिम अवस्था है। यह जो कुछ निश्चित, उपयोगी, भावात्मक है उस पर विचार करता है, विशेषकर उन बातों पर जो संस्थाओं को पूर्ण बनाने में उपयोगी हैं। कौम्ते ने विज्ञान के महत्त्व पर जो बल दिया है उससे कोई भी उससे असहमत न होगा, और न हीं बहुत से लोग कौम्ते के इस मत पर आपत्ति करेंगे कि सामाजिक विज्ञानों का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। शायद कुछ ही लोग उससे इस बात पर सहमत होंगे कि व्यापक दार्शनिक समस्याओं का अध्ययन व्यर्थ है। आगे आने वाले अध्याय में हम यह देखेंगे कि मैक्स प्लैन्क भाववाद के सम्वन्ध में क्या सोचता है।

संशयवाद

दूसरा समुदाय जो हमें दर्शनशास्त्र के शिखर पर पहुँचने में हतोत्साहित करता है वह है संशयवादी सम्प्रदाय। संशयवाद सबसे पहले सोफिस्टों के समय में ग्रीस में उत्पन्न हुआ था। उदाहरण के लिए, जार्जिअस ने कहा था कि किसी भी चीज़ की सत्ता नहीं है; यदि होती भी तो उसे हम जान नहीं सकते, यदि जान भी लेते तो हम अपने ज्ञान को दूसरों को नहीं दे सकते। बाद में ग्रेइको-रोमन काल में संशयवाद ने दर्शन के एक "सम्प्रदाय" का रूप ले लिया जिसका नेतृत्व पाइरो ने किया। यद्यपि ये विचारक सॉक्रेटीज़, प्लेटो, डिमोक्रटिस, और अरस्तू के दीप्तिमान युग और ग्रीक लोगों की गणित, तर्कशास्त्र, तत्त्व-मीमांसा और नीतिशास्त्र के क्षेत्रों में महान् विजय के बाद आये तथापि उन्होंने ज्ञान-प्राप्ति की निराशा दिखाई। उन्हें दार्शनिकों के दृष्टिकोणों में विरोधों को दिखाने की रुचि थी और उन्होंने बड़ी ही कट्टरता से ज्ञान को असम्भव बताया जिसे संशयवादी के लिए कोई अनुचित समझ सकता है। उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले वे भी हमें विचित्र लगते हैं। उन्होंने ईश्वर, आत्मा और जगत् विषयक उन सभी प्रश्नों पर, जिन पर दार्शनिकों ने चर्चा की थी, अपना कोई निष्कर्ष न देना ही बेहतर समझा और इसमें अपने लिए मानसिक संतुलन और शांति पायी। यह यूनान की विशेष अभिवृत्ति थी। विशेषकर बाद के युग के यूनानी एक स्वच्छ, सुव्यवस्थित और सीमित जगत् में रहना पसन्द करते थे। दर्शन द्वारा प्रस्तुत अनन्त समस्याओं से जूझना स्टोइकों, इपीक्यूरियनों और संशयवादियों के लिए एक उलझन और परेशानी थी। इसलिए अरस्तू के पश्चात् सभी यूनानी संप्रदायों ने किसी नै

किसी ऐसे जीवन-दर्शन की खोज आरम्भ की जो उनके मन को भय से मुक्त करे और समता और शान्ति प्रदान करे।

आधुनिक युग में, संशयवाद का यूनानी अर्थ प्रायः समाप्त हो गया है। आधुनिक युग का सबसे महत्त्वपूर्ण संशयवादी डेविल ह्यूम (1711–76) था किन्तु उसका संशयवाद भी यूनानी संशयवाद के समान उग्र नहीं था वरन् वह एक तरह से ज्ञान की वास्तविक सीमाओं की आलोचनात्मक जाँच था। अनमनेपन से विमुख होना हमारी वर्तमान प्रतिभा के अनुकूल नहीं है। दृढ़ निश्चय और आशा के साथ समस्त समस्याओं का बिना हिचकिचाहट के और लगातार प्रयत्नों से सामना करना—यही इस युग का स्वभाव है। दार्शनिकों में मतभेद हो सकता है, मनुष्य के निर्णयों में गलतियाँ हो सकती हैं, हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ हमें धोखा दे सकती हैं; किन्तु हम यह मालूम कर लेंगे कि कौन दार्शनिक ठीक है, ग़लत निर्णयों को कैसे सही बनाया जा सकता है, और ज्ञानेन्द्रियों के धोखे से कैसे बचा जा सकता है। हमारा स्वभाव हिम्मत और साहस से भरा है। दक्षिण ध्रुव की खोज करने में बड़ी कठिनाइयों और मृत्यु का सामना करना पड़ा, किन्तु सभी कठिनाइयों पर विजय पाई गयी और ध्रुव तक पहुँचा गया। दो विद्यार्थी अपने पाठ्यक्रम पर चर्चा कर रहे थे। एक ने कहा, "मैं कार्बनिक रसायन में विशेषता प्राप्त करूँगा।" "क्यों?" दूसरे ने प्रश्न किया। "क्योंकि," पहले ने उत्तर दिया, "मैं विश्वास करता हूँ कि यह अब अन्य विषयों की अपेक्षा अधिक **समस्याएँ** प्रस्तुत करता है।" आधुनिक चिंतन में सन्देह का बहुत स्थान है किन्तु वह हमें हाथ पर हाथ रखकर बैठने को नहीं, वरन् और भी सजग होकर और लगातार खोज करने को प्रेरित करता है। इसलिए हमारे दार्शनिक चिन्तन में सन्देह का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, जो हमें न केवल कार्य करने को प्रेरित करता है वरन् रूढ़िवादिता को भी कम करता है। बर्ट्रेन्ड रसेल ने "उन्मोचक सन्देह" की बात कही है। वे कहते हैं, "दर्शनशास्त्र कुछ सीमा तक उन लोगों की अहंकार भरी रूढ़िवादिता दूर करता है जिन्होंने उन्मोचक सन्देह किया है और वह परिचित वस्तुओं को नवीन पक्ष से प्रस्तुत करके हमारे आश्चर्य को जीवित रखता है।"

> "महत्त्वपूर्ण है संशय,
> निम्न स्तरीय का अस्तित्व होता बिना उसके,
> पक्के और सीमित लोंदे, निष्प्रभ रहते विद्युत् तक से।"

ब्राउनिंग को निश्चय ही उसके साथ कोई सहानुभूति नहीं होगी, जो यह कहेगा कि चूँकि दर्शनशास्त्र के प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा सकता, इसलिए उन्हें उठाना भी नहीं चाहिए। उसके लिए जीवन एक सनातन साहसिक कार्य है, विकास की अनन्त प्रक्रिया है, जिसमें—

> "गिरते हैं हम उठने को, कर सकें युद्ध और डटकर।"

सन्देह और यहाँ तक कि घबराहट भी विद्यार्थी को दर्शनशास्त्र के अध्ययन

के लिए तैयार करती है, परन्तु सन्देह करना, सत्य की खोज करना और उसे प्राप्त करने की आशा करना ये—सब मानव-जीवन के महान् साहसपूर्ण कार्य हैं।

अब हम संशयवाद की अपेक्षा अज्ञेयवाद के बारे में अधिक सुनते हैं। यह शब्द सर्वप्रथम हक्सले ने प्रयुक्त किया था, किन्तु इसे प्रायः हर्बर्ट स्पेन्सर के नाम के साथ जोड़ा जाता है। अपनी यूनानी व्युत्पत्ति के अनुसार इसका मूल अर्थ है "बिना ज्ञान के"। स्पेन्सर का विश्वास था कि निरपेक्ष ज्ञान असम्भव है। समस्त ज्ञान सापेक्ष है और वह जड़ तत्त्व, गति, बल और चेतना से आगे नहीं जा सकता और ये सभी उस अज्ञेय के प्रतीक या विशेषण मात्र हैं। इस प्रकार स्पेन्सर का अज्ञेयवाद, भाववाद का एक रूप मात्र है; और पराकोटि का नहीं है; क्योंकि वह अज्ञेय की मान्यताओं में इतना आगे जाता है जितना आगे जाना कोई भाववादी अपना हक़ नहीं समझेगा।

हक्सले ने इस शब्द का प्रयोग धार्मिक अर्थ में अपना यह विश्वास बताने के लिए किया कि चाहे हम ईश्वर की सत्ता का खंडन न कर सकें, किन्तु हम उसकी वास्तविक प्रकृति को नहीं जान सकते। यही अब **अज्ञेयवाद** शब्द का सर्व सामान्य अर्थ है। दर्शनशास्त्र में अज्ञेयवाद सामान्यतः उसी अर्थ में प्रयुक्त होता है जिस अर्थ में स्पेन्सर ने किया था, अर्थात् मानव-ज्ञान सापेक्ष और सीमित है, इसलिए चरम वास्तविकता का ज्ञान असम्भव है। इस प्रकार के रक्षित अज्ञेयवाद में आलोचना करने की बात बहुत कम प्रतीत होगी किन्तु, सामान्यतः अज्ञेयवाद ज्ञान की सीमाओं पर बल देने के लिए पर्याप्त नहीं है, कभी-कभी उसमें रूढ़िवादिता की झलक मिलती है, उसमें बड़े विश्वास से यह माना जाता है कि दर्शनशास्त्र ज्ञान के जिस प्रक्रम को पाने की कोशिश करता है वह अलभ्य है और इस तरह अज्ञेयवाद सन्देह के ज़्यादा संयत दृष्टिकोण से बाहर चला जाता है। इसलिए वह दर्शनशास्त्र की सतत अविभ्रान्त खोज की प्रकृति के विपरीत है। एक लेखक अज्ञेयवादी को दुनिया से भाग जानेवाला भी कहता है।[1]

जगत् विषयक कोई दृष्टिकोण अनिवार्य है

वस्तुतः हम दर्शनशास्त्र का अध्ययन करेंगे या नहीं, इस बात की पूरी चर्चा अरस्तू ने पहले ही समाप्त कर दी थी जब उसने यह कहा था, "चाहे हम दार्शनिक चिन्तन करें या हम दार्शनिक चिन्तन न करें, हमें दार्शनिक चिन्तन करना चाहिए।" एडविन वैलेस ने बुद्धिमत्ता से कहा था, "प्रत्येक व्यक्ति चेतन अथवा अचेतन रूप में व्यक्ति और विश्व के सम्बन्ध के विषय में अपने लिए सिद्धान्त बनाता है और उस प्रश्न पर उसका जो दृष्टिकोण होता है उसी पर उसका समस्त व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन और आचरण निर्भर होता है।"

उन अधिकांश व्यक्तियों का भी, जो दर्शनशास्त्र के अध्ययन की निन्दा करते हैं, अपना एक दृष्टिकोण होता है जो प्रायः पूर्ण होता है। ईश्वर को न मानने के

1. Scudder Klyce, in his *Universe*, p. 9

पीछे भी उनका ईश्वर विषयक कोई सिद्धान्त होता है। उनका विश्व के विषय में भी कोई न कोई सिद्धान्त है, चाहे वह तीन मंज़िलों वाला, "ऊपर स्वर्ग, नीचे नरक और दोनों के मध्य पृथ्वी" ही क्यों न हो। उनका मूल्यों के विषय में भी कोई न कोई सिद्धान्त है, चाहे वह 'स्वार्थ सिद्धि ही सर्वोच्च शुभ है' ही क्यों न हो। इस तरह चूँकि हम सभी का जीवन तथा विश्व के विषय में कुछ सिद्धान्त होना चाहिए इसलिए अच्छा यही होगा कि यह सिद्धान्त जितना सम्भव हो सके उतना बोधगम्य हो और उसे आलोचनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन के बाद बनाया गया हो। इस सम्बन्ध में जगत् के महान् चिन्तकों जैसे प्लेटो, अरस्तू, संत आगस्टाइन, स्पिनोज़ा, कान्ट, डार्विन, रायस और जेम्स के जगत् विषयक महान् दृष्टिकोणों का अध्ययन करना अच्छा होगा। यदि हम दर्शनशास्त्र के इतिहास के आज तक के पन्ने उलटें तो हमें यह जानकर अचम्भा होगा कि कई कठिन समस्याओं को हल करने में कितनी प्रगति हुई है और यह शिकायत कितनी खोखली है कि उन्हें हल नहीं किया जा सकता।

यह एक सामान्य धारणा है कि तत्त्वमीमांसीय खोज विशेष रूप से व्यग्र करने वाली है; और भौतिक विज्ञानों की निरन्तर और विजयपूर्ण प्रगति के विपरीत दर्शनशास्त्र का इतिहास काल्पनिक सिद्धान्तों का इतिहास है। यह सत्य है कि भौतिक विज्ञानों में पिछले सौ वर्षों से बहुत व्यापक प्रगति हुई है किन्तु यह भी सत्य है कि भौतिक विज्ञानों का इतिहास अस्वीकृत सिद्धान्तों का इतिहास है। अभी हाल में हमारे यूक्लिड की ज्यामिति, न्यूटन की भौतिकी और डार्विन के विकासवाद के बारे में जो प्रिय विश्वास थे उन पर सन्देह किया गया है और हाल ही में जड़तत्त्व की रचना विषयक हमारे सिद्धान्तों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। फिर भी प्रगति निरन्तर और ज्वलन्त ढंग से हुई है। और ठीक यही बात दर्शनशास्त्र पर भी चरितार्थ होती है। यदि वस्तुतः हम उन दोनों में कोई तीव्र तुलना करना चाहें तो मुझे यह कहना चाहिए कि पिछले पच्चीस वर्षों में दर्शनशास्त्र की प्रगति उतनी ही तेज़ और ज्वलन्त रही है जितनी कि विज्ञान की रही है।

> कुछ मामलों में "विज्ञान" ने "दर्शनशास्त्र" की अपेक्षा कम प्रगति की है—उसके अत्यधिक सामान्य संप्रत्ययों से न तो अरस्तू को और न ही डेकार्ट को, यदि वे पुनः पृथ्वी पर आ सकें, आश्चर्य होगा। तत्त्वों से वस्तुओं की रचना, उनका विकास, ऊर्जा-संरक्षण और सार्वभौम नियतवाद उनको काफी साधारण लगेंगे—छोटी वस्तुएँ, सूक्ष्मदर्शी यन्त्र, बिजली का प्रकाश, टेलीफोन और विज्ञान की बहुत-सी चीज़ें उनके लिए विस्मयकारी चीज़ें होंगी। किन्तु यदि वे हमारी तत्त्वमीमांसा की पुस्तक खोलें या दर्शन का व्याख्यान सुनने कक्षा में जाएँ तो उन्हें सभी बातें अजनबी मालूम होंगी। हमारे समय का प्रत्ययवादी और "आलोचनात्मक" दृष्टिकोण उनके लिए

नया होगा और उसे समझने में उन्हें पर्याप्त समय लगेगा।[1]

विज्ञान और अनुप्रयुक्त विज्ञान में भेद करना चाहिए

मैं ऐसा मानता हूँ कि दर्शनशास्त्र की अपेक्षा विज्ञान की उन्नति इस कारण इतनी अधिक हुई प्रतीत होती है कि आमतौर से हमारा ध्यान यान्त्रिक और औद्योगिक कलाओं में विशेष विज्ञानों के ज्वलंत परिणामों पर ही केन्द्रित होता है। हमारे ध्यान में विशेष विज्ञान न होकर अनुप्रयुक्त विज्ञान होता है। जब हम यह सोचते हैं कि विज्ञान ने मानव के लिए क्या-क्या किया है तो अभिमान से फूल उठते हैं। पढ़ने वाली प्रत्येक बालिका को उन लाभों की लम्बी तालिका कंठस्थ होती है जो विज्ञान ने दिए हैं, जैसे बेतार का तार और टेलीफोन, तेज़ चलने वाली पनडुब्बी, तेज़ चलने वाली रेलगाड़ी, मोटर-कार, हवाई डाक, और समय और श्रम को बचाने वाले अनेक यन्त्रों की लम्बी सूची, जो हमें रोज़ के कामों में आराम देते हैं; सार्वजनिक सफाई द्वारा रोग पर विजय पाना, रोगाणु-नाशक शल्य चिकित्सा, और रोकथाम करने वाली दवाएँ, रसायन विज्ञान का कृषि में अनुप्रयोग और मशीनों के अन्वेषण द्वारा काम के घंटों में कमी।

हाल ही में, और विशेषकर महायुद्ध के समय से यन्त्रकलाओं द्वारा मनुष्यों को प्राप्त लाभों के सम्बन्ध में कम सुना जाता है। जगत् जिस सामाजिक संकट से आजकल संघर्ष कर रहा है उससे कई लोग भौतिक विज्ञानों और अनुप्रयुक्त विज्ञानों के महत्त्व के विषय में ही नहीं, वरन् विज्ञान को जिस दिशा में अनुप्रयुक्त किया जा रहा है उस पर भी संदेह कर रहे हैं। सम्भवतः अनुप्रयुक्त विज्ञान की सबसे प्रत्यक्ष "विजय" युद्ध-कला में हुई है, जो वास्तव में हमारी सभ्यता का नाश ही करने की धमकी देती है। हम अपने समय बचाने वाले उपायों पर भी प्रसन्न होते हैं, और यह आश्चर्य करते हैं कि क्या उन्होंने वास्तव में महत्त्वपूर्ण बातों के लिए हमारा ज्यादा समय बचाया है। क्या श्रम बचाने वाले अन्वेषण मानवता के लिए तब तक लाभकारी हो सकते हैं, जब तक कि बचे हुए समय का सदुपयोग करने का ज्ञान भी न हो? क्या मनुष्य की बौद्धिक और सौन्दर्यशास्त्रीय शिक्षा की उन्नति उसी गति से हुई है जिस गति से यन्त्र-कला की हुई है, जिससे उसे अचानक जो धन और समय मिला है, वह उसका सदुपयोग करेगा इस पर विश्वास किया जा सकता है। क्या यह सम्भव है कि संक्रामक कीटाणुओं से हमें बचाकर रोगों से लड़ने का यह प्रभाव पड़ सकता है कि हमारी रोग-**प्रतिरोधक** शक्ति घट जाए? क्या यह सत्य है, जैसाकि टॉड ने कहा है, कि कीटाणुविहीन और स्वस्थ समाज का प्रगतिशील और गतिमान होना आवश्यक नहीं है?

---

1. William James, *Some Problems of Philosophy* (Longmans, Green and Company), p. 24. इसी विचार पर जेम्ज़ वार्ड का लेख भी देखिए : "The Progress of Philosophy" in *Mind*, 15, no. LVIII.

ये सभी प्रश्न हमें विचार करने को प्रेरित करते हैं। यह सम्भव है परन्तु अनुप्रयुक्त दर्शन पर काफी ध्यान नहीं दिया गया है। या शायद विज्ञान को ग़लत दिशा में अनुप्रयुक्त किया गया है। सम्भवत: इसे युद्ध-कलाओं को चकाचौंध करने वाली सफलता, धन की वृद्धि और बाहरी वस्तुओं को एकत्र करने में लगाने के बजाय शिक्षा की उन्नति, और जातीय, नैतिक तथा आर्थिक मूल्यों के संरक्षण में अधिक लगाया जाना चाहिए था। हमने धन तो बहुत अधिक एकत्र किया है किन्तु पर्याप्त ज्ञान नहीं।

> बहुत समय से गणित, भौतिकी, रसायन, जैविकी और खगोलिकी में होने वाले दिन दूने रात चौगुने अन्वेषणों से और उनके अनुप्रयुक्त किए जाने से दिक्, काल और पुद्गल पर पहले ही इस सीमा तक विजय पायी जा चुकी है, कि हमारी धरती जो पहले बहुत विस्तृत दिखाई देती थी अब सिकुड़कर प्राचीन काल के किसी प्रान्त के बराबर हो गई है; और विभिन्न भाषाओं, परम्पराओं, रीति-रिवाजों और संस्थाओं के असंख्य लोग अब साथ-साथ एक ही समुदाय के रूप में रहने को बाध्य हो गए हैं। इसलिए, एक नए नैतिक ज्ञान, नए कानूनी ज्ञान, नए आर्थिक ज्ञान, नए राजनैतिक ज्ञान और शासन के मामलों में नए ज्ञान की आवश्यकता है। नवीन दृष्टि के लिए हम व्यथित होकर ज़ोरदार माँग करते हैं किन्तु उत्तर में हमें जनकनन्दन की केवल गूँजती हुई प्रतिध्वनियों के साथ उन उत्तेजित सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं की बकवास मिलती है जो यह नहीं जानते कि करना क्या है। क्यों ? इसकी व्याख्या क्या है ? इस प्रश्न के दो पहलू हैं : रोग क्यों है ? और उसका कोई उपाय हमारे पास क्यों नहीं है ? इन दोनों का उत्तर एक ही है। और वह उत्तर यह है कि नीतिशास्त्र, विधिशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति और सरकार सम्बन्धी तथाकथित ज्ञान उतनी तेज़ी से नहीं बढ़ा है जितनी तेज़ी से मनुष्य की अन्य महान् क्षेत्रों में प्रगति हुई है; वह पिछड़ गए हैं; उनका पिछड़ जाना ही जगत् के महान् कष्ट का कारण है; और उनके पिछड़ जाने से ही अब उनके पास उपचार करने के लिए आवश्यक ज्ञान नहीं है…।
>
> इस समय मानव का भविष्य अन्धकारमय है। "रुको, देखो और सुनो"—यह विवेकपूर्ण चेतावनी जो रेलमार्ग पार करने के स्थान पर लगी रहती है—"रुको, देखो, ध्यान से सुनो और सोचो" में बदल दी जानी चाहिए; केवल कुछ लोगों को दुर्घटना से बचाने के लिए नहीं वरन् मानवता के जीवन के संरक्षण के लिए।[1]

इसलिए दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों को विज्ञान के समृद्ध परिणामों की तुलना

1. Alfred Korzybski, *Manhood of Humanity* (E. P. Dutton and Company), pp. 20, 21, 30. प्रकाशक की अनुमति से।

में दर्शनशास्त्र के मामूली परिणामों से अब भयभीत नहीं होना चाहिए। यदि दर्शनशास्त्र से हमारा तात्पर्य तत्त्वमीमांसीय तन्त्रों अथवा निरपेक्ष के सम्बन्ध में थोथी बहस से न होकर ज्ञान की खोज, मूल्यों को आंकने और संप्रत्ययों का सावधानी से तार्किक विश्लेषण करने से है तो यह ठीक वही है जिसकी आज जगत् को आवश्यकता है।

किन्तु यह सब होते हुए भी यह वह नहीं है जिसकी हमें **आवश्यकता** है जिसमें हमारी रुचि है वरन् रुचि की बात यह है कि हम क्या **चाहते** हैं। मानव मस्तिष्क की एक गहन प्रवृत्ति है --ज्ञान प्राप्त करने की लालसा। जिज्ञासा एक विशेष मूल प्रवृत्त्यात्मक प्रतिक्रिया है। वैज्ञानिक कुतूहल सदा से ही वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए एक शक्तिशाली प्रोत्साहन रहा है। हमें प्रकृति के रहस्यों को जानने से प्रेम है; हम अपने चारों ओर के जगत् को, उसके अर्थ और उसके सम्भावित भविष्य को समझना चाहते हैं।

> विज्ञान के महत्त्व का कुछ भाग बौद्धिक है। कोई मंद-बुद्धि ही होगा जो प्राकृतिक घटनाओं की बहुत ज्यादा विविधता को देखते हुए भी इस पर आश्चर्य न करे कि वे कैसे परस्पर सम्बन्धित हैं। व्यावहारिक उपयोगिता के सभी प्रश्नों से अलग, आधुनिक मस्तिष्क प्रेक्षित घटनाओं को सूत्रबद्ध करने की, और बाह्य जगत् की घटनाओं को सामान्य नियमों में बाँधने की तीव्र इच्छा रखता है।[1]

हम कवि लेसिंग के शब्दों को याद करते हैं : यदि सर्व शक्तिमान् ने अपने दाहिने हाथ में **सत्य** और अपने बाएँ हाथ में **सत्य की खोज** को लेकर मुझसे दोनों में से किसी को पसंद करने को कहा होता तो मैंने बड़े विनय से किन्तु बिना हिचकिचाहट के, **सत्य की खोज** की याचना की होती।

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Cassius J. Keyser. *The Human Worth of Rigorous Thinking* (Columbia University Press), chap. I.

अन्य सन्दर्भ

J. H. Muirhead, *The Use of Philosophy* (Harvard University Press, 1929).

T. V. Smith, *The Philosophic Way of Life* (University of Chicago Press), chap. I.

M. C. Otto, *Things and Ideals*, "Hast any Philosophy in Thee, Shepherd ?" (Henry Holt and Company), chap. I.

Gamertsfelder and Evans, *Fundamentals of Philosophy* (Prentice-Hall, Inc.), chap. II.

---

1. Sir James Jeans, *The New Background of Science* (The Macmillan Company, New York, 1934), p. 50. प्रकाशक की अनुमति से।

अध्याय 5

अध्ययन की प्रणालियाँ

तीन सौ वर्ष पूर्व रेने डेकार्त नामक एक फ्रांसीसी ने, जिसे आधुनिक दर्शन का जन्मदाता कहा जाता है, चिंतन आरम्भ किया। वह स्कालैस्टिक दर्शन की बारीकियों से ऊब चुका था—और उसका विश्वास था कि वह अपने विचारों के मार्गदर्शन के लिए कुछ साधारण नियमों को लेकर बिना और किसी सहायता के अस्तित्व की बड़ी समस्याओं पर विचार कर सकता है। वह उसी बौद्धिक प्रणाली का प्रयोग करेगा जिससे उसे और उसके समवर्ती लोगों को गणित तथा यंत्र विज्ञान में इतने ज्वलन्त परिणाम प्राप्त हुए।

देकार्त के चार नियम

उसके चार प्रसिद्ध नियम इस प्रकार हैं :

प्रथम नियम है—उस किसी भी बात को सत्य न स्वीकार लूँ जिसे मैंने स्पष्टत: ऐसा नहीं जान लिया; अर्थात् सावधानी से, हठ और पूर्वाग्रह से बचना और अपने निर्णय में उससे ज़्यादा कुछ भी शामिल न करना जो मेरे मस्तिष्क में इतनी स्पष्टता और विशिष्टता से आया हो कि संशय के सभी आधार बहिष्कृत हो जाएँ।

दूसरा नियम है—परीक्षाधीन प्रत्येक कठिनाई को उतने अधिक हिस्सों में बाँटना जितना सम्भव हो और उसके उपयुक्त समाधान के लिए आवश्यक हो।

तीसरा नियम है—अपने विचारों को इस क्रम से रखना कि सबसे साधारण और सरल वस्तुओं से प्रारम्भ कर थोड़ा-थोड़ा करके सोपान-रोहणवत् ज़्यादा जटिल वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने की ओर बढ़ सकूँ...

और **अन्तिम** नियम है—हर एक मामले में गणना को इतना पूर्ण और समीक्षा को इतना सामान्य बनाना जिससे मैं आश्वस्त हो सकूँ कि कुछ भी छूटा नहीं है।[1]

---

1. Descartes, *Discourse on Method*, part II, pp. 15, 16. जॉन वाइश द्वारा अनूदित। एव्रीमेन्स लायब्रेरी। 'ई० पी० डटन एण्ड कंपनी' प्रकाशकों की अनुमति से।

देकार्त के समय से सत्य के हज़ारों अनुसंधान-कर्त्ताओं ने अपनी विचार-प्रक्रिया में इन चार नियमों को सहायक पाया है। किन्तु आधुनिक विज्ञान अनुभववादी है—जो अनुभव, प्रेक्षण और प्रयोगात्मक अनुसंधान पर बल देता है; और देकार्त के नियमों में कुछ और नियम जोड़ता है। इसके परिणाम को हम वैज्ञानिक प्रणाली कहते हैं और दर्शनशास्त्र वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा निश्चित इन कठोर नियमों का अपवाद होने का दावा नहीं करता। फिर भी कभी-कभी यह माना जाता है कि तार्किक अनुसंधान की श्रमसाध्य प्रणालियों की अपेक्षा दर्शनशास्त्र के पास कोई ऐसी गुप्त प्रणाली है जिसके द्वारा सत्य तक और भी सीधे मार्ग से पहुँचा जा सकता है—कम से कम किसी न किसी प्रकार के सत्य तक। यह अंत:प्रज्ञा अथवा तात्कालिक अन्तर्दृष्टि की प्रणाली है। यह प्रणाली रहस्यवादियों की है।

रहस्यवाद

चिंतन के पूरे इतिहास में समय-समय पर ऐसे दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने अपनी एक विशेष और एकदम अलग प्रणाली का दावा किया है। ये लोग रहस्यवादी थे। चिंतन के इतिहास में रहस्यवाद एक रोचक अध्याय है; कुछ महान् व्यक्ति रहस्यवादी थे। शायद अपनी निराली और सीधी अन्तर्दृष्टि द्वारा सत्य को जानने का उनका दावा शीघ्रता में रद्द नहीं कर देना चाहिए।

रहस्यवादियों का विश्वास है, कि कुछ प्रकार का ज्ञान, विशेषकर ईश्वर का ज्ञान, विमर्शात्मक चिन्तन के प्रयत्नों से नहीं प्राप्त होता, वरन् अव्यवहित अन्तर्दृष्टि और अन्त:प्रज्ञा से प्राप्त होता है। तर्क की शक्तियों से कभी-कभी आगे जाया जा सकता है और ईश्वर तक हमारी सीधी पहुँच हो सकती है या वास्तविकता से तात्कालिक एकाकार हो सकता है, जिससे आत्मिक जीवन के एक ही क्षण में सत्य का अनुभव, आभास या ग्रहण होता है। ध्यान के हर्षातिरेक से मिलते-जुलते क्षण वास्तविकता से हमारा आमना-सामना करवाते हैं।

नव्य प्लेटोवादी प्लॉटीनस (ई० 204—69) का यही मत था और कुछ इसी तरह का मत अनेक महान् ईसाई रहस्यवादियों का था, जैसे सन्त टेरेसा, क्रॉस के सन्त जॉन, माइस्टर एकहार्ट, जाकोब वीमे और जार्ज आक्स; जबकि रहस्यवादी दृष्टिकोण शेली, वर्ड्स्वर्थ, टेनीसन और ह्विट्मेन की कविताओं और इमर्सन के ऐस्सेज़ में भी पाया जाता है। वस्तुत: बर्गसाँ भी जो कि वर्तमान युग का बहुत विख्यात और अधिक पढ़ा जाने वाला दार्शनिक है और जो मनोविज्ञानी, जीव-विज्ञानी और विकासवादी है, एक प्रकार के रहस्यवाद प्रतिपादन करता है; क्योंकि बर्गसाँ के लिए अन्त:प्रज्ञा बुद्धि से श्रेष्ठ है। अन्त:-प्रज्ञा स्वयं जीवन का ही पर्यायवाची है जो हमें जीवन के प्रवेशद्वार तक ले जाता

है। यह एक प्रकार से पशुओं की मूल प्रवृत्ति की भाँति प्राग्ज्ञानमय सहानुभूति है, जो आत्मचेतन बन गई है और अपने विषय पर चिन्तन कर सकती है।

प्रकृति और मनस् में एक तरह का **सामरस्य** है जिसे हम अपने शुद्ध बौद्धिक और वैज्ञानिक मनोभावों में प्राप्त नहीं कर सकते और जिसके द्वारा हमें जीवन के गुप्त रहस्यों के विषय में एक निराला ही अन्तर्ज्ञान होता है। बर्गसाँ के मतानुसार, यह मस्तिष्क में बाहर से आने वाला दैवी सन्देश नहीं है जैसाकि प्राचीन रहस्यवाद में माना जाता था। यह शायद इसलिए है कि मनस् स्वयं जीवन-प्रवाह का एक अंग है, जो जड़तत्त्व से अधिक वास्तविक है। इसका आवश्यक रूप से यह अर्थ नहीं है कि दर्शनशास्त्र के पास सत्य को जानने की कोई ऐसी गुप्त पद्धति है जो विज्ञान के पास नहीं है। इसका मतलब यही है कि भौतिक जगत् पर विचार करते समय वैज्ञानिक लोग बुद्धि को अपना साधन बनाते हैं। किन्तु यदि वैज्ञानिक भी दार्शनिक मनोभाव से वास्तविकता की खोज करे तो उसके पास प्रत्यक्ष अंतःप्रज्ञा के माध्यम से उपागम करने का एक और मार्ग होगा। यहाँ दार्शनिक का कार्य कुछ-कुछ कलाकार के कार्य के समान है जो अपने विषय के साथ **तादात्म्य** कर लेता है। यानी "एक प्रकार की सहानुभूति द्वारा अपने-आपको विषय में समाहित कर लेना।" जब हम प्रकृति को बुद्धि के माध्यम से देखते हैं तो यह मानो मनस् और प्रकृति के बीच में एक "रुकावट" होती है जिसे अन्तःप्रज्ञा सहानुभूति के माध्यम से हटा देती है।

यदि यह रहस्यवाद हो तो इस शब्द से किसी त्रुटि का बोध नहीं होना चाहिए जैसाकि सामान्यतः होता है। बल्कि इसे ज्ञान के स्रोतों की ओर आगे खोज में एक रोचक "बढ़ावा" मानकर उसका अनुसरण करना चाहिए। इस समय हम इस बृहत् प्रश्न को टाल सकते हैं, क्योंकि अभी हमें सत्य के स्रोतों को जानने से इतना मतलब नहीं है जितना कि उन प्रणालियों को जानने से है जिनका प्रयोग हम दर्शनशास्त्र के अध्ययन में कर सकते हैं।

वैज्ञानिक प्रणाली

किन्तु हमें उस प्रणाली पर विचार करने दीजिए जिसे वैज्ञानिक प्रणाली कहते हैं और जो वैज्ञानिक खोजों और वास्तव में हमारे प्रतिदिन के विमर्शात्मक चिन्तन में प्रयुक्त होती है। बाद में हम यह प्रश्न उठा सकते हैं कि क्या यह प्रणाली दर्शनशास्त्र में प्रयुक्त की जा सकती है और यदि की जा सकती हो तो क्या यह सर्वश्रेष्ठ या एकमात्र प्रणाली है। ड्यूवी ने अपनी छोटी-सी पुस्तक **हाउ वी थिंक** में विमर्शात्मक चिन्तन का स्पष्ट विवरण दिया है।[1] विमर्शात्मक चिन्तन तब

---

1. विज्ञान और दर्शनशास्त्र पर अनुप्रयुक्त विचार-प्रक्रिया का एक और अधिक विस्तृत वर्णन 'एन इन्ट्रोडक्शन टु रिफ्लेक्टिव थिंकिंग' नामक एक श्रेष्ठ पुस्तक में मिल सकता है। यह पुस्तक कोलंबिया यूनिवर्सिटी एसोसिएट्स इन फिलॉसफी' द्वारा प्रकाशित है।

आरम्भ होता है जब कोई समस्या हल करनी होती है या किसी कठिनाई का सामना करना होता है, जैसे—जब यात्री किसी अनजाने रास्ते पर चलते हुए दुराहे पर पहुँचता है, तब उसे विचार करना पड़ेगा, चाहे उससे पहले कभी न किया हो। किस सड़क पर जाना चाहिए यह निश्चय करना एक छोटी समस्या है, दर्शनशास्त्र हमारे सामने बड़ी समस्याएँ प्रस्तुत करता है किन्तु उन्हें हल करने की प्रणाली वही है।

सर्वप्रथम हमें परिस्थिति का सावधानी से विश्लेषण करना चाहिए और उसके सम्बन्ध में सभी तथ्यों को यथासम्भव एकत्र कर लेना चाहिए, तथ्यों के प्रेक्षण में हमें निष्पक्ष, पूर्वग्रहों से अलग और तटस्थ रहना चाहिए। अपने को, अपनी रुचि और वरीयता को, अपनी पसन्द और नापसन्द को, अपनी पारम्परिक और धार्मिक बातों को अलग रखना बहुत ही कठिन है और इनका पालन करने में असफल रहना ही वास्तव में दार्शनिक चिन्तन में गड़बड़ी का कारण रहा है। पूर्वग्रह हमें अपने दैनिक जीवन के विमर्शात्मक चिन्तन में पथभ्रष्ट कर देता है और विज्ञान में भी बहुत सी ग़लतियों का कारण रहा है। यदि हम पहले से ही अपने किसी प्रिय सिद्धान्त पर अड़ जाएँ तो विज्ञान या दर्शन-शास्त्र में कोई प्रगति नहीं हो सकती। दैनिक जीवन में जब कोई समस्या अचानक सामने आती है तो हम उसका समाधान करने के लिए अपनी आदत या प्रथा का ही आश्रय लेते हैं। हममें से अधिकांश व्यक्तियों का कोई न कोई तैयार "सिद्धान्त" होता है, कुछ मन-पसंद विचारों का समूह होता है, जो हमें परम्पराओं या सामाजिक उत्तराधिकार से या अपने राजनैतिक दल, अपने धर्म या सम्भवत: किसी ऐसी पुस्तक से, जिसने हमें अधिक प्रभावित किया होता है, या किसी कविता या उपन्यास में प्रस्तुत किसी नए "आन्दोलन" से, या सम्भवत: किसी प्रभावकारी चलचित्र से प्राप्त होता है, और हम उलझन में डालने वाली समस्या को जल्दबाज़ी में इसी सिद्धान्त के आधार पर हल करते हैं और इस बात की बहुत सम्भावना है कि समस्या के समाधान में हम अपनी व्यक्तिगत भावनाओं, अपनी अभिलाषाओं और इच्छाओं से प्रभावित हों। कोई "संवेगात्मक पेंच" ही हमारे लिए समस्या का समाधान करेगा।

किन्तु दर्शनशास्त्र और विज्ञान में हमारे विमर्शात्मक चिन्तन को, व्यक्तिगत रुचियों और इन "सिद्धान्तों" की ग़लतियों से और उन अन्धविश्वासों से, जिन्हें बेकन ने परम्पराश्रित अन्धविश्वास या कूपमंडूकता कहा है, बचा रहना चाहिए। पूर्वग्रह से छुटकारा एक ऐसा आदर्श है जिसे प्राप्त करना बहुत कठिन है। यह छुटकारा भौतिक विज्ञानों में अनेक धैर्यवान्, काम में अनवरत लगे रहने वाले और कोई पूर्वग्रह न रखने वाले कार्यकर्त्ताओं ने बड़े उल्लेखनीय ढंग से पाया है और उन्होंने ज्ञान के क्षेत्र में जो बहुमूल्य देन दी है वह इस प्रणाली की सफलता का प्रमाण है। विज्ञान की अपेक्षा दर्शनशास्त्र में यह नितान्त निष्पक्ष अभिवृत्ति

अधिक कठिन है और यह हममें से बहुत कम लोगों में होती है। किन्तु जहाँ तक सम्भव हो हर समस्या पर चाहे वह दर्शनशास्त्र की हो या विज्ञान की, वास्तविक वैज्ञानिक अभिरुचि से विचार करना चाहिए, जिसका उद्देश्य जानने की उत्कट इच्छा या वास्तविक वैज्ञानिक कुतूहल है।

प्राक्कल्पना

तथ्यों के प्रेक्षण के प्राथमिक कार्य के पश्चात् दार्शनिक प्रणाली का दूसरा चरण है, समस्या का प्रस्तावित समाधान देना। उसे ड्यूवी ने "संसूचन" कहा है। इसे प्राक्कल्पना या कामचलाऊ सिद्धान्त भी कहते हैं। कई बार इसकी सूझबूझ सहसा ही हो जाती है—यह एक प्रकार से अन्त:प्रज्ञा द्वारा समस्या का समाधान होता है। यह तथ्यों का धैर्यपूर्वक निरीक्षण करने के समान ही महत्त्व-पूर्ण होता है जो संसूचन के पहले और बाद में होता है। यह सूझबूझ किसी स्थिति विशेष में कुछ तथ्यों के प्राथमिक प्रेक्षण के बाद आ सकती है। यह वर्षों की मेहनत से की हुई जाँच-पड़ताल के बाद या कई महीने तक सावधानी से किए हुए प्रेक्षणों को व्यवस्थित करने के बाद भी आ सकती है। यह जाँच-पड़ताल के आरम्भ में भी आ सकती है। यह काम करने के लिए एक सूत्र और अनुसंधान के लिए पर्याप्त अनुप्रेरणा प्रदान करती है। हमारा मस्तिष्क इस ढंग से कार्य करता है कि उसे कार्य करने के लिए किसी न किसी सिद्धान्त की आवश्यकता होती है। जब प्रयोग और बाद के प्रेक्षणों द्वारा सिद्धान्त की पुष्टि न हो तो, सिद्धान्त ग़लत हो सकता है और उसे छोड़ना पड़ेगा। किन्तु जब समस्या ऐसी हो कि उसकी पुष्टि की सम्भावना हो तब उसकी पुष्टि करनी **चाहिए**; और जहाँ किसी तरह की पुष्टि सम्भव नहीं है वहाँ अनुसंधान में रुचि जल्दी समाप्त हो जाती है। पुष्टीकरण में जो तार्किक प्रक्रिया होती है उसमें निगमनात्मक तर्क निहित होता है। थोड़ी देर के लिए हम यह मान लेते हैं कि हमारा सिद्धान्त, हमारा "अनुमान" सही है और हम उसके परिणामों को निकालते हैं और तब बड़ी पाबन्दी से वास्तविक तथ्यों से सिद्धान्त के निहितार्थों की तुलना करते हैं। यह विचार करने की **यदि—तो** प्रक्रिया है; **यदि** सिद्धान्त सही हो तो उसके परिणामस्वरूप ऐसी-ऐसी बातें होंगी। क्या ये बातें तथ्यों से मेल खाती हैं?

दो स्टेशनों के बीच रास्ते में आपकी मोटरकार रुक जाती है। आप उत्सुकता से उसका कारण जानना चाहते हैं। उसे मालूम करना "समस्या" है। कोई व्यक्ति "सुझाव" देता है। शायद साथ का प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना सुझाव देता है। पेट्रोल नहीं है, कोई कनेक्शन टूट गया है, पिस्टन जाम हो गया है, पेट्रोल की नली में कचरा फँस गया है। आप सबसे आशाजनक सुझाव को लेकर उसे आज़माते हैं। आज़माने का मतलब है सिद्धान्त के परिणामों को निकालना और तथ्यों से उनकी तुलना करना। यदि उससे सुझाव की पुष्टि न हो तो आप दूसरे

सुझाव को आज़माते हैं।

किसी बीमार को देखने के लिए कोई चिकित्सक बुलाया जाता है। उसकी "समस्या" होती है बीमारी का कारण जानना या उसका लक्षण जानना। वह तथ्यों का कुछ प्राथमिक प्रेक्षण करता है, प्रश्नों को पूछता है, नाड़ी और ज्वर की जाँच करता है। तब उसके मन में एक सुझाव आता है—टायफाइड ज्वर। **यदि** यह टायफाइड ज्वर है **तो** कुछ गुप्त लक्षण मौजूद होंगे। वह इन निश्चायक परीक्षणों को करके अपनी प्राक्कल्पना की पुष्टि करता है या उसे अस्वीकृत कर देता है।

यही हमारे दैनिक जीवन में विमर्शात्मक चिन्तन की प्रणाली है; यही वह प्रणाली है जिससे विज्ञान में महान् खोजें हुई हैं; और यही वह प्रणाली है जिसका प्रयोग दार्शनिक छानबीन में सामान्यतः किया जाना चाहिए।

किन्तु यह प्रश्न सामने आएगा कि क्या प्रणाली का प्रयोग दर्शनशास्त्र में किया जा सकता है? हम इसे जीवन की बड़ी समस्याओं—जैसे ईश्वर, जगत् और आत्मा पर कैसे अनुप्रयुक्त कर सकते हैं? क्या पुष्टीकरण इस प्रणाली का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग नहीं है? और क्या जगत् की इन बड़ी समस्याओं का पुष्टी-करण हो सकता है? क्या दर्शनशास्त्र के मनगढ़न्त हो जाने का भय नहीं है? क्योंकि पुष्टीकरण असम्भव है।

इसके उत्तर में, मेरे विचार से यह कहा जा सकता है कि विचाराधीन प्रणाली केवल विमर्शात्मक चिन्तन की प्रणाली है, इसलिए समस्याएँ चाहे कितनी बड़ी क्यों न हों, उन पर चिन्तन अवश्य करना चाहिए। हमारा यह मतलब नहीं है कि दार्शनिक छानबीन इस प्रणाली तक ही सीमित है। हम अब अध्ययन के अन्य तरीक़ों, जैसे तार्किक विश्लेषण, साम्यानुमान और ऐतिहासिक प्रणाली पर भी ध्यान देंगे। किन्तु दर्शनशास्त्र के उस रचनात्मक भाग का, जिसमें हमारी सबसे अधिक अभिरुचि है, आलोचनात्मक विश्लेषण का पूरा प्रयोग और अपने विषय के इतिहास का अध्ययन करने के पश्चात् भी हमें उस पर चिन्तन करते रहना चाहिए; और हमारे चिन्तन को सफलता उसी अनुपात में मिलेगी जिस अनुपात में हमारे प्रेक्षण सावधानी से किए गए और निष्पक्ष होंगे। हमारा अनुभव विस्तृत और विविध होगा, और हमारी अन्तःप्रज्ञा गहन होगी।

वैज्ञानिक प्रणाली के उस भाग का जिसे हम **संसूचन**, समस्या के समाधान के लिए तात्कालिक सूझबूझ का पैदा होना, कहते हैं, बड़ा विशेष महत्त्व है। यहीं पर मस्तिष्क और अनुभव का महत्त्व है। जब हमारी मोटर-कार रुक जाती है तो बहुत से मूर्खतापूर्ण सुझाव दिए जा सकते हैं। साथ का कोई व्यक्ति उपयोगी सुझाव दे सकता है और वही व्यक्ति **बुद्धिमान्** होगा और उसकी बुद्धिमानी अंशतः मोटरकारों के अनुभव पर और अंशतः उसके मस्तिष्क के प्रयोग पर आधारित होगी। विज्ञान और दर्शनशास्त्र में महान् खोजें महान् व्यक्तियों द्वारा

की गई हैं। सेब को गिरते हुए कोई भी देख सकता है। कुछ लोग यह भी पूछ सकते हैं कि वह क्यों गिरता है। केवल किसी न्यूटन का ही महान् मस्तिष्क गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का निर्माण कर सकता है। मन की अद्भुत शक्ति को आज जितनी स्पष्टता से भौतिकीविदों की हाल की परमाणु की वैद्युत प्रकृति या गणितज्ञों की सापेक्षतावाद की खोजों में देखा जा सकता है उतना और कहीं नहीं। यह विचार की सृजनात्मक शक्ति है—जिसे कभी-कभी सर्जनात्मक कल्पना कहा जाता है। अपने उच्चतर रूपों में यह प्रतिभा की एक विशेष देन प्रतीत होती है—एक प्रकार की दृष्टि या प्रेरणा। जेम्स ने इसे ही **चातुर्य** कहा है।

किन्तु सत्य का आभास केवल चातुर्य से नहीं होता; और यदि होता भी है तो चातुर्य के साथ अनुभव भी सम्मिलित होना चाहिए। विज्ञान और दर्शनशास्त्र में "बुद्धिमान्" केवल "द्रष्टा" ही नही है; वह आदमी है जो देखता है और जानता भी है। वह जो आपकी मोटर का दोष शीघ्र बतला सकता है उसे मोटर और उसके तरीक़ों का अनुभव भी है। महान् वैज्ञानिक, निश्चय ही एक महान् मस्तिष्क का व्यक्ति है—किन्तु सामान्यतः वह अपने विज्ञान की परम्परा और इतिहास से सुपरिचित होता है। इसलिए महान् दार्शनिक न केवल गहन अन्तर्दृष्टि का व्यक्ति होगा, वरन् समृद्ध अनुभव और जीवन के वास्तविक ज्ञान को रखने वाला व्यक्ति भी होगा।

इसलिए दर्शनशास्त्र की पद्धति इंद्रियानुभविक है। हमारे सिद्धान्त अनुभव से ही निकलने चाहिएँ। अनुभव द्वारा ही उनका परीक्षण होना चाहिए। भौतिक प्रयोगशाला में चाहे उसका कठिन परीक्षण सम्भव न हो सके, किन्तु जीवन की प्रयोगशाला में इस प्राक्कल्पना की पुष्टि होनी चाहिए। दर्शनशास्त्र के इतिहास में असफलताएँ—जो बहुत रही हैं—अंशतः जीवन के सम्पर्क की अवहेलना से हुई हैं, जो बहुत ही आवश्यक होता है। एक दार्शनिक सिद्धान्त, जो विज्ञान या दर्शनशास्त्र के माने हुए उसूलों के विरोध में नहीं आता, वह आत्मसंगत है और वह सभी सम्मिलित कारकों का सावधानी और निष्पक्षता के साथ विश्लेषण करने के पश्चात् और मानव अनुभवों की व्यापक अपील के बाद उतना ही पुष्ट है। उसकी व्यापक अपील, सन्तोषजनक कार्य, यहाँ तक कि उसकी वैज्ञानिक प्राप्तियों की सफलता के आधार पर जो उसे मान मिलता है वे सब पुष्टीकरण की प्रक्रिया के विभिन्न चरण हैं।

इस विमर्शात्मक चिन्तन की पद्धति के द्वारा ही, जिसका विवरण अभी हमने दिया है, दर्शनशास्त्र में विमर्शात्मक कार्य हुआ है। किन्तु शायद विद्यार्थी यह कहेंगे—"मैं निर्माणात्मक कार्य करने की आशा नहीं करता; मैं केवल दर्शनशास्त्र के सम्बन्ध में जानने को उत्सुक हूँ ताकि अपने प्रश्नों का उत्तर पा सकूँ और अपने सन्देहों को दूर कर सकूँ।" किन्तु दर्शनशास्त्र के अध्ययन का अर्थ ही है 'दार्शनिक चिन्तन करना'। अमरीकी विश्वविद्यालय की एक कक्षा में यह उपदेश सूत्र

यूनानी भाषा में लिखा है, "दर्शन नहीं, वरन् दार्शनिक चिन्तन करना है"। जीवन के सम्वन्ध में बड़े प्रश्नों पर चिन्तन करना ही लाभप्रद होता है न कि अन्य लोगों के विचारों का अध्ययन करना।

प्लैन्क द्वारा वैज्ञानिक पद्धति का विवरण

मेक्स प्लैन्क की कुछ ही दिन पूर्व प्रकाशित एक पुस्तक **ह्वेअर इज साइंस गोइंग** में एक अध्याय वैज्ञानिक पद्धति के विषय पर है।[1] यह जानना रुचिकर है कि विशेषता प्राप्त 'क्वांटम सिद्धान्त' के जन्मदाता ने किस प्रकार पद्धति का अनुसरण किया, जिसने भौतिक विज्ञान को आन्दोलित करने में इतना कुछ किया। सर्वप्रथम तो प्लैन्क प्रत्यक्षवादियों के इस सिद्धान्त का बहिष्कार करते हैं कि हम अपने इन्द्रियानुभव से परे कुछ नहीं जानते और हमारा किसी ऐसे जगत् से कोई सम्वन्ध नहीं है। प्रत्यक्षवादी के लिए कोई भी वस्तु, जैसे घर या वृक्ष, केवल हमारे तात्कालिक इन्द्रिय-प्रत्यक्षों का सम्मिश्रण है। यह कहना निरर्थक है कि इस इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के पीछे कोई एक वास्तविक वस्तु है।

प्लैन्क इस प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त को रद्द करते हैं और यह विश्वास करते हैं कि विज्ञान आज और भी दृढ़ और विस्तृत नींव पर आधारित है। उसका यह अभ्युपगम है कि हमारे ज्ञान की प्रक्रिया से स्वतन्त्र एक वास्तविक वाह्य जगत् स्थित है; यद्यपि यह जगत् अपरोक्ष रूप से ज्ञेय नहीं है। किन्तु यह परोक्ष रूप से जाना जा सकता है, जिसका पूर्ण ज्ञान एक आदर्श के सदृश होता है जिसे प्राप्त करने के लिए हम निरन्तर यत्न करते हैं किन्तु कभी पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं करते। जिन साधनों के द्वारा वैज्ञानिक भौतिक जगत् के स्वभाव का ज्ञान प्राप्त करते हैं—वे हैं **माप**। अपने सभी निरीक्षणों और प्रयोगों और इन मापों को बनाते समय हमें अपने अनुसंधान के उपकरणों से उत्पन्न अथवा अपनी ज्ञानेन्द्रियों से उत्पन्न वृत्तियों के दोषों को समाप्त करने का हर प्रयत्न करना चाहिए। ये माप और निरीक्षण ही कच्चे माल होते हैं, जिनका कि वैज्ञानिक वाह्य जगत् की तस्वीर बनाने में उपयोग करता है।

किन्तु यह तस्वीर कैसे मिलती है? यहाँ सबसे महत्त्वपूर्ण बात है स्वयं वैज्ञानिक का निर्माणात्मक कार्य। उसके पास कोई प्राक्कल्पना होनी चाहिए। "वह अपनी पहल की अन्तर्भावना को सबसे अधिक महत्त्व दे सकता है।" उसे अपने प्रयोगों और अनुभवों के नतीजों को एक नियम के अन्तर्गत व्यवस्थित करने का यत्न करना चाहिए। यह प्राक्कल्पना आन्तरिक तार्किक असंगतियों से मुक्त होनी चाहिए और उसके निगमन अनुसंधान के मापों और प्रयोगों से सहमत होने चाहिएँ। कई आश्वस्त सिद्धान्त इन परीक्षणों में असफल सिद्ध होते हैं अतः

1. मेक्स प्लैंक की 'ह्वेअर इज साइंस गोइंग ?' (डब्ल्यू॰ डब्ल्यू॰ नारटन एण्ड कम्पनी), अध्याय 2 और 3।

उन्हें रद्द करके नए बनाए जाने चाहिएँ।

इस तरह हम प्लैन्क के वर्णन से यह देखते हैं कि किस सीमा तक विज्ञान वैज्ञानिक के मस्तिष्क की उपज है। भौतिक विज्ञान के महान् नियम महान् व्यक्तियों द्वारा प्राप्त हुए हैं। भौतिकी और सूक्ष्म भौतिकी की इधर कुछ दिनों की क्रान्तिकारी खोजें केवल नए और आश्चर्यजनक यथार्थमापी यन्त्रों और धैर्य-पूर्वक प्रयोगों और निरीक्षणों द्वारा ही नहीं वरन् प्लैन्क, आइन्स्टाइन, नील्स, बोहर, हाइसन्वर्ग, हेर्त्स और श्रोएडींगर सरीखे व्यक्तियों की प्रतिभा और तेजस्विता के कारण भी हुई हैं।

और केवल क्रान्तिपूर्ण अंत:प्रज्ञा ही एक ऐसी बात नहीं है जो कि महान् वैज्ञानिक दार्शनिक बनाती है। धैर्य, उद्योग और ईमानदारी भी उनके उपकरणों में सम्मिलित हैं।

> दार्शनिक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो हर सुझाव को ध्यान से सुनने को तैयार हो; किन्तु स्वयं निर्णय करने के लिए दृढ़ संकल्प हो। वह प्रतीतियों से पूर्व प्रभावित न हो, मनपसन्द कोई प्राक्कल्पनाएँ न हों, कोई मतावलम्वी न हो, और मतों के सम्बन्ध में जिसका कोई अधिकारी न हो। वह व्यक्तियों का नहीं, वरन् वस्तुओं का आदर करने वाला हो। सत्य ही उसका मूल ध्येय हो। यदि इन योग्यताओं के साथ उद्योग भी सम्मिलित कर दिया जाए, तो वह वास्तव में प्रकृति के मन्दिर के आवरण में पदार्पण करने की आशा कर सकता है।[1]

पद्धति के दृष्टान्त

सर जेम्स जीन्स "दि मेथड्स आफ् साइंस"[2] नामक अध्याय में इन पद्धतियों का दृष्टान्त ग्रहों की गति से सम्बन्धित महान् ऐतिहासिक सिद्धान्तों द्वारा देते हैं। सूर्य पूर्व दिशा से उदित होता और पश्चिम में अस्त होता दिखलाई पड़ता है। स्थिर सितारे भी यही करते हैं। चन्द्रमा और वे "भटकने वाले" जिन्हें ग्रह कहते हैं भी उदय और अस्त होते हैं, किन्तु अनियमित रूप से। इन सब बातों का स्पष्टीकरण कैसे होगा ?

यूनान के वैज्ञानिकों के अभ्युदय से पूर्व, पौराणिक स्पष्टीकरण पुराने लोगों के मन को सन्तुष्ट कर देते थे। यूनानियों ने स्वयं इस समस्या के साथ कई सौ वर्षों तक संघर्ष किया है। अन्तत: सिकन्दरिया के टालेमी ने लगभग 150

---

1. Faraday, in Sir Richard Gregory's *Discovery, or the Spirit and Service of Science*, p. 12.

2. Sir James Jeans, *The New Background of Science* (The Macmillan Company, 1934). Revised edition, chap. II. प्रकाशकों की अनुमति से।

ई० में पूर्णतः वैज्ञानिक स्पष्टीकरण अपनाया। उसने एक प्राक्कल्पना या सिद्धान्त सभी सितारों की गति स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत किया। इसने यह घोषित किया कि पृथ्वी केन्द्र में स्थिर और गतिहीन है, जबकि इस तन्त्र में सूर्य, चन्द्रमा और ग्रह उसके चारों ओर घूमते हैं, यह चक्रों और अधिचक्रों का जटिल तन्त्र ग्रहों की विचित्र गति को स्पष्ट करने के लिए है।

इस सिद्धान्त ने, जिसे टालेमीय तन्त्र कहा जाता है, तथ्यों को बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया और अन्त में दांते की बड़ी कविता **दि डिवाइन कामेडी** के लिए विश्वकारण सम्बन्धी नींव डालते हुए समस्त मध्ययुग को प्रभावित किया। किन्तु सोलहवीं शताब्दी में खगोलीय ज्ञान की वृद्धि होने पर कोपर्निकस इस सिद्धान्त से असन्तुष्ट हुए और उन्होंने दूसरी प्राक्कल्पना प्रस्तुत की जो कोपर्निकसीय तन्त्र में परिणत हुई। उन्होंने इस प्रस्ताव पर विचार करने को कहा कि सूर्य को सौर परिवार के केन्द्र में मान लिया जाय और पृथ्वी तथा मण्डल के अन्य सदस्यों को सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते हुए माना जाय। यह नया सिद्धान्त तथ्यों के अधिक उपयुक्त साबित हुआ—किन्तु पूर्ण रूप से नहीं। केपलर ने मंगल की गति का अध्ययन करते हुए ग्रहों के मार्ग को वृत्ताकार के स्थान पर अण्डाकार बतलाया। इसने तथ्यों को और भी स्पष्ट किया, किन्तु अन्यों को विवरण के बिना छोड़ दिया। तत्पश्चात् न्यूटन आए और उन्होंने सभी अन्तरिक्ष के ग्रहों के सम्बन्ध में एक दूरदेशी और आश्चर्यजनक नियम प्रस्तावित किया, अर्थात् आकर्षण नियम, जिसके अनुसार विश्व की प्रत्येक वस्तु, अन्य हर वस्तु को दूरी के वर्ग के अनुसार प्रतिलोमतः शक्ति परिणमन के साथ आकर्षित करती है। यह नया नियम अद्भुत तरीके से सभी ग्रहों की गतियों का विवरण देने में समर्थ हुआ—यहाँ तक कि उन रहस्यमय और दोषयुक्त धूमकेतु कहे जाने वाले ग्रहों की गति को भी। इसने वस्तुओं के पृथ्वी पर गिरने, गेंदों और गोलियों के प्रक्षेप वक्र और समुद्र की लहरों की गतियों को भी स्पष्ट किया।

न्यूटन द्वारा दिए गए महान् नियम के आने से वैज्ञानिक जगत् सन्तुष्ट था। खगोलीय और भौमिक ग्रहों की गति का रहस्य खुल गया था। वर्तमान शताब्दी तक कोई सन्देह उत्पन्न नहीं हुए। किन्तु हमारे उन्नति करते हुए परिशुद्ध उपकरणों ने अंततः बुध ग्रह में कुछ कमी निकाल ली। लेवेरिये ने यह निरीक्षण किया कि वह न्यूटन के नियम के अनुसार नहीं घूमता। उसका दीर्घ वृत्ताकार परिक्रमा पथ स्वयं इस तरह से घूमता है कि न्यूटनीय भौतिकी को चकरा दिया है।

इसलिए एक और परिशोधन हुआ और अब आइन्स्टाइन अपने प्रसिद्ध सापेक्षता के सिद्धान्त के साथ न केवल बुध ग्रह के दोषपूर्ण बर्ताव को स्पष्ट करते हुए, बल्कि कई और अब तक कठिन समझे जाने वाले तथ्यों को स्पष्ट करते हुए आगे आए। वैज्ञानिक पद्धति में निगमन का हिस्सा होता है यह आइन्स्टाइन के नियम की पुष्टि में निर्दशित है। **यदि** सापेक्षता का सिद्धान्त मान्य है, तो

सूर्य के निकट से पार करता हुआ एक दूर के सितारे का प्रकाश अपनी सीधी-रेखा के मार्ग से विक्षेपित होना चाहिए। खगोलज्ञों ने पूर्ण सूर्य ग्रहण की प्रतीक्षा की और यह अवसर आने पर आइन्स्टाइन के नियम के अनुसार विक्षेपण होता हुआ दर्शाया।

जैसे-जैसे हम अन्तरिक्ष के पिण्डों की गति के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्तों का पुर्नविलोकन करते हैं, ऐसा आभास हो सकता है कि विज्ञान अस्वीकृत सिद्धान्तों का इतिहास है; किन्तु जैसी जीन्स ने टिप्पणी की है कि ऐसा निष्कर्ष किसी अनाड़ी का ही होगा, क्योंकि होता यह है कि विज्ञान "सिद्धान्तों के पौर्वापर्य के माध्यम से निरन्तर उन्नति कर रहा है, जिनमें प्रत्येक सिद्धान्त अपने पूर्ववर्ती द्वारा बतलाई हुई घटनाओं से अधिक घटनाओं को सम्मिलित करता हुआ एक ऐसे सिद्धान्त के आदर्श की ओर अग्रसर होता है जोकि प्रकृति की सभी घटनाओं को समाविष्ट करे।"

दर्शनशास्त्र का इतिहास

दार्शनिक जाँचों के अमूर्त और जटिल होने के कारण उनका अध्ययन सामान्यतः ऐतिहासिक प्रणाली से किया जाता है। इस समस्त विषय के लिए दर्शनशास्त्र का इतिहास संभवतः सर्वश्रेष्ठ तरीक़ा है। समस्याएँ कितनी ही बड़ी क्यों न हों, कोई बात नहीं, हम ऐतिहासिक जाँच से धीरे-धीरे उन तक पहुँच सकते हैं। हम पढ़ सकते हैं कि प्लेटो और अरस्तू ने, और देकार्ते, स्पिनोज़ा, कांट और रॉयस ने उनके सम्बन्ध में क्या लिखा है। थोड़ी देर के लिए हम भूतकाल के महान् व्यक्तियों के साथ हो लेते हैं। दर्शनशास्त्र का इतिहास इस विषय के विशेष अध्ययन का केवल विमर्शात्मक विचार का इतिहास है। महान् दार्शनिक विश्व के महान् चिन्तकों में से रहे हैं और इस कारण उनके विचार भी कल्पनात्मक स्वभाव के हो सकते हैं। यदि कोई डिमाक्रीटस से लेकर विलियम जेम्स तक के दार्शनिकों की गणना करे तो वह पायेगा कि ये वे व्यक्ति हैं जिन्होंने प्रबल रूप से स्वयं अपने और उसके बाद आने वाले युगों को प्रभावित किया है। प्लेटो एक प्रतिभावान् साहित्यिक थे, जिनके संवादों ने सभी अवस्था के पाठकों को मोहित किया है। अरस्तू ने तर्कशास्त्र और विज्ञान में बड़ी-बड़ी खोजें की हैं तथा नीतिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र पर प्रकाण्ड ग्रंथ लिखे हैं। देकार्ते विश्लेषणात्मक ज्यामिति के जन्मदाता तथा भौतिकी और प्रकाशविज्ञान के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण नियमों का पता लगाने वाले थे। लायबनित्स एक प्रतिभावान् गणितज्ञ थे जिन्होंने अत्यन्त सूक्ष्म कैलकुलस प्रदान किया। फ्रांसिस बेकन इंग्लैंड के लार्ड-चान्सलर थे। लॉक विलियम और मेरी के शासनकाल में एक प्रतिष्ठित राजनीतिज्ञ थे और आधुनिक शिक्षा सम्बन्धी विचारों के एक स्रोत थे। ह्यूम सम्भवतः उनमें सबसे गम्भीर विचारक थे जो स्कॉटलैंड ने अब तक पैदा किए

हैं। कान्ट ने नीहारिका परिकल्पना की पहले से ही कल्पना कर ली थी। हर्बर्ट स्पेन्सर विज्ञान की कई शाखाओं में योगप्रद और विकासात्मक चिन्तन के एक स्रोत थे। जेम्स ने मनोविज्ञान में एक तरह से क्रान्ति ला दी। जब इस तरह के लोग दर्शनशास्त्र के गम्भीर प्रश्नों पर बोलते हैं तो वे हमारे ध्यान को खींच लेते हैं। फिर अन्ततः हम उनके सुझावों से सन्तुष्ट होकर चुप नहीं बैठेंगे; हम उन्हें आलोचनात्मक विश्लेषण की कसौटी पर कसेंगे और स्वयं अपने विमर्शात्मक चिन्तन द्वारा उन्हें पूरा करेंगे।

दर्शनशास्त्र का परिचय

अन्ततः इस इतिहास की पद्धति से भी सौम्य दर्शन के अध्ययन की एक और पद्धति है। सबसे पहले शब्दों की परिभाषा और विभिन्न समस्याओं का केवल विवरण और खुलासा करना होता है, जो उनके सम्बन्ध में इसके साथ-साथ विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख भी करता है और इसी आरम्भिक कार्य के निमित्त यह पुस्तक लिखी गई है। हम शब्दों की परिभाषा कर सकते हैं, सिद्धान्तों को समझा सकते हैं और सम्भवतः उपयोग किए हुए संप्रत्ययों की कुछ हद तक आलोचनात्मक परीक्षा भी कर सकते हैं। शायद अन्त में हम यह पाएँगे कि विभिन्न सिद्धान्तों में मतभेद—वह मतभेद, जिसका आलोचकों ने स्वार्थ-साधन में बहुत उपयोग किया है— इतना अधिक नहीं है। यह दर्शनशास्त्र के अध्ययन का सबसे अच्छा तरीक़ा होगा कि पहले "परिचय" के माध्यम से शब्दों, समस्याओं और ख़ास-ख़ास सिद्धान्तों को समझ लिया जाय; दूसरे दर्शनशास्त्र के इतिहास के अध्ययन के माध्यम से, महान् व्यक्तियों के विचारों का ज्ञान प्राप्त किया जाय; और तीसरे सभी समस्याओं में समीक्षात्मक विश्लेषण और विमर्शात्मक चिन्तन की पद्धति का उपयोग किया जाय।

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

John Dewey, *How We Think* (D. C. Heath and Company).

अन्य सन्दर्भ

J. Arthur Thomson, *Introduction to Science* (Home University Library, Henry Holt and Company), chap. III.

Columbia Associates in Philosophy, *Introduction to Reflective Thinking* (Houghton Mifflin Company).

T. P. Nunn, *The Aim and Achievement of Scientific Method* (The Macmillan Company).

A. N. Whitehead, *The Organization of Thought* (Williams and Norgate), chap. VI.

Douglas Clyde Macintosh, *The Problem of Knowledge* (The Macmillan Company), chap. XX, "The Problem of Scientific Method."

Bertrand Russell, *Our Knowledge of the External World (Scientific Method in Philosophy)* (The Open Court Publishing Company). See also his more concise chapter "On Scientific Method in Philosophy" in his Mysti more concise chapter "On Scicntific Method in Philosophy" in his *Mysticism and Logic* (Longmans, Green and Company), chap. VI.

Sir James Jeans, *The New Background of Science*. Revised edition (The Macmillan Company, 1934), chap. II.

अध्याय 6

दार्शनिक प्रकरण

दार्शनिक जाँच में हम किस क्रम को अपनाएँ और किनसे हम आरम्भ करें ? क्या ये योजना के अनुसार किसी समूह में बद्ध होंगी जिससे कि हम आरम्भ में ही उनका विहंगावलोकन कर सकें ? जब उस नन्हीं बालिका ने वातायन से बाहर देखकर माँ से पूछा कि यह जगत् कैसे बना, तो उसने हमें बतलाया है कि कहाँ से आरम्भ करना चाहिए। यह जगत् क्या है, इसका आरम्भ कैसे हुआ और वर्तमान स्थिति में यह कैसे आया ? प्राचीन यूनानी, जिन्होंने व्यवस्थित रूप से सर्वप्रथम दर्शन का अध्ययन किया है, उन्होंने भी इन्हीं प्रश्नों से आरम्भ किया है। उन्होंने इस जाँच को **विश्व-विज्ञानपरक** जाँच कहा है।

विश्व-विज्ञानपरक अनुसंधान

अतः हम इस योजना को अपनाकर विश्व-विज्ञान के अध्ययन से आरम्भ करेंगे और विश्व या ब्रह्माण्ड और दिक्-काल के स्वभाव के सम्बन्ध में पहले जाँच करेंगे। तत्पश्चात् हम पृथ्वी और उसकी सतह पर जीव की उत्पत्ति पर विचार करेंगे। और तब सहज ही जीवन के विकास का अध्ययन सामने आएगा; और यदि कोई इसका प्रयोजन हो तो यह उसके प्रयोजन की समस्या की ओर इशारा करता है। प्रकृति में अभिकल्प अथवा प्रयोजन के अध्ययन को "प्रयोजनवाद" की संज्ञा दी गई है।

समस्याओं के इस प्रथम समूह को हम निम्न रूप से सारणीबद्ध कर सकते हैं :

I. विश्व-विज्ञानपरक अनुसंधान
- विश्व, दिक्, काल
- जीवन की उत्पत्ति और स्वभाव
- विकास का दर्शन
- क्या प्रकृति में प्रयोजन अथवा अभिकल्प है ?

सत्तामीमांसापरक अनुसंधान

दर्शनशास्त्र के इतिहास के बहुत आरम्भ में ही विचारकों ने जगत् के

निर्माणात्मक पदार्थ के विषय में प्रश्न करना शुरू कर दिया। क्या विश्व की सब वस्तुओं को अस्तित्व के एक सरल रूप में, एक चरम सत्ता में, उदाहरण के तौर पर जड़तत्त्व, ऊर्जा या मनस् में लाया जा सकता है? यही प्राचीन सत्ता की समस्या अथवा अस्तित्व की समस्या है। इसका अंग्रेज़ी में तकनीकी नाम है **ओन्टोलोजी**; जो दो यूनानी शब्दों से मिलकर बना है जिसका अर्थ है अस्तित्व का विज्ञान। वह "प्रथम सिद्धान्त" की खोज का प्रतिनिधित्व करता है। हम सभी वस्तुओं को एक अन्तिम एकता या सरलतम "पदार्थ" में घटाना पसंद करते हैं; और यदि हमें विश्वास हो जाय कि हमने ऐसी अन्तिम सत्ता प्राप्त कर ली है तो हम इस सत्ता के सिद्धान्त को **एकतत्त्ववादी मत** या केवल **एकतत्त्ववाद** कहते हैं; जिसका अंग्रेज़ी शब्द 'मोनिज़्म' यूनानी भाषा में एकाकी अथवा एक का बोधक है। यदि हम यह विश्वास करें कि चरमसत्ता एक है और वह सत्ता जड़ है हम उस मत को **जड़वादी एकतत्त्ववाद** या केवल **जड़वाद** कह सकते हैं। दूसरी ओर यदि हम इस निष्कर्ष पर पहुँचें कि चरमसत्ता, जड़ नहीं बल्कि मनस् या आत्मा है तो हम इस मत को **आध्यात्मिक एकतत्त्ववाद** या **अध्यात्मवाद** कह सकते हैं। कभी-कभी इसे **प्रत्ययवाद** भी कहा जाता है।

किन्तु शायद हम समस्त जगत् को एक सरलतम पदार्थ में ले आने में सफल नहीं होंगे और यह देखेंगे कि अन्तिम विश्लेपण में सत्ता के अन्ततः दो चरम स्वरूप हैं, जैसे मनस् और जड़। यदि ऐसा है तो हम इस सिद्धान्त को **द्वैतवाद** कह सकते हैं जो अंग्रेज़ी भाषा के **डुवैलिज्म** का लैटिन भाषा में भी दो का बोधक है।

अथवा अन्त में यह भी सम्भव है कि सत्ता को दो अन्ततम स्वरूपों में घटित किया जा सके क्योंकि उसके दो से भी अधिक, सम्भवतः कई स्वरूप हैं। तब हमारी सत्ता का सिद्धान्त **बहुतत्त्ववाद** कहलायेगा। हम देखेंगे कि इन सत्ता-मीमांसापरक समस्याओं को हल करना कठिन है और उनके सम्बन्ध में विभिन्न उत्तर पूर्ण सन्तोषप्रद नहीं हैं; किन्तु मानव सदा से चरम सत्ता के लिए उत्सुक रहा है और हम इस सम्बन्ध में कम से कम विभिन्न दार्शनिकों के मतों का तो अध्ययन कर ही सकते हैं। इस दूसरे वर्ग के अनुसंधान को भी हम सारणीबद्ध कर सकते हैं।

II. सत्तामीमांसापरक अनुसंधान
- एकतत्त्ववाद
  - जड़वाद
  - अध्यात्मवाद या आदर्शवाद
- द्वैतवाद
- बहुतत्त्ववाद

मनस् का दर्शन

इसके बाद सबसे आवश्यक और गहन किस्म के अनुसंधानों की शृंखला आती है अर्थात् मनस् सम्बन्धी अनुसंधानों की। हम यह जानना चाहेंगे कि

मनस् क्या है ? क्या यह आत्मा या अन्तरात्मा से भिन्न है ?और हम उत्सुकता से चेतना, आत्मा और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में तथा शरीर से मनस् कैसे सम्बन्धित है, और क्या संकल्प की स्वतन्त्रता की पुरानी समस्या तय हो चुकी है, तथा, अन्त में, क्या आत्मा अमर हो सकती है, के विषय जानना चाहते हैं।

यह सब मनोवैज्ञानिक अनुसंधान ही मालूम होगा, क्योंकि इन सबका मनस् या आत्मा से ही सम्बन्ध है। किन्तु मनस् का अध्ययन इतनी तात्कालिक रुचि का है कि वह मानसिक प्रक्रियाओं के अन्वेषण में संलग्न आनुभविक विज्ञान का एक विशेष विषय बन चुका है और इस विज्ञान के लिए मनोविज्ञान शब्द उपयुक्त माना गया है। इसलिए दर्शनशास्त्र में, उससे बड़े और अधिक मूलभूत प्रश्नों को जिनके पास मनोविज्ञान अभी तक नहीं पहुँच सका है, मनस् के दर्शन के सामान्य शीर्षक के अन्तर्गत सम्मिलित किया जा सकता है। सारणी में ये अनुसंधान इस प्रकार प्रदर्शित होंगे :

III. मनस् का दर्शन
- आत्मा की खोज
  - ऐतिहासिक
  - पुनर्निर्माणात्मक
- आत्मा और शरीर का सम्बन्ध
- संकल्प की स्वतन्त्रता

ज्ञान का सिद्धान्त

दार्शनिक चिन्तन में, हमें इस बिन्दु पर पहुँचने के पूर्व ही अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा और अपने संदेहों का निराकरण इतना कठिन लगेगा कि हम यह आश्चर्य करना आरम्भ कर देंगे कि क्या मानव मनस् में वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता है और क्या ज्ञान प्राप्त करने के सर्वश्रेष्ठ स्रोत ज्ञानेन्द्रियाँ हैं या तर्कबुद्धि की कोई और "शक्ति"। इस तरह हम जिसे ज्ञान का सिद्धान्त अथवा "ज्ञानमीमांसा" कहते हैं, उसका अध्ययन करने को बाध्य होंगे। शायद कुछ पाठक यह सोचेंगे कि हमें इसी से आरम्भ करना चाहिए था और निश्चय ही यह तर्क-संगत क्रम होगा। किन्तु ज्ञान का सिद्धान्त एक कठिन विषय है, और यदि आरम्भ में ही प्रस्तुत कर दिया जाय तो दर्शनशास्त्र के अध्ययन से ही हमें डराकर दूर भगा सकता है—और हम पहले ही यह मानकर बैठ जायेंगे कि मानव-मनस् में वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति नहीं है, और वह वास्तविक ज्ञान हमें विशेष विज्ञानों द्वारा ही उपलब्ध कराया जाता है। सामान्य रूप से विषयांतर में संशयवाद से विश्वास बेहतर है। बाद में हम मानव-ज्ञान के स्रोतों और प्रामाण्यों की जाँच कर सकते हैं। यह जाँच निम्नांकित विशेष विषयों को सम्मिलित करेगी :

IV. ज्ञान का सिद्धान्त या ज्ञान-मीमांसा
- ज्ञान के स्रोत—तर्कवाद और अनुभववाद के परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों की समीक्षा करते हुए।
- ज्ञान का प्रामाण्य—जैसा यथार्थवाद और आदर्शवाद के दृष्टिकोण से देखा गया है।
- संज्ञा-संज्ञातृ मीमांसावाद—इसके ज्ञान का और सत्य का सिद्धान्त।

जीवन के उच्चतर मूल्य

मूल्यों का दर्शनशास्त्र में एक बिल्कुल अलग क्षेत्र है। मूल्य क्या हैं और तथ्यों से वे किस प्रकार भिन्न हैं? क्या वे प्रकृति में वस्तुगत हैं अथवा मानव-मनस् में ही आत्मगत? तीन प्रकार के मूल्य हैं जिनका अध्ययन दर्शनशास्त्र में किया जा सकता है, नामत: धार्मिक मूल्य, नैतिक मूल्य और सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्य। धार्मिक मूल्यों के अध्ययन की पृष्ठभूमि में, हम ईश्वर के सम्बन्ध में और मानवीय अनुभव में ईश्वर के महत्त्व के सम्बन्ध में खोज करेंगे। यदि ईश्वर शुभ है और उसने जगत् का सृजन किया है तो हम जगत् में अशुभ के अस्तित्व की किस प्रकार व्याख्या करेंगे? उसके पश्चात् नैतिक मूल्यों के अध्ययन में सर्वोच्च रुचि के विषय का समारम्भ होगा, क्योंकि विशेषकर वर्तमान काल में, नैतिक नियमों के सम्बन्ध में बहुत संभ्रांति है। अन्त में सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यों या सौन्दर्य के अध्ययन, जैसाकि वह प्रकृति और ललित कलाओं में प्रदर्शित होता है, की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होना चाहिए।

अत: हमारा पाँचवाँ विभाजन निम्न प्रकार से होगा :

V. जीवन के उच्चतर मूल्य
- धार्मिक मूल्य
- नैतिक मूल्य
- सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्य

समस्याओं के विभिन्न समूहों को सम्मिलित करके निम्नलिखित सारणी में उस मार्ग की एक झलक दिखलाई पड़ेगी जिस पर हमें यात्रा करनी है :

I. विश्वविज्ञानपरक अनुसंधान
- विश्व, दिक्, काल,
- जीवन की उत्पत्ति और स्वभाव
- विकास का दर्शन
- क्या प्रकृति में प्रयोजन अथवा अभिकल्प है?

II. सत्तामीमांसापरक अनुसंधान
- एकतत्त्ववाद
  - जड़वाद
  - अध्यात्मवाद या आदर्शवाद
- द्वैतवाद
- बहुतत्त्ववाद

III. मनस् का दर्शन
- आत्मा की खोज
  - ऐतिहासिक
  - पुर्नानर्माणात्मक
- आत्मा और शरीर का सम्बन्ध
- संकल्प की स्वतन्त्रता

IV. ज्ञान का सिद्धान्त अथवा ज्ञानमीमांसा
- ज्ञान के स्रोत—तर्कवाद और अनुभववाद के परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों की समीक्षा करते हुए।
- ज्ञान का प्रामाण्य—जैसा यथार्थवाद और आदर्शवाद के दृष्टिकोण से देखा गया है।
- संज्ञा-संज्ञातृ मीमांसावाद—इसके ज्ञान का और सत्य का सिद्धान्त

V. जीवन के उच्चतर मूल्य
- धार्मिक मूल्य
- नैतिक मूल्य
- सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्य

भाग दो

विश्व, इंद्रिय सम्बन्धी जीवन, विकास

अध्याय 7

विश्व

विश्व से तात्पर्य है समस्त दिक् और जो उसमें समाविष्ट है। और यथार्थ रूप से इसकी परिभाषा करते हुए इसे दिक्-काल और जड़तत्त्व का योग या फिर दिक्-काल-प्रपंच कहा जा सकता है।

इधर कुछ ही वर्षों में भौतिक जगत् के सम्वन्ध में हमारा ज्ञान खगोल-विज्ञान, गणितीय भौतिकी तथा खगोल-भौतिकी की सहकारी सफलताओं के माध्यम से, फोटोग्राफी और स्पेक्ट्रोस्कोपी कला की सहायता, और अद्‌भुत रूप से तैयार किए हुए दूरवीन से बहुत विस्तृत हो गया है। केलीफोर्निया में माउन्ट विलसन पर लगे हुए 100-इंच वाले परावर्तक को, जैसी हम आशा करते हैं, शीघ्र ही 200-इंच परावर्तक वाली बड़ी दूरबीन से अनुपूरित किया जाने वाला है। नई दूरवीन दृश्यदिक्क्षेत्र को लगभग हज़ार गुना बढ़ा देगी, वस्तुओं की दृश्य दूरी को वर्तमान उपकरणों की क्षमता से दस गुनी अधिक कर देगी; और अब हमारी सबसे बड़ी दूरबीन फोटोग्राफी तरीके से इतनी दूर तक दिखलाने में समर्थ है जितना कि 1,86,000 मील प्रति सेकंड के हिसाब से प्रकाश 50,00,00,000 वर्षों में हमारे पास पहुँचाने में समर्थ होता है।

भौतिक जगत् के इस शीघ्रता से एकत्र होते हुए ज्ञान से दर्शन के जिज्ञासु विद्यार्थी की भी सभी आवश्यकताएँ पूरी हो जानी चाहिएँ। बहुत सी बातें जिनके सम्बन्ध में हम आश्चर्य करते थे, अब तक भी स्पष्टीकरण के क्रम में हैं। यद्यपि उनके उत्तर कभी-कभी असुविधाजनक और अस्थायी होते हैं और उनकी अंतिमता का कोई दावा नहीं लेता, तथापि स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही पहलुओं से भौतिक जगत् की जानकारी की उन्नति की गति प्रायः चकरा देने वाली है। जगत् की कुछ उलझनों का समाधान किया जा रहा है।

प्रस्तुत अध्याय में हम कुछ ऐसे प्रश्नोत्तरों का हवाला देंगे जो हमें समस्त विश्व के सम्वन्ध में सबसे अधिक परेशान करते हैं। जब हम खगोल-विज्ञान के निर्देशन में विश्व के विषय में इस प्रकार से विचार करने लगते हैं, तो जो वस्तु हमें सबसे अधिक प्रभावित करती है, वह है इसकी अविश्वसनीय व्यापकता; और तो भी हमें बताया जाता है कि यह सम्भवतः सीमित है—असीसित नहीं। हमने साधारणतः इसे असीमित समझा है; और सम्भवतः हम विश्व को व्यापकता

में असीमित सिद्ध करने के लिए रचित उस पुरानी युक्ति को याद करेंगे। यह कहा गया था कि यदि वह सीमित है और यदि हम उसके बाहरी घेरे पर पहुँच कर एक माला बाहर की ओर फेंकें तो उसे या तो किसी चीज़ से टकराकर वापस आना चाहिए या चले जाना चाहिए। किसी भी परिस्थिति में उस घेरे के बाहर कुछ न कुछ होना चाहिए, उसे हम चाहे कितनी ही दूर मानें।

किन्तु आज का गणितज्ञ इस युक्ति से सन्तुष्ट नहीं है। माला आगे जा सकती है—किन्तु वह **चक्कर लगाएगी**। विश्व सान्त हो सकता है--किन्तु है सीमारहित। हमारे सूर्य से निकली हुई किरण अनन्तता की ओर जा सकती है किन्तु किसी समय वह उस बिन्दु के पास लौटेगी जिस स्थान से वह आरम्भ हुई थी। उदाहरण के लिए पृथ्वी एक सीमित वृत्ताकार है, किन्तु यदि कोई पिण्ड एक बिन्दु से भूमध्य रेखा पर गोलाकार चले तो वह उस गोले पर निरन्तर घूम सकता है। और आगे यदि, वह थोड़े अक्षांश के अन्तर से गोले में चले तो वह निरन्तर चल सकता है और अपने आरम्भ करने के स्थान पर कभी वापिस नहीं लौटेगा। विश्व सान्त है किन्तु उसकी सीमाएँ नहीं हैं इस सिद्धांत का पुष्टीकरण भविष्य के हाथ में है। आइन्स्टाइन ने यह विश्वास किया कि सापेक्षता के सिद्धान्त से यह पता चलता है कि स्वयं अपने से ही दिक् सीमित है। फिर यह कहा जाता है कि उसका घुमाव इस बात पर आश्रित होता है कि उसमें कितना पदार्थ है। जितना अधिक पदार्थ उसमें होगा उतना ही अधिक घुमाव होगा। बड़े पदार्थ पिण्डों के आसपास, जैसे सूर्य या किसी अन्य सितारे के आसपास, सबसे अधिक घुमाव होगा।

किन्तु, यदि विश्व सान्त है तो निश्चय ही उसके वास्तविक आकार के संबंध में अन्ततः हम कुछ न कुछ जान लेंगे। अन्दाज़े लगाए जा चुके हैं। माउन्ट विलसन आवज़र्वेटरी के हवल का प्रस्ताव है, कि वह बहुत बड़ा है। उनके विचारानुसार उसका व्यास छः हज़ार लाख प्रकाश वर्ष है। इसका मतलब यह है कि 1,86,000 मील प्रति सेकंड की गति से एक प्रकाश-किरण को लगभग दो सौ खरब वर्ष विश्व का चक्कर लगाने के लिए चाहिएँ। इसलिए यदि कोई सीमित जगत् में रहने के कारण कुछ सिकुड़न महसूस कर रहा हो तो उसे अब परेशान नहीं होना चाहिए। हमारा यह सान्त विश्व आरम्भिक कल्पना के अनन्त जगत् से भी "असीमित रूप से" बड़ा है।

हमारे जगत् के अलावा दूसरे विश्व

किन्तु इस विचारातीत दिक् की व्यापकता के अन्तर्गत क्या समाविष्ट है? सितारों का अध्ययन, हम अपनी छोटी-सी पृथ्वी से ही आरम्भ करें तो अच्छा होगा। किन्तु विश्व में, छोटे या बड़े जैसे शब्द, स्पष्ट है कि केवल सापेक्ष होते हैं। हमारी पृथ्वी छोटी हो सकती है किन्तु उसका ठोस भाग अधिकांश में लोहा,

निकल और साथ में बासाल्टिक शिलाओं की पपड़ी का है, और उसके सबसे बाहरी भाग में ज़मीन और पानी की सतहें हैं, और उसमें जीवों का समूह है, उस सबका व्यास आठ हज़ार मील है। यदि कभी बच्चों की तरह हमें यह आश्चर्य हो कि यह पृथ्वी सूर्य की अत्यधिक गुरुत्वाकर्षण "शक्ति" से उसकी ओर क्यों नहीं खिंच जाती, तो अब हम यह मान सकते हैं कि यह ठोस लोहे का पिण्ड बहुत गतिमान है और केन्द्रीय धुरी पर लगभग एक हज़ार मील प्रति मिनट की रफ्तार से नाच रहा है।

सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने वाले नौ ग्रहों में पृथ्वी है जो छोटे-छोटे तारों, धूमकेतुओं और उपग्रहों से मिलकर सौर मंडल बनाती है—और यह सौर मण्डल सितारों के अथाह समूह की एक बस्ती है जिसे हम अपना ब्रह्माण्ड कह सकते हैं, किन्तु जिसे खगोलज्ञ आकाशगंगा या गांगेय तंत्र कहते हैं। ब्रह्माण्ड में सम्भवत: एक खरब सितारे हैं। वे हमारे अपने सूर्य की ही तरह हैं। यद्यपि इनमें कई उससे भी बड़े हैं और वृद्धि के विभिन्न स्तरों पर हैं। अनुमानत: उनके चारों ओर हमारे अपने ग्रह की तरह ही ग्रह चक्कर लगाते हैं। किन्तु यह साधारण तौर पर विश्वास किया जाता है कि कुछ हैं भी तो वे बहुत कम हैं। इन सितारे-सूर्यों के विकास के नियमों के सम्बन्ध में बहुत ज्ञान है; उनके सामान्य जीवन का इतिहास ग्रहों की व्यवस्था के पूर्वानुमान को स्वीकार नहीं करता।

हमारी आकाशगंगा में सितारे गोलाकार रूप में व्यवस्थित नहीं हैं किन्तु एक बहुत बड़ी तश्तरी का रूप लिए हुए हैं जो कदाचित् गाड़ी के एक घूमते हुए पहिए से मिलता-जुलता है जिसकी बाहरी नेमि आकाशगंगा है—यह आकाशगंगा उन सितारों से बनती है जिन्हें आँखों से समझने के लिए उनकी दूरी बहुत अधिक है। उसका वृहत्तर व्यास लगभग 1,00,000 प्रकाश-वर्ष और लघुतर व्यास 20,000 प्रकाश-वर्ष सोचा जाता है, यह याद रहे कि प्रकाश-वर्ष करीब 60 खरब मील का होता है। हमारा सौर मण्डल केन्द्र से करीब दो-तिहाई दूरी पर है और "वेगा" सितारे की ओर खिसक रहा है।

यद्यपि हमारा सौर मण्डल इतना बड़ा है कि यदि एक रॉकेट दो मील प्रति मिनट की गति से चले तो हमारे बाहरी ग्रह प्लूटो तक पहुँचने में 3650 वर्ष लगेंगे, तथापि उसके किसी और ग्रह के साथ मुठभेड़ होने के आसार नगण्य हैं क्योंकि तारकीय दूरियाँ बहुत विस्तृत हैं। सभी सितारे निरन्तर गतिमान हैं तो भी दूरी के कारण वे हमें "स्थिर" प्रतीत होते हैं। अत: तारामण्डल हमारी दृष्टि में वही है जो प्राचीन लोगों की दृष्टि में था जिन्होंने इसका नामकरण किया था। न केवल आकाशगंगा में सितारे गतिमान हैं किन्तु दिक् में स्वयं आकाशगंगा ही दो सौ मील प्रति सेकंड की रफ्तार से गतिमान अनुमानित है।

हमारी आकाशगंगा विस्तृत है, तथापि जिज्ञासु मनस् और भी आगे बढ़कर प्रश्न करता है कि इसके आगे क्या है? कुछ वर्ष पूर्व तक इस प्रश्न का इसके

सिवाय कोई उत्तर नहीं दिया जाता था कि दिक् रिक्त और अनन्त है। किन्तु अब हम जानते हैं कि दिक् न तो रिक्त है और न सम्भवतः अनन्त ही है। रूप और द्रव्य में हमारी आकाशगंगा से मिलती-जुलती और भी आकाशगंगाएँ हैं किन्तु उनमें कई इससे बहुत बड़ी हैं। हम उन्हें सर्पिल नीहारिकाएँ अथवा द्वीप-विश्व के नाम से जानते हैं। हमारे टेलिस्कोप की परिधि में आने वाली आकाशगंगाओं की संख्या दस करोड़ है और समस्त ब्रह्माण्ड में 5,000 खरब आकाशगंगाएँ हैं। इन द्वीप-विश्वों के बीच की दूरियाँ दस लाख प्रकाश-वर्षों में हैं और वे नक्षत्र-धूलि से लेकर व्यक्त एवं पृथक् सूर्यों तक के विकास के विभिन्न स्तरों पर हैं।

दिक् की रिक्तता का अस्पष्ट अनुभव इससे किया जा सकता है कि हमसे कहा जाता है कि यदि सभी सितारों में स्थित द्रव्य और सभी नीहारिकाओं का द्रव्य दिक् में बराबर वितरित कर दिया जाय तो पदार्थ की सघनता "दिक् के हर आयतन, जो कि पृथ्वी के आयतन के बराबर है, में रेत के एक कण के समकक्ष मानी जा सकती है।"[1]

ब्रह्माण्डीय विकास

दूसरी बड़ी समस्या जिसके सम्बन्ध में हम आश्चर्य करते हैं वह है विश्व के समष्टि रूप में भूत और भविष्य का विचार। क्या वह निर्मित किया गया अथवा वह सदा से स्थित था? यदि निर्माण किया गया तो कैसे किया गया और कब किया गया? क्या वह निरन्तर विकसित और परिवर्तित होता रहेगा? क्या वह किसी समय नष्ट हो जाएगा, या क्या वह कभी पूरी तरह से स्थित और मृत दशा को प्राप्त हो जाएगा? यहाँ दिक् और सितारों की गति के अध्ययन की अपेक्षा विज्ञान ने कम प्रगति की है। हम किसी उपकरण की सहायता से विश्व के भूत और भविष्य को नहीं देख सकते, जैसा कि दिक् की गहराई को देखने के लिए हमारे पास हैं। तो भी हम इस पृथ्वी, सूर्य और सितारों के भूत और सम्भाव्य और भविष्य के विषय में कुछ-न-कुछ जानते हैं—और इस क्षेत्र में हमारा ज्ञान शीघ्रता से प्रगति कर रहा है।

कुछ ही दिनों पूर्व हमें अपने सौर मण्डल से सम्बन्धित उसकी उत्पत्ति और इतिहास के बारे में नवीन अन्तर्विवेक प्राप्त हुआ है—उसके सम्भाव्य प्रारब्ध तक के बारे में। जहाँ तक उसकी उत्पत्ति का सम्बन्ध है, पुरानी **नीहारिका परिकल्पना** ने अब **ग्रहाणु-सिद्धान्त** को स्थान दे दिया है और इस सिद्धान्त में भी अभी कुछ दिन पूर्व बहुत संशोधन हो चुका है। जो कुछ हुआ है उसकी कुछ-कुछ रूपरेखा इस प्रकार होगी: बहुत समय पहले—या यों कहें 5 अरब वर्ष पूर्व—हमारा

1. Dr. Edwin Hubble in the *Scientific Monthly*, September, 1934, p. 197.

सूर्य दिक् मार्ग पर एकाकी और शांत चल रहा था। इस प्रसंग में यह बतला देना रुचिकर ही होगा कि सूर्य की आयु लगभग 5 अरब वर्ष हो चुकी है और वह भविष्य में भी वहुत वर्षों तक प्रकाश और गर्मी देता रहेगा, जिसका अनुमान नहीं लग सकता। सर जेम्स जीन्स ने सूर्य की कुल आयु मोटे रूप से अस्सी अरब वर्ष लगाई है जो बहुत सन्देहात्मक है।

धीरे-धीरे आयु-वृद्धि के अतिरिक्त गतिशील सितारे में मुश्किल से ही कुछ और होता है; किन्तु उल्लिखित समय में या यों कहिए पचास खरब वर्ष पहले हमारे सूर्य में कुछ हुआ था, और वह कुछ हुआ था जो न कभी पहले हुआ था और न सम्भवतः कभी फिर होगा। एक दूसरा सितारा उसके नज़दीक आया; बहुत नज़दीक नहीं—किन्तु इतना काफी नज़दीक कि वह उस पर प्रभाव डाल सके। खिसकते हुए सितारे के गुरुत्वाकर्षण ने सूर्य के गैसमय द्रव्य में एक ऐसा भीषण ज्वार उठाया कि उसमें से तन्तु निकलकर दूर अन्य सितारों की ओर गए, जिनकी दूरी हमारे बाहरी ग्रहों की दूरी से भी अधिक दूर, अर्थात् 37000 लाख मील है। इन आने वाले सितारों के जाते ही ये तन्तु एक वृहत् पदार्थ में संघनित होने लगे जो अन्ततः सूर्य की परिक्रमा करते हुए हमारे वर्तमान ग्रहों के रूप में हो गए। ग्रह आरम्भ में छोटे थे, किन्तु क्रमशः सूर्य से निकलते हुए मलबे को सम्मिलित करते हुए वे बढ़ते गए। वे ऐसा अब भी कर रहे हैं जैसाकि उन उल्का-पिण्डों के साथ है जो पृथ्वी के धरातल की ओर खिच आए हैं।

यह सिद्धान्त, जिसे टाइडल सिद्धान्त कहा जाता है, सर्वप्रथम सर जेम्स जीन्स ने विकसित किया। **दि युनिवर्स एराउण्ड अस** पुस्तक (1934) के अन्तिम संस्करण में इस सम्वन्ध में वे कहते हैं कि वह विश्वास करते हैं कि अधिकांश खगोलज्ञ भी अब स्वीकार करते हैं कि "यह सूर्य मण्डल की उत्पत्ति का **सर्वाधिक सम्भव** हल देता है; हालांकि यह किसी निश्चय अथवा अन्तिम बात का दावा नहीं करता।"

इस तरह हम पृथ्वी की आयु लगभग 50,000 लाख वर्ष तथा उससे भी बहुत अधिक लम्बा उसका संभाव्य भविष्य अनुमानित कर सकते हैं। इसलिए हम लोगों को ग्रह के जम जाने पर समस्त जीवन के नष्ट हो जाने के लिए चिन्तित होने की अब आवश्यकता नहीं है। इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं है कि कई लाख वर्षों तक पृथ्वी पर रहने के लिए अनुकूल परिस्थिति रहेगी। यह भविष्यवाणी की गई है कि अगले 10 लाख वर्षों तक मौसम जीवन तथा मानव के अनुकूल बना रहेगा। "सुहावनी और मृदुल" जलवायु की भविष्यवाणी अगले कुछ हज़ार वर्षों के लिए की गई है। सभ्यताओं का उत्थान अथवा पतन हो सकता है किन्तु यदि मनुष्य का नाश होगा तो केवल अपने ही अज्ञान अथवा गलती से — न कि प्राकृतिक देन की कमी से।

क्या विश्व का ह्रास हो रहा है?

बहुत वर्षों से गणित-भौतिकविदों में यह सिद्धान्त प्रचलित है कि विश्व का ह्रास हो रहा है। यह बात उस प्रसिद्ध नियम से सम्बद्ध है जिसे ऊष्मागतिकी का दूसरा नियम कहते हैं। इस नियम के अनुसार इस तथ्य के कारण कि ऊर्जा के किसी भी बदलाव पर उसमें से कुछ न कुछ ऊर्जा आगे के लिए प्राप्त न होकर गर्मी के रूप में दिक् में मिल जाती है, इस प्रकार किसी भी द्रव्य-तन्त्र में ऊर्जा का निरन्तर ह्रास होता रहता है। हम अपने जंगलों, कोयला खदानों और तेल के स्थलों की निहित ऊर्जा को मोटर चलाने के लिए या संदेशों को भेजने के लिए गतिज ऊर्जा में परिवर्तित कर सकते हैं किन्तु उसमें से कुछ ऊर्जा का ह्रास तो अवश्य ही प्रत्येक बदलाव में हो जाता है। अत: विश्व का ह्रास अवश्य हो रहा है और वह साम्यावस्था को उन्मुख है। अपार ऊर्जा के भण्डार भी यदि अणुओं के रूप में बन्द कर दिये जाएँ और उनका उपयोग किया जाय, तो भी प्रारब्ध के अनुसार वह समाप्त हो जाएगी और विश्व एक न एक समय यथास्थित हो जाएगा। किन्तु आश्चर्य की बात है कि, चूँकि हम काल में उत्पत्ति होने का विचार नहीं कर पाते, यह निष्कर्ष निकलता है कि इस अनन्त काल में विश्व बहुत पहले ही ह्रास की दशा को पहुँच चुका है और अब गतिहीन और मृत हो चुका है। फिर भी वह जीवन और ऊर्जा से युक्त और बहुत कुछ गतिमय प्रतीत होता है। अत: यह माना जा सकता है कि कोई न कोई रचनात्मक शक्ति कार्यशील है, यहाँ तक कि रचनात्मक प्रक्रिया भी निरन्तर जारी है।

जॉन लांगडन-डेविस महोदय ने "वाज़ देअर ए क्रियेशन" शीर्षक लेख में जो फरवरी 1934 के **फोरम** में प्रकाशित हुआ था, 'विश्व का प्रसार हो रहा है' इस सिद्धान्त के आधार पर "सृजन" के प्राकृतिक विवरण की चर्चा की थी। दूरस्थ नीहारिकाएँ और द्वीप-विश्व हमसे अविश्वसनीय गति से दूर भागते हुए प्रतीत होते हैं, जो यह विश्वास दिलाते हैं कि यह सृजन एक महान् आरंभिक विस्फोट-जन्य है। किन्तु विश्व के प्रसार का सिद्धान्त स्वयं ही वर्णक्रम की काली धारियों के लाल किनारे की ओर खिसकने पर आधारित है जिसको कि हम दूर के सितारों के प्रकाश के वापस लौटने की घटना को देखकर मानते हैं। चूँकि कई यह विश्वास करते हैं कि यह घटना और भी कई तरह से समझाई जा सकती है, सृजन के विस्फोट सिद्धान्त के सम्बन्ध में ऐसे अनुमान लगाना जल्दबाज़ी होगी।

जीन्स अपनी पुस्तक **दि युनिवर्स एराउण्ड अस** में यह बतलाते हैं कि हमें इस भौतिक विश्व का निर्माण ऐसे समय में मान लेना चाहिए जो अनन्त रूप से अतीत नहीं है—अर्थात् दो लाख अरब वर्ष पूर्व। इस सृजन की अनेक प्राकृतिक व्याख्याएँ प्रस्तावित की गई हैं; या यदि हम "ईश्वर की अंगुली से ईथर

को आन्दोलित करने" के विषय में सोचना चाहें तो हम इसकी एक स्पष्ट तस्वीर प्राप्त कर सकते हैं। फिर भी, यदि हम दिक्, काल और जड़तत्त्व का अस्तित्व अलग-अलग समझना बन्द कर दें तो ऐसी तस्वीरों के बनाने की आवश्यकता नहीं होगी। जब हम उन्हें एक मौलिक सत्ता का एक पहलू मात्र समझते हैं तो उसका सारा रूप ही बदल जाता है और हम, जैसा सर जेम्स कहते हैं, "उन दार्शनिक तन्त्रों के समीप आ जाते हैं जो विश्व को उसके रचयिता के मनस् का एक विचार मात्र मानते हैं और इस तरह समस्त जड़वादी सृजन को व्यर्थ सिद्ध करते हैं।" परन्तु वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि खगोल-विज्ञान के सन्देह को खोलना अधिक से अधिक अनिश्चितताओं से पूर्ण है।[1]

किन्तु मान लीजिए, कि यदि हम दिक्, काल और जड़तत्त्व को इस प्रकार से नहीं सोच पाते तो हमें मजबूरन यह विश्वास करना पड़ेगा कि अन्ततः विश्व समाप्त हो जाएगा तो क्या ऐसा निष्कर्ष किसी सीमा अथवा उदासीनता की आवश्यकता समझेगा ? मैं सोचता हूँ कि हम विश्व की सम्भावित आयु पर कुछ विचार करके, जबकि उसका कार्य समाप्त हो चुका है, आसानी से इस तरह की मुसीबत को टाल सकते हैं। इस अद्भुत समय का कुछ आभास प्राप्त करने के लिए, कि सितारों की आयु क्या होगी, यह समझ लीजिए कि हमारा अपना सूर्य लगभग आठ हज़ार अरब वर्ष का हो चुका है और उसका व्यास केवल 8,65,000 मील है। मेजिलनीय बादलों में एक ऐसा सितारा हमारे दक्षिणी गोलार्द्ध की ओर दूरबीन से देखे जाने पर बहुत तेज़ चमचमाते हुए प्रकाश के साथ दिखाई देता है यद्यपि वह इतनी दूर है कि उस दूरी पर हमारे सूर्य को बड़ी से बड़ी दूरबीन से भी नहीं देखा जा सकता। उसका व्यास लगभग एक अरब मील अनुमानित किया जाता है। यदि हमें याद हो कि सितारे की आयु का क्रम उसके आकार के अनुपात में होता है तो हम यह स्वीकार करेंगे कि दक्षिणी आकाश के इस महान् विशालकाय सूर्य के समय का ज्ञान प्राप्त करना कितना कठिन है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि विश्व एक सीमित काल के लिए है या अनन्त काल के लिए। हमारी "अनन्त काल" की कल्पना से भी अधिक यह विश्व अपना अस्तित्व रखेगा। फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि विश्व के समाप्त होने के सम्बन्ध में हमारी युक्तियाँ केवल इसलिए हैं कि विश्व सान्त है। यदि वह अनन्त होता तो उसकी शक्ति भी अनन्त होती और उसकी समाप्ति का समय भी अनन्त हो जाता।

अपने विश्व के अलावा अन्य निवास-योग्य विश्व

दार्शनिक मनःस्थिति में जब हम समग्र विश्व का अध्ययन करते हैं तो जिन

1. सर जेम्स जीन्स 'दि युनिवर्स एराउण्ड अस', तृतीय संस्करण (मेकमिलन कम्पनी, 1934), पृ० 355। प्रकाशक की अनुमति से।

बातों पर आश्चर्य करते हैं उनमें से एक यह है : क्या कुछ और भी सितारे अथवा ग्रह हैं जिन पर जीवन स्थित है—सम्भवत: और भी उच्चतर जीवन जिसमें हमारे जैसे आदमी हों, जो कविताएँ लिखते हैं, दर्शन और विज्ञान का अध्ययन करते हैं और विश्व के सम्बन्ध में आश्चर्य करते हैं ? हमने ऊपर देखा कि सितारों के विकास के नियम इस बात पर विश्वास करने के लिए बहुत कम गुंजाइश छोड़ते हैं कि इन अनगिनत सूर्यों में ऐसे कई ग्रह हैं जिनके चारों ओर भी ग्रह चक्कर लगा सकते हैं और जिनकी शीतल होती सतह पर जीवन सम्भव होता तथा जो उनके केन्द्रीय प्रकाशकर्त्ता द्वारा गर्म भी रखा जाता। हमने देखा है कि हमारा अपना सौर-मण्डल एक प्रकार की आकस्मिक घटना का परिणाम है, जो दो सितारों के आपस में नज़दीक आने से हुआ। दिक् इतना विस्तृत है और उसकी तुलना में सितारे इतने छोटे हैं कि अन्य सितारों के साथ ऐसा होना बहुत ही दुर्लभ था, सम्भवत: ऐसा कहीं भी नहीं होगा। विस्तृत दिक् की तुलना में सितारों की लघुता बतलाने वाले उदाहरण यह बतलाते हैं कि उनमें आपस में संघर्ष या नज़दीक आने के आसार भी सम्भव नहीं हैं।

किन्तु यह युक्ति कहाँ तक न्यायसंगत है ? यह मालूम होगा कि काल इतना विस्तृत है जितना कि दिक् रिक्त है, और सितारों की संख्या उतनी ही प्रभावशाली है जितनी कि दिक् की रिक्तता। जो एक बार हो चुका है वह आगे भी हो सकता है—या "अनन्त" भूत काल में हो चुका होगा—और अभी भी उसके हो जाने के लिए पर्याप्त समय है। हमारे अपने गृह-मण्डल की तरह ही भूत, वर्तमान तथा भविष्य काल में भी ऐसा हो जाना कोई असंगत बात नहीं है।

किन्तु यदि हमारे अपने ग्रह-मंडल से भिन्न कोई ग्रह-मंडल हैं तो क्या उनमें भी जीवन होने की अनुकूल परिस्थिति उपस्थित है ? या यदि ब्रह्मांडीय परिस्थितियाँ अनुकूल हैं तो क्या आंतरिक विकासवादी परिस्थितियाँ भी जीवन को आरम्भ करने के लिए अनुकूल हैं ? हमारे अपने नौ ग्रहों में से केवल तीन ही ग्रह पृथ्वी, मंगल और बुध ही भूत, वर्तमान और भविष्य काल में जीवन होने का आश्वासन देते प्रतीत होते हैं। बुध हमेशा ही बादलों से आच्छन्न रहता है, इसलिए हम यह नहीं जान पाते कि उसमें क्या छिपा हुआ है, किन्तु बहुत शक्तिशाली स्पेक्ट्रास्कोप यह बतलाता है कि उसके वातावरण में प्राण-वायु का अभाव है। मंगल में थोड़ी प्राण-वायु का पता चलता है। यह बात संदेहपूर्ण है कि जैसा हम समझते हैं, वैसा ही जीवन उनमें से किसी पर भी है। इन ग्रहों में पृथ्वी सबसे अधिक भाग्यशाली है। उसका आकार, सूर्य से दूरी, परिक्रमा की अवधि, वर्ष की लम्बाई, और उसकी कील का झुकाव भी अनुकूल रहे। उसकी सतह की परिस्थितियाँ भी प्राय: सबसे अधिक अनुकूल रहीं। उसमें बिल्कुल ठीक अनुपात में कार्बन, प्राण-वायु और हाइड्रोजन उपस्थित थे। उसके पानी के उचित ताप, पर्याप्त वर्षा, उसके समुद्रों का प्राय: समताप और भूमि तथा जल का

अनुकूल अनुपात—इन सभी बातों ने जीवन की उत्पत्ति और विकास को सुगम बना दिया। यदि सर्वप्रथम द्रव्य के सरल-जीवाणु, परमाणुओं तथा मौलीक्यूल के आकस्मिक मिलन से उत्पन्न हो गए थे, जो उनके आधार हैं, तो उनकी इस घटना के लिए परिस्थिति सर्वथा अनुकूल थी। इसके अलावा कब और किस स्थान पर ऐसा होता ?

इस तरह, हमें इस अद्भुत सम्भावना का सामना होता है कि ब्रह्मांड में हमारे सौर-मंडल के अलावा कहीं और जीवन नहीं है, और हमारी पृथ्वी के अलावा कहीं और जीवन का विकास नहीं होता, जिसका समापन ऐसे मनुष्यों के सृजन में हो जो सौदर्न्य तथा विस्तृत सितारों से युक्त आकाश पर विचार कर सकें और उनकी उत्पत्ति तथा प्रारब्ध पर आश्चर्य करें। अतः इस पृथ्वी ने "एक साधारण और क्षुद्र-सा सितारा" होने के या इस विस्तृत दिक् में "निंदनीय धब्बा" होने के बजाय समस्त सितारों में एक वास्तविक शोभनीय स्थान प्राप्त किया है।

हम मध्यकालीन दार्शनिकों के इस अज्ञान और दंभ पर हँसते हैं जिन्होंने अरस्तू का अनुसरण करते हुए विश्व के भू-केन्द्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया—और यह विश्वास किया कि सूर्य, चन्द्रमा और सभी सितारे केवल मनुष्य की नैतिक-शिक्षा के लिए ही स्थित हैं; किन्तु अब ऐसा प्रतीत होगा कि आज का विज्ञान इस सिद्धान्त के नितांत असंगत नहीं है। और तो भी, यह कहना आवश्यक नहीं कि ऐसा कोई भी पूर्वानुमान करने में फिर अज्ञान का खतरा और दंभ का अंदेशा हो जाता है। पृथ्वी की सतह पर जीवन के अनुकूल प्रायः इन विलक्षण रूपों में एकत्र परिस्थितियों पर आधारित तर्क स्वयं को ही परास्त कर रहा है। क्योंकि जैसाकि हेन्डरसन[1] ने कुछ वर्ष पूर्व बतलाया है कि इस तस्वीर को अपनाने के लिए कई संशोधन करने पड़ेंगे और यदि कोई ऐसी योजना होती तो वह योजना कई और कालों में और कई और स्थानों पर भी लागू हुई होती।

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Sir James Jeans, *The Mysterious Universe*. Revised Edition (The Macmillan Company, 1932).

Sir Arthur Eddington, *The Nature of the Physical World* (The Macmillan Company, 1928), chap. VIII.

अन्य सन्दर्भ

W. F. G. Swann, *The Architecture of the Universe* (The Macmillan Company, 1934).

---

1. Lawrence T. Henderson, *The Fitness of the Environment* (The Macmillan Company).

Harlow Shapley, *Flights from Chaos*, chaps. XII, XIII.

Sir Arthur Eddington, *The Nature of the Physical World* (The Macmillan Company, 1928).

J. A. Thomson, *The Outline of Science* (G. P. Putnam's Sons, 1922), I.

Sir James Jeans, *The Universe Around Us*. Revised Edition (The Macmillan Company, 1931); *The Stars in their Courses* (The Macmillan Company, 1931); *The New Background of Science* (The Macmillan Company, 1933).

Lewis Guy Rohrbaugh, *A Natural Approach to Philosophy* (Noble and Noble, 1934).

अध्याय 8

दिक्, काल और सापेक्षता

दिक्

हमने कुछ हद तक दिक् के सम्बन्ध में और काल की अवधि के सम्बन्ध में सीख लिया है; किन्तु ऐसा मालूम होता है कि जहाँ तक दर्शन का सम्बन्ध है हम लोग आवश्यक बात छोड़ गए हैं। दिक् क्या है और काल क्या है ? क्या चिन्तन-शील मस्तिष्क से स्वतन्त्र उनका कोई वस्तुगत अस्तित्व है ? सितारों के बीच उस समय क्या था जब मनुष्य का मनस् आया ?—अथवा क्या उसके पूर्व भी कुछ था ? और चाहे कुछ हो, सितारों में आपस में दूरी, निर्देश और स्थिति तो अवश्य होगी। क्या ये सम्बन्ध वस्तुगत तथा वास्तविक हैं या कि वे केवल मनुष्य के मनस् की उपज हैं ?

सामान्यत: दिक् को हम एक व्यापक शून्य ही समझते हैं, जिसमें वस्तुएँ स्थित होती हैं और जिसके माध्यम से वे गतिमान होती हैं। हम यह समझते हैं कि वह सभी दिशाओं में फैला हुआ है और उसकी सीमाएँ नहीं हैं, अतः अनन्त है। आकाश के पिण्ड उसीके माध्यम से चलते हैं और यदि वे सीधी रेखा में चलें तो निरन्तर चल सकते हैं। विज्ञान कभी-कभी उसे इथर से भरा हुआ बतलाता है। वह तीन दिशाओं में स्थित मालूम होता है—दाएँ-बाएँ, ऊपर-नीचे, आगे और पीछे। वह अनन्त रूप से विभाज्य प्रतीत होता है, क्योंकि उसका कोई भी हिस्सा दो भागों में विभाजित किया जा सकता है और यह निरन्तर हो सकता है। आगे यह दिक्, जैसा हम समझते हैं उसमें स्थित पिण्डों पर आधारित नहीं है और समस्त पिण्डों के नष्ट हो जाने पर भी स्थित रहेगा, एक व्यापक आधार या जैसा कि हम कह सकते हैं एक महान् रिक्तता की तरह। एक छः किनारे वाले खाली सन्दूक का ध्यान कीजिए, फिर उन छः किनारों को फैलने दीजिए ताकि वे दूर होते हुए अदृश्य हो जाएँ। यही दिक् है।

किन्तु जब दिक्-प्रत्यय पर विचार आरम्भ करते हैं तो सब बातें कम निश्चित लगती हैं। हम यह देखते हैं कि आनुभविक दिक् – अर्थात् हमारे वास्तविक अनुभव का दिक् – कुछ बिलकुल ही भिन्न है। दिक् क्या है सिर्फ यह समझने का प्रयत्न करने के लिए, हम इन्द्रिय-अनुभव के साधारण तथ्यों से आरम्भ करें। यदि मैं एक

परकार को लेकर उसे अपनी हथेली के पीछे की ओर रखूं तो आप लोहे के दो बिन्दुओं का प्रत्यक्ष करेंगे। किन्तु आपको इससे भी अधिक संप्रत्यय होता है; आपको उनके परस्पर सम्बंध का प्रत्यक्ष भी होगा जिसे आप दूरी या स्थिति कह सकते हैं। वहाँ स्पष्ट ही एक विशिष्ट तरह का **सम्बन्ध** दो दृश्य बिन्दुओं के बीच होता है. और यह दूरी और स्थिति का सम्बन्ध ठीक इसी तरह देखा जाता है जैसे कि स्वयं विन्दु देखे जाते हैं। यदि कोई चांदी का सिक्का हथेली की पीठ पर रखा जाए तो उसका प्रत्यक्ष केवल उसके भार और शीलता से ही नहीं, उसका प्रत्यक्ष केवल **प्रसार** और **विस्तार** से भी होता है। उसी तरह दृष्टि का संवेदन हमें रंग और प्रकाश के अलावा प्रसार अथवा वस्तुओं के विस्तार, उनकी **विस्तृता** का गुण देता है। अतः हम अपनी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से वस्तुओं के वीच उन सम्बन्धों का प्रत्यक्ष करते हैं जिन्हें हम दिक्परक सम्बन्ध कहते हैं और ये तीन वर्गों में विभाजित होते हैं; जैसे दाएँ और बाएँ, ऊपर और नीचे, आगे और पीछे। इस तरह प्रत्यक्षीय दिक् के तीन आयाम कहे जा सकते हैं।

निश्चय ही यह कहना सम्भव होगा कि वस्तुओं का प्रसार, उनकी विस्तारणा वास्तव में कोई वाह्य सत्ता नहीं है किन्तु मनस् की एक विशेषता और हमारी ग्राह्य बुद्धि का एक तरीका है। यह मत एक महान् दार्शनिक कान्ट का था आ और उसके इस मत को बाद में आने वाले कई चिन्तकों ने स्वीकार किया है। फिर भी सम्भवतः यह ठीक नहीं है, और हम यह विश्वास कर सकते हैं कि न केवल आनुभविक वस्तुएँ वास्तविक हैं वरन् स्वयं दिक् वस्तुगत रूप से सत्य है। किन्तु अन्तिम विश्लेषण में दिक् की सत्ता पिण्डों के परस्पर के सम्बन्ध में पाई जाती है, अर्थात् स्थिति, दूरी और निर्देश के सम्बन्ध में। इसलिए दर्शन का विद्यार्थी, जो दिक् की विचित्रता और उसे समझने की कठिनाई से सम्भ्रान्त है, सबसे पहले तो दिक् की स्थिति, दूरी और निर्देश ही समझेगा और दिक् को इन्हीं सब सम्बन्धों का दूसरा नाम मानेगा; वह इन सम्बन्धों को वास्तविक मानेगा और इसलिए दिक् को भी वास्तविक ही समझेगा।

संप्रत्ययिक दिक्

दिक् को इस तरह वास्तविक वस्तुगत स्थिति, दूरी और पिण्डों का निर्देश समझने के पश्चात् हम एक कदम आगे बढ़कर इस शब्द का कुछ और भिन्न अर्थ समझ सकते हैं, जो दर्शन और गणित दोनों में ही उपयोग किया जाता है। कभी-कभी इसे उपर्युक्त दृश्य दिक् कहा जाता है। हम इस दिक् की चर्चा कर रहे हैं जिसे हम देखते हैं किन्तु जिस दिक् के **विषय में हम विचार करते हैं** वह अलग है। जिस प्रत्ययिक दिक् के विषय में हम विचार करते हैं, संप्रत्ययिक दिक्, वह वस्तुओं के बीच का दिखाई देने वाला सम्बन्ध मात्र नहीं; वरन् इस प्रकार के सभी सम्बन्धों का एक तरह का आयोजन है। जिस कमरे में हम कार्य कर रहे हैं

उसके आठ कोनों को हम देखते हैं, उसके साथ ही हम इन आठ कोनों में सम्बन्ध भी देखते हैं—और यही वास्तविक दृश्य दिक् है। किन्तु अब हम कल्पना में इसके ऊपर अन्य कमरे देखते हैं, जो एक के ऊपर एक है, और इस तरह एक आदर्श हिन्दू के जगत् की तस्वीर बनाते हैं जो अनन्त रूप से प्रत्येक दिशा में फैला हुआ है, जो एक शून्य या रिक्त पात्र के समान प्रतीत होता है; और विस्तार में वह अनन्त प्रतीत होता है जिसका अर्थ इससे अधिक नहीं है कि हम किन्हीं भी सम्भव सम्बन्धों को सीमित करने का विचार नहीं कर सकते। इसलिए संप्रत्ययिक दिक् मनस् की ही रचना प्रतीत होता है। उस सत्ता से रहित प्रतीत होता है जो हमारे दृश्य दिक् के पास है।

गणितीय दिक्

यह संप्रत्ययिक दिक् ही गणित का दिक् है, किन्तु गणितज्ञ उसे कुछ ऐसे गुणों से आभूषित करते हैं जो निश्चित ही सामान्य व्यक्ति के संप्रत्ययिक दिक् में नहीं होते। उदाहरण के लिए यूक्लिड का दिक् अनन्त, समघात, अविच्छिन्न, समादिक् है और तीन आयामों में है, जो तीन आयामों के विस्तार के सिवाय पूर्ण रूप से इन्द्रिय प्रत्यक्ष से प्राप्त संप्रत्यय है। इस तरह गणित आदर्श दिक् से कार्य करता है जो निश्चय ही दृश्य दिक् पर आधारित है, परन्तु इससे बहुत आगे बढ़ जाता है। गणितीय दिक् इस तरह बिन्दुओं, रेखाओं और ज्यामिति विज्ञान का आधार बनाती हुई सतहों की एक रचना है। इसका मतलब यह नहीं है कि बिन्दु, रेखाएँ या सतहें मिथ्या हैं या केवल मानसिक वस्तुएँ या मानसिक रचनाएँ हैं। वे अपने ढंग से सत्य हैं, किन्तु दृश्य चीजों की भाँति नहीं हैं। इसलिए, जैसा कि सामान्यत: कहा जाता है कि गणित एक अस्तित्ववादी विज्ञान नहीं है किन्तु स्वयं तथ्यों तथा परिभाषाओं जैसे अनुमानों पर आधारित है, एक ऐसा कथन हैं जिसकी ग़लत व्याख्या की जा सकती है। यह तथ्य, कि ज्यामिति ऐसे नतीजे देती है जो हमारे इस भौतिक जगत् के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं हमें अनुमान की तुलना में उस "सत्ता" से शुद्ध तार्किक पहलू द्वारा अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कराता है।

काल

अब हमारे अनुभव में एक और तरह का सम्बन्ध विस्तार के अलावा स्थित है जो, जैसाकि हम देख चुके हैं, दाएँ और बाएँ, ऊपर और नीचे और दूर और पास का अनुभव देता है। हमें **पहले** और **बाद** या **परम्परा** का अनुभव भी होता है। इसे हम **काल** कहते हैं। मान लीजिए कि परकार के दो लौह-बिन्दु आपके हाथ पर रखे गए। आपको उसके स्पर्श और ताप के संवेदनों के अतिरिक्त उसके विस्तार का भी अनुभव होता है। अब मान लीजिए वे ही दोनों बिन्दु

पुनः उसी समय हाथ के ठीक उसी भाग में रखे गए, तो आपको **बाद** का एक अतिरिक्त अनुभव होगा। यह विशेष प्रकार का सम्बन्ध है, जिसे हम **पहले** और **बाद** का या **परम्परा** का सम्बन्ध कहते हैं। इस तरह एक अनोखा अनुभव है और इसे ही हम **काल** की संज्ञा देते हैं। यह दिक् के सह-अस्तित्व का नहीं किंतु काल की परम्परा का सम्बन्ध है और इसके आयाम दिक् की भाँति तीन नहीं वरन् एक है।

काल स्रोत की तरह बहता प्रतीत होता है और इस बहाव में हम तीन भागों का भेद करते हैं, **वर्तमान, भूत** और **भविष्य**, वर्तमान जो अनुभव में वास्तविक है, भूत जो स्मृति में रचित है और भविष्य जो कल्पना में पूर्व-विचारित किया गया है। वर्तमान, फिर भी जैसा जेम्स ने बतलाया है कोई "तलवार की धार" या क्षण नहीं है, उसकी वास्तव में एक निश्चित अवधि है। इस अवधि के क्षण में ही वास्तव में पहले और बाद होता है; किन्तु अधिकांश के लिए, हमारे पहले और बाद, बीतने वाले काल और आगे आने वाले काल से प्रत्ययिक दिक् की भाँति आदर्श सृजन हैं। सम्प्रत्ययिक काल, पुनः दृश्य-काल से थोड़ा भिन्न है। पर अमूर्त काल के सम्बन्ध में हम विचार कर रहे हैं। इस आदर्श काल में वर्तमान एक तलवार की धार है जिसकी कोई अवधि नहीं है या शून्य अवधि है—और भूत और भविष्य अनन्त दूर तक फैले हुए हैं।

दिक्-काल

अब मुझे भय है कि इसमें से कुछ लोग दिक् और काल के इस "अनुभवाश्रित" वर्णन से संतुष्ट नहीं होंगे। एक **निरपेक्ष** दिक् का संप्रत्यय जो सब दिशाओं में अनन्त है, जिसमें वस्तुएँ स्थित और गतिमान हैं, और **निरपेक्ष** काल की गति, उस काल की जो निरन्तर चलता रहेगा और जिसका कोई आरम्भ नहीं था अधिक स्वाभाविक और सुविधाजनक मालूम देता है। वास्तव में न्यूटन स्वयं इस निरपेक्ष दिक् और काल में विश्वास करता था और अभी कुछ ही हुआ है जबकि इन पर शंका की जाने लगी है। शायद यही बात है जो हममें से अधिकांश व्यक्ति दिक् और काल शब्दों का अर्थ समझते हैं तथा निश्चय ही हठधर्मिता से हमें यह कहने का अधिकार नहीं है कि इस अर्थ के तद्रूप कोई अस्तित्व नहीं होता।

वास्तव में, इस शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में अनुसन्धाताओं का एक समुदाय था जो सम्प्रत्ययिक दिक् और काल के तद्रूप सत्ता को खोजने के प्रयत्न में लगा था। जर्मनी में आइन्स्टाइन इंग्लैंड में एडिन्गटन, एस० अलेक्ज़ेन्डर और सी०डी० ब्रॉड और अन्य सहयोगियों ने सत्ता के दुर्बोध क्षेत्र में देखना आरम्भ कर दिया। और इन अध्ययनों के विषय में सबसे रुचिकर बात यह है कि अब ये मनोवैज्ञानिक समस्याएँ नहीं रह गईं, वरन् भौतिकी और गणित की मानी जाने लगी हैं। हम वास्तविक वस्तुगत सत्ता की खोज में हैं जिसे हम दिक् और काल

की जन्मदाता कह सकते हैं।

इन गहन और प्रायः जटिल गणितीय अनुसन्धानों का प्रथम निष्कर्ष यह दिखलाना रहा है कि दिक् और काल परस्पर उससे भी घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं जितना कि हम उन्हें समझते हैं। या सम्भवतः दिक्, काल, जड़ तत्त्व, तीनों का एक सामान्य आधार द्रव्य है। अपने अनुभव से आरम्भ करते हुए भी हमें दिक् और काल भिन्न-भिन्न तत्त्व प्रतीत नहीं होते, किन्तु चतुःसम्बन्धी, अर्थात् ऊपर और नीचे, दाएँ और बाएँ, आगे और पीछे और पहले और बाद मालूम होते हैं। सभी घटनाएँ दिक्-घटनाएँ हैं और सभी बिन्दु दिक् में बिन्दु-घटनाएँ होती हैं। इसलिए यह सुझाव दिया गया है कि जिस सत्ता की हम खोज करते हैं वह न तो दिक् है और काल किन्तु दिक्-काल है, और जो सही अर्थों में विद्यमान होता है वह त्रिविमीय दिक् तथा एक विम वाला काल नहीं किन्तु चतुर्विमीय दिक्-काल होता है।

अब चतुर्विम अस्तित्व को समझना हमारे लिए कठिन है, किन्तु गणित के दृष्टिकोण से वह कोई गम्भीर समस्या उपस्थित नहीं करता। एक पेन्सिल लीजिए और उसे मेज़ पर रखिए। यदि हम उसे एक रेखा का प्रतिनिधि मान लें तो उसका एक विम होगा, जिसे हम पास और दूर करते हैं। अब एक दूसरी पेन्सिल लीजिए और उसे पहली पेन्सिल से समकोण बनाते हुए रखिए। अब हमारे पास दो विम हो गए दूर और पास, दाएँ और बाएँ, जो सतह निश्चित करते हैं। अब एक तीसरी पेन्सिल लीजिए और रखी हुई पेन्सिलों से समकोण बनाने का प्रयत्न कीजिए। ऐसा करना हमारे लिए असम्भव होगा और हम ऐसी आकृति को सोच भी नहीं सकते। ऐसा इसलिए है कि हमारा भौतिक जगत् जिसमें हम रहते हैं और जिससे हमारा शरीर का सम्बन्ध होता है वह त्रिविमी जगत् है। किन्तु इस बात से यह नतीजा नहीं निकलता कि हम चतुर्विमीय सत्ता की तस्वीर ही नहीं खीच सकते या पेन्सिलों द्वारा उसे नहीं बना सकते, क्योंकि सम्भव है कि ऐसी सत्ता का अस्तित्व न हो।

केवल गणितज्ञ ही चतुर्विमीय सत्ता से अपने को सुपरिचित अनुभव करते हैं ऐसी बात नहीं, अपितु हम स्वयं त्रिविमीय सत्ता को उसी समय अपर्याप्त अनुभव करने लगते हैं जब बिन्दुओं को दिक् में कहना बन्द कर देते हैं और घटनाओं को दिक् में कहना प्रारम्भ कर देते हैं। ऐसी घटनाओं के निर्धारण के लिए चतुर्विम की आवश्यकता होती है। मान लीजिए यह न्यूयार्क शहर में हुई एक दुर्घटना का मामला है। यदि मैं कहूँ कि वह ब्रॉडवे पर (एक-विमीय) हुई, तो आप पूछेंगे कि ब्रॉडवे पर कहाँ? यदि मैं कहूँ कि नाइन्टी सिक्स्थ स्ट्रीट और ब्रॉडवे के मोड़ पर (द्विविमीय), तो आप पूछेंगे कि यह दुर्घटना बाह्य मार्ग पर हुई या अंतर्मार्ग पर? यदि मैं कहूँगा कि वह अन्तर्मार्ग के चौराहे (त्रिविमीय) पर, तो आप पूछेंगे—**किस समय** हुई? यदि मैं यह उत्तर दूँ कि यह दुर्घटना अन्तर्मार्ग के चौराहे पर

मंगलवार की दोपहर (चतुर्विमीय) को हुई तो घटना पूर्ण रूप से निर्धारित हो जाएगी।[1]

यह सिद्धान्त कि काल दिक् का चौथा आयाम है या सही अर्थों में जिस जगत् में हम रहते हैं वह चतुर्विमीय दिक् काल सांतत्यक है, सर्वप्रथम मिन्कोस्की द्वारा प्रतिपादित किया गया था, किन्तु उसका पूर्ण निरूपण आइन्स्टाइन ने किया।

> एक अगणितज्ञ जब "चतुर्विमीय" वस्तुएँ सुनता है तो एक गुह्यवादी विचारों द्वारा सजग कर दिये जाने की भाँति रहस्यमयता से भर जाता है। और तो भी इससे अधिक साधारण बात नहीं हो सकती कि जिस जगत् में हम रहते हैं वह चतुर्विमीय दिक्-काल सांतत्यक है।[2]

इसलिए न्यूटनीय दिक् के "निरपेक्ष" तीन आयाम-काल को एक स्वतन्त्र आयाम सोचने के बजाय मौलिक "दिक्-काल-प्ररूप" चार आयाम वाला सोच लेना सम्भव है, जिसमें चौथा आयाम है काल। और इस बिन्दु पर फिर भी, आइन्स्टाइन का सामान्य सापेक्षता सिद्धान्त दिक् और काल की समस्या के हल से भी आगे बढ़कर सत्ता के तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त की ओर बढ़ता है; क्योंकि कहना चाहिए कि, उसकी यह मान्यता है कि दिक् काल सांतत्य ही विश्व की अन्ततम भौतिक सत्ता है। यदि यह सत्य हो तो यह दर्शन के विद्यार्थी के लिए तुरन्त ही बड़ी रुचि की बात हो जाती है, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि गणित की रीति से यह दर्शाया जा सकता है कि सापेक्षता सिद्धान्त के अन्तर्गत ऐसी चतुर्विमीय वस्तुएँ समघाती बात नहीं है, किन्तु असमानता या "विचित्रता" की ओर झुकती हुई सी है; और, ऐसा कहा गया है, इसलिए **ये विचित्रताएँ ही हैं जिन्हें हम जड़तत्त्व कहते हैं**। कहना चाहिए कि जड़तत्त्व दिक्-काल में एक प्रकार से रस्सी की ऐंठन आती है वहाँ-वहाँ पर दिक् अपभ्रंशित या खण्डित होता है।

ऐसा होने से, आइन्स्टाइन के लिए **गुरुत्वाकर्षण** के पूर्णतः नये सिद्धान्त को प्रस्तुत करना सम्भव हो सका और वे नवीन तथा वांछनीय प्रकाश इस दुर्बोध विषय पर डाल सके। हमें याद है कि गुरुत्वाकर्षण का **नियम** न्यूटन ने बनाया है; और यह बतलाया कि **कैसे** सभी जड़ पिंडों में परस्पर खिचाव होता है, पत्थर का पृथ्वी की तरफ और पृथ्वी का सूर्य की तरफ, किन्तु उसने यह नहीं बतलाया कि उनमें ऐसा क्यों होता है। हमने प्रायः गुरुत्वाकर्षण को एक **बल** समझा है जो पिंडों को एक दूसरे की ओर खींच रहा है। न्यूटन ने स्वयं उसे एक "बल" माना है जो जड़ पिंडों को अन्य पिंडों की ओर उनकी सीधी रेखा से बाहर खींचता है जहाँ वे स्वाभाविक रूप ले चल रहे होते हैं; यह बल पिंडों की दूरी

---

1. तुलना करो—Edwin E. Slosson, *Easy Lessons in Einstein*, p. 31.
2. Albert Einstein, *Relativity*, translated by Robert W. Lawson (Henry Holt and Company), p. 65.

के प्रतिलोमतः समानुपाती होता है। किन्तु न कोई इस वल को जानता है और न यही कि कैसे वह पिंडों को एक दूसरे की ओर "खींचता" है; इसलिए आइन्स्टाइन और एडिन्गटन से यह जान लेना बहुत रुचिकर होगा कि गुरुत्वाकर्षण को समझना होगा, यदि मान लिया जाय कि ऐसा स्वयं दिक् के स्वभाव के कारण हो सकता है; यह कि दिक् द्रव्यमान के क्षेत्र में विकृत या सिकुड़ा या मुड़ा हुआ है, और यह कि जब कोई कण गुरुत्वाकर्षण के क्षेत्र में आता है तो उसका ऐसा वर्ताव किसी रहस्यमय "वल" के कारण नहीं, किन्तु इस क्षेत्र में दिक् की सिकुड़न के कारण होता है जो उस कण का मार्ग निर्धारित करता है।

एक अभिनव लेखक ने **न्यूयार्क टाइम्स** में स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार लिखा है :

> न्यूटनीय विश्व, समूलतः, अरस्तू के विचार की विधियाँ और यूक्लिड का दिक्, पूर्णतः विध्वंस हो चुके हैं और उसके अंश, भूकेन्द्रीय तंत्र, अन्वेषकों का समतल पृथ्वी का मत भी, अन्धकारमय स्थलों की ओर बह गए। उसके स्थान पर हमारे पास एक सापेक्षिक विश्व, एक चतुर्विमीय दिक्-काल जगत् है, जो वल की रेखाओं तथा मध्यांतरों के जाल से वस्तुओं और विन्दुओं के स्थान पर ऊर्जा की तरंग पोटलियों द्वारा निर्मित है। हमारे अधिकांश आधारभूत विचार, जैसे समीकरण, कारणता, समकालीनता, अज्ञान और दोशयुक्त मानसिक प्रक्रियाओं के कारण होने वाले भ्रम हैं; समस्त ज्ञान (अन्त में) शाब्दिक और उसकी एकमात्र सम्भाव्य रूप संरचना मात्र होता है। हमारी भाषा जो मानवता के आरम्भिक काल से विरासत में आई है, उसमें आदिम और पशु-जगत् की वातें भी सम्मिलित हैं, और उसका ढाँचा मनुष्य के स्नायु तंत्र अथवा विश्व के तंत्र का अनुरूपी नहीं है, और इसलिए वह न केवल हमें गणित की नई पद्धतियों और खोजों को स्वीकार करने से रोकती है अपितु निश्चित रूप से हमारे मानसिक स्वास्थ्य और सामाजिक उन्नति को चोट पहुँचाने वाली और हानिकारक भी है।[1]

जैसा लेखक ने लिखा है, यह सब भयानक प्रतीत होता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह है कि हमें अपनी भाषा को इस प्रकार सुधार लेना चाहिए कि वह प्रकृति के नए संप्रत्यय के उपयुक्त हो जाए और हमें "अवश्य ही एक अभौतिक-तत्त्ववादी पारिभाषिक शब्दावली को प्रयुक्त करना चाहिए।" ऐसा करना स्पष्टतः एक व्यापक विश्व को देखने के लिए, जिसमें मानव-चेतना अपने को उन्नीसवीं सदी के यांत्रिक जगत् की अपेक्षा कम संकुचित पाएगी, हमारे समक्ष एक आशाप्रद रूप प्रस्तुत करेगा।

---

1. George Moreby Acklom reviewing Alfred Korzybski's book, *Science and Sanity* in the *New york Times Book Review*, February 11, 1934.

ईथर

बहुत समय तक यह समझा जाता था कि ईथर के नाम से पुकारी जाने वाली चीज़ कोई ऐसी रहस्यमय वस्तु है जो दिक् में भरी हुई है—यदि हम उसे आज भी इस ढंग से कह सकें। यह बात बहुत समय से ज्ञात थी कि प्रकाश अपनी निश्चित गति लगभग 1,86,000 मील प्रति सेकंड के हिसाब से चलता है। चूँकि यह सम्भव प्रतीत नहीं होता था कि प्रकाश वास्तव में उस गति से चलायमान कणों से निर्मित है, उसे एक प्रकार की तरंग-गति ही माना गया था।

प्रकाश के इस तरंग सिद्धान्त के लिए तरंगों के परिवर्तन का कुछ माध्यम होना आवश्यक था—तरंगित होने के लिए यह मान लिया गया था कि समस्त विश्व **ईथर** नाम के एक स्थिर माध्यम से परिपूर्ण है और प्रकाश तरंगें इस ईथर में ही उठा करती हैं। अपना कार्य करने के लिए इस माध्यम में भी कुछ गुण होना चाहिए। इसे घर्षणहीन, सघन, अचल, तथा भार और बल ग्राहक होना चाहिए। तिस पर भी इन गुणों में से कुछ में परस्पर-विरोध निहित है। यद्यपि ऐसे माध्यम का होना कठिन ही है, तथापि ऐसा माध्यम कोई न कोई अवश्य होना चाहिए।

जब मेक्सवेल द्वारा प्रकाश का विद्युत् आकर्षक सिद्धान्त प्रस्ताविक किया गया तब सभी बातों का एकीकरण किया गया। यह एक महान् खोज की बात मानी गई कि प्रकाश तरंगें, लम्बी बेतार की तरंगें और छोटी एक्स-किरमें केवल उनकी लम्बाई को छोड़कर शेष बातों में एक समान ही हैं और उनके विस्तार का हिसाब एक ही है और वे सब एक ही नियम के अधीन हैं। किन्तु अब ईथर इन सब तरंगों का माध्यम पहले से भी अधिक आवश्यक हो गया, जबकि स्वयं ईथर एक विरोध पुंज बना हुआ था। यह कुछ और नहीं वरन् "तरंगित होने" की क्रिया का ही संज्ञा रूप था; और अन्त में कहा गया कि इसमें तीन आयामों के विस्तार के अलावा और कोई गुण नहीं, जो कि इस प्रकार दिक् के ही बराबर हो जाता है।

कुछ वर्ष पूर्व मिकल्सन और मोर्ले ने एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग यह निर्धारित करने के लिए किया कि क्या पृथ्वी एक ईथर जैसे स्थिर माध्यम में से होकर घूम रही है। चूँकि पृथ्वी लगभग बीस मील प्रति सेकंड की गति से सूर्य के चारों ओर अपने मार्ग पर घूम रही है, यदि स्थिर ईथर में से चल रही है तो उससे ईथर वायु अथवा ईथर का हटाव पृथ्वी की सतह पर अवश्य होना चाहिए। और चूँकि प्राक्कल्पना के अनुसार प्रकाश ईथर की तरंग गति के कारण होता है, यह स्पष्ट है कि प्रकाश किरण को एक निश्चित दूरी तक भेजने में ईथर के विरुद्ध अधिक समय लगेगा, बनिस्बत इसके कि उसे इस माध्यम से विरुद्ध दिशा को भेजा जाए; बिल्कुल उसी तरह जैसे आपकी आवाज़ को वायुगति के विरुद्ध दिशा में भेजने में अनुकूल वायु की तुलना में और अधिक समय लगता है; और

एक प्रकाश किरण को आगे या पीछे भेजने में अधिक समय लगेगा बनिस्बत इसके कि उसे उसी दूरी तक ऊँचाई के समकोण तक वापिस आने में लगेगा।[1] यह बाद में कही हुई बात मिकल्सन और मोर्ले द्वारा निर्मित एक बहुत ही नाजुक उपकरण द्वारा नापी जा सकती थी, परन्तु उसके परिणाम सर्वथा नकारात्मक थे। पाया यह गया कि प्रकाश उसी गति से सभी दिशाओं में यात्रा करता है। प्रथम दृष्टि में तो ये विचित्र परिणाम ईथर के अस्तित्व को ही असिद्ध करते हुए प्रतीत होते हैं, किन्तु अब सापेक्षता के सिद्धान्त से यह बात ज्ञात हुई कि यदि ईथर हो तो भी हमें उसके माध्यम से अपनी गति का पता लगा लेना असम्भव होगा। यह फित्सगेराल्ड और लारेन्स द्वारा सर्वप्रथम प्रतिपादित नियम के कारण होता है, जिसके परिणामस्वरूप गतिमय होने पर पदार्थपिंड गति की दिशा में कुछ छोटे हो जाते हैं। हालाँकि बाद के उन प्रयोगों में, जिनमें यह नियम सम्मिलित नहीं है, उन्होंने भी नकारात्मक परिणाम ही दिए हैं। ऐसा कोई प्रमाण दिखलाई नहीं पड़ता कि पृथ्वी स्थिर ईथर में अथवा ईथर रहित ही चक्कर लगा रही है।

इसलिए ईथर का सिद्धान्त अधिकतर विज्ञान की भाषा से अलग रखा जाता है। ईथर का मुख्य कार्य सन्दर्भ के निश्चित ढाँचे की तरह कार्य करना था। किन्तु आइन्स्टाइन ने यह बतला दिया है कि समस्त गति सापेक्ष है और यह कहना निरर्थक है कि कोई एक वस्तु स्थिर है जब अन्य वस्तुएँ उसके अन्तर्गत अथवा बाहर गतिशील हैं। यदि आप रेल के डिब्बे में बैठकर एक दूसरी पटरी पर रेलगाड़ी को देखते हैं तो यह कह सकना सरल नहीं होता कि कौनसी रेलगाड़ी चल रही है। हो सकता है कि दोनों ही परस्पर विरुद्ध दिशा में चल रही हों, या एक ही दिशा में विभिन्न गति से चल रही हों, अथवा एक स्थिर और दूसरी चल रही हो। आप मानक निर्देशन के लिए पृथ्वी की ओर देखेंगे। किन्तु, मान लीजिए कि यदि कोई तीसरी वस्तु तुलना के लिए नहीं है, केवल दो ही वस्तुएँ परस्पर गतिमान हैं तो यह कहना निरर्थक होगा कि एक चलायमान है जबकि दूसरी स्थिर है। यदि हम ईथर के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते तो हमें यह कहना पड़ता कि पृथ्वी ईथर में विराजमान है।

हम नवीनतर सत्ता मीमांसा को उन्नीसवीं सदी के यान्त्रिक दर्शन और वर्तमान सदी के आरम्भिक वर्षों के दर्शन के प्रति विरोध नहीं कह सकते। यह विरोध नहीं है किन्तु विज्ञान की प्रगति से बाध्य नई दिशा है। चाहे हम सूक्ष्म-

---

1. एक तैराक जानता है कि एक निश्चित चौड़ाई की बतलाई हुई धारा को चाल को पार करना और पुनः लौटकर आरम्भ करने वाले स्थान पर वापिस आना सरल है बनिस्बत इसके कि धारा के विरुद्ध उसी दूरी तक जाने और फिर उसी स्थान तक लौटकर आने के; यद्यपि गणित की दृष्टि से उसने उसे इस बात को दर्शाने की कभी चेष्टा नहीं की। देखिए—Eddington, *Space, Time, and Gravitation*, Chap, 1,

दर्शीय अथवा स्थूलदर्शीय जगत् का अध्ययन कर रहे हों, अथवा हम जीवविज्ञान-विद् या रसायनज्ञ के अनुसंधानों का अनुसरण करें, चाहे हम परमाणु का अध्ययन करें या उपपरमाण्वीय संरचना का, हम यान्त्रिक के विचारों से भिन्न ही वृत्ति पाते हैं।

जिस क्षेत्र में अब हम आ गए हैं वह प्राय: विचित्र और भ्रमित करने वाला है। सर्वप्रथम तो यह सुनकर उलझन होती है कि न्यूटन के अनन्त दिक् और शाश्वत काल वाले जगत् पर भी सन्देह किया जाने लगा है; यह जानकर आश्चर्य होता है कि काल, दिक् और गति मात्र सापेक्ष हैं; यह कि ऐसा समकालीनता और कारणता के नियम पर भी सन्देह किया जाएगा; और यह कि पुराने नियतवाद को हायसन बर्ग के अनियतवाद ने धमकी दे दी है: यह कि ऊर्जा की धारा और प्रकाश पुंज में सांतत्य नहीं किन्तु छोटी-छाटी खाइयाँ हैं; यह कि जड़ तत्त्व के आखरी कण हमारे नवीन प्राप्त मित्र ऋणात्मक इलेक्ट्रॉन और सकारात्मक प्रोटान नहीं हो सकते और अन्त में यह कि विश्व शाश्वत नहीं है वरन् चक्रिक परिवर्तनों से गुज़र रहा है।

यह बात उलझन वाली हो सकती है—किन्तु कुछ बातें सन्तोषजनक हैं। अन्त में यह बात स्पष्ट हो सकती है कि प्रकृति कोई दैत्यवत् मशीन नहीं है जो विना किसी उद्देश्य या प्रयोजन के बराबर आवश्यकता के नाम पर पीसती रहती है—और फिर भी स्वतन्त्रता के लिए कुछ न कुछ कहने को बाकी है। और विश्व कुछ और चुस्त और रहने योग्य लगता है, यदि वह सीमित हो—यदि वह भयानक रूप से विस्तृत हो तो भी, और यह सोचकर सदैव तबीयत ऊब जाती थी कि काल निरन्तर चलता रहेगा।

कुछ को सर जेम्स जीन्स के इस अन्तिम सुझाव से भी राहत मिलेगी जब वह कहता है कि अन्तिम विश्लेषण में जगत् भी विचारों का जगत् है—और उसकी रचना भी विचारों का कार्य है। उसी प्रकार से हमारे भौतिक जगत् के ज्ञान को बिन्दु-पठन बतलाते हुए एडिंगटन कहते हैं, "यह हमारी दृष्टि के लिए अजनबी बात नहीं है कि इस बिन्दु-पठन की पृष्ठभूमि में स्थित जगत् तत्त्व का वह स्वभाव है जिसका मनस् के साथ सांतत्य है।"[1]

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Sir James Jeans, *The New Background of Science*, Revised Edition, (The Macmillan Company, 1934), chap. III.

---

1. Sir James Jeans, *The Mysterious Universe*, p. 154. Sir Arthur Eddington, *The Nature of the Physical World*, p. 331.

अन्य सन्दर्भ

A. S. Eddington, *The Nature of Physical World* (The Macmillan Company, 1929).

Victor F. Lenzen, *The Nature of Physical Theory* (John Wylie and Sons, 1931).

Robert A. Millikan, *Time, Matter and Value* (The University of North Carolina Press, 1932).

Sir James Jeans, *Through Space and Time* (The Macmillan Company, 1934).

W. F. G. Swann, *The Architecture of the Universe* (The Macmillan Company, 1934), chaps. IX, X.

Roy Wood Sellars, *The Philosophy of Physical Realism* (The Macmillan Company, 1932), chap. XIII.

C. D. Broad, *Scientific Thought* (Kegan Paul, Trench, Trübner and Company), chaps. III, IV.

James MacKaye, *The Dynamic Universe* (Charles Scribner's Sons).

अध्याय 9

जैविक जीवन—उसका स्वभाव और उत्पत्ति

पिछले अध्याय में हमने देखा कि विश्व, जैसा हम उसे जानते हैं, दिक् काल और जड़तत्त्व से बना है। ऐसा संकेत किया गया था कि ये सब सम्भवतः निरपेक्ष रूप से अंतिम सत्ताएँ नहीं हैं, क्योंकि वे सत्ता के केवल ऐसे पहलू हैं जिन्हें हम समझ सकते हैं। इनसे परे एक तरह का गणितीय सत्ताओं का रहस्यमय जगत् है ऐसा विश्वास किया जाता है—और इस सबसे परे शायद प्राक्कल्पना का मनस् है।

फिर भी, जैसा कि हम अगले अध्याय में पढ़ेंगे, यदि हम इस जिज्ञासा को अन्य दृष्टिकोण से देखें, अर्थात् अपने चारों ओर के भौतिक जगत् के विश्लेषण से, तो हम अन्त में हर बार किसी न किसी प्रकार की विद्युत् या विकिरणी ऊर्जा पर पहुँच जाते हैं। तो क्या इससे हमें यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि विद्युत्, ऊर्जा या दिक्-काल सरीखे संप्रत्यय हमारे लिए जगत् की अन्तिम सत्ताओं के समान हैं ?

यह एक सरल अनुमान होगा और वह भी शीघ्रतावश किया गया। जब हम अपनी विज्ञान की पुस्तकें बन्द करके स्वयं अपने अनुभव की ओर मुड़ते हैं तो हम एक बिल्कुल ही भिन्न जगत् को पाते हैं। यह एक जीवों का जगत् है—एक जीवन और मनस् की विभिन्नता लिए हुए आश्चर्य-भूमि; नई आकृतियों, नई जातियों, नई खोजों का सृजनात्मक जगत्। एक विकास और वृद्धि वाला, चेतन स्वयंचलित तथा विचार और भावशील, भूतकाल की स्मृतियों और भविष्य के पूर्वानुमानों वाला, संवेगों और महत्त्वाकांक्षाओं का; सहयोग करते हुए व्यक्तियों का सामाजिक जगत्, विज्ञान, कला, दर्शन और साहित्य पर विमर्शात्मक चिन्तन का जगत्, उद्देश्यों,-प्रयोजनों और मूल्यों का जगत् है। सहसा, हम पूछते हैं, क्या यह हमारा अनुभव जगत्, यह जीवित वस्तुओं का जगत्, दिक्, काल और कंपन-युक्त ऊर्जा से कम वास्तविक है ?

तो, स्पष्ट ही, यदि हमें दार्शनिक या दर्शन का आरम्भिक विद्यार्थी भी बनना है तो हमें अपनी जाँच को जीव-जगत् की ओर निर्देशित करना चाहिए। जीवन क्या है ?

जीवन की उत्पत्ति

पृथ्वी की सतह पर जीवन की उत्पत्ति का प्रश्न इस खोज से बहुत रुचिकर और गम्भीर बन गया है कि सभी जीवित कीटाणु अन्य जीवित कीटाणुओं से आते हैं। रोम के कवि ल्यूक्रेटीज़ ने अपनी पुस्तक **दे रेरम् नातुरा** में स्वतः उत्पादन सिद्धान्त द्वारा, इस कठिनाई को बड़ी सरलता से हल किया है, जैसा कि अन्य प्राचीन लोगों ने भी किया है। उसने कहा कि पृथ्वी के धक्के (clod) जब गर्म और गीले होते हैं तो वे शीघ्र ही जीवित रूप ले लेते हैं। आधुनिक समय में भी आरम्भ में यह सोचा जाता था कि स्वतः उत्पादन परीक्षण-नली में भी दर्शाया जा सकता है। यदि किसी पोखर से थोड़ा पानी लें और उसे प्रकाश और गर्मी लगने दें तो शीघ्र ही वह जीवित कीटाणुओं से भर जाएगा। अब यदि आप गर्मी द्वारा उसका निर्जर्मीकरण कर लें और फिर उसे प्रकाश और गर्मी दें तो वह पुनः जीवन के आसार प्रदान करेगा। फिर भी, यदि आप प्रयोग दोहराएँ और परीक्षण नली को रुई द्वारा बन्द करने का ध्यान रखें ताकि हवा में तैरते हुए कीटाणु अलग किए जा सकें तो फिर कोई भी जीवन नहीं दिखलाया जा सकता। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के स्वतः उत्पादन सिद्धान्त पर मत-विरोध समाप्त हो गया; और पास्टियर के नेतृत्व में एक नवीन और लाभकर विज्ञान, जीवाणु विज्ञान के नाम से उत्पन्न हुआ, जिसने कीटाणु बीमारियों और सफाई, पूतिदोषरहित शल्यक्रिया और कृषि की कला में भी आश्चर्यजनक योगदान दिया है।

संयोग से, पुनः हम देखते हैं कि शुद्ध सैद्धांतिक परीक्षणों से किस तरह महान् व्यावहारिक लाभ निकला करते हैं। व्यावहारिक विज्ञान जो बीमारी और उसके निदान के ज्ञान की तलाश में होती है, उसके हक में ये परीक्षणकर्त्ता कार्य नहीं करते थे। वे तो वैज्ञानिक थे, ज्ञान को ज्ञानार्जन ही मानने वाले।

किन्तु जानने के उसी आश्चर्य और इच्छा की मानसिक स्थिति में हम पूछते हैं कि हमारे इस गृह में सबसे पहला जीवित कीटाणु कहाँ से आया? एक समय था जब पृथ्वी पर ऐसी परिस्थिति थी कि कोई जीवन सम्भव नहीं था, जबकि अब उसकी समस्त सतह जीवित कीटाणुओं से भरी हुई है। हम आश्चर्य करते हैं कि सर्वप्रथम जीवाणु कैसे पैदा हुआ। एक जीवविज्ञानविद् कहता है – **औम्न वीवुम् एक्स ओवो** – सभी जीवन एक अंडे से पैदा होता है। शायद एक जीवित कीटाणु दिए जाने पर विकास के ज़रिए हम पृथ्वी को मनुष्यों से भर सकते हैं; किन्तु पहले वाला कहाँ से आएगा?

जहाँ तक पृथ्वी पर सर्वप्रथम जीवित वस्तुओं के दिखाई देने का सम्बन्ध है, उसके तीन परम्परागत मत हैं: (1) जीवन के सर्वप्रथम कीटाणु सम्भवतः किसी और ग्रह से दिक् के माध्यम से आते हैं। (2) दैविक सृजन-प्रवृत्ति से ही पृथ्वी पर जीवन आया। ईश्वर ने ही पृथ्वी पर जीवन की रचना की है। (3) प्राकृतिक

प्रक्रिया से पृथ्वी पर जीवन पैदा हुआ, जो अकार्बनिक वस्तुओं से धीरे-धीरे विकसित हुआ।

तीनों सिद्धांतों में पहले के सम्बन्ध में—सैद्धांतिक रूप से यह असम्भव नहीं है कि जीवन को एक ग्रह से दूसरे ग्रह या किसी प्रकाश विकिरण द्वारा अतिसूक्ष्म-दर्शी जीवित कीटाणु, जैसा कि अरैनियस[1] ने प्रस्तावित किया है या किसी उल्का पिंड की दरार में छिपाकर पृथ्वी की सतह पर गिरा दिए जाय। प्रमुख वैज्ञानिकों ने इस समस्या का यह हल प्रस्तावित किया है। किन्तु वास्तव में यह समस्या को हल नहीं करता; वरन् उसे केवल दूसरे क्षेत्र में भेज देता है और यह मत अनावश्यक प्रतीत होता है।

दूसरा यह प्रस्ताव कि, जीवन दैवी रचना का परिणाम है, अपने महत्त्व के लिए इस बात पर निर्भर करता है कि उसका अर्थ-निर्णय कैसे किया जाता है। हमारे विचार में ईश्वर को काल के किसी क्षण में और दिक् के किसी स्थल पर जीवन के सृजन का अध्यादेश जारी करना आएगा। ऐसा अर्थ-निर्णय किया हुआ समस्या का यह हल उन वैज्ञानिकों को नहीं जचेगा जो प्रकृति के कार्य में व्यवस्था और तारतम्य देखने के अभ्यस्त हैं। फिर भी यदि हम ईश्वर को समस्त प्रकृति की निरन्तर कार्यशील सत्ता या सृजनात्मक संकल्प समझें तो यह मत तीनों में सर्वश्रेष्ठ साबित होगा।

तीसरा यह सिद्धांत कि कार्बनिक का अकार्बनिक से विकास होता है आजकल के प्रायः सभी जीवविज्ञानविदों को मान्य है। यद्यपि अभी तक ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि अकार्बनिक से कार्बनिक जीवन उत्पन्न नहीं होता और यद्यपि हमारी प्रयोगशालाओं के प्रयोग निश्चित रूप से यह संकेत करते हैं कि समस्त जीवन पिछले जीवन से ही आगे बढ़ता है, तथापि इसका यह अर्थ नहीं निकलता कि किसी समय में ऐसी परिस्थितियाँ नहीं होंगी, या किन्हीं कालों में ऐसी परिस्थिति नहीं होगी जब जीवन की उत्पत्ति जीवन-रहित से हो सकती हो। कोई नहीं कह सकता कि लाखों वर्षों पहले का स्थलीय गर्म जल प्राकृतिक प्रक्रिया द्वारा अकार्बनिक से विकसित नहीं किया जा सकता। हम यह मान लेने को लगभग विवश हो जाते हैं कि ठीक ऐसा ही हुआ है। ऐसा शायद एक बार हुआ हो, कहीं पर शायद नित्य ही होता हो।

इसलिए, ऐसा प्रतीत होता है कि हम यह नहीं मान सकते कि जीवन की उत्पत्ति उल्कापिंडों से प्राप्त होती है या दैवी सृजन या स्वतः उत्पादन से होती है। यह बात आज के विचारों के अधिक उपयुक्त होगी कि जीवन की उत्पत्ति कुछ विकास की प्रक्रियाओं में हुई, जिसका अर्थ है, मंथर, क्रमिक और अग्रगामी परिवर्तन का

---

1. See *The Life of the Universe*, by Svante Arrhenius. Translated into English by H. Borns, vol II, chap. IX, pp. 250 ff.

होना। किन्तु जब इस विकास के दौरान कोई अनन्य, निश्चित रूप से भिन्न, उच्च स्तरीय, नई और अब तक अज्ञात गुणों को बतलाने वाली, सम्भवतः युगों की यांत्रिकता से दूर **नई बात** दिखलाई पड़े तो उसे **सृजन** शब्द से बतलाना उचित ही है। अतः किसी न किसी रचनात्मक प्रक्रिया द्वारा ही पृथ्वी पर जीवन हुआ— हम उसे **सृजनात्मक विकास** भी कह सकते हैं। इस ज्ञानोत्पादक वाक्यांश का प्रयोग करने के लिए, हमें एम० बर्गसाँ के प्रति आभार प्रदर्शित करना है। प्रत्येक विद्यार्थी को उसकी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक **क्रियेटिव इवोलूशन** पढ़नी चाहिए।

जीवन का स्वभाव

जैसा कि हमें विश्वास करना चाहिए, यदि जीव का प्रत्येक रूप—पौधा, पशु, और मनुष्य, अपने सभी गुणों के साथ, जो मानवीय मनस्, इतिहास, मानवीय संस्थाएँ, यहाँ तक कि कला और विज्ञान में निहित है—एक ऐसी प्रक्रिया से उत्पन्न हुआ है जिसे हम जीवन के आरम्भिक और सरल रूप से विकास होना कहते हैं या यूँ कहिए एककोशिक जीव से—तो दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी के लिए न केवल उत्पत्ति वरन् स्वयं जीवन का अर्थ जान लेना भी सबसे अधिक महत्त्व का हो जाता है।

जीवन की समस्या की कुंजी इस अद्भुत शब्द, संघटन, में है। पिण्ड एक जीव है, और एक जीव का विशेष गुण है, विचित्र धर्मों के समूह को पास में रखना, जिनमें दो स्पष्ट गुण हैं, **चिड़चिड़ापन** और **जनन**। जीव उद्दीपन के लिए जागरूक होता है और उसमें स्वतः जाति-संतनन की शक्ति होती है। किन्तु जीवों के पास भोजन के आधार पर विकास, समायोजन और स्वतः परिवेश में स्वतः अभियोजन, आत्म-पोषण और आत्मरक्षा करने का विशेष गुण भी होता है।

उपर्युक्त गुण सभी जीवों में पाए जाते हैं, किन्तु जब यह संघटन आगे बढ़ता है और हम बहुत जटिल और बहुत ही संकलित जीव पिण्डों पर आते हैं, तो और भी गुण दिखलाई देते हैं, जैसे संवेद्यता, मूल-प्रवृत्ति, चयनात्मक विकल्प, स्मृति, बुद्धि, और चेतना। पहले समूह के गुणों के जोड़ को हम **जीवन** का नाम दे सकते हैं; और सब गुणों के जोड़ को हम **जीवन** और **मनस्** नाम दे सकते हैं।

एक जीवविज्ञानविद् और मनोवैज्ञानिक इन जीवों के व्यवहार का अध्ययन करके और उनका वर्णन, वर्गीकरण और उनके विशेष गुणों की व्याख्या करके संतुष्ट होगा। किन्तु दर्शनशास्त्र का विद्यार्थी नहीं। उसे उसी जीवन और मनस् की प्रकृति की, और वह कैसे और क्यों उत्पन्न होते हैं, या कि वे नए प्रकार की सत्ताएँ हैं, या जीव-जगत् के सरल रूपों के ही केवल संयोजित रूप हैं, यह जाँच करने की और भी आवश्यकता है। इस संयोग में परमाणु और अणु हैं और ये अणु ही विभिन्न रासायनिक मिश्रणों की अपनी कुछ विशेष बन्धुता के अनुसार संयोजित हो जाते हैं। किन्तु ये रासायनिक संयोग जीवित पिण्डों में क्यों और

कैसे "संगठित" हो जाते हैं ? ये जनन और स्वतःपोषण जैसे आश्चर्यजनक गुण कैसे उत्पन्न होते हैं ? क्या यह किसी जीव सम्बन्धी **नियम** के कारण है जो अकार्बनिक संयोग के साथ **सम्बद्ध** कर दिया गया है ? क्या जीवन एक तरह की सत्ता है जो परमाणुओं और अणुओं के अलावा जी लेती है या वह केवल परमाणुओं और अणुओं का कार्य है ? या कि यह परमाणुओं और अणुओं के चलाए किसी **ढाँचे** या **रूप** का कार्य है ?

दर्शन के इतिहास में यह बात कई बार मानी गई है कि इस जीवन का कारण जीव सम्बन्धी नियम है, एक विशिष्ट उपादान है जिसे सब प्रकार के जड़तत्त्वों और यांत्रिक बलों से अलग किया जाना चाहिए। इस मत को **जैववाद**(vitalism) कहा गया है। इसी तरह की कुछ बात अरस्तू ने भी मानी थी जो प्रमुख जीव-विज्ञानविद् आज भी मानते हैं। किन्तु इसके विपरीत दूसरी ओर सभी शताब्दियों में कई विचारक, और भूत और वर्त्तमान दोनों कालों के जीवविज्ञानविद् इस तरह के जीव सम्बन्धी नियम या विशेष जैविक बल को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करते हैं और यह विश्वास करते हैं कि साधारण भौतिक और रासायनिक बलों की क्रिया के कारण ही जीवन होता है। इस मत को हम साधारण **यंत्रवाद** कहते हैं। यह उस सिद्धान्त से **समीपता से** सम्बन्धित है जिसे हमने प्रकृतिवाद के नाम से जाना है और जिसे प्रायः जड़वाद से संयुक्त किया जाता है।

जीव के यंत्रपरक संप्रत्यय

यंत्रवाद सभी कार्बनिक और अकार्बनिक प्रक्रियाओं के यंत्रवादी ढंग पर बल देता है। जीवन को समझाते समय, चाहे सूक्ष्म-जीवों, पशुओं या मनुष्यों का, यह आवश्यक है कि अकार्बनिक प्रकृति में दर्शाई हुई शक्तियों के अलावा कोई और वस्तुओं और शक्तियों को पहले से न मान लिया जाय, उदाहरणार्थ गोलों की चाल में या मिट्टी और चट्टानों की रचना, या रासायनिक मिश्रणों की रचना में। भौतिक और रासायनिक नियम जीवन के सभी प्रकार के रूपों, यहाँ तक कि मनस् के रूपों, को बतलाने के लिए पर्याप्त हैं, वे सबके सब जड़तत्त्व और गति के माध्यम से समझाए जा सकते हैं। वे अपने अन्तिम-विश्लेषण में **दिक् में घनीभूत कणों का चलन हैं**। उच्चतर कहे जाने वाले रूप अपनी संरचना की अधिक जटिलता से पृथक् किये जाते हैं; किन्तु वे कोई नवीन चीज़ों तथा किन्हीं अन्य शक्तियों को समाविष्ट नहीं करते। मनुष्य का शरीर अपने विलक्षण मस्तिष्क, अपने तंत्रिका-तंत्र और समस्त पौधों और पशुओं के क्षेत्र के साथ उन्हीं, कार्बन, ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, कैल्सियम और पृथ्वी, चट्टान और जल जैसे रासायनिक तत्त्वों में विश्लेषित किया जा सकता है। उनमें अकार्बनिक पिंडों में कार्य कर रही शक्तियों के अलावा कोई अन्य शक्तियाँ

वर्तमान नहीं होतीं। "जीव भौतिक-रासायनिक यांत्रिकता का एक सम्मिलित तंत्र है।" प्रकृति में सरलतम से लेकर जटिलतम तक सांतत्य बना रहता है। रासायनिक रूप से जटिल अकार्बनिक कोलायड हमारे लिए कार्बनिक कोलायड और फिर उससे आगे जीवन के उच्चतर स्तर में जाने के लिए सरल सोपान शिला की भाँति है।

इस मत के अनुसार जीवन को समझाने के लिए न कोई रहस्यमय जैविक बल पहले से मान लेना आवश्यक है और न ही विकास को उद्देश्यपूर्ण या प्रयोजनात्मक मान लेना आवश्यक है। हमें प्रकृति के कार्य में किन्हीं मानसिक संप्रत्ययों, आध्यात्मिक या मनोवैज्ञानिक बलों को, उद्देश्यों, प्रयोजनों, या मूल्यों की धारणाओं को अनावश्यक रूप से बीच में नहीं ले जाना चाहिए। इस प्रकार से जगत् की योजना अत्यन्त सरल हो जाती है।

इतिहास की दृष्टि से जीव का यांत्रिक सिद्धान्त प्राचीन यूनान के अणुवादियों से आरम्भ हुआ। उसको कोपर्निकस, गेलिलियो, डेकार्ट और न्यूटन के कार्यों से प्रेरणा प्राप्त हुई। उसका विस्तार, द्रव्य और गति से पुनर्वितरण के तरीके को बतलाते हुए, हर्बर्ट स्पेन्सर के विकास नियम से हुआ। डार्विन के प्राकृतिक चुनाव नियम से, जो नई पशु-जातियों की उत्पत्ति का कारण बतलाता है, उसकी खोज से इसे अत्यधिक बल मिला। हक्सले की पुस्तक **फिजिकल बेसिस आफ लाइफ** में इसे भरपूर संरक्षण मिला है। इस शताब्दी में इसका प्रतिपादन आचार्य लोयब ने अपनी पुस्तक **मेकेनिस्टिक कान्सेप्शन आफ लाइफ** में किया है। यही मत वर्तमान समय में अनेक जीवविज्ञानविदों ने अपने कार्य के लिए प्राक्कल्पना के रूप में स्वीकार किया है—बल्कि एक अंतिम दार्शनिक मत के रूप में। सरलता के नियम[1] के अनुसार वे भौतिक और रासायनिक बलों के अतिरिक्त दूसरे बलों को तब तक पहले से नहीं मानना चाहते जब तक ये दूसरे बल आवश्यक न सिद्ध हो जाएँ। जब जीवन को समझाने के लिए जीवन शक्ति के विद्यमान होने की बात जीववादी ज़ोरदार रूप में करते हैं, तो ठीक इस नियम का उल्लंघन होता है। मोलिरे ने इस प्रक्रिया का उपहास किया है और उसकी तुलना अफीम के निद्रा-उत्पादक प्रभाव की युक्ति से की है जिसके अनुसार अफीम में निद्रा लाने वाले गुण होते हैं। शब्दों द्वारा चीज़ों को समझाने की ठीक यही प्रकृति है जो आरम्भ से ही दर्शन की चिंता का कारण रही है। गेटे कहता है :

---

1. सरलता का नियम सर्वप्रथम चौदहवीं शताब्दी में पांडित्यवादी दार्शनिक ओकम के विलियम ने प्रतिपादित किया था। इस नियम का लेटिन रूप इस तरह है : "*Entia non sunt multiplicanda praeter necessitatem*" (सत्ताओं, नियमों या बलों का आवश्यकता से अधिक गुणन नहीं किया जाना चाहिए)। इसे अनेक अनावश्यक रूढ़िवादी नियमों या प्राक्कल्पनाओं के सिर पर लटकते हुए 'ओकम की तलवार' भी कहा जाता है।

विचारों की गरिमा भी हो जाती जहाँ पराजित
हो, वहीं करता शब्द काल ब्रह्म को अभिकंजित।[1]

किन्तु यंत्रवाद इससे भी आगे बढ़ता है। वह यंत्रवादी नियमों के आधार पर न केवल जीवन को किन्तु मनस् को भी समझाने का प्रयत्न करता है। विश्व तथा उसकी सत्ता सम्बन्धी दार्शनिक की परिकल्पनाएँ भी उतनी ही यांत्रिक और प्राकृतिक देन हैं जितना कि कोई बड़े इंजन का कार्य। मनुष्य और समाज, विज्ञान और कला, दर्शनशास्त्र और धर्ममीमांसा सभी यांत्रिक बलों की उत्पत्ति हैं और सभी यांत्रिक नियमों से संचालित हैं। मानवीय क्षेत्र भौतिक क्षेत्र का ही एक अंग है। मनोविज्ञान शरीर-क्रिया-विज्ञान में ही सम्मिलित है। विचार और भावनाएँ गति के ही रूप हैं और भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान परमाधिकारी विज्ञान हैं। मानसिक और सामाजिक प्रक्रियाओं में यांत्रिक नियमों की कुशल व्यावहारिकता का स्पष्ट वर्णन ए० पी० वाइज़ की पुस्तक **ए थ्योरेटिकल बेसिस आफ ह्यूमन बिहेवियर** में देखा जा सकता है।

कठिनाइयाँ

पहली झलक में जीव की यांत्रिक व्याख्या संतोषप्रद प्रतीत होती है। किन्तु कुछ गम्भीर कही जा सकने वाली आपत्तियाँ सामने लाई गई हैं, जिन पर अब हमें विचार करना चाहिए। यदि ये आपत्तियाँ जीवन की लगभग यांत्रिक व्याख्या को स्वीकार करने में अजेय कठिनाइयों को प्रस्तुत करती हैं तो हमें शीघ्रता में इससे यह मतलब नहीं निकालना चाहिए कि जैविक व्याख्या इससे कम कठिनाइयाँ प्रस्तुत करेगी। संभवतः हम इन दोनों सिद्धान्तों से नीचे उतर कर कोई समझौते के लिए समान धरातल को प्राप्त कर सकते हैं।

पहली कठिनाई जो हमारे सामने आती है वह यह है कि जब हम जीव विकास, जनन, मनस्, नैतिक नियम, समाज और स्वयं विकास को कुछ उन संप्रत्ययों के माध्यम से बतलाने का प्रयत्न करते हैं जो भौतिक और रसायन विज्ञान में उपयोगी माने जाते हैं, तो इन संप्रत्ययों में ऐसे अर्थ के जुड़ जाने का डर होता है जो उनकी परिधि में नहीं होता।

भौतिक विज्ञानों से प्राप्त संप्रत्ययों की संख्या बिल्कुल सीमित है जबकि समझाई जाने वाली सत्ताएँ बहुत कठिन हैं। कारण और कार्य (यंत्रवत् समवर्तता या केवल परिणामवत् व्याख्या के आधार पर) गतिमय द्रव्य कण, क्रिया और प्रतिक्रिया द्रव्य कणों के प्रभाव से, परिमाणात्मक रूप से निर्धारित प्रतिक्रिया, जैसे संप्रत्यय हमारे पास हैं। दृढ़ता से तो ऐसा प्रतीत होगा कि हम इसे आकर्षण

1. Denn eben wo Begriffe fehlen
Da stellt ein Wort zur rechtn Zeit sich ein.

और प्रतिकर्षण भी नहीं कह सकते। ये आलंकारिक शब्द हैं जो मानसिक जगत् से आयात किए गए हैं।

ये यांत्रिक संप्रत्यय, अब, जीवन के समृद्ध भाव की व्याख्या के लिए सर्वथा अपर्याप्त उपकरण प्रतीत होते हैं। ये वे संप्रत्यय हैं जिन्हें हमने द्रव्यमान पिंडों के वर्ताव को वतलाने के लिए उपयोगी पाया है। यह बात बिल्कुल स्पष्ट नहीं है कि हम जीवन और समाज की घटनाओं को समझाने के लिए इन संप्रत्ययों तक ही क्यों सीमित रहें। यहाँ तक भी स्पष्ट नहीं है कि हम इन संप्रत्ययों के द्वारा स्वयं विकास की घटना को कैसे समझाएँगे या कैसे उसका वर्णन करेंगे।

हर्वर्ट स्पेन्सर जीवन की परिभाषा इस तरह करते हैं कि "वह अन्तर् का बाह्य परिस्थितियों के साथ संतत अभियोजन है"। इस परिभाषा के अनुसार जीवन को यांत्रिक रूप से समझाना कठिन है; और चाहे यह परिभाषा पर्याप्त हो या नहीं, अभियोजन की शक्ति निःसन्देह ही जीवन में होती है। जीवन स्वतः अभियोजन, स्वतः पोषण, स्वतः रक्षण और स्वतः चलन करने वाला होता है। इस तरह की कोई बात यांत्रिक जगत् में नहीं होती। मशीनें स्वयं अभियोजन, पोषण, रक्षण या शाश्वत चालन नहीं करतीं। यंत्रवादी दार्शनिक जड़तत्त्व, गति, ऊर्जा, विद्युत् जैसे कुछ संप्रत्ययों को अन्तिम समझने में बहुत चाव रखते हैं। वे हमें भौतिक जगत् की अनेक घटनाओं को परिमाणात्मक ढंग से समझा लेने में सहायक होते हैं। किन्तु कुछ अन्य संप्रत्यय होते हैं जैसे **जीवन, मनस्, संघर्ष, संकल्प, आवेग, उत्कण्ठा, प्रयोजन, रुचि, मूल्य और सृजनात्मक विकास** जो अस्तित्व के अन्य क्षेत्रों को समझाने के लिए उपयोगी होते हैं और अनिवार्य प्रतीत होते हैं। यह कहना हठधर्मिता प्रतीत होता है कि हमें इन्हें या इनमें से कुछ को अन्तिम नहीं समझना चाहिए, किन्तु यह कि उन्हें भी यंत्रवादी वस्तुओं की तालिका में मिला दें।

मैं समझता हूँ कि वर्तमान समय में उन मान्यताओं पर प्रश्न करने की विशेष प्रवृत्ति देखी गई है, जो उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में बहुत साधारण मानी जाती थीं, कि मनुष्य, जीवन और मनस् को समझाने में भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान का कोई विशेष एकाधिकार है। वास्तव में एक अंग्रेज़ शरीर विज्ञानी, जे० एस० हाल्डेन ने इस क्रम को उलट दिया है।[1] वह कहता है, "भौतिक जगत् के सम्बन्ध में यह विचार कि वह जड़तत्त्व और ऊर्जा का स्वतः स्थित जगत् है एक ऐसी अस्थायी प्राक्कल्पना मात्र है जिसके द्वारा हम अपने अनुभव में बहुत मात्रा में व्यवस्था और सामंजस्य ला पाते हैं।" "यह प्राक्कल्पना जीवन के विषय को लेकर भंग हो जाती है।" जीवन की बात में सत्ता का एक दूसरा ही मौलिक

1. विशेष रूप से देखिए उसकी पुस्तक, *Mechanism, Life, and Personality* (John Murray, London), pp. 101, 104.

संप्रत्यय सम्मिलित होता है।" "जड़तत्त्व और ऊर्जा की धारणाओं की अपेक्षा जीवन की धारणा सत्ता के अधिक समीप है और इसलिए आदर्श जीव-विज्ञान ने यह पूर्वानुमान किया है कि अकार्वनिक चीज़ों को अंततः कार्वनिक में ढाला जा सकता है, और इस प्रकार भौतिक जगत् गहनतर सत्ता का वह प्रतीतात्मक रूप है जो अभी तक हमारी आँखों से छिपा हुआ है किन्तु जिसे वैज्ञानिक आस्था की दृष्टि से कुछ-कुछ देखा जा सकता है।" हाल्डेन का यह विचार है कि जैविक संप्रत्यय शीघ्र ही समस्त प्रकृति में फैलाए जा सकते हैं।

जे० आर्थर टॉमसन ने यह विश्वास किया कि "भौतिक विज्ञान के सूत्र पिण्डों के प्रतिदिन के कार्यों, या उनके वर्ताव, उनकी बाढ़ या विकास का पुनर्विवरण देने के लिए पर्याप्त नहीं है।" वे "स्पष्टतः जैविक प्रश्नों का उत्तर देने के लिए पर्याप्त नहीं हैं।" जीव-विज्ञान में हमें नए संप्रत्यय चाहिएँ—जैसे एक ऐसे ऐतिहासिक जीव का संप्रत्यय जिसने समय के साथ कदम मिलाए हों और उसके अनुभव और प्रयोग दर्ज किए हों और जिसकी जिज्ञासा वृत्ति हमेशा ही भविष्य की ओर झुकी हुई हो।"[1]

सच तो यह है कि कोई भी ऐसा विशेष गुण नहीं बतलाया गया है जो जैविक द्रव्य और अजैविक द्रव्य में भेद कर सके। हम तो इतना ही कह सकते हैं कि जीवित वस्तुएँ **बढ़ती** हैं वे भोजन के लिए उपयुक्त वस्तुओं को **अपनाती** तथा अनुपयुक्तों का बहिष्कार करती हैं, वे परिवेश के अनुसार अपने को **अभियोजित** करती हैं; वे उद्दीपन के लिए **सचेत** होती हैं; वे स्वयं अपनी **रक्षा** करती और संतति चलाती हैं; किन्तु हमारे पास इन ताकतों का स्वयं उनकी शब्दावली से भी सरल कोई और विवरण नहीं है। हम लोगों ने संतति के **तरीकों** और वंशानुक्रम के **नियमों** के सम्बन्ध में बहुत कुछ सीखा है। हम मेन्डल के नियमों के अनुसार यह वर्णन कर सकते हैं कि किस तरह कुछ लक्षण जिन्हें हम एकक लक्षण या जीन कहते हैं अपनी संतानों में फैले रहते हैं। हम अपने शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी यंत्रों से कोषों के विभाजन के सूक्ष्म भेदों को जान सकते हैं। हम गुणसूत्रों की, यहाँ तक कि वर्णसूत्रों की, गणना केंद्रकों में कर सकते हैं और उनके विभाजन का निरीक्षण कर सकते हैं। हम यह कल्पना कर सकते हैं कि जीवकोष में कछ अलग "कारक" या "जीन" होते हैं, जो जीव के होने वाले अनेक अंगों के साथ एक निश्चित रूप से सम्वन्धी रहते हैं। किन्तु इस रहस्य को अतिसूक्ष्म ढाँचों की ओर ढकेल देने से रहस्य कम नहीं हो जाता; हम एक कोष का विभाजन दो कोषों में होते देख सकते हैं; किन्तु न तो हम यह जान सकते हैं कि उसका विभाजन क्यों होता है और न ही यह कि किस प्रकार मातृ कोष अपने पितृ कोष के रूपों को वंशागत करता है। "समष्टि रूप से देखने से यह मालुम होता है कि कोषों के अध्ययन से

1. *The System of Animate Nature* (Henry Holt and Company), I, pp. 143—60.

वह विस्तृत खाई, जो आकर्बनिक जगत् से छोटे से छोटे जीव के प्रकार को अलग करती है, संकीर्ण होने के बजाय और अधिक चौड़ी हुई है।"[1]

किन्तु यन्त्रवादी योजना की दूसरी गम्भीर कठिनाइयाँ हमारे सामने आती हैं। उदाहरण के लिए, एक बात तो यह है कि जो साधारणतः लोग नहीं समझ पाते कि यंत्रवाद में कोई ऐसा **व्यवस्थापक** या **निदेशात्मक अभिकरण** नहीं है जो विकासवादी प्रक्रिया को बोधगम्य बना सके। यंत्रवाद, अपने चरम स्वरूप में जीव के छोटे से छोटे जीव द्रव्य से लेकर मनुष्य के जटिल शरीर तक का विवरण सम्मिलित करता है, ऐसा द्रव्यकणों के दिक् में आकस्मिक मिलन से होता है। हम यह भी नहीं कह सकते कि वे जीव सम्बन्धी प्रक्रियाएँ द्रव्यकणों की गति के विशेष लक्षणों के कारण होती हैं, क्योंकि समस्त गति सामान्य यांत्रिक नियमों के अनुरूप ही होनी चाहिए। किन्तु इन कणों का एक विशेष सम्बन्ध हो जाता है और इन विशेष सम्बन्धों में ही जीवन बनता है और ये विशेष सम्बन्ध या परमाणुओं और अणुओं के तारा-मंडल आकस्मिक होते हैं। इस प्रकार, जीवन केवल एक आकमिक घटना या इससे भी बढ़कर ब्रह्माण्डीय **विकास की एक आकस्मिक घटना है**। वास्तव में, तो **ब्रह्माण्डीय विकास** शब्द का प्रयोग भी असंगत प्रतीत होगा, क्योंकि विकास शब्द में ही क्रमिक उन्नति, परिवर्तन या विस्तार होने का भाव निहित है। हमें, केवल ब्रह्माण्डीय बदलाव ही कहना चाहिए था। यांत्रिक धारणा की दृष्टि से जगत् भौतिक जड़तत्त्व ऊर्जा में ढका हुआ या शक्य रूप में वर्त्तमान होना असंगत नहीं होगा और न ही उसका चेतन अथवा अचेतन रूप से किसी ध्येय, प्रयोजन अथवा उद्देश्य की ओर बढ़ने के सम्बन्ध में सोचना संगत है। मालूम होगा कि एक दृढ़ यंत्रवादी को यह मान लेना चाहिए कि समस्त जीव-जगत् जड़तत्त्व के अणुओं में आकस्मिक समूहीकरण से बना है।

और वास्तव में यही बात है जो एक प्रबल यंत्रवादी मानता है तथा एक बहुत स्पष्ट कारण के साथ। उसने कहा कि जब से पृथ्वी का धरातल जीव के रहने के योग्य हुआ है तब से उसकी लम्बी अवधि को याद रखना चाहिए जिसमें प्रत्येक संयोग का अवसर देते हुए केवल उन्हें ही जीवित रहने दिया गया जो परिवेश के उपयुक्त सिद्ध हुए।

पहले पहल तो यह पूरी तौर से अविश्वसनीय प्रतीत होता है। यदि हम अणुओं के रासायनिक सूत्रों की विलक्षण जटिलता की याद करें, जिनसे जीव कोष बनते हैं, तो आकस्मिक रूप से ऐसा समूहीकरण हो जाना असम्भव प्रतीत होगा। यह ऐसा ही होगा जैसे यदि कोई व्यक्ति रविवार के समाचार-पत्रों में से सबसे मोटा पत्र लेकर उसके हर शब्द को अक्षरों में काट ले और हर खाली

---

1. E. B. Wilson, *The Cell in Development and Inheritance*, p. 434.

जगह, विराम चिह्नों और बड़े अक्षरों को काटकर उनके टुकड़ों को अच्छी तरह से मिलाकर रख ले और फिर एक-एक करके टुकड़ों को उठाकर उन्हें एक रेखा में यह जानने के लिए अनंत बार रखता जाए कि वे अपने मूल रूप में जाएँ और प्रत्येक अक्षर, बड़ा अक्षर विराम चिह्न और खाली स्थान अपनी पहले की जगह पर लग जाए। किन्तु यंत्रवादी इस उदाहरण को स्वीकार करता है और दृढ़ता के साथ कहता है आकस्मिकता के तर्क के अनुसार हर संभव संयोग अवश्य घटित होना चाहिए और ठीक यही बात अवश्य होगी। इसीलिए प्रकृति में भी भू-विज्ञानी काल के आधिक्य से जीव में पाए जाने वाले अणुओं और परमाणुओं के संयोग हुए होंगे—यह ऐसा मत है जो इस तथ्य से भी पुष्ट होता है कि भू-विज्ञानी निरन्तर ही अपने भू-वैज्ञानिक काल की अवधि बढ़ा रहे हैं। स्पष्ट है कि सभी कुछ, "हो जाने" के लिए पर्याप्त समय है।

किन्तु इस तरह सरलता में समस्या हल नहीं की जा सकती। यह कल्पना कर सकना सम्भव है कि रासायनिक सूत्र चाहे जितना जटिल हो अकार्बनिक कणों के आकस्मिक समूहीकरण से कालांतर में जीव द्रव्य का अंश उत्पन्न हो गया हो; किन्तु इस विवरण से भारी कठिनाइयाँ तब प्रतीत होती हैं जब हम उनके निहितार्थों पर विचार करते हैं। यदि जीव कोषों में वर्तमान अकार्बनिक तत्त्वों का आकस्मिक रूप से केवल समूहीकरण हो जाता तो क्या समूह भी जीवित वस्तु हो जाता? क्या उसमें संतानोत्पत्ति, आत्मरक्षा, भेदभाव, और स्वतः चालन की शक्ति हो जाती? उसके आगे और जटिल समूहीकरण होने पर क्या उसमें संवेदनशक्ति, विचार और भावना, और स्वयं प्रकृति पर नियंत्रण करने की ताकत उत्पन्न हो सकती है? क्या समस्त जीव जगत् में पाई जाने वाली विशेष उत्तेजना तत्त्वों के आकस्मिक समूहीकरण से उत्पन्न गुणों से भी अधिक किसी प्राचीन बात का संकेत नहीं करती?

हमारे जीवविज्ञानविदों में यह मत मान्य है कि कार्बनिक की उत्पति विकास की धीमी प्रक्रिया द्वारा अकार्बनिक से हुई; किन्तु मैं विश्वास करता हूँ कि यह बात सर्वमान्य नहीं है कि उसकी उत्पत्ति आकस्मिक है। सम्भवतः अधिकांश जीवविज्ञानविद् इसकी पुष्टि करने में हिचकिचाएँगे; कई तो इसके विरुद्ध मत रखेंगे। उदाहरण के लिए बेन्जामिन मूर कहते हैं, "पुराकल्प में हमारी प्राचीन पृथ्वी माता के गर्भ में जीवन सहसा आकस्मिक संयोग और ब्रह्माण्डीय धूल के कारण नहीं आया है, वरन् सुव्यवस्थित, क्रमिक विकास, जो विश्व की हर पृथ्वी माँ में अपने सृजन की प्रौढ़ावस्था में होता है, परिस्थितियों के समुचित सीमा में आ जाने पर आ जाता है।"[1]

कुछ ऐसा ही निष्कर्ष हार्वर्ड विश्वविद्यालय में जैविक रसायन के प्राचार्य

1. *The Origin and Nature of Life* (Henry Holt and Company, Home University Library), p. 190.

हेन्डर्सन ने बहुचर्चित पुस्तक में निकाला है। उनकी युक्ति यह दर्शाती हुई प्रतीत होती है कि पृथ्वी पर जीवन आने की बात हम चाहे जैसे भी समझाएँ किन्तु वह आकस्मिक घटना का परिणाम नहीं है, किसी गहरे बैठे हुए नियम अथवा अभिवृत्ति के कारण है जिसके स्वभाव से हम अनभिज्ञ हैं। उनके विचार से जगत् जीव-केन्द्रिक है जो जीवन की उत्पत्ति के चारों ओर केन्द्रीभूत है ?[1]

जीव की स्वायत्तता

जब हम कार्यों की पुनरास्थापना और पशुओं में खोए हुए अंगों के पुनरुत्पादन जैसे तथ्यों पर विचार करते हैं तो हम देखते हैं कि जीवन-प्रक्रिया को द्रव्य और गति की शब्दावली में उन्हें समझानी कितना कठिन होता है। जब जीव का एक अंग चोटग्रस्त हो जाता है तो सामान्यतः अन्य कार्य करने वाला दूसरा अंग उस चोटग्रस्त अंग का कार्य अपने ऊपर ले लेता है। तारामीन (starfish) के मामले में, जब उसकी एक भुजा काट दी जाती है बाकी जीव सफलता से खोए हुए अंग के पुनरास्थापन का कार्य ले लेता है। पशु को आत्म-रक्षा के निमित्त संकटकालीन स्थिति का सामना करना होता है और वह उसके अनुरूप सिद्ध होता है।

इसका मतलब यह हुआ कि यांत्रिक विज्ञानों का शब्द कोष जीवों के बर्ताव के लिए ठीक नहीं बैठता। जीव स्वयं शामिल और अपने नियम और शब्दावली रखने वाला है। जीवन पृथ्वी की सतह के हर कोने में, समुद्रों की गहराई में, दक्षिण ध्रुव की मोटी बर्फ में, गर्म झरनों में, पर्वत शिखरों पर और शुष्क मैदानों में धैर्य और कभी न थकने वाले साहस के साथ प्रतिरोधी है। जीवन संघर्ष है। उसमें परिवेश के साथ संघर्ष करने और बने रहने, परिस्थितियों के साथ अपने को अभियोजित करने की सामर्थ्य है। यह जीने का संकल्प, अन्तर् का बाह्य परिस्थितियों के साथ निरंतर अभियोजन करना है। "समरतंत्र और युद्धनीति उसके उपकरण हैं।" वह आविष्कारक है, और जैसे बर्गसा कहता है : "अपने अनुकूलन के समय भी वह आविष्कार होता है।" जीव अपने उपयुक्त भोजन को ढूँढ़ने में और जो इसके उपयुक्त नहीं होता उसे रद्द करने में चयनात्मक होता है।

उदाहरण के लिए, कुत्ते के खरोंच प्रतिवर्त का कार्य के मूल भौतिक-रासायनिक तत्त्वों का हवाला देते हुए तत्त्ववादियों के सिद्धान्त के माध्यम से समझाने का प्रयत्न कीजिए। उन सबको एक साथ मिला दो, किन्तु अन्त में आप देखेंगे कि किसी बात की कमी ही है। सरल तत्त्वों और प्रतिवर्त के

1. Lawrence J. Henderson, *The Fitness of the Environment* (मेकमिलन कम्पनी के प्रकाशकों की अनुमति से) तथा, *The Order of Nature* (The Harvard University Press).

बीच किसी बात का व्यवधान है और वह कुछ बात है कुत्ता। दूसरे शब्दों में जड़तत्त्वों और भौतिक और रासायनिक प्रक्रियाओं के साथ-साथ कुछ और भी है जो वास्तविक है, अर्थात् जीव जिसमें स्वरूप, व्यवस्था और समाकलन सम्मिलित हैं।[1]

प्राणतत्ववाद

अब क्या कोई ऐसा मार्ग है जिसके ज़रिये जीव के यंत्रवादी सिद्धान्त की उलझन पैदा करने वाली कठिनाइयों का सामना किया जा सके ? क्या "प्राण-तत्ववाद" नामक सिद्धान्त कुछ बेहतर है ? चलिए अब हम समस्या के इस प्रस्तावित हल पर विचार करें।

प्राणतत्ववाद अपने सबसे अपरिष्कृत रूप में यह सिद्धान्त है कि जीवन "प्राण नियम" नामक अभौतिक बल या सत्ता का परिणाम है। यह सिद्धान्त पीछे अरस्तू के समय से मिलता है जिसने आत्मा को प्राण नियम या जीवन का स्रोत और उद्‌गम माना है। पेड़-पौधों में कायिक आत्मा, पशुओं में कायिक, संवेदनात्मक आत्मा होती है, जबकि मनुष्य की आत्मा कायिक, संवेदनात्म और विवेकात्मक होती है। अरस्तू के पश्चात् मध्यकालीन युग में सामान्यतः यह विश्वास किया जाता था कि जड़तत्त्व से नितान्त भिन्न जीवन का कोई मनो-वैज्ञानिक या आध्यात्मिक नियम है।

किन्तु देकार्त का मत था कि पौधे और पशु पिंड शुद्ध सरल मशीनें हैं जो भौतिक शक्तियों से प्रभावित होती हैं। मनुष्य का शरीर इस नियम का अपवाद नहीं है, किन्तु मनुष्य के मामले में आध्यात्मिक आत्मा होती है जो शरीर पर कार्य करती है। देकार्त के पश्चात् यांत्रिकता के इस नियम का विस्तार आत्मा को छोड़कर मनुष्य के पूरे व्यक्तित्व में करना सरल था; और वैज्ञानिक क्षेत्रों में कई मामलों में पौधों या पशु पिण्डों में निहित "प्राण नियम" की धारणा या किसी आध्यात्मिक सत्ता का उपवास करने की प्रथा हो गई। वैज्ञानिक क्षेत्रों में यंत्रवादी अभिवृत्ति की परम्परा बन गई है, ताकि वर्त्तमान समय में जीव-विज्ञान की प्रयोगशालाओं में प्राण नियम के संप्रत्यय पर हँस देना निश्चिय ही अच्छा समझा जा सके। ऐसे नियम का किसी भी तरह प्रयोगात्मक परीक्षण नहीं किया जा सकेगा और उसका वैज्ञानिक प्रदर्शन नहीं किया जा सकेगा।

इन परिस्थितियों में वैज्ञानिक क्षेत्रों में हाल ही में हुए "प्राणतत्ववाद" का पुनरुज्जीवन होना महत्त्वपूर्ण है। इस "नव्य प्राणतत्ववाद" के नेता एक जर्मन जीवविज्ञानविद् हान्स ड्रीश हैं। ड्रीश, जिनके निष्कर्ष प्रयोगात्मक कथनों पर आधारित हैं, पूर्ण रूप से सहमत हैं कि जीवन यान्त्रिकता के आधार पर नहीं

---

1. W. E. Ritter, *The Unity of the Organism*, chap. XXI, विशेष रूप से देखिए पृष्ठ 198 ff.

समझाया जा सकता। वे कहते हैं—

> किसी एक भौतिक और रासायनिक कार्य वाले तारा-मण्डल पर आधारित कोई भी दुर्घटना कार्बनिक व्यक्ति की वृद्धि को नहीं बतला सकती; यह वृद्धि भौतिक और रासायनिक कारकों के संरूपण की किसी भी प्राक्कल्पना द्वारा नहीं समझायी जाती है।......जीवन, कम से कम संरचना विकास, अकार्बनिक घटनाओं की विशेष व्यवस्था नहीं है; इसलिए जीव-विज्ञान, व्यावहारिक भौतिकी या रसायन नहीं है; जीवन कुछ अलग चीज़ है और जीव विज्ञान एक स्वतंत्र विज्ञान है।[1]

ड्रीश आगे यह विश्वास करते हैं कि जीवन का कारण कोई अपदार्थ कारक विद्यमान होना है जिसमें वे इंटेलेकी का अन्तःअस्तित्व और कभी आत्मकल्प का नाम देते हैं। इस शब्दावली का प्रथम शब्द अरस्तू से लिया गया है और उसका अर्थ है पूर्णांक नियम; और दूसरा शब्द लेखक के इस विश्वास की ओर संकेत करता है कि "प्राण नियम" अपने स्वभाव में मानसिक है। जबकि कई जीवविज्ञानविद्—उनमें बहुसंख्यक—प्राण नियम के पुनरुत्थान के रहस्यवाद की पुनरुत्पत्ति मानते हैं फिर भी जीवविज्ञानविदों, प्राणिविज्ञानियों और जीवाश्मविज्ञानियों को अचरज में डालने वाली बड़ी संख्या ने लगभग पूरी तौर से नव्य प्राणतत्ववादी स्थिति अपना ली है।

नवीनतर प्राणतत्ववाद

बहुत हद तक नव्य प्राणतत्ववाद, ड्रीश और उनके मतावलंबियों से कुछ भिन्न रूप ग्रहण करता है। प्राणतत्ववाद शब्द, जैसा कि वह कई लोगों को जर्जर रहस्यवादी सिद्धान्त होने का आभास देता है, टाल दिया गया है। किन्तु एक आरम्भिक विज्ञान, या अकार्बनिक द्रव्य में निहित आवेग की ऐसी अनिवार्यता, जो कार्बनिक विकास की अग्रगामी गति को बतलाएगी, जीवविज्ञानविदों की बढ़ती हुई संख्या द्वारा मानी जाती है।[2]

कभी-कभी यह कार्बनिक जीवन की परिधि में इच्छाशक्ति के प्रयोग संबंधी नियम का रूप भी ले लेता है, उदाहरण के लिए, डार्विन का "अस्तित्व के लिए संघर्ष", नेगेली का "पूर्णता को उन्मुख आन्तरिक कारक"[3] या गेडिस और टाम्सन

---

1. Hans Driesch, *The Science and Philosophy of Organism* (Gifford Lectures, 1908), p. 142. अभी हाल में लिखे उनके एक और अध्याय से तुलना कीजिए, शीर्षक है "The Breakdown of Materialism" in *The Great Design*, Frances Mason द्वारा संपादित (The Macmillan Company, 1934)।

2. जे० एस० हाल्डेन और जे० आर्थर टाम्सन की कृतियों से तुलना कीजिए। और पूर्व पृष्ठ 101, 102 भी देखें।

3. उनका *Vervollkommnungsprinzip*.

का "उत्पत्त्यात्मक आवेग"।[1] एल्बर्ड पी० मैथ्यूज ने इसे "स्वतंत्रता आन्दोलन" कहा है। वह कहता है कि जीवन का वृक्ष "मन:स्थलीय" है जो ऊपर मनस् की ओर उन्मुख है। आदिम अवपंक में जहाँ से समस्त जीवन आरम्भ होता है ऐसी **क्षमता** है जिस पर यंत्रवादी ने ध्यान नहीं दिया है। यह क्षमता है परिवेश के विरुद्ध संघर्ष करने की। और यही मात्र जीवन का तत्त्व है। संघर्ष ही जीवन है।

> जबकि विकास एक तथ्य के रूप में स्थापित हो चुका है······जीवन की वह बढ़ती हुई लहर जिस पर नेप्ट्यून की भाँति मनुष्य सवार है अभी तक नहीं समझाया जा सका है या कम से कम ठीक से नहीं समझाया जा सका है···। एक मार्ग के स्थान पर एक प्रक्रिया मानकर विकास परिवेश के साथ जीवन का संघर्ष है; स्वतंत्रता के लिए संघर्ष, जो मनस् और व्यष्टित्व पर विजय प्राप्त करने के लिए अनुप्रेरित करता है; यह अपने अन्तर् में द्रव्य से ऊपर उठने का आत्मा का संघर्ष है ताकि द्रव्य के अवरोध से छुटकारा मिल सके और अधिक व्यक्तिगत जीवन और व्यापक स्वतंत्रता मिल सके।[2]

जॉन बोरो का कथन था कि, जिसे वे व्यवस्थापक नियम बतलाते हैं, ऐसी कोई बात हमें कार्बनिक जगत् में मान लेनी चाहिए। वे कहते हैं कि "प्राकृतिक वरण सृजनात्मक नहीं वरन् विशुद्ध यान्त्रिक प्रक्रिया है।" "संयोग या संयोगीकरण भी कार्बनिक और अकार्बनिक क्षेत्र में इसी तरह कार्य करता है किन्तु वह अकार्बनिक में कोई नई चीज़ पैदा नहीं करता उसमें वृद्धि का कोई नियम या व्यवस्थापक ज़ोर नहीं है जो कि एक व्यवस्थित द्रव्य में होता है, इस सारी व्यवस्थापना के पीछे और उसके अन्तर् एक उन्नतिशील नियम या अभिवृत्ति होती है; यह जीवित शक्ति अन्य स्वरूपों की ओर अग्रसर होने में सचेष्ट रहती है; दूसरे शब्दों में उन्नति होती है, क्योंकि उन्नति करने के लिए कुछ चीज़ है। जैतून वृक्ष का फल बढ़ता है जब कि एकटिक पत्थर केवल बदलता रहता।"[3] कभी-कभी हम विशेष बल या ऊर्जा के बारे में भी सुनते हैं जिसकी तुलना उदाहरणार्थ जीवीय ऊर्जा जैसे बल, जो बैंजामिन मूर और जे० एम०, मेकफार्लेन द्वारा मान्य है, के साथ की जा सकती है। ये सब बातें "अन्तर्निहित जीवन-शक्ति" का स्मरण कराती हैं, वैसी ही जिस पर गेटे विश्वास करता था या वह जीवन-शक्ति जिसका

---

1. हमें बाध्य होकर जीव में किसी उत्पादक आवेश के बने रहने को स्वीकार करना पड़ता है जो अपने आपको बदलाव, परिवर्तन और सभी प्रकार के कार्यों और प्रयत्नों में व्यक्त करता है। *Evolution*, Home University Library, p. 202.

2. Albert P, Mathews, "The Road of Evolution", *Yale Review*, January, 1922, pp. 340, 344, and 346.

3. John Burroughs, *Accepting the Universe* (Houghton Mifflin Company), p. 209.

बर्नाड शा ने ज़िक्र किया है।

पुनः इस आन्तरिक इच्छा, बल या नियम का ज़िक्र कुछ-कुछ मनस् की ही भाँति या कम-से-कम अल्पविकसित मनस् की ही भाँति किया गया है। जैसा कि प्राणिविज्ञान, इम्पीरियल कालेज आफ साइंस लन्दन के प्राचार्य मेक ब्राइड लिखते हैं, "अतः अन्त में हम एक प्रमुख भौतिकीविद् के मत का समर्थन कर सकते हैं। 'प्रत्येक जीवित वस्तु में जड़तत्त्व से घिरा हुआ द्रव्य के नियमों का पालन करने वाला मानसिकता का एक केन्द्र होता है।' 'मानसिकता' को यदि हम निम्नतम स्तर पर स्मृति या संघर्ष करना भी बतलाएँ तो भी उसकी उत्पत्ति के रहस्य में कोई अन्तर नहीं आता।" वह विश्वास करते हैं कि सभी जीवित द्रव्य "कुछ ऐसे गुणों से युक्त होते हैं जो कि विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करने तथा अपनी उन्नति का नियन्त्रण करने में समर्थ होते हैं।"[1]

तथापि इन सभी प्राणतत्ववादी अथवा नव्य प्राणतत्ववादी विचारों का ज़ोरदार रूप से कई जीवविज्ञानविदों ने मुकाबला किया है, जो यन्त्रवादी नियमों के आधार पर पूरी तरह न समझाए जा सकने के कारण किसी भी बल, नियम या आदिम अवयव को स्वीकार नहीं करते। तो क्या हम जीवन की उत्पत्ति और स्वभाव के गम्भीर प्रश्न पर दो विपरीत मतावलंबी जीवविदों को एक साथ मानेंगे ? सम्भवतः एक बीच का मार्ग भी है जो प्राणतत्ववाद और यन्त्रवाद दोनों में निहित सत्य को स्वीकार करता है।

स्तरों का सिद्धान्त

चलिए हम कल्पना कर लें कि जीवन का रहस्य संगठन की प्रक्रिया में—उसकी संरचना में—प्राप्त होता है। इसलिए जीवन एक प्रकार के निर्जीव तत्त्वों के संगठन की उत्पत्ति होगा। जीवित पिण्ड सरल अकार्बनिक तत्त्वों का बहुत ही व्यवस्थित, बहुत ही जटिल और बहुत ही समाकलित रूप है। जीवित पिण्ड में प्राण नियम या कायिक अथवा संवेदनात्मक आत्मा कहे जाने वाले रहस्यमय तत्त्व नहीं रहते। जीवांगों में कोई आत्मा या प्राण-स्फुलिंग जीवन का कारण नहीं है—या शक्ति, बाढ़ और सन्तति जनन को बढ़ावा देते हों। ये बातें तो संगठन और संरचना की उत्पत्ति हैं।

जैविक विकास, इस तरह, **सृजनात्मक संश्लेषण** की पद्धति से आगे बढ़ेगा। सृजनात्मक संश्लेषण का अर्थ इससे अधिक कुछ नहीं है कि संश्लेषण होता है और उसके बाद नवीन प्रक्रियाएँ, शक्तियाँ अथवा क्रियाएँ दृष्टिगत होती हैं अर्थात् उनका सृजन होता है। **स्तरों का सिद्धान्त** ने जीवन और मनस् की समस्या पर

1. "The Oneness and Uniqueness of Life" in *The Great Design* edited by Frances Mason (The Macmillan Company, 1934), pp. 133—58.

बहुत प्रकाश डाला है। इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन परमाणुओं में संगठित होते हैं। परमाणु अणुओं में, अणु कोषों में और कोष जीवित पिण्डों में संगठित होते हैं। और संगठन के प्रत्येक नवीन स्तर में नए गुण दिखाई देते हैं जो अपने स्वभाव से नए गुण सृजन हैं क्योंकि वे संगठित तत्त्वों के सभी गुणों को इकट्ठा करके भी प्राप्त नहीं किए जा सकते। ऑक्सीजन और हाइड्रोजन जल के एक अणु में संगठित होते हैं जिसमें ऐसे गुण होते हैं जो न तो ऑक्सीजन में होते हैं न हाइड्रोजन में और जिसका प्राक्कथन इन दोनों तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान होने पर भी नहीं किया जा सकता था। जल प्यासे पौधों को पुनर्जाग्रत करता है और एक निश्चित तापमान के होने पर जम जाता है। ऐसा ऑक्सीजन और हाइड्रोजन में नहीं होता जिनसे यह निर्मित होता है। जल में ऑक्सीजक और हाइड्रोजन के अन्यथा कुछ और भी है, उसमें संरचना होती है। जलाणु तुलनात्मक दृष्टि से सरल होता है किन्तु उदाहरण के लिए, जैसे कोलायड के अणु विशेष रूप से जटिल होते हैं और उनके विशेष गुण होते हैं और अन्त में जटिल अणुओं की विलक्षण रूप से जटिल संरचना आती है जिसे हम जीवित द्रव्य कहते हैं और वहाँ नए गुणों की एक श्रृंखला पैदा होती है, जैसे वृद्धि, स्वांगीकरण, उत्तेजनशीलता, अनुकूलशीनलता और जनन। ये किन्हीं भी गुणों के योग से प्राप्त अद्‌भुत गुण नहीं हैं जिनसे संरचना होती है। ऐसे उदाहरण में दो का योग चार नहीं होता। संगठन से ही नए रचित गुण उत्पन्न होते हैं।

जो हम विकास के सोपानों में ऊपर चढ़ते हुए देखते हैं वह है **द्रव्य का रूप** ग्रहण करना, संरचना और संगठन ग्रहण करना और इन नवीन रूपों के परिणामों के रूप में हम नवीन और "विचित्र" शक्तियों के सृजन का अवलोकन करते हैं। वास्तविकता के प्रत्येक नए स्तर पर नए गुण, नई शक्तियाँ और नई क्षमताएँ प्राप्त होती हैं। यह उन यान्त्रिक अनुक्रमों से नितान्त भिन्न एक फूलने-फलने की प्रक्रिया होती है जिसका अवलोकन हम भौतिकी जगत् में करते हैं। नवीन सत्ताएँ प्रत्येक नए स्तर पर उत्पन्न होती हैं। **जीवन** इन सत्ताओं में से एक है।

> "अतः किसी नए कर्मक—अद्रव्य और अप्रत्यक्ष के प्रक्षेपण की इच्छा करने के बजाय—हम इस तथ्य को यह कहकर व्यक्त करते हैं कि जीवन को, द्रव्य और गति की शब्दावली में यह कहकर नहीं समझाया जा सकता कि सब जीव जिन्हें हम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जीव द्रव्य के संस्थितों की भाँति जानते हैं निर्धारण यान्त्रिक से परे सत्ता के नए पहलुओं को व्यक्त करते हैं।"[1]

वर्तमान में जो कुछ है उसके आधार पर हम नहीं कह सकते कि

---

1. J. Arthur Thomson, *The System of Animate Nature* (Henry Holt and Company), I, p. 168.

भविष्य में क्या होने वाला है क्योंकि हम नहीं जानते कि जिस समय अन्य मानसिक अवस्थाएँ उत्पन्न हो जाएँगी, दूसरे संवेदन, उद्देश्य और विचार होंगे उस समय कार्य के नियम और गति के नियम क्या रहेंगे। विश्व नई-नई वस्तुएँ उत्पन्न करता है; जहाँ पहले कुछ भी नहीं था, वह संवेदनों, संवेदनों और विचारों को उत्पन्न करता है, जैसे-जैसे समय बीतता है वह नई-नई मानसिक अवस्थाएँ उत्पन्न करता है और इनके साथ वह कार्य की नवीन प्रणाली भी पैदा करता है। यह सत्य नहीं है कि जो वस्तु अब तक है आगे रहेगी और जो चीज़ की जा चुकी है आगे भी की जाएगी और समस्त विश्व में कोई नई वस्तु नहीं है। इसके विपरीत नई वस्तुएँ और कार्य करने की नई पद्धतियाँ उस प्रक्रिया में आती ही रहती हैं जिसे हम विकास कहते हैं।

हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जब सुनिश्चित मानसिक अवस्थाएँ वर्तमान होती हैं तो कार्य करने के नियम और गति के नियम उस स्थिति से तुलना में भिन्न होते हैं जब मानसिक अवस्थाएँ वर्तमान होती हैं और उनकी जो कार्य करने की प्रणाली होती है। यह जगत् के सम्बन्ध में जैव दृष्टिकोण से हमारे लिए मौलिक नियमों में से एक है। वह आगे के हमारे सभी निष्कर्षों को प्रभावित करता है।[1]

जीवों में किसी रहस्यमय "प्राणत्व नियम" या "जीवन शक्ति" के विद्यमान होने के कारण जीवन नहीं होता। वह संगठन के विकास की उत्पत्ति है। मौलिक अकार्बनिक तत्त्व जीवित नहीं थे; किन्तु कार्बनिक सम्पूर्णता अथवा एकता में परिणत होते हुए वे अंगीय रूपों के नये सम्बन्धों अथवा अभिकल्पों में लाए गए, जिसके कारण उनमें बढ़ने की योजना को अंगीकार करने की और जनन की नई और विचित्र शक्ति उत्पन्न हुई—और समय के साथ इंद्रियों से अनुभव करने, सचेत होने, सोचने और तर्क करने की महत्त्वपूर्ण सामर्थ्य भी पैदा हुई।

यह स्पष्ट है कि स्तरों का सिद्धान्त एक ओर तो जीवन और मनस् के बीच स्थित सम्बन्धों पर और दूसरी ओर अकार्बनिक द्रव्य जगत् पर नया और रहस्योद्घाटन करने वाला प्रकाश डालता है। वह हमारा ध्यान द्रव्यकणों के भौतिक और रासायनिक सम्बन्धों की गति के बजाय समस्त विकासवादी प्रक्रिया की ओर ले जाता है। स्तरीय सिद्धान्त में हमारा परिचय विकास नामक विषय से कराया जाता है जिसका अध्ययन हम आगे आने वाले अध्यायों में करेंगे और विशेषकर उन प्रकारों का जिन्हें सृजनात्मक या उद्गत विकास के नाम से पुकारा जाता है। इसी प्रसंग में हमारा ध्यान अधिभूतोपासनावादियों के सिद्धांत के अन्तर को बतलाने के लिए तुलना में प्रकृति के कार्बनिक और अकार्बनिक

1. H. S. Jennings, *The Universe and Life*, (Yala University Press, 1933), pp. 47, 48.

सिद्धान्त की ओर दिलाया जाता है। विद्यार्थियों को इस आंदोलन का अध्ययन मौलिक स्रोतों से करना चाहिए जैसा कि बर्गसां, सेलर्स, एस० अलेक्ज़ेन्डर और सी० लायड मॉर्गन की रचनाओं में मिलता है। आलोचनात्मक समीक्षा मेक्डूगल की **माडर्न मेटीरियलिज्म एन्ड इमर्जेन्ट इवोल्यूशन** और ड्रेक रचित **इन्विटेशन, टु फिलॉसफी** में प्राप्त हो सकता है।[1]

अपने सरलतम रूप में उद्गत विकास का केवल यह अर्थ होता है कि जब भौतिक संरचना, और अधिक जटिल तथा समाकलित होती है तो विकास की प्रक्रिया में नवीन गुण, क्रिया के नवीन प्रकार और गुणात्मक ढंग से नवीन सत्ताएँ उत्पन्न होती हैं।

अरस्तु ने जगत् की एक **महान् प्रक्रिया** माना है, जिसमें द्रव्य अपना रूप या ढाँचा ग्रहण कर रहा है; और संरचना में **वास्तविकता** सदा ही पायी जाती है— या हमें कहना चाहिए कि जीव में—न कि तत्त्वों में हम पीछे चलकर जीव से कोष,

---

1. समतल सिद्धान्त के सम्बन्ध में तुलना कीजिए Roy Wood Sellars, *Evolutionary Naturalism* (Open Court Publishing Company), chap. XV, and *The Principles and Problems of Philosophy*, (The Macmillan Company) chap. XXIV, and George P. Conger, "The Doctrine of Levels," *Jour. Phil.*, XXII, no 12.

सृजनात्मक विकास के सम्बन्ध में तुलना कीजिए, Henri Bergson, *Creaitve Evolution* (Henry Holt and Company).

उद्गत विकास के सम्बन्ध में तुलना कीजिए C. Lloyd Morgan, *Emergent Evolution* दो अन्य रुचिकर छोटी पुस्तकें भी जीवविज्ञानविद् और प्राणि-विज्ञानविद् के दृष्टिकोण से पढ़िए। प्रथम William Morton Wheeler, *Emergent Evolution and the Development of Societies* (New York 1928). द्वितीय H. S. Jennings, *The Univerese of Life* (Yale University Press, 1933).

उद्गत सिद्धान्त और उसके तार्किक पहलू पर तुलना कीजिए Arthur O. Lovejoy, "The Meaning of Emergence and its Modes" *Jour. Phil. Studies*, II, no. 6, and "The Discontinuties of Evolution." *Univ. of Cal. Pub, in Phil.*, v, pp. 173—220.

और तुलना कीजिए, S. Alexander, *Space, Time and Deity*, C. D. Broad, *Mind and its Place in Nature*, W. E. Ritter, *The Unity of the Organism, or The Organismal Conception of Life*.

इस विषय की चर्चा इस लेखक ने अपनी पुस्तक ? *What is the Mind* (The Macmillan Company, 1929), chap. V, में की थी और अपने अध्याय के शीर्षक "Idealistic Confessions of a Behaviorist" में एक परिसंवाद *Has Science Discovered God?* (New York, 1931) शीर्षक के अन्तर्गत की थी।

कोष से अणु और अणु से परमाणु तक—और अन्त में केवल तरंग-समूहों तक पहुँच सकते हैं; किन्तु हम वास्तविकता से दूर ही जा रहे हैं पर उसकी ओर नहीं। वास्तविक बातें हैं जीव तथा उनकी विशेष प्रतिक्रियाएँ, उनके विशेष गुण और क्षमताएँ। पर वर्तमान समय में पुराने यान्त्रिक सिद्धान्तों की अपेक्षा प्रकृति के जैव मत का ज़ोर अधिक है। जैसा व्हाइट्हेड कहते हैं, "विज्ञान एक नया पहलू अ... रहा है जो न तो शुद्ध रूप से भौतिक है और न ही शुद्ध रूप से जैविक। वह जीवों का अध्ययन होता जा रहा है। जीव-विज्ञान बृहत्तर जीवों का अध्ययन है जबकि भौतिकी लघुतर जीवों का अध्ययन है।"[1]

जीवन इस तरह जीव की उच्च स्तरीय जटिलता की लाक्षणिक प्रतिक्रिया है। इसका परिणाम सम्भवतः पुराने यन्त्रवादी और प्राणतत्त्ववादी के बीच मतभेद को कम करना या समाप्त कर देना है, यहाँ तक कि भौतिकवादी और प्रत्ययवादी के बीच का भेद भी समाप्त हो जाना चाहिए। द्रव्य स्वयं प्रोटॉन और इलेक्ट्रॉन के संगठन से उत्पन्न है तथा जिनका स्तर स्वयं द्रव्य से नीचा है। विकास काल के बहुत अन्त में जीव अपनी जटिलता की बहुत गहराई में पहुँचकर मनस् को एक आदर्श के रूप में व्यक्त करता है। द्रव्य और मनस् दोनों ही विकास के स्तरों को बताते हैं, न कि उनकी परस्पर विरोधाभासी सत्ता को। हम कह सकते हैं कि द्रव्य के माध्यम से प्रकृति जीवन और फिर मनस् की ओर ऊपर चढ़ती है।

सृजनात्मक विकास का सिद्धान्त यन्त्रवाद और प्राणतत्त्ववाद से भी ऊपर उठा हुआ है। विकास के एक निश्चित स्तर तक यंत्रवाद एक उपयोगी प्राक्कल्पना के रूप में कार्य करता है, किन्तु जब जीवन और मनस् उत्पन्न हो चुके होते हैं तो उसका कार्य निलम्बित हो जाता है, क्योंकि भविष्य में होने वाली घटनाओं की धारा को अंशतः स्वयं निश्चित करने में जीवन और मनस् समर्थ हो जाते हैं। दूसरे छोर पर हमने हाल ही में सूक्ष्मभौतिकी के माध्यम से यह जान लिया है कि उपपरमाण्वीय संरचनाएँ पूर्ण रूप से यान्त्रिक नियमों के अधीन नहीं हैं। सृजनात्मक विकास द्वारा प्राणतत्त्ववाद भी इसी के समान रद्द किया जा चुका है, क्योंकि जीवन को संगठन का परिणाम माना गया है।

व्यवस्थापक अभिकरण

चूंकि सृजनात्मक विकास में संगठन का इतना महत्त्वपूर्ण भाग है कि स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है—संगठन के कौनसे अभिकरणं अथवा कारण हैं? यह एक दार्शनिक प्रश्न है और इसके जो विभिन्न उत्तर दिए गए हैं वे बहुत ही रुचिकर हैं। इनमें से कुछ की हम अभी चर्चा करेंगे; किन्तु यह बात ध्यान में

1. *Science and the Modern World*, p. 145.

रखने की है कि स्तरीय सिद्धान्त का महत्त्व संगठन के स्रोत को निश्चित कर लेने पर अवलम्बित नहीं है। संगठन हमारी आँखों के सामने एक तथ्य है और संगठन से जो अद्‌भुत शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं वे भी देखे हुए तथ्य हैं। एक समय था जब पृथ्वी की जलती सतह पर किसी जीव का अस्तित्व नहीं था; किन्तु उनका अब अस्तित्व है। इसलिए संगठन के कारण गहन रुचिकर समस्या बन गये हैं। अब हमें जिस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है वह है कोई ऐसी शक्ति या बल जो यान्त्रिक बलों से नितान्त भिन्न हो और उन गुरुत्वाकर्षक बलों से बिल्कुल विपरीत हो जो जगत् को साम्यावस्था की ओर खींचने की प्रवृत्ति रखते हैं। हमें तत्त्वों को पूर्णता में संगठित करने के लिए, उन्हें निर्देशित करने के लिए और भौतिक ऊर्जाओं का समाकलन करने के लिए —यों कहिए कि उन्हें क्रमबद्ध करने के लिए—किसी शक्ति की आवश्यकता है। किसी सृजनात्मक अभिकरण की आवश्यकता प्रतीत होती है। निश्चय ही इस बात की उपेक्षा नहीं कर देनी चाहिए कि अकार्बनिक अणुओं और परमाणुओं के कार्बनिक पूर्णताओं में आकस्मिक समूहीकरण हो जाने की प्राक्कल्पना एक कार्योचित प्राक्कल्पना है। इस सिद्धान्त की कुछ कठिनाइयों का अध्ययन हम पहले ही कर चुके हैं। क्या कुछ और भी सिद्धान्त हैं जो इन कठिनाइयों से मुक्त हैं?

पहली दृष्टि में तो यह **चालक-कारण** की पुरानी दार्शनिक समस्या मालूम पड़ती है। हेब्रू दर्शन में हम पढ़ते हैं—''आरम्भ में ईश्वर ने स्वर्ग तथा पृथ्वी की रचना की।'' अरस्तू के दर्शन में यही चीज़ **आदि प्रवर्तक** या **आद्य चालक** या **ईश्वर** है। प्लेटो के दर्शन में यही चीज़ **डेमिउर्गुस्** या **जगत्-निर्माता** है। अनेक्सागोरस में वह **नाउस** या **मनस्** है और इस तरह हम समस्त दर्शनशास्त्र के इतिहास के माध्यम से पुनः याद कर सकते हैं कि ब्रूनो और स्पिनोज़ा का **कारण प्रकृति**, हीगेल का **परम प्रत्यय**, फिख्ते का **पराहम्**, शेलिन्ग की **शुद्ध सृजनात्मक ऊर्जा**, शोपनहावर का **निरपेक्ष संकल्प**, नीत्शे का **बल के लिए संकल्प**, वॉन हार्टमान का **अचेतन संकल्प**, फेख्नर का **सार्वभौम आत्मा**, वून्ट का **सार्वभौम संकल्प**, स्पेन्सर का **अज्ञेय**, मेथ्यू आर्नल्ड की **औचित्य बनाने वाली शक्ति**, आधुनिक प्रत्ययवादियों का **निरपेक्ष आत्मा** और कई अन्य दर्शनों में **ईश्वर** होता है।

हो सकता है कि हमें इन सृजनात्मक अभिकरणों के दार्शनिक सिद्धान्तों में तात्कालिक रुचि न हो। हम वैज्ञानिकों से यह जानना चाहते हैं —विशेषकर जीवविज्ञानविदों से—कि जैविक दृष्टिकोण से क्या कोई ऐसा आरम्भिक **अभिकरण** है जो प्रकृति के कार्य को और उन संरचनाओं का, जिनकी क्रिया जीवन है कारण बतला सके?

जीवन शक्ति का बर्गसाँ का आद्यनिगम है, वह सत्ता की मौलिक वास्तविकता, विकास का स्रोत और आधार, एक प्राणमूलक आवेग या धक्का या सृजनात्मक आधार, उकसाया हुआ व्याप्त द्रव्य, उसके जड़तत्त्व और प्रतिरोध

को दूर करते हुए, स्वयं विकास और उसके निर्देशन को निश्चित करने वाला है। वह निरन्तर परिवर्तनशील और विस्तारित होने वाली स्वतन्त्र क्रिया स्वयं ही जीवन है। सबसे आरम्भ के चेतन प्राणी या प्रोटोप्लाज़्म के छोटे द्रव्यों में अत्यधिक आन्तरिक प्रेरणा थी, "जिसके द्वारा उन्हें जीवन के उच्चतम रूप पर ले आना था।" जीवन का विकास एक सृजन है जो आदि गति के कारण चलता रहता है।

> हम चाहें या न चाहें, हमें परिणाम के अभिसरण को बतलाने के लिए किसी न किसी आन्तरिक निदेशक नियम का आश्रय लेना ही पड़ेगा। इस प्रकार का अभिसरण डार्विन के या विशेषकर नव्य-डार्विन के जड़ आकस्मिक परिवर्तन के सिद्धान्त में सम्भव नहीं है और न ही उस सिद्धान्त में सम्भव है जो एक प्रकार से आन्तरिक बलों के आधार पर यान्त्रिक सम्मिश्रण से विभिन्न अंगों के विकास को निश्चित निर्देशन देता है।[1]

सी० लायड मॉर्गन अपनी पुस्तक **इमर्जेन्ट इवोल्यूशन** में कहते हैं कि हमें समस्त विकासात्मक आन्दोलन को सम्भव बनाने वाली मौलिक **क्रिया** नीसस् अथवा प्रेरणा को स्वीकार कर लेना चाहिए। इस पुस्तक के अनेक प्रकरणों में वे इस क्रिया की व्याख्या करते हुए इसे मनस् या आत्मा कहते हैं, किन्तु वे उसे केवल ईश्वर कहना पसन्द करते हैं और यह सुझाव भी देते हैं कि वह ऊपर से **खींचने वाले** बल का कार्य करता है।

> यदि वह कहीं हो तो हमें अपने अन्दर ही उस प्रेरणा का, या उसे जो भी नाम दिया जाय, अनुभव करना चाहिए जो वह आधार दे सके जिस पर क्रियाशीलता की प्राप्ति स्वीकृति की धारणा को स्थापित किया जा सके। तब हमें उसका किस तरह का अनुभव होता है? प्रत्येक व्यक्ति को यह ध्यान में रखकर कि वह साक्ष्य की ग़लत व्याख्या भी कर सकता है, इसका उत्तर स्वयं देना चाहिए। किसी को अपने निम्न स्तर से—नीचे से उठने वाली तथाकथित चालक शक्ति के—जिस अन्तर्नाद का अनुभव होता है, उससे—इन्कार किए बिना मुझे लगता है कि यह क्रिया के माध्यम से उसे ऊपर की ओर खींचना है जिसका अस्तित्व मेरे उपलब्ध स्तर से किसी ऊँचे स्तर पर है।[2]

पुनः कभी-कभी इस विचाराधीन अभिकरण ब्रह्मांडीय उत्तेजना को स्वयं जीवन से भी अधिक मौलिक माना जाता है। जिस "सृजनात्मक अभिकरण" के सम्बन्ध में पेटन कहता है वह बर्गसाँ के प्राण संवेग की भाँति प्रतीत होता है।

---

1. Henry Bergson, *Creative Evolution* (Henry Holt and Company), p. 76.
2. C. Lloyd Morgan, F. R. S. *Emergent Evolution.* (Henry Holt and Company) p. 208.

वह कहता है कि प्रकृति में उसके लिए एक प्रकार की बाध्यता होती है—

> जो संचित है, प्रगतिशील है, निरन्तर बढ़ती हुई शिल्पकला के समान संगठन है, जिसे हम प्रकृति-वृद्धि या विकास कहते हैं···प्रगतिशील एकता और स्थायित्व, प्रगतिशील सहकारिता, संगठन, सेवा और अनुशासन इसलिए जीवन और द्रव्य के अन्तर्निहित गुण हैं ··सृजनात्मक सेवाओं का निरन्तर बहाव से विकास है, और शृंखलाबद्ध सृजन है···प्रकृति-विकास के इस व्यापक संप्रत्यय में प्रकाश और गुरुत्वाकर्षण, प्राणशक्ति, जीनों और जैम्यूलों, वंशानुक्रम, बुद्धि, "चुनाव", सामाजिक आचरण और भौतिकी-विदों तथा जीवविज्ञानविदों द्वारा दर्शाए हुए समस्त जीवन के काफी यान्त्रिक विकास को स्थानीय या साधारण सृजनात्मक अभिकरण का विशेष अभिव्यक्तीकरण माना जा सकता है।[1]

इस विकासवादी इच्छा की प्रकृति को, आन्तरिक निर्देशक बल को, और इस आद्य निर्देशन और ऊर्जाओं के समन्वय को, और भी ठीक से निश्चित करने के कुछ प्रयत्न किए गये हैं। निश्चय ही यह हमारे लिए सरल होगा कि हम उसकी व्याख्या मनस् के रूप में ही करें। प्रकृति को देखते हुए उसे वह शक्ति मानना, जो सभी वस्तुओं को चलायमान रखती है, और हमारे इस छोटे से मानवीय जगत् में वस्तुओं को चलायमान रखती है, संभवतः हमारे लिए बहुत सरल होगा। तथापि, हॉबहाउस अपनी महत्त्वपूर्ण कृति **माइन्ड इन इवोल्यूशन** की द्वितीय आवृत्ति की भूमिका में कहते हैं कि वे इस प्रश्न को "उठाने के लिए अग्रसर हुए हैं कि कहीं मनस् (अपने अचेतन प्रयत्नों में भटकने से लेकर पूर्ण रूप से चेतना प्रयोजनों तक) विकास के सभी परिवर्तनों की एक शक्ति ही न हो।"

ए० एस० एडिन्गटन भी अपनी एक अद्भुत कृति, दिक्, काल और गुरुत्वाकर्षण पर लिखी पुस्तक के एक अध्याय "आन दि नेचर ऑफ थिन्ग्ज़" के अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जगत् की अन्तर्वस्तु को बनाने के लिए कुछ न कुछ चेतन प्रकृति का रूप अनिवार्य है।

> सापेक्षता के सिद्धान्त ने भौतिकी की समस्त विषय-वस्तु का पुनर्विलोकन कर दिया है। उसने उन बड़े-बड़े नियमों को एक कर दिया है जो अपने निर्धारण की परिशुद्धता तथा अपनी अनुप्रयुक्तता की यथार्थता से मानवीय ज्ञान के क्षेत्र में वह गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुके हैं जो आज भौतिक विज्ञान का है। तथापि जहाँ तक वस्तुओं की प्रकृति का सम्बन्ध है यह ज्ञान खोखले खोल के समान— प्रतीकात्मक—है। यह केवल ढाँचा रूपी ज्ञान है न कि उसमें निमित्त वस्तुओं का ज्ञान। अज्ञात निहित वस्तु समस्त

1. William Patten, *The Grand Strategy of Evolution* (R. G. Badger), pp. xii, 28, 29, 47.

भौतिक जगत् में प्रवाहित हो रही है और जिसे निश्चय ही हमारी चेतना का द्रव्य होना चाहिए। यहाँ उन पहलुओं का संकेत है जो भौतिकी की गहराई में हैं किन्तु जिन्हें भौतिकी की पद्धतियों से प्राप्त नहीं किया जा सकता। और आगे चलकर हमने यह देखा है कि जहाँ विज्ञान ने अधिक प्रगति की है वहाँ मनस् ने वह पुनः प्राप्त कर लिया है जिसे उसने प्रकृति का दिया था।

हमने उस अज्ञात क्षेत्र के तटवर्ती भाग में विचित्र पद-चिह्नों को देखा है। हमने उनकी उत्पत्ति बतलाने के लिए एक के पश्चात् दूसरे अति गम्भीर सिद्धान्त बनाए हैं। अन्त में हम उस प्राणी के पुनर्निर्माण में सफल हो गए जिसने पद-चिह्न बनाए थे। और लो वे तो स्वयं अपने ही थे।[1]

हार्वर्ड विश्वविद्यालय के विलियम मॉर्टन व्हीलर एक जीवविज्ञानविद् की हैसियत से लिखते हुए यह सोचते हैं कि संगठन का कार्य जीवांगों का है और वह अतिरिक्त विशिष्ट और बाह्य कालिक "अन्तस्तत्त्व" या व्यवस्थापक कारकों, **जीवन शक्ति** या किसी तत्त्व-मीमांसक अभिकरण द्वारा निर्देशक नहीं है। व्यवस्थापक अभिकरण या अभिवृत्ति अन्तर्निहित है—इंद्रियातीत नही है। व्हीलर स्वयं उन्मज्जनवाद के प्रचंड पोषक हैं और यह मत रुचिकर है कि किसी भी इंद्रियातीत अभिकरण की पूर्वकल्पना करना आवश्यक नहीं है। किन्तु एकात्मक ग्रन्थि के अंगों की वृत्ति अपने को व्यवस्थित करने की क्यों है? व्हीलर का यह विश्वास है कि वे प्रकृति से सामाजिक हैं। उनकी "सतत वृत्ति अपने को और अधिक जटिल उद्गत सम्पूर्णों में व्यवस्थित करने की होती है।" ताकि, "संगति को उन्मज्जन की एक मूल अवस्था माना जा सके।"[2]

यह एक अत्यधिक रोचक सिद्धान्त है। अतः ऐसा लगता है कि व्हीलर सामाजिक संवेग को न केवल जीव कोषों पर बल्कि इन इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन पर भी आरोपित करते हैं जो अपने को परमाणुओं में संगठित करते हैं और उन परमाणुओं पर भी जो अपने को अणुओं में संगठित करते हैं। चूँकि परमाणुओं के निर्माण कारक अंग कभी तरंगों की तरह और कभी कणों की तरह बर्ताव करते हैं ऐसा कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता जिससे हम उनमें सामाजिक अभिवृत्ति का होना न समझें। ऐसा होने से ये इलेक्ट्रॉन ज्यादा के बजाय कम "चैतन्यहीन" होंगे। किन्तु क्या हम एक तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त छोड़ गये हैं? पहले इलेक्ट्रॉन मुश्किल से ही भौतिक माने जाते थे, इन सामाजिक गुणों के आने से वे और भी कम भौतिक मालूम देते हैं।

---

1. *Space, Time and Gravitation* (Cambridge University Press), pp. 200—01.

2. William Morton Wheeler, *Emergent Evolution and the Development of Societies*, pp. 39, 40.

निश्चय ही हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि दूसरे प्रमुख जीवविज्ञानविद्, पुराने भौतिक और रासायनिक बलों के अलावा, प्रकृति में किसी भी व्यवस्थापक अभिकरण को अस्वीकार करते हैं। संभवतः यांत्रिक सिद्धान्त को बहुत संख्या में जीवविज्ञानविद् "सैद्धान्तिक" विश्वास समझेंगे। अन्य कई लोग इस बात को अनिश्चित ही छोड़ देंगे। यह प्रश्न हल नहीं हुआ है और दर्शन के विद्यार्थी के लिए यह बहुत ही रुचिकर "समस्या" है। प्रोटॉन और इलेक्ट्रॉन परमाणुओं में, परमाणु अणुओं में और जीवित कोण पौधों, पशुओं और मनुष्यों में किस तरह संगठित होते हैं ?

समष्टि रूप में नवीन भौतिकी प्राण-तत्त्ववादियों और यन्त्रवादियों के बीच के मतभेद को कम करने की वृत्ति रखती है। पुराने सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति की गति में कोई रुकावट नहीं हो सकती थी। जगत् में जो भी होता है, वह कार्य-कारण की शृंखला में बँधा हुआ है। यदि हमें वर्तमान का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता तो हम भविष्य की छोटी से छोटी बात भी बतला देते। रुकावट, प्रकृति में, निश्चय ही होती है जैसे कार्बनिक और अकार्बनिक के बीच, या द्रव्य और मनस् के बीच, किन्तु ऐसा कहा गया है, कि ऐसी बात नहीं हो सकती। यदि हम केवल पता लगा सकें, तो घटनाओं को जोड़ने वाली शृंखला अवश्य होनी चाहिए।

किन्तु अनेक भौतिकीविदों की आस्था अब इस प्रागनुभव तर्क में कम हो रही है। वृत्ति अब स्वयं तथ्यों का सामना करने की है, फिर चाहे अपने मन-पसंद आधार वाक्यों की व्याख्या ही पुनः क्यों न करनी पड़े। ऐसे तथ्यों में हैं इलेक्ट्रॉन के अनियमित बर्ताव द्वारा दर्शाया हुआ अनिश्चितता का नियम, प्रकृति के नियमों के सांख्यिकीय स्वरूप की खोज, छोटे परिवर्तन के पुराने मत को बदलते हुए जैविक विकास में परिवर्तन कर बढ़ता हुआ महत्त्व और अन्त में, समस्त विश्व के जीवन, मनस् और द्रव्य में यान्त्रिक जाल को फैलाने के कार्य में अविश्वास।[1]

निष्कर्ष में, हम जीवन की उत्पत्ति और उसकी प्रकृति के जटिल प्रश्न के उत्तर में क्या कहेंगे ? समस्या स्वयं महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यदि हम प्रथम जीव कोष की उत्पत्ति और उसकी प्रकृति के रहस्य की कुंजी प्राप्त कर लें तो समस्त "विकास के महान् दाँव-पेंच की कुंजी" मिल जाएगी जिसका मानव-जीवन, मानव-चेतना और मानव-इतिहास में समापन हुआ है। यन्त्रवाद का सिद्धान्त और प्राण तत्त्ववाद का सिद्धान्त, जीवन विषयक दोनों ही सिद्धान्त निराशाजनक सिद्ध हुए। कार्बनिक और अकार्बनिक दो भेद बतलाने वाली कोई तीव्र रेखा नहीं है। जीव कोषों में न तो कोई नवीन द्रव्य हैं और संभवतः न ही कोई नवीन शक्तियाँ

1. तुलना कीजिए—W. F. G. Swann, *The Architecture of the Universe* (The Macmillan Company, 1934), chap. XI, "Vital Processes."

कार्य कर रही हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रकृति की गहराई में—"निर्माणात्मक प्रभाव हैं जो अपनी स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रहे हैं", संगठन की ओर आवेग और उत्तेजनाएँ विद्यमान हैं और उन सम्बन्धों के लिए उन्मुख हैं जिन्हें हम किसी अच्छे शब्द के अभाव में सामाजिक कह सकते हैं; इन नये सम्बन्धों से—इस नवीन "मिलाप" में—विकास को वास्तव में सृजनात्मक बनाते हुए नवीन गुण और मूल्य उत्पन्न हो जाते हैं।

हम समस्त प्रकृति को सृजन की शृंखलाबद्ध प्रक्रिया मान सकते हैं, जिसका गत्यात्मक उत्पादन सर्वप्रथम जीवन—फिर मनस्, चेतना, समाज, इतिहास, कला, साहित्य, विज्ञान, दर्शन और धर्म हैं।

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Gamertsfelder and Evans, *Fundamentals of Philosophy* (Prentice-Hall, Inc.), chap. XI.

अन्य सन्दर्भ

John B. Watson and Will Durant, "Is Man a Machine ? A Socratic Dialogue," *The Forum*, November, 1929, pp. 264-70.

J. S. Haldane, *Mechanism, Life and Personality* (John Murray).

Jacques Loeb, *The Mechanistic Conception of Life* (The University of Chicago Press).

Henri Bergson, *Creative Evolution* (Henry Holt and Company)

R. F. A. Hoernlè, *Matter, Life, Mind, God* (Harcourt Brace and Company), pp. 97—107.

Hans Driesch, "The Breakdown of Materialism" in *The Great Design*, edited by Frances Mason (The Macmillan Company, 1934), pp. 231—303.

—*The Science and Philosophy of the Organism*, The Gifford Lectures for 1908. 2 vols. (Adam and Charles Black).

Ernest William MacBride, "The Oneness and Uniqueness of Life," in *The Great Design*, edited by Frances Mason (The Macmillan Company, 1934).

W. F. G. Swann, *The Architecture of the Universe* (The Macmillan Company, 1934), chap. XI.

Henry Fairfield Osborn, *The Origin and Evolution of Life* (Charles Scribner's Sons).

Roy Wood Sellars, *Evolutionary Naturalism* (Open Court Publishing Company), chap. XV.

अध्याय 10

विकास का दर्शन

पिछले अध्याय में हमने पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति और उसके वास्तविक स्वभाव की चर्चा की थी। जीवन का अस्तित्व पृथ्वी के धरातल पर लगभग एक अरब वर्षों से है—सर्वप्रथम तो सरल एक-कोषीय जीव के रूप में; अन्त में हज़ारों किस्म के अनन्त जटिल पौधों और पशुओं के रूप में, और अपने उच्चतम शिखर पर पहुँचकर मनुष्य के रूप में आता है जो स्वयं जीवन की वाहरी तड़क-भड़क का एक अभिन्न अंग है। फिर भी वह स्वयं अपने समस्त इतिहास का सर्वेक्षण कर सकने और जीवन की उत्पत्ति और उसका अर्थ समझने में परिकल्पना कर सकने जैसी मानसिक शक्तियों का स्वामी होता है।

यह आश्चर्यजनक परिवर्तन कैसे हुआ ? हमने इस युगों से चली आ रही प्रक्रिया को नाम दिया है **विकास**। यह दर्शनशास्त्र की सबसे अधिक रुचिकर समस्याओं में से एक है तथा वैज्ञानिक अथवा परिकल्पनात्मक चिन्तन करने वाले प्रत्येक उस मनुष्य की रुचि की है। कुछ समय से वे लोग भी विकास के अध्ययन में रुचि लेने लगे हैं जो सामान्यतः बहुत गम्भीर चिन्तन नहीं करते थे, और यह प्रत्येक देश और नगर के समाचार-पत्रों के मुखपृष्ठ पर आ गया। यह इसलिए हुआ कि विकास के कुछ सिद्धान्त धर्म के कुछ विचारों के विरुद्ध हुए—और लोग अपने धर्म के विषय में वहुत संवेदनशील होते हैं।

इसलिए, हुआ यह कि विकास एक रहस्यमय शब्द बन गया। कई लोगों के लिए तो वह हज़ारों कठिन प्रश्नों का उत्तर देता हुआ प्रतीत हुआ, अन्य लोगों के लिए वह मात्र समस्या है। यहाँ तक कि अंग्रेज़ी का शब्द ''इवोल्यूशन''—जैसा किसी ने कहा है अपने समवर्ती जर्मन भाषा के शब्द **एन्ट विकलुंग** की भाँति ही मधुर है और जिह्वा पर आसानी से फिसलता हुआ है। एक विश्वविद्यालय के वृहत् पुस्तकालय के कार्ड सूचीपत्र में ''इवोल्यूशन'' शब्द के अंतर्गत लगभग आठ सौ कार्ड पाए गये। किसी अन्य विषय की संख्या इतनी बड़ी होगी इसमें संदेह है।

तो विकास क्या है ? दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी को इस विषय में क्या रुचि है ? यह बात स्पष्ट है कि जगत् में परिवर्तन होना निरन्तर प्रक्रिया है। समाज

परिवर्तित होता है। रीति-रिवाज परिवर्तित होते हैं। पृथ्वी की सतह में परित्रर्तन होता है, तारा-गुच्छ में परिवर्तन होता है। **क्रमिक और व्यवस्थित ढंग से परिवर्तन होना ही विकास का सिद्धान्त है।** निश्चय ही, **विकासवादी** दर्शन के सम्बन्ध में कोई **क्रांतिकारी** बात दिखाई नहीं देगी। यही वह बात है जिसकी हम आशा करते हैं। चूंकि दर्शनशास्त्र जगत् को समझने का एक प्रयत्न है, विकास में हमारी रुचि उस सीमा तक ही होगी जिस सीमा तक वह इस ज्ञान की प्राप्ति में योग देगा। इसलिए इस अध्याय में हमारा प्रयोजन यह देखना होगा कि किस सीमा तक विकास का सिद्धान्त जगत् को समझने में हमारा सहायक होगा।

विकास का सामान्य सिद्धान्त

जब हम ''विकास'' शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारे मन में प्रायः जैविक विकास, या वह सिद्धांत जिसके अनुसार पशु जाति अन्य पशु जातियों से ही उत्पन्न हुई है, और यह कि पौधों और पशुओं की समस्त जातियों की एक ही वंश-परम्परा है, का भाव होता है और हम डार्विन को ही इस सिद्धान्त का श्रेय देते हैं। इस बहुचर्चित अवधारणा में अनेक ग़लतियाँ हैं। विकास शब्द जैविक विकास की तुलना में बहुत व्यापक है और सामान्य विकास के उस सिद्धान्त की ओर संकेत करता है जिसके अनुसार परिवर्तन क्रमिक तथा व्यवस्थित होते हैं। प्रगतिशील परिवर्तनों से हमारा तात्पर्य प्रायः अधिक जटिल और उच्चतर अंशीय संगठन की ओर निर्देशित होने से है। इस व्यापक अर्थ में हम तारकीय तन्त्रों के विकास, पृथ्वी की सतह के विकास या समाजीय विकास का उल्लेख कर सकते हैं। अब ऐसा विश्वास किया जाता है कि हमारे रासायनिक तत्त्व भी किसी और भी सरल वस्तु से विकसित हुए हैं।

विकास की परिभाषा करते हुए जब हम उसे क्रमिक प्रगतिशील परिवर्तन कहते हैं तो निश्चय ही यह परिभाषा यथार्थता से दूर होती है —यदि हम उसके अन्तर्गत समय की गति के साथ पृथ्वी पर होने वाले सभी परिवर्तनों को सम्मिलित करना चाहते हैं। यह एक बहुत ही साधारण परिभाषा है जो कार्बनिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के दृश्य परिवर्तनों को ही सम्मिलित करती है। ऐसे परिवर्तन संरचना की अधिक जटिलता तथा कार्यों की विभिन्नता की ओर निर्देशित होते हैं। जहाँ तक ''प्रगतिशील'' शब्द के प्रयोग की बात है यह एक समस्या है। इस शब्द में एक ध्येय निहित है जिसके लिए कोई वस्तु या कोई चीज़ संघर्ष कर रही है। जीवन और उसके उच्चतर स्वरूपों की उत्पत्ति और मनस्, विवेक और बुद्धि के ध्येय को सामने रखकर प्रकृति के संघर्ष करने का विचार बहुत ही प्रलोभनकारी है। परन्तु विकास की परिभाषा में इसको मान लेने का हमें कोई अधिकार नहीं है। हम इसे दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक परिकल्पना भी बना सकते हैं।

विकास की परिभाषा को नितान्त वैज्ञानिक बनाने के लिए अनेक प्रयत्न

किए गए हैं।[1] कभी-कभी उसकी व्याख्या करते हुए इसे "अप्रत्यावर्ती परिवर्तन का तन्त्र" अथवा "जनन सातत्य" कहा जाता है। कोंगर कहता है कि विकास में तीन मूल घटनाएँ सम्मिलित हैं—1. काल परिवर्तन, 2. क्रमिक व्यवस्था, 3. अन्तर्निहित कारण। यदि अन्तर्निहित कारणों का वर्णन करना हो तो वह एक चौथा और भी जोड़ना चाहेगा—सृजनात्मक संश्लेषण।

दूसरी ओर कार्बनिक विकास सरलतर जीवों से जीवों की तथा अन्ततः सरलतम सूक्ष्म जीवों से उन सरलतर जीवों की उत्पत्ति की ओर संकेत करता है। वह सिखलाता है कि जीवित द्रव्य के सभी प्रकार सभी पौधे और पशुओं की जातियाँ और मानव के सभी वंशों की उत्पत्ति प्रथम आदि जीवाणुओं के क्रमिक परिवर्तनों से हुई है। कार्बनिक विकास का सिद्धान्त डार्विन के समय से बहुत पूर्व हुआ था और वह डार्विनवाद का पर्यायवाची नहीं है। डार्विनवाद एक सिद्धान्त है या सिद्धान्तों का संग्रह है जो कार्बनिक विकास के सामान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत है और इस विकास की प्रणाली को समझने का कार्य करता है। जबकि कार्बनिक विकास के प्रमाण पूरे हो चुके हैं, डार्विन के सिद्धान्त के प्रमाण अभी तक उतने पूर्ण नहीं हो सके हैं। निम्नांकित सूची द्वारा विकास के विभिन्न प्रकारों को दर्शाया जाएगा :

- विकास
  - ब्रह्मांडीय अथवा सर्वमान्य विकास
  - कार्बनिक विकास
    - डार्विनवाद
    - लामार्कवाद और अन्य सिद्धान्त

विकास तथा धर्म मीमांसा

पिछली शताब्दी के मध्य में जब डार्विन द्वारा कार्बनिक विकास का सिद्धान्त

---

1. ऐसे प्रयत्न एच० डब्ल्यू० बी० जोसफ के एक संक्षिप्त लेख "दि कान्सेप्ट ऑफ इवोल्यूशन" (ऑक्सफोर्ड 1924), और ए० ई० टेलर के अपनी संकलित कृति "इवोल्यूशन इन दि लाइट ऑफ मॉडर्न नालेज" के अध्याय बारह में दिए हैं। इनकी तुलना अलफ्रेड जे० लोटका की पुस्तक "एलीमेन्ट्स ऑफ फिजिकल बायलॉजी" के अध्याय दो, तीन, चार, और जी० पी० कोंगर ने अपनी पुस्तक "न्यू व्यूज ऑफ इवोल्यूशन" (मेकमिलन कम्पनी, 1929) के अध्याय दो से कीजिए।

डार्विन ने "विकास" शब्द का प्रयोग बहुत कम किया था। वह जातियों की उत्पत्ति का ब्यौरा बतलाने के लिए एक सिद्धान्त को प्रस्तुत करके ही संतुष्ट था। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में कुछ शारीरज्ञों ने "विकास के सिद्धान्त" या पूर्वविरचना का प्रतिपादन किया, जिसके अनुसार किसी भी पूर्व-विकसित पशु के सभी अंग सूक्ष्म रूप में भ्रूण में ही विद्यमान होते हैं, ताकि उन्हें केवल बढ़ना और विकसित ही होना था। यह सिद्धान्त जो वास्तव में अनावृत्त करने का सिद्धान्त है बाद में छोड़ दिया गया, किन्तु "विकास" को हर्बर्ट स्पेन्सर ने पुनर्जीवित किया जिन्होंने अकार्बनिक तथा कार्बनिक वृद्धि के भव्य सिद्धान्त को प्रस्तुत किया जिसे उसने "विकास" का नाम दिया जब कि शब्दार्थ से वह उस सिद्धान्त के लिए उपयुक्त नहीं था।

मुख्य रूप से जगत् के सामने लाया गया तब दो ग़लत अवधारणाएँ उत्पन्न हुईं जिनका बहुत कुछ सुधार हमारे समय में हुआ है। पहली बात तो यह थी कि विकास और धर्म के बीच में एक तरह का **विरोध** है, और दूसरी बात यह कि विकासवाद ने जगत् की व्याख्या कर दी है। जहाँ तक पहली बात का सम्बन्ध है हम यह जान चुके हैं कि इस विकासवाद द्वारा दिए हुए व्यापक दृष्टिकोण से धार्मिक अभिवृत्ति बहुत कुछ पुष्ट हुई है। अब हम विकास के विचार से अभ्यस्त हो गए हैं। और सृष्टि के पुराने आकर्षी सिद्धान्त की अपेक्षा उसकी श्रेष्ठता समझते हैं। हम अपने चारों ओर सर्वत्र विकास देखते हैं—प्रकृति में, समाज में, और यंत्रकला में। अभी हाल ही में हमने मोटरगाड़ी के विकास को कुछ वर्ष पूर्व उसकी अपरिष्कृत अवस्था से होते हुए देखा है। आधुनिकतम पूर्णता प्राप्त उत्पत्ति को देखकर उसके प्रति हमारा मान और प्रशंसा इसलिए कम नहीं हुए कि उसका क्रमिक विकास हुआ है, न ही मनुष्य के प्रति—उसके विकास और संघर्ष के इतिहास के कारण जहाँ से उसने निर्जीव रूप से ऊपर उठकर सभी बाधाएँ पार की हैं, हमारी प्रशंसा कम हुई है।

सम्भवतः पिछली शताब्दी में हुए विकास के सिद्धान्त के दुःखद और व्यर्थ प्रतिरोध को टाला जा सकता था, यदि डार्विन ने मनुष्य जाति के **उतरने** की बात के बजाय उसके **उदय** होने की बात कही होती। बात बिल्कुल ही भिन्न दिखलाई पड़ती है जब हम मनुष्य को प्रकृति की विकासवादी प्रणालियों के शिखर पर पाते हैं। यदि हम उसे उपलब्धि की प्रक्रिया समझकर उच्चतर मूल्यों का प्रगतिशील सृजन मानें तो विकासवाद का सिद्धान्त जगत् को एक नवीन मनोहरता प्रदान करता है।

वॉट्सन की एक सुन्दर कविता **दि ड्रीम ऑफ मैन** में मनुष्य अपनी उत्पत्ति की छवि से निर्भय होकर कहता है :

> विशालता है यह मेरी
> जन्मा इतना क्षुद्र
> तुम विकासहीन—तुमसे बढ़कर
> अविरल बढ़ता जाता हूँ।
> ... ...
>
> यश से यश पर चढ़ना
> मेरा है; उठा है जो दुःख से ऊपर।
> है मुझे आशंका कि मेरी रचना के समय
> अवगत था तू कि तेरे कितने समीप चढ़ आऊँगा।
> युग के शिखरों की ढालों पर
> काल की चोटियों पर विजय पाकर।

अध्ययन की आनुवंशिक प्रणाली ने ज्ञान के क्षेत्र को जितना समृद्ध किया है

उसकी हद को बढ़ाकर बतलाना कठिन है। विकास ने हमें नई प्रणाली दी है—आनुवंशिक प्रणाली, जिसके द्वारा हम उनकी ओर विकास वृद्धि का अध्ययन करके वस्तुओं को जानना सीखते हैं। प्रत्येक विज्ञान का अध्ययन अब आनुवंशिक प्रणाली से किया जाता है और हम यह समझ गये हैं कि मानवीय ज्ञान की किसी भी शाखा का ज्ञान उस विज्ञान की विषय-वस्तु के विकास के अध्ययन को अलग करके नहीं किया जा सकता। यह कहने में कुछ हानि नहीं है कि नीतिशास्त्र और धर्म-मीमांसा दोनों ने ही इस नई प्राणाली का भरपूर प्रयोग किया है और दोनों ही विषय बेहद स्पष्ट किये जा चुके हैं।

विकास केवल एक प्रणाली की भ्राँति

दूसरी ग़लतफ़हमी जो विकास के विषय में हुई वह पहली के लगभग उलट थी। वह यह थी कि विकास ने मनुष्य और उसके मन समेत जगत् को समझा दिया है और किसी अन्य दर्शन अथवा धर्म की आवश्यकता नहीं है। यह अजब ग़लती एक प्रणाली या परिवर्तन के नियम के रूप में विकास व कोई बल या शक्ति के रूप में विकास के बीच दुविधा के कारण हुई। यह एक प्रचलित विश्वास है कि विकास एक ऐसी सृजनात्मक शक्ति है जो कार्य कर सकती है। इसके विपरीत यह प्रकृति की पद्धति का वर्णन मात्र है। हम देखते हैं कि प्रकृति एक समान तरीके से बर्ताव करती है, या यदि हम चाहें तो यह कह सकते हैं कि ईश्वर एक विशेष ढंग से सृजन करता है। दर्शनशास्त्र के उस विद्यार्थी ने जिसने यह समझ लिया है कि प्राकृतिक नियम कोई बल अथवा शक्तियाँ नहीं हैं किन्तु दृश्य एक-रूपताएँ मात्र हैं, वह विकास का ईश्वर बनाने की ग़लती करेगा ऐसी संभावना नहीं है।

विकास के अध्ययन में हमारे लिए आश्चर्यजनक बातों में एक खोज यह है कि उसने जगत् के विषय में कितना कम बतलाया है। उसने हमें अध्ययन की एक मूल्यवान् प्रणाली दी है जिसके द्वारा हम अनेक रूपों और कार्यों का अर्थ उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में जान सकते हैं। किन्तु जीवन और मन की गहन समस्याओं पर उसने बहुत कम प्रकाश डाला है। शीघ्र ही हम जीवन की कहानी में बड़ी दरारें पा लेते हैं, जिनके बारे में हमने समझा था कि विज्ञान ने इन्हें बहुत पहले ही जोड़ दिया है, किन्तु अब हम देखते हैं कि उन्हें नहीं जोड़ा गया है। हम यह देखते हैं कि विकासवाद ने यह नहीं बताया कि जीवन क्या है और उसका आरम्भ कैसे हुआ, या उसकी पुनरुत्पत्ति कैसे होती है, उसकी वृद्धि और स्वांगी-करण कैसे होता है, जीवन के लिए संघर्ष क्यों है, या परिवर्तन क्यों अथवा कैसे होता है, तथा जीव एक दूसरी जाति में परिवर्तित होते हैं, न ही उसने चेतना की प्रकृति तथा उत्पत्ति सम्बन्धी सबसे महत्त्वपूर्ण बात बतलाई है।

महान् दार्शनिक समस्याओं को समझा सकने में विकास की असफलता में

निश्चय ही हम निराशा का अनुभव करेंगे, किन्तु इस कमी को विज्ञान के ऊपर नहीं डाल देना चाहिए। यह तो लगभग विकास के प्रयोजन और उसके दाँव के सम्बन्ध में ही प्रचलित ग़लतफ़हमी के कारण है। विकासवादी वैज्ञानिक किसी भी अन्य वैज्ञानिक की भाँति जगत् की समस्याओं को हल करने के दावे में सबसे पीछे ही रहता है। बल्कि वह तो धैर्यवान् कार्यकर्त्ता की भाँति, यदि कर सकता है, तो प्रकृति के कार्य की प्रणाली के कुछ स्तरों की ओर संकेत करके ही संतुष्ट रहता है।

हर्बर्ट स्पेन्सर

हर्बर्ट स्पेन्सर (1820—1903) उन्नीसवीं शताब्दी के विकासवादी दर्शन के सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों में से एक हैं। स्पेन्सर की कृति **फर्स्ट प्रिन्सिपल्स** का प्रथम प्रकाशन 1862 में हुआ था, डार्विन की पुस्तक **ओरिजिन ऑफ स्पीशीज** के ठीक तीन वर्ष पश्चात्। स्पेन्सर अपने अंगीय विकास के विश्वास के लिए भी डार्विन का आभारी नहीं है ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि उसका प्रस्ताव तो डार्विन के पूर्व भी कई लेखकों ने किया और स्पेन्सर ने केवल उसे स्वीकार किया है। वास्तव में स्पेन्सर का महत्त्व इस दिशा में नहीं है किन्तु विश्व-विकास की सामान्य रूपरेखा बनाने में है। इसलिए वह जो हमें देता है वह दर्शन का एक वास्तविक तन्त्र है, जब कि डार्विन केवल पेड़-पौधे और पशु की जातियों की उत्पत्ति की समस्या पर कार्य करता रहा है।

इसलिए स्पेन्सर के लिए, जगत् एक महान् विकासकारी प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में भू-तत्त्व, गति और बल आदि द्रव्य पाए जाते हैं जो स्वयं चरम वास्तविकताएँ नहीं हैं, किन्तु केवल हमारे ज्ञान की सीमाएँ बताते हैं। वह उन्हें **अज्ञेय** के रूप कहता है। यह जगत् जैसा हम इसे जानते हैं, भूत तत्त्व, गति और बल के पुर्नवितरण का ही परिणाम है।

अब, स्पेन्सर को मालूम हुआ कि किसी ऐसे सूत्र का पता लगाना, जो इन तीन चरम ज्ञेयों के पुर्नवितरण के तरीके अथवा विकास के तरीके को समझा सके, दर्शनशास्त्र का ही काम है। यह सूत्र निम्न प्रकार है। यह सुनने में भयानक लगता है, किन्तु यदि ध्यानपूर्वक मनन किया जाये तो विकास किस तरह होता है इस विषय में महत्त्वपूर्ण पाया जायेगा। अतः विकास "भूतत्त्व का समाकलन और उसी समय गति का विसरण होना है, उस काल में भूत तत्त्व एक अनिश्चित, असम्बद्ध सजातीयता से संबद्ध विजातीयता की ओर अग्रसर होता है; और उसी काल में संचित गति में समानान्तर परिवर्तन होता है।"

यदि इसी बात को सरल भाषा में प्रस्तुत किया जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि समस्त परिवर्तन समाकलन तथा विभेदीकरण की प्रक्रिया का ही प्रदर्शन करता है। जगत् आरम्भ में एक अग्निपुंज था जो सभी ओर से एक जैसा

ही था। धीरे-धीरे वह ठोस, एकीभूत तथा विभेदी होने लगा। ग्रह, सूर्य से पृथक् हो गए, पृथ्वी और जल, पर्वत और घाटियाँ दिखलाई पड़ने लगीं जिससे विभेदन और भी स्पष्ट होने लगा। यह कोई भी देख सकता है कि विकास के प्रत्येक क्षेत्र में किस प्रकार समाकलन तथा विभेदीकरण की प्रक्रिया ने कार्य किया। प्राणियों में सर्वप्रथम एक जीव द्रव्य था, उसमें कोई विभेदन नहीं था। क्रमशः यह भेदहीन द्रव्य अनेक भेदों वाले द्रव्य में परिवर्तित हो गया। उसके कुछ अंग पाचन के लिए, कुछ चलने-फिरने के लिए तथा अन्य देखने-समझने के लिए अलग बन गए। विकास के बढ़े हुए एक स्तर को इस प्रकार बताया जा सकता है कि चार पैरों वाला प्राणी सीधा खड़ा होने लगता है और वह अपने दो अगले अंग चलने-फिरने के लिए नहीं वरन् ऊपर चढ़ने और भोजन प्राप्त करने के लिए प्रयोग में लाने लगा है। विकास के एक अन्य चरण में भेद तब आता है जब अंगूठा अन्य चार उँगलियों के विपरीत हो जाता है। समाज में यही प्रक्रिया श्रम-विभाजन में भी दृष्टिगत होती है, वर्तमान समय में दिन प्रतिदिन श्रम अधिकाधिक विशेषोपयुक्त होता जा रहा है। भाषा से हुए परिवर्तन भी इसी नियम को प्रदर्शित करते हैं।

स्पेन्सर ने अपने प्रिय सिद्धान्त की सम्भावनाओं का ऐसा विस्तार किया कि यदि उसने नहीं तो कम से कम उसके अनुयायियों ने उसे ही उसकी व्याख्या के रूप में स्वीकार कर लिया—किन्तु बाद में स्पेन्सर के नियम के अनेक अपवाद मिल गए। कुछ आलोचकों ने तो यहाँ तक कह डाला कि यदि यह सत्य भी होता तो इससे क्या होता ? इस प्रक्रिया को हम "विकास" कह सकते हैं किन्तु इससे हमारे ज्ञान में पहले की अपेक्षा किंचित् भी अन्तर नहीं पड़ता। हम उस रहस्यमय त्रिक के विषय में और अधिक जानना चाहते हैं, जिसे आधार मानकर स्पेन्सर आगे चलता है तथा उसके अज्ञेय के विषय में और अधिक जानने की बात करना हमारे लिए उपयुक्त नहीं। इस ग्रन्थ को बड़े 'यू' से लिखना स्पेन्सर को अच्छा लगा, तथा यह एक सुविधाजनक अतलस्पर्शी गहराई थी जिसमें कि उत्पत्ति, उत्पादक-तत्त्व तथा सृजक शक्तियों के सभी कठिन प्रश्न समा गये। किन्तु इस प्रकार का "अज्ञेयतावाद" आधुनिक जिज्ञासु को प्रभावित नहीं करता क्योंकि दर्शनशास्त्र का जन्म ही जिज्ञासा की प्रवृत्ति से होता है, अतः अज्ञेयतावाद दर्शन की सत्ता का ही निषेधक हो जाता है।

समग्र रूप से देखने पर यद्यपि स्पेन्सर विकास के दर्शन पर बहुत कम प्रकाश डालता है, तथापि ज्ञान की प्रत्येक शाखा तक विकास की विचारधारा को पहुँचाने में उन्नीसवीं सदी में उसका प्रभाव बहुत अधिक रहा है। इसके साथ ही नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, मनोविज्ञान, शिक्षा जैसे विषयों में उसके मूल्यवान् योगदान के कारण ही उसे उन्नीसवीं शताब्दी का एक विशिष्ट विचारक माना जाता है।

जैविक विकास

जैविक विकास के सिद्धान्त का इतिहास प्राचीन यूनान से आरम्भ होता है। अरस्तू ने न केवल विकास के सिद्धान्त को ही सिखाया है, अपितु वह **कारणता** के सिद्धान्त का भी ज्ञाता था जिसकी डार्विन में कमी है। यूनान के कवि, ल्यूक्रेटियस ने आरम्भ की सरल शुरुआत करके पशु जीवन के क्रमिक विकास का लगभग पूरा चित्र खींचा है। यहाँ तक कि उसने योग्यतमावशेष सिद्धान्त के भी पूर्व-ज्ञान का परिचय दिया है।

आधुनिक युग में विकासवादी विचार अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तथा उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में स्वच्छंदता से प्रस्तुत किए गए। इन वर्षों में लेखकों की एक लम्बी तालिका है जिन्होंने जैविक विकास के सिद्धान्त का पूर्वानुमान किया था जिसके अनुसार समस्त प्राणियों की पूर्वज-परम्परा सामान्य है और वे सरलतर जैविक रूपों से क्रमशः परिवर्तन होकर ही हुए हैं। इस तालिका में कवि गेटे का नाम उल्लेखनीय है। अठारहवीं शताब्दी की समाप्ति से पूर्व डार्विन के पितामह इरासमस डार्विन ने इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था।

लामार्क

किन्तु लामार्क ही सर्वप्रथम प्रसिद्ध प्रकृतिवादी फ्रांसीसी था जिसने उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में सबसे पहले जाति परिवर्तन के सिद्धान्त का निर्धारण किया। किन्तु नवीन जातियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लामार्क का **विवरण** उस विवरण से नितान्त भिन्न है जो बाद में डार्विनवाद के नाम से विख्यात हुआ है। लामार्क का मत महत्त्वपूर्ण भी है और रुचिकर भी, क्योंकि आजकल जब कि डार्विनवाद की कुछ कमियों का अनुभव होने लगा है, कुछ सीमा तक उसका पुनरागमन हो चुका है। इसके अतिरिक्त, जो परिवर्तन पौधों तथा प्राणियों में हुए हैं उन्हें समझाने का यह मार्ग और भी अधिक स्वाभाविक तथा सरल प्रतीत होता है। लामार्क ने यह अनुमान किया कि पर्यावरण प्राणियों में परिवर्तन लाता है और इस प्रकार हुए परिवर्तन उनकी संतति को अन्तरित हो जाते हैं। जानवरों के मामले में उसने यह भी देखा कि जानवर के प्रयत्न तथा इच्छा के आधार पर शारीरिक अंगों के उपयोग तथा अनुपयोग का भी परिवर्तन पर प्रभाव पड़ता है। अब, चूँकि, वे परिवर्तन जो पर्यावरण तथा उपयोग अथवा अनुपयोग के कारण होते हैं, संतति में अन्तरित होते हैं ऐसा कहा जाता है, **प्राप्त किए लक्षणों को अन्तरित करना** उसके सिद्धान्त में सम्मिलित है और उसकी यह विख्यात बात भी पिछले सौ वर्षों से चर्चा का विषय बनी हुई है। यदि हम यह अनुमान करा सकें कि ऐसे परिवर्तन प्राणी के शरीर में होते हैं और वे उसकी संतति में अन्तरित हो सकते हैं तो विकास की समूची योजना बहुत आसान बन जाती है।

एक उदाहरण के रूप में, मान लो कि जिराफ अथवा उसके पूर्वजों की

किसी समय में लम्बी गर्दनें नहीं थीं। वृक्षों की फुनगी को खाने के लिए बराबर गर्दन को तानने से उसकी गर्दन लम्बी हो गई। यह दैर्घ्यवृद्धि उसकी अगली पीढ़ी को अंतरित हो जाएगी। इस प्रकार प्राणी की शारीरिक संरचना में अथवा उनकी आदतों में सभी प्रकार के परिवर्तन हो जाना संभव है। यहाँ तक कि उनसे नई तरह की जाति भी उत्पन्न हो सकती है।

एक और उदाहरण के रूप में हम बिल्ली के पिछले पैरों को देख सकते हैं कि वे अपने शिकार पर झपट पड़ने के लिए कितनी सुगढ़ता से जमे हुए होते हैं, और उसके अगले दो पैर छोटे और अधिक मज़बूत होते हैं ताकि उछलने पर उसका भार वहन कर सकें। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि लामार्क यह समझता है कि कुछ गहन "आवश्यकताएँ" तथा इच्छाएँ रहती हैं जो आन्तरिक शक्तियों से उभरकर वाह्य विकास को प्रेरित करती हैं।

इस प्रकार अध्ययन के प्रारम्भिक विद्यार्थी को लामार्क का सिद्धान्त स्वाभाविक तथा आश्वस्त कर देने वाला लगता है। यह बात विवेकपूर्ण ही प्रतीत होती है कि पर्यावरण का कार्य आदतों तथा संरचनाओं को परिवर्तित करते रहना है और यह कि कोई भी जानवर अथवा मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार तथा अपने उपयोग अथवा अनुपयोग के द्वारा अंग, उसकी संरचना अथवा कार्य परिवर्तित कर सके और ये परिवर्तन उसकी अगली पीढ़ी में अन्तरित हो सकें। और इस प्रकार, सम्भवतः मौलिक परिवर्तन, यहाँ तक कि, नवीन जाति की उत्पत्ति भी हो जाती है।

अर्जित लक्षणों की वंशागति

किन्तु हम यहाँ देखेंगे कि यह आकर्षक सिद्धान्त कुछ पूर्वानुमान पर आधारित है और यही इसमें कमी है। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि प्राणी के जीवन-काल में अर्जित संरचना में हुए परिवर्तन उसकी अगली पीढ़ी में वंशागत हो जाते हैं। आधुनिक समय में इस बात पर सन्देह किया जाने लगा है कि अर्जित लक्षण अंतरित होते हैं। यह इसलिए है कि सैद्धान्तिक रूप से यह समझाना असंभव है कि यह कैसे होता है और इसका वास्तविक प्रमाण भी बहुत कम है।

तब यदि प्राणी की संरचना तथा आदत में हुए परिवर्तन वंशागत नहीं हो सकते तो इस जगत् में विकास को हम किस प्रकार समझा सकते हैं? पीढ़ी दर पीढ़ी जानवरों की जातियाँ अपरिवर्तित प्रतीत होंगी जैसी कि बाहरी तौर से वे लगती हैं। अब हालाँकि, डार्विन ने कुछ हद तक अर्जित गुणों के अंतरण में विश्वास किया था तो भी उसका विकास का सिद्धान्त बिना इसके ही समझाया जाता है। यहाँ पर हम देखेंगे कि डार्विन के विचारानुसार यह कैसे होता है—संयोगी परिवर्तनों तथा प्राकृतिक वरण के द्वारा।

किन्तु अर्जित लक्षणों के सम्बन्ध में पहले एक बात और बतला दी जानी चाहिए। प्रथम दृष्टि में तो यह बात पूर्णतः विवेकपूर्ण प्रतीत होती है कि ऐसे लक्षणों को वंशागत होना चाहिए और इसे दिनचर्या में भी दिखाई पड़ना चाहिए। क्या यह नहीं होता कि लोहार का पुत्र मेहनती तथा संगीतज्ञ के पुत्र व पुत्रियाँ संगीतप्रिय होते हैं, और क्या ये तथा अन्य गुण उन्होंने अपने माता-पिता से प्राप्त नहीं किए हैं, जिन्हें उन्होंने अर्जित किया था ? यदि मैं वर्षों तक लगातार मेहनत और परिश्रम करके पेशियों को, हृदय को अथवा अपने फेफड़ों को मज़बूत बनाता हूँ, और अपने हाथ अथवा पैर की कुशलता में वृद्धि करता हूँ, अपनी आवाज़ सुधारता हूँ, अपनी रुचियों को सँवारता हूँ और अपने आचार को शुद्ध करता हूँ तो क्या मैं इन अर्जित लक्षणों को अपने बच्चों को अंतरित कर सकता हूँ ? हाँ, अवश्य, परन्तु जैविक वंशानुक्रम के द्वारा नहीं, अपितु सामाजिक वंशानुक्रम के द्वारा। जैविक रूप में बालक के मानसिक तथा शारीरिक अवयव वही होते हैं जो उसके पिता के आरम्भिक काल में थे। उसके अवयव वे नहीं होते जो उसके पिता ने अन्त तक अर्जित किए थे। ऐसा विश्वास किया जाता है कि आन्तरिक कारणों से जो भेद व्यक्तिगत रूप में आते हैं वे तो अंतरित हो सकते हैं। यद्यपि आरम्भ में यह बात हतोत्साहित करने वाली है कि हमारे सुअर्जित सद्गुण हमारे बच्चों में अंतरित नहीं होंगे तो हम इस बात से कुछ न कुछ तसल्ली भी कर सकते हैं कि हमारे दुर्गुण भी अंतरित नहीं होते। किसी भी हालत में यह बात अर्ध-सत्य है, क्योंकि ऐसे मामलों में सामाजिक वंशानुक्रम सर्वाधिक महत्त्व का होता है। हम आश्वस्त रह सकते हैं कि हमारे पुत्र तथा पौत्र हमारे अनुकरण, साहचर्य तथा निर्देश के आधार पर हमारे गुण-दोष ग्रहण करेंगे—परन्तु जन्म के समय वे भी वहीं से आरम्भ करेंगे जहाँ से उनके पिता ने आरम्भ किया था। लोहार का पुत्र मज़बूत और संगीतज्ञ का संगीत-प्रेमी होता है तो इसका कारण यही है कि उनके ये गुण उनके परिवारों में व्याप्त हैं—न कि इसलिए कि उनके माता-पिता ने उन गुणों को अभ्यास से अर्जित किया है।

किन्तु, यह कहा जाना चाहिए कि जीवविज्ञानविद् अभी पूर्णतः इस बात पर सहमत नहीं हुए हैं कि अर्जित गुणों का अंतरण नहीं होता। यह पुनः परीक्षण का विषय बन चुका है और इसमें रुचि पुनः उत्पन्न हो गई है क्योंकि डार्विन के सिद्धान्त में कठिनाइयाँ भी दिखलाई पड़ती हैं। इस कठिन एवं उलझा देने वाली समस्या को सुलझाने के प्रयास में अनेक प्रयोगशालाओं में महत्त्वपूर्ण अनुसंधान किये जा रहे हैं किन्तु उनसे प्राप्त होने वाले परिणाम किसी प्रकार भी हमारी आस्था को उस प्राचीन विश्वास में दृढ़ नहीं करते कि शारीरिक विपरिणति का जीवाणु कोष पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

डार्विनवाद

चार्लस डार्विन 1809 में पैदा हुआ था और उसकी मृत्यु 1882 में हुई। उसकी पुस्तक **ओरिजिन ऑफ़ स्पीशीज़** 1859 में प्रकाशित हुई, और **डिसेन्ट ऑफ़ मैन** 1871 में। विज्ञान के इतिहास में डार्विन का कार्य कौपर्निकस, गेलिलियो, और न्यूटन के मनुष्य के विचारों और वैज्ञानिक अनुसंधान को प्रेरणा देने के महत्त्वपूर्ण कार्य की श्रेणी में आता है। यह सत्य है कि डार्विन के नए विज्ञान के प्रायः सभी मौलिक सिद्धान्त अन्य कार्यकर्त्ताओं द्वारा पहले ही जान लिए गए थे, यह उसका ही धैर्यपूर्ण तथा परिश्रमपूर्ण अनुसंधान था और यह उसके अपने सिद्धान्त का स्पष्ट निरूपण ही था जिसे उसने जगत् को अपने नए वैज्ञानिक मत के रूप में दिया। सम्भवतः यह बात अधिक सत्य है कि डार्विन की प्रणाली उसके विकास के सिद्धान्त से अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह निगमन प्रणाली का अनुसंधान और प्रयोग में कभी न हारने वाले धैर्य तथा सर्वोच्च सत्यनिष्ठा, ईमानदारी और मानसिक सद्भाव के साथ किया हुआ पूरा उदाहरण है। 1842 में अपने सिद्धान्त की प्रथम पाण्डुलिपि के पश्चात्, जिसके प्रकाशन को उसने सत्रह वर्षों तक निलम्बित रखा, उस समय के बीच में प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त को स्वतन्त्र रूप से उसके मित्र अलफ्रेड रसेल वालेस ने प्रतिपादित कर दिया। किन्तु सत्य की खोज करने वाले अनुसंधायक कटुता अथवा वैमनस्य जैसी बातों से मुक्त थे।

डार्विनवाद का ढाँचा, जो कि सभी को मालूम है, यहाँ संक्षेप में बताया जाता है। पशु की प्रत्येक जाति बहुत सन्तान उत्पन्न करने वाली है और ज्यामितीय अनुपात में बढ़ने की वृत्ति रखती है। एक तरह की कॉड मछली होती है जो बीस करोड़ अण्डे देती है। यह अनुमान लगाया गया है कि एक अकेले डेन्डिलियन के पौधे के सभी बीजों को प्रस्फुटित होने दिया जाए तो अपनी चौथी पीढ़ी में वे इतने अधिक हो जाएँगे कि संयुक्त राज्य अमरीका के क्षेत्रफल से 245 गुना अधिक स्थान घेर लेंगे। अकेला एक बैक्टीरिया एक दिन में दस लाख बैक्टीरिया पैदा कर सकता है,[1] और लिनाओस ने कहा कि तीन मक्खियाँ और उनके बच्चे घोड़े के शव को उतनी ही तेज़ी के साथ खा सकते हैं जितनी तेज़ी से कोई सिंह खाएगा।

इसलिए चूंकि पौधे और पशु की जातियाँ इतनी उर्वरक हैं, उन सबके लिए न तो पर्याप्त स्थान है और न भोजन। अतः इसके परिणामस्वरूप **अस्तित्व के लिए संघर्ष** होगा जिसमें **योग्यतम की जीविता** होगी योग्यतम कौन है ? वे व्यक्ति जो परिवेश के सबसे अधिक अनुकूल हैं। इस विषय में व्यक्तियों के बीच कोई भी भेद क्यों हो ? इसलिए कि उसी जाति के और यहाँ तक कि उन्हीं माता-पिता से उत्पन्न व्यक्तियों के बीच संरचना अथवा कार्यों सम्बन्धी अल्प भेद होता है। समान से समान की ही उत्पत्ति होती है, किन्तु ठीक एक-समान की नहीं। जिनके

1. देखिए ; William M. Goldsmith, *The Laws of Life*, p. 186.

परिवर्तन अनुकूल रहेंगे वे चुने जाएँगे और उनकी सुरक्षा होगी। इसे **प्राकृतिक चुनाव** कहा जाता है। वे जीवित रहेंगे, उन्नति करेंगे और अपना विस्तार करेंगे। सम्भवतः अपने अनुकूल परिवर्तनों को आगे की पीढ़ी में भी लायेंगे। कम अनुकूल नष्ट हो जायेंगे। इस तरह क्रमशः संरचना में सुधार होंगे और पर्याप्त समय के अनन्तर इतना परिवर्तन हो जाएगा कि उसके परिणामस्वरूप नई जाति पैदा हो जाएगी। एक पैना दाँत, चीर देने वाला पंजा, सींग के समान चमड़ा, गर्म फ़र, सभी दुश्मनों तथा अन्य प्राकृतिक तत्त्वों से जीवन की रक्षा के लिए उपयोगी हैं और सभी वंशपरम्परा द्वारा चुने और सुरक्षित किए हुए न्यून आकस्मिक परिवर्तनों से उत्पन्न हुए हैं। जो पक्षी स्थानान्तरण नहीं करते उनमें से आकस्मिक रूप से कुछ के स्थानान्तरण करने पर उन्हें पर्याप्त भोजन मिलेगा, वे जीवित रहेंगे, उन्नति करेंगे और अपनी इस विशेषता को आगे की पीढ़ी को अंतरित करेंगे। इस तरह मूल प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। यहाँ तक कि मनुष्य की आँखें जो इस अनुकूलता का सबसे महान् चमत्कार हैं, इस तरह प्रकाश से संवेद्य कोशों के एक समूह से उत्पन्न हो सकती हैं और यह परिवर्तन खतरे या शिकार से इन आँख वालों को सजग कर देता है।

यदि पाठक को लामार्क और डार्विन के सिद्धान्तों में भेद नितान्त स्पष्ट नहीं है तो वह हो जाएगा यदि हम बिल्ली के पिछले पैरों की संरचना के उदाहरण का यहाँ फिर से प्रयोग करें। लामार्क के अनुसार बिल्ली व्यक्तिगत रूप से अपने शिकार पर निरन्तर कूदकर अपने पैरों की संरचना में परिवर्तन लाती है। ये परिवर्तन वंशपरम्परा में चले जाते हैं और आगे की पीढ़ी में जुड़ आते हैं। डार्विन के अनुसार परिवर्तन अभ्यास करने से नहीं होता है, किन्तु वह आकस्मिक होता है और उसकी उत्पत्ति व्यक्ति के जनित्र द्रव्य के आन्तरिक कारणों में होती है। कोई एक बिल्ली कूदने के अनुकूल पैरों के परिवर्तन के साथ पैदा हुई। अस्तित्व के संघर्ष में अपनी जाति के अन्य प्राणियों के मुकाबले में ऐसे प्राणी को इस परिवर्तन के कारण अधिक लाभ रहेगा। जबकि संघर्ष में इसके प्रतियोगी मर सकते हैं, ऐसे प्राणी जीवित रहेंगे, उन्नति करेंगे और इस परिवर्तन को अगली पीढ़ी में अंतरित कर देंगे, क्योंकि वह आन्तरिक कारणों की वजह से हुआ है और वंशपरम्परा में लाया जा सकने वाला होता है। इस प्रकार प्रकृति चुनाव करती है।

तो, यही है पौधे और पशु जातियों के विषय में विकास का प्रसिद्ध सिद्धान्त। सिद्धान्त बहुत ही चतुराईपूर्ण है—चित्ताकर्षक भी। यह बात ध्यान देने की है कि यह परिवेश के परिवर्तन करने वाले कार्य के ऊपर आधारित नहीं है, न ही उपयोग अथवा अनुपयोग के परिवर्तनकारी प्रभाव पर, और न ही वह अर्जित लक्षणों को वंशपरम्परा में लाने को सम्मिलित करता है। वह केवल उन्हीं छोटे-छोटे परिवर्तनों को स्वीकार करता है जो आकस्मिक हो सकते हैं। और प्राकृतिक

चुनाव द्वारा अनुकूल परिवर्तनों को ही संरक्षित किया जाता है। किन्तु दर्शनशास्त्र का विद्यार्थी जो जानना चाहता है वह यह है कि क्या यह सिद्धान्त वास्तव में कार्यगत होगा। क्या वह नई जातियों की उत्पत्ति को बताएगा और क्या वह सरलतम सूक्ष्मजीव से लेकर आश्चर्यान्वित करने वाले जटिल मानव के शरीर तक को बताएगा और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात—क्या वह बुद्धि का और मनुष्य के मनस् का होना भी बताएगा ? और अन्त में, यदि डार्विन का सिद्धान्त इन सब बातों को बताएगा तो इनमें कौनसे पूर्व-अनुमान निहित होंगे ? डार्विन कौनसी बातें पहले से ही स्वीकार कर लेता है और किन बातों की व्याख्या करता है ?

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Darwin, *Origin of Species* (D. Appleton and Company).
Gamertsfelder and Evans, *Fundamentals of Philosophy* (Prentice-Hall, Inc.), chap. X.

अन्य सन्दर्भ

Sir J. Arthur Thomson, *Riddles of Science* (Liveright Publishing Company, 1932), chap. XLVI.

James Ward, *Naturalism and Agnosticism* (The Macmillan Company), I, Lectures 7, 9, 10.

H. H. Lane, *Evolution and Christian Faith* (Princeton University Press).

Creation by Evolution, Frances Mason, Editor (The Macmillan Company).

G. Watts Cunningham, *Problems of Philosophy* (Henry Holt and Company), Part IV.

Geddes and Thomson, *Evolution* (Home University Library, Henry Holt and Company).

J. Arthur Thomson, *The Gospel of Evolution* (G. P. Putnam's Sons).

अध्याय 11

विकास, डार्विन के समय से

विवाद

डार्विन की दो पुस्तकों **दि ओरिजिन ऑफ़ स्पीशीज़** और **दि डिसेन्ट ऑफ़ मैन** के प्रकाशित होने पर विकास के विषय पर इंग्लैंड में विवाद के बादल टूट पड़े। डार्विन ने मनुष्य के शरीर और मनस् दोनों को ही विकास के इतिहास में सम्मिलित किया था जिससे कि उसके विचार प्रतीत्यात्मक रूप से धार्मिक विश्वासों के विरोध में आ गए। यह बात याद रखने की है कि डार्विन की शिक्षाओं की विषयवस्तु दोहरी थी, पहली तो विकास के **तथ्यों** से संबंधित है, और दूसरी उसकी **प्रणाली** से। केवल वैज्ञानिक ही दूसरी में रुचि रखते थे, सारा संसार और विशेषकर धार्मिक जगत् की पहली में ही गहन रुचि थी।

डार्विन के स्वास्थ्य ने, जो कभी भी अच्छा नहीं था, कभी भी उसे जनता के समक्ष अपनी बात की पुष्टि करने का अवसर नहीं दिया; किन्तु टॉमस एच० हक्सले के व्यक्तित्व में उसे एक योग्य और कर्मठ प्रतिरक्षण मिला, जिसने विकास के शक्तिशाली एवं प्रभावकारी प्रतिरक्षण में लेख लिखे और ज़ोरदार भाषण दिए। उस शताब्दी के समाप्त होने के बहुत पूर्व यह सिद्धांत न केवल इंग्लैंड में अपितु अन्य सभ्य देशों में भी स्वीकार कर लिया गया था। यदि उसका विरोध धार्मिक क्षेत्रों में अब भी कहीं है तो वह अमरीका की कुछ जातियों में है। विकास अब सिद्धांत नहीं है किन्तु नियम हो गया है।

किंतु डार्विन के स्वयं अपने कार्बनिक विकास के विशेष सिद्धांत के विषय में क्या है? डार्विन के समय के पश्चात् से वैज्ञानिकों में उसका क्या स्थान रहा है? क्या ऐसा विश्वास अभी तक किया जाता है कि विकास का रहस्य प्राकृतिक चुनाव के आकस्मिक छोटे परिवर्तनों में होता है? इस बात पर वैज्ञानिकों में बहुत कम मतैक्य है। डार्विन के सिद्धांत की कठिनाइयाँ शीघ्र ही दिखाई देनी आरम्भ हो गईं, और बाद के वर्षों में इससे क्रमशः अपसरण हुआ।

वाइज़मन

कार्बनिक विकास की व्याख्या को प्रोत्साहन प्रथम हक्सले, टाइनडाल, हेकल, तथा अन्य व्यक्तियों ने दिया था, यह ऐसी व्याख्या थी जिस पर डार्विन ने भी

विचार नहीं किया था। नव्य-डार्विनवादियों से वाइज़मन के वाद इस वात को और भी अधिक बढ़ावा मिला। आगे चलकर जनित्र द्रव्य के सातत्य और जीव-कोषों के अमरत्व के विषय में वाइज़मन की बहुत महत्त्वपूर्ण खोजों ने डार्विन के वंश-परंपरा के सिद्धांत को बिल्कुल बदल दिया है। संभवत: **दि ओरिजिन ऑफ़ स्पीशीज़** के प्रकाशन के वाद से—दे व्रीज़ के उत्परिवर्तन के सिद्धांत के अलावा—किसी अन्य ने विकासवादी सिद्धांत की धारा को इतना प्रभावित नहीं किया है जितना आगस्त वाइज़मन की इस खोज ने कि वंश-परंपरा पूर्ण रूप से उन जीव-कोषों के अंतरित होने पर आधारित होती है जो केवल अपने परिवर्तनों तथा उत्परिवर्तनों के अलावा पीढ़ी दर पीढ़ी अंतरित होते रहते हैं और जो काय-कोषिका में परिवर्तन होने से प्रभावित नहीं होते। इस खोज ने डार्विन के विकास-वादी परिवर्तनों की उत्पत्ति के सिद्धांत को बदल दिया है क्योंकि उसने उनकी उत्पत्ति को काय-कोषिका के परिवर्तित होने में माना जबकि वाइज़मन ने यह दर्शाया कि जीव-कोष इन परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होते।

> विकास में, जनक अंडकोष में विहित जीव-द्रव्य का एक अंश (अर्थात्, आवश्यक जैविक पदार्थ) बच्चे के शरीर की रचना में ही समाप्त नहीं हो जाता, किन्तु आगे आने वाली पीढ़ी के लिए अपरिवर्तित रूप में ही जीव-कोष के निर्माण के लिए सुरक्षित रहता है।[1]

अत: वंश-परंपरा इस प्रकार से कार्य करती है कि प्रत्येक व्यक्ति वास्तव में अपने माता-पिता से उत्पन्न नहीं होता, किंतु इस "अमरणशील" जीव-द्रव्य से होता है जो उसके माता-पिता में सुरक्षित रूप से संचित रहता है। वाइज़मन द्वारा की गई यह खोज, जिसे यद्यपि गाल्टन ने पूर्व-अनुमानित कर लिया था, तथापि डार्विन के परंपरा के सिद्धांत को कमज़ोर नहीं करती, वह उसमें समृद्धि ही लाती है, क्योंकि इससे अभूतपूर्व रूप में विकास को प्राकृतिक चुनाव के नियम पर और भी अधिक निर्भर कर दिया जाता है। अर्जित लक्षणों का परंपरा में आ जाना पहले की अपेक्षा अधिक असंभव हो गया है।

नव्य-डार्विनवादियों द्वारा प्राकृतिक चुनाव पर अधिक बल देने पर यह स्पष्ट होना आरंभ हो गया है कि यद्यपि विकास में प्राकृतिक चुनाव एक आवश्यक कारक है, तथापि किसी भी अर्थ में वह विकास का **कारण** नहीं कहा जा सकता। वास्तव में तो, विकास का कारण अथवा विकास के कारण आज तक भी अज्ञात हैं जैसा वरनॉन एल०, कैलॉग ने दस वर्ष पहले लिखा था :

> डार्विन के दिनों से विकास के तौर-तरीके और प्रभाव विषयक तथ्यों के हमारे ज्ञान में बहुत कुछ जुड़ चुका है, किंतु विकास के प्राथमिक कारणों में

1. Geddes and Thomson, *Evolution* (Henry Holt and Company), p. 114, वाइज़मन को उद्धृत करते हुए।

केवल दो ही तथाकथित कारण-परक कारक प्रस्तुत किए गए हैं, ये हैं उत्परिवर्तन तथा मेन्डल की बताई हुई वंशपरंपरा। जो कार्बनिक विकास निर्देशी मौलिक समस्याएँ हैं, उन पर किसी को भी जाति-निर्माण अथवा अनुकूलन करने की पर्याप्त व्याख्या प्राप्त कर लेने की सामान्य स्वीकृति प्राप्त नहीं थी। डार्विन के पश्चात् के इसी काल में, विकास की दो सबसे महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ दी गई जो डार्विन के समय में भी प्रचलित थीं, अर्थात् लामार्कवाद, अथवा अर्जित लक्षणों का वंश-परंपरागत हो जाना, और डार्विनवाद, अथवा प्राकृतिक और यौन चुनाव भी विकास के कारण के तौर पर और मज़बूत होने के बजाय और कमज़ोर हो गए। इसलिए अब हम विकास के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए उससे भी अधिक उत्सुक स्थिति में हैं जितने कि हम पचास या साठ वर्ष पहले थे, किंतु आत्म-विश्वास की भावना बहुत कम है कि अब हम विकास के कारणों को जानते हैं।[1]

उत्परिवर्तन

दे व्रीज़ की महत्त्वपूर्ण खोज 1900 में हुई। उस समय से लेकर वर्तमान समय तक विकास के अध्ययन में उत्परिवर्तन पर अधिक और परिवर्तन पर कम ध्यान दिया गया है। वंशपरंपरा के अनुसार समान समान को ही जन्म देता है, किंतु ठीक एकसमान को नहीं। उत्परिवर्तन के सिद्धांत के अनुसार सामान्यतः समान समान को ही उत्पन्न करता है, किन्तु कभी-कभी कोई चीज़ बिल्कुल भिन्न उत्पन्न हो जाती है—कम से कम कुछ चीज इतनी भिन्न कि उसे नई किस्म अथवा उपजाति कहा जा सकता है—सम्भवतः नई जाति भी। डार्विन ने जातियों की उत्पत्ति को समझाने का प्रयत्न किया था—किन्तु दे व्रीज़ ने अपने सन्ध्यामुखी फूलों पर किए गए प्रयोगों से कुछ ऐसा ही ठीक अपनी आँखों के सामने देखा। उसने पाया कि नई किस्म सहसा दिखलाई पड़ी, ये सच्ची नस्ल पैदा कर रही थीं। छोटे-छोटे "परिवर्तनों" से भेद करने के लिए, जिन पर डार्विन ने बल दिया था, उसने इन अचानक और निर्णायक "परिवर्तनों" को "उत्परिवर्तन" का नाम दिया। इस घटना के साथ ही यह बात ध्यान देने की है कि विकास का रहस्य घटा नहीं वह और बहुत बढ़ गया। उत्परिवर्तन क्यों होना चाहिए ?

जीवाश्म-विज्ञानविदों ने इस बात का प्रमाण ढूँढ़ लिया है कि पहले के भू-वैज्ञानिक काल में उत्परिवर्तन वर्तमान की अपेक्षा और अधिक तथा उत्कट हुआ करते थे और इस तरह पौधों और पशुओं के महान् अलगाव को समझाने में सहायक होते थे। ऑस्टिन एच० क्लार्क अपनी पुस्तक **दि न्यू इवोल्यूशन** में कहते हैं,

---

1. Vernon L. Kellogg, "Where Evolution Stands Today", *The New Republic*, April, 11, 1923.

"वंश-परंपरा के अनुक्रम में अखंड निरंतरता और उसके साथ ही अचानक शरीर-रचना में अवरोध हो जाना या परिवर्तन होना सभी तरह के पशु जीवन की सामान्य, ध्यान देने वाली और सर्वविदित घटनाएँ हैं। ये बातें कशेरुकी की अपेक्षा अकशेरुकी जंतुओं में अधिक ध्यान में आती हैं।"[1]

श्री क्लार्क आगे चलकर यह आश्चर्यजनक सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं कि पशुओं के प्रमुख समूहों का अस्तित्व आरम्भ से ही था :

> पशुओं के प्रमुख समूहों के बीच किसी मध्यवर्ती की समूची कमी की केवल एक ही व्याख्या हो सकती है—उदाहरण के लिए रीढ़ की हड्डी वाले प्राणी अथवा कशेरुकी और इकाईनोडर्म, मोलस्क और आर्थोपोडा के बीच में।
>
> यदि हम तथ्यों को स्वीकार करने को तैयार हों तो हमें विश्वास करना चाहिए कि ऐसे मध्यवर्ती कभी भी नहीं थे, या दूसरे शब्दों में यह कि आरम्भ से ही इन प्रमुख समूहों में वही संबंध थे जो उनमें आज हैं।[2]

यह सृजनवाद की तरह प्रतिध्वनित होता है, वह सिद्धांत जिसका खंडन करने में क्लार्क महोदय शीघ्रता करते हैं। इसका कारण जाहिर है कि कार्बनिक जीवन के आरंभिक स्तरों में उत्परिवर्तन हमारे आधुनिक उत्परिवर्तनों से भी अधिक बार और अचानक होते पाये जाते थे।

उत्परिवर्तन नस्ल बनाते हैं, यह सत्य है, किन्तु ये नई किस्में अथवा जातियाँ कैसे जीवित रहती है ? इसका उत्तर है कि प्राकृतिक चुनाव के द्वारा। तो इसका अर्थ यह हुआ कि डार्विनवाद इस परिवर्तित रूप में भी जीवित है और इस शताब्दी के आरंभिक वर्षों में उसकी समाप्ति की आशंका के पश्चात् से अब वह अधिक शक्तिशाली है। प्रत्येक वस्तु की भाँति डार्विनवाद विकसित हुआ है; और डार्विन स्वयं नई खोजों और नए विकासों की आशा करेगा और उनका स्वागत करेगा।

अव्याख्यायित कारक

हमारे जीव-जगत् के वास्तविक ज्ञान के लिए डार्विन तथा उनके प्रतिभाशाली उत्तराधिकारियों ने कितना योगदान किया है ? किस सीमा तक उन्होंने मानव को—उसके अद्भुत शरीर और उससे भी अधिक आश्चर्यजनक उसके मनस् को—समझने में सहायता दी है ? यदि हम कुछ बातें स्वीकार कर लें, जैसे प्रथम जीवित कोष, वंशानुक्रम, परिवर्तन तथा उत्परिवर्तन, अस्तित्व के लिए संघर्ष तथा

---

1. Austin H. Clark, *The New Evolution, Zoogenesis* (Williams and Wilkins Company, Baltimore, 1930), p. 188.
2. *The New Evolution,* p. 189.

प्राकृतिक चुनाव, तो हम देखेंगे कि सरलतम जीव से लेकर जटिलतम तक किस तरह क्रमिक विकास होता है। किन्तु जैसे ही हम इन पूर्व-मान्यताओं का परीक्षण आरम्भ करते हैं तो पाते हैं कि उनके विषय में हम कितना कम जानते हैं। प्रकृति के एक महान् रहस्य की खोज के तौर पर विकास को इतना बढ़ा दिया गया है कि दर्शन का विद्यार्थी कुछ दुविधा में पड़ जाता है कि वह कितना कम समझ पाया है और कितना अधिक उन अभ्युपगमों पर आधारित है जिनसे वह आरम्भ करता है।

कार्बनिक विकास का सिद्धांत तीन अभ्युपगमों पर आधारित है—या यों कहें कि तीन रहस्यों पर। ये रहस्य हैं, अस्तित्व के लिए संघर्ष, वंशानुसंक्रमण, तथा परिवर्तन या उत्परिवर्तन। निश्चय ही जातियों की उत्पत्ति और उनके परिवर्तन से संबंधित वैज्ञानिक सिद्धांतों का महत्त्व इन अभ्युपगमों के समझाए न जाने से कम नहीं होता, क्योंकि अस्तित्व के लिए संघर्ष, आनुवंशिकता और परिवर्तन तथा उत्परिवर्तन ऐसे तथ्य हैं जिनका कोई खंडन नहीं करता। कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब कोई सामयिक पाठक यह अनुमान करता है कि डार्विन का सिद्धांत उससे अधिक बताता है जितना कि वह बतलाने का प्रयत्न करता है। वैज्ञानिक, निस्सन्देह ही, अस्तित्व के लिए संघर्ष, आनुवंशिकता और उत्परिवर्तन के गहन कारणों के विषय में सब कुछ जानकर प्रसन्न ही होगा। किन्तु वर्तमान में तो वह डार्विन की भाँति इन बातों को मानकर और वंश-परंपरा के एक सिद्धांत के निरूपण के प्रयत्न से ही संतोष कर लेता है।

उदाहरण के लिए, अस्तित्व के लिए संघर्ष को ही ले लीजिए। डार्विन के सिद्धांत को लापरवाही से पढ़ने वाला व्यक्ति यह सोच सकता है कि अस्तित्व के लिए संघर्ष इस बात से समझाया जा चुका है कि जितना स्थान है, या जितनों के लिए भोजन है उनसे अधिक प्राणी उत्पन्न हो गए हैं। किन्तु, निश्चय ही, यह व्याख्या क्रिया, प्रतिरोध और स्वतःप्रवृत्ति, जो जीवन में निहित हैं, पहले ही मान लेती है। तो यदि वास्तव में कोई विकास की व्याख्या जानना चाहेगा, यदि कोई मनुष्य की चरमबुद्धि में ही समाप्त होते हुए जीवित प्राणियों तथा उनके कार्यों के क्रमिक रूप से खुलने को समझने की आशा करता है तो उसका रहस्य तो प्राकृतिक चुनाव जैसे निषेधात्मक नियम की अपेक्षा जीवन की स्वतःप्रवृत्ति में ही अधिक प्रतीत होगा। कोई तो कहेगा, "ठीक यहीं पर विकास की व्याख्या का रहस्य स्थित है—स्वयं जीवन की प्रकृति में, जीने के संकल्प में, मौलिक आवेग में, दाबों, उत्कंठा, इच्छा, महत्त्वाकांक्षा, या जो कुछ भी हो, यह स्वयं ही जीवन है।" इसको स्वीकार करते हुए वे केवल विकास की मशीन, चाहे वह डार्विन की हो या किसी और की, कम रुचिकर हो जाती है।

आनुवंशिकता

कई लोग यह विचार करते हुए प्रतीत होते हैं कि विकास ने जीवित प्राणियों की व्याख्या कर ली है, हालाँकि कोई भी जीवविद् इस बात का दावा करने का स्वप्न नहीं देखता। चलिए हम आनुवंशिकता पर विचार करें जो डार्विन के सिद्धांत में इतने मौलिक व महत्त्व की है। वाइज़मन के जर्मप्लाज़्म के सातत्य के सिद्धांत के द्वारा, मेन्डल के उत्तराधिकार के नियमों तथा जीव-कोशों और उनके साथ क्रोमोसोम और जीनों की विलक्षण संरचना को खोज के द्वारा किस सीमा तक समझाया जा चुका है ?

विकास के तथ्य से हम इतने अधिक परिचित हैं कि उसके चकित कर देने वाले आश्चर्य को भूल जाते हैं। उन छोटे-छोटे पुद्गल के टुकड़ों पर विचार कीजिए जो सामान्य उद्यानों के पुष्पों के बीज हुआ करते हैं। बहुत सी विभिन्न किस्मों के होने पर भी देखने में एकसमान ही लगते हैं। उनमें से कुछ तो इतने छोटे होते हैं कि उन्हें देखकर भेद करना भी कठिन होता है। उनमें प्रत्येक में जीव-कोश होता है और उस कोश में से मूल पौधे के एक हज़ार विवरणों को दुहराते हुए एक पौधा उत्पन्न होता है जहाँ से कि बीज आया था और तब पिछली ग्रीष्म की ही भाँति पौधा एक फल देता है, फिर फूलों से छोटे-छोटे बीज आते हैं, पुनः प्रत्येक में वही अद्भुत क्षमताएँ होती हैं। क्या बीज अपने मूल पुष्प का स्वरूप "याद" रखता है ? यह सब कैसे होता है ?

यदि इसको समझना कठिन है तो मनुष्य के शरीर पर, इसकी लगभग अनगिनत जटिलताओं सहित, ज़रा विचार कीजिए। केवल आँख जैसे एक अंग का विवरण अथवा मस्तिष्क की अद्भुत रूप से जटिल संरचना का विचार कीजिए। और तब इस बात पर ध्यान दीजिए कि मानव का शरीर एक छोटी सी अंड कोशिका से उत्पन्न होता है, जिसमें अत्यन्त छोटी शुक्राणु कोशिका से ठीक से निषेचित होने के बाद एक अन्य मानवीय शरीर को उत्पन्न करने की शक्ति होती है, जो वर्षों तक परिपक्व होता रहता है, परिपक्व होने पर अपनी आश्चर्यजनक रूप से छोटी-छोटी बातों तक में माता-पिता के शरीर से समानता रखता है और जिस विशिष्ट व्यक्ति या परिवार से उसकी उत्पत्ति हुई है, उसकी बहुत सी छोटी-मोटी आदतों और व्यवहार-वैचित्र्यों का पुनरावर्तन भी करता है। भाषा इस शारीरिक वंश-परंपरा की विलक्षणता को पर्याप्त विवरण देने में असमर्थ हो जाती है।

जब सर्वप्रथम हम जीव-द्रव्य के अमरत्व और सातत्य के विषय में सुनते हैं तो हम लगभग यह सोच सकते हैं कि आनुवंशिकता की व्याख्या हो चुकी है। क्योंकि यदि वास्तव में जीव-कोश माता-पिता से बच्चे में चलते रहते हैं तो बच्चा माता-पिता के समान ही होगा। किन्तु यहाँ दो कठिनाइयाँ हैं जो आसानी

से छूट जाती हैं। यद्यपि जीव-कोश वही हैं जो माता-पिता में थे यह कैसे होता है कि काय-कोशिका और बच्चे के शरीर में सभी अंग अपने माता-पिता के अंगों की तरह ही होते हैं ? हम नहीं जानते। किन्तु क्या बच्चे के जीव-कोश **वही होते हैं,** जो माता-पिता के हैं—या वे केवल समान ही होते हैं ?

एक उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देगा। एक चूहों का जोड़ा अनाज के भंडार में रखिए। हर एक चूहे के अंग में अपना एक जर्मप्लाज़्म का भाग होता है, इसका कुछ भाग उसके बच्चों को अंतरित हो सकता है। किन्तु थोड़े ही समय में उस चूहे के जोड़े से सौ चूहे हो जाएँगे और उनमें से प्रत्येक में प्रजनन-द्रव्य उतना ही होगा जितना कि उनके मूल माता-पिता में था। स्पष्ट है कि जर्मप्लाज़्म का मौलिक भाग पचास गुना हो गया है और नए भागों ने मूल की सभी विशेषताएँ "वंशागत" की हैं। इसे इस प्रकार रखते हुए हम यह देख सकते हैं कि आनुवंशिकता सातत्य अथवा अमरत्व के सिद्धांत के द्वारा नहीं समझायी गयी है।

अब हम इस बात पर विचार करते हैं, तो इसका मतलब होगा प्रक्रिया और स्वरूप के अलावा पीढ़ी दर पीढ़ी कुछ भी निरंतर नहीं **चलता;** और यह कहना कि स्वरूप निरंतर चलता है यही कहने के बराबर है कि बालक अपने माता-पिता के अनुरूप होता है। दूसरे शब्दों में पारेषण ही आनुवंशिकता है। जर्मप्लाज़्म के सातत्य का सिद्धांत हमारे लिए यह समझना और सरल कर देता है कि किस तरह आगे आने वाली पीढ़ियाँ मूलतः वही रहती हैं क्योंकि वे **एकसमान** जर्मप्लाज़्म से ही उत्पन्न होती हैं—**उसी** जर्मप्लाज़्म से नहीं, किंतु जब हम एकसमान जर्मप्लाज़्म कहते हैं, तो हम आनुवंशिकता के समस्त रहस्य को स्वीकार कर रहे होते हैं। जो बात हम भूल जाते हैं वह यह है कि बालक और माता-पिता दोनों में जीव-कोशों के विभाजित होने के कारण जर्मप्लाज़्म की मात्रा निरंतर बढ़ जाती है और इस विभाजन में ही आनुवंशिकता का मूल रहस्य छिपा हुआ है।

हमें यह भी नहीं सोचना चाहिए कि जीव-कोश की संरचना के नवीन ज्ञान ने आनुवंशिकता की विस्मयता को समझा दिया है। टी० एच० मॉर्गन तथा उनके सहयोगियों द्वारा अमरीका में प्रस्तावित तथा प्रतिपादित जीन सिद्धांत ने जीव-कोश के वैज्ञानिक ज्ञान को बहुत व्यापक कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है यह बहुत से आश्चर्यों का वास्तविक पुंज है। मेन्डल ने यह दिखला दियां है कि द्वि-पैतृक दाय में माता-पिता के बहुत से लक्षण और चिह्न-विशेष बच्चों में विशेष एकक के रूप में वितरित हो जाते हैं जो मिश्रित अथवा मिल नहीं जाते और यह सदा ही एक निश्चित नियम के अनुसार होता है। अब यह जान लिया गया है कि इस वंश-परंपरा की विशेषता का स्रोत जीव-कोश की संरचना में पाया जाता है। प्रत्येक कोश में एक निश्चित मात्रा में क्रोमेटिन का द्रव्यमान होता है जिसे क्रोमोसोम कहते हैं। पौधों और पशुओं की प्रत्येक जाति के कोश में क्रोमोसोम की

एक निश्चित लक्षण-युक्त संख्या होती है। सूक्ष्मदर्शी यंत्र इन क्रोमोसोमों के विभिन्न अंगों में भेद करने में असमर्थ है, किन्तु हम यह जानते हैं कि वह **जीन** कहे जाने वाले बहुत से अलग-अलग कणों से बनता है। जीन अलग-अलग व्यक्ति होते हैं, प्रत्येक दूसरों से भिन्न और वंश-परंपरा के किसी न किसी लक्षण को लिए होता है जो आगे आने वाली पीढ़ी अपनाती है। जीन "बहुत ही बहुरूपी और अत्यन्त रूप से सुनिश्चित कार्यों के अलग-अलग एकक होते हैं, संभवत: वे जीवन के अंतिम एकक होते हैं।"[1]

जीवों के वास्तविक संघटन के विषय में हम बहुत थोड़ा जानते हैं। हमें यह विश्वास अवश्य करना चाहिए कि उनका अस्तित्व होता है, क्योंकि केवल इसी ढंग से वंश-परंपरा के तथ्यों को बतलाया जा सकता है। आनुवंशिकता और विभिन्नता इसी कारण होती हैं कि जीन एक निश्चित ढंग से चुने जाते हैं और वितरित होते हैं। यह कहना आनुवंशिकता की ज्ञान-प्राप्ति में हमारी कोई सहायता नहीं करता कि एक तरह की यांत्रिकता होती है जिसे माइटासिस कहते हैं, जो "आनुवंशिकता एककों के एक कोश से दूसरे कोश की ओर समभाव गति से जाने को देखती है।" और न ही वह नानात्व के अनुपात को समझने में सहायक होता है ताकि यह कहा जाए कि एक दूसरी यांत्रिक प्रक्रिया है जिसे माइओसिस कहते हैं, "यह प्रक्रिया प्रत्येक माता-पिता के मातृक और पैतृक जीनों को आपस में मिला देती है और उपस्थित पैतृक जीनों का कई प्रकार से छँटाव करती है,"[2] और इस प्रकार प्राकृतिक चुनाव को कार्य करने के लिए सामग्री प्रदान कर देती है।

यहाँ तक कि "यांत्रिक प्रक्रिया" शब्द का भी एक प्रश्नात्मक पहलू है। जीव-कोशों में जो है, वह हमें लगता है कि पौधों और पशुओं की जातियों को आनुवंशिकता के माध्यम से चलाने के लिए अद्भुत **प्रयुक्तियाँ** ही हैं। यंत्र निश्चित रूप से प्रयुक्तियाँ ही हैं—किन्तु किन्हीं लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कुछ कारकों की प्रयुक्तियाँ। यह सब ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई अंतर्निहित बुद्धि या कोई संयोग या धक्का, किसी उद्देश्य की ओर बढ़ने के लिए प्रयत्नशील है, जब कि लक्ष्य जाति की विभेदकता और उसका चलती रहना दोनों ही हैं। हम निश्चय ही प्रकृति को व्यक्ति रूप में सोचकर उसे निर्देशक कारक मान सकते हैं; या फिर हम यहाँ "अंतस्तत्त्व" अथवा **जीवन शक्ति** का प्रवेश कर सकते हैं; अथवा अंत में हम "यांत्रिक प्रक्रिया" शब्द मात्र का प्रवेश यहाँ बिना यह बतलाए कर लें कि यांत्रिक प्रक्रिया ऐसे आश्चर्य-जनक कार्य कैसे कर सकी। हम यह नहीं जानते कि जीव-कोश में कोई चीज़ ऐसी है जो यांत्रिक प्रक्रिया का उत्तर दे सके। जो बातें इस समस्त जटिल

1. H. H. Newman, *Evolutiqn Yesterday and Today* (The Century of Progress Series), p. 145.
2. वही, पृष्ठ 122.

प्रक्रिया में होती हैं जिसे हम आनुवंशिकता कहते हैं, वे सबसे अच्छी तरह इन शब्दों में बतलाई जा सकेंगी, जैसे संघर्ष, प्रतिभा, आविष्कार, उद्देश्य, योजना करना, युद्ध-कौशल, आत्म-निरंतरता, तथा आत्म-अभिव्यक्ति करने की इच्छा। निश्चय ही हमें ऐसे मानवत्वारोपी बलों को स्वीकार कर लेने का कोई अधिकार नहीं है जैसे कि इन शब्दों में समाविष्ट हैं और न ही हमें इस समस्त प्रक्रिया को यांत्रिक कहने का कोई अधिकार है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि जीन तो स्वयं जीवन के ही एकक हैं। हम इनके आंतरिक अस्तित्व के विषय में कुछ नहीं जानते। वे उतने ही जटिल अंग हो सकते हैं जितने कि स्वयं कोश होते हैं। यदि हम चाहें तो उन्हें रसायन के छोटे टुकड़े कह सकते हैं, हम उन्हें अंदर स्थित देवत्व भी कह सकते हैं। उनको आश्चर्यजनक ढंग से संयुक्त होते तथा उनसे उत्पन्न अद्भुत परिणामों से निष्कर्ष निकालते हुए हम कह सकते हैं कि जीव जीनों की तरह व्यवहार करते हैं।

मैंने आचार्य न्यूमेन की सेन्चुरी ऑफ़ प्रोग्रेस सीरीज़ की एक श्रेष्ठ पुस्तक का हवाला दिया है। उसके द्वारा दिया गया आनुवंशिकता की प्रक्रिया का वर्णन सुदृढ़ रूप से वैज्ञानिक है, तथापि वह सामान्य रूप से कुछ ऐसे शब्द प्रयुक्त करता है, जैसे विकास में "निर्देशक कारक", एक ऐसी यांत्रिक प्रक्रिया जो "आनुवंशिकता के एककों के साम्यिक वितरण को देखती है।" वह कुछ उत्परिवर्तनों को अन्य की "अपेक्षा बेहतर" और ऊतकों तथा अंगों के बारे में यह कहता है कि वे "एकता और सामंजस्य के साथ कार्य करते हैं।"[1]

यह स्पष्ट है कि जीव-कोश में जो कुछ होता है उसका यांत्रिक भाषा में वर्णन करना सरल नहीं है। तो भी विकास का रहस्य यहीं पर केन्द्रित प्रतीत होता है। यहीं पर उत्परिवर्तनों की उत्पत्ति होती है और वर्तमान समय में और उत्परिवर्तनों में अंगीय विकास की कुंजी को ढूँढ़ा जाता है। वाइज़ली टेनिसन ने एक दरार वाली दीवाल में फूल होने के विषय में कहा है कि यदि हम सभी के विषय में सभी बातें जान सकते होते तो हमें ईश्वर और मनुष्य क्या है यह भी जानना चाहिए था। किन्तु जीवविज्ञानविद् हमें यह सिखाते हैं कि यह तो फूल का जीवकोश ही है जिसमें वास्तव में रहस्य है।

यद्यपि निस्सन्देह यह सत्य है कि जीवविज्ञानविदों ने आनुवंशिकता के रहस्य के स्थल को खोज लिया है, तथापि, हमें इस दिशा में आगे के अध्ययन के लिए पूरी रुचि के साथ प्रतीक्षा करनी चाहिए। विशेषकर हमें भौतिकी की खोज के उन परिणामों की प्रतीक्षा करनी चाहिए जो उसने आनुवंशिकी पर किए हैं। आचार्य व्हाइटहेड निम्नांकित उद्धरण में उसका हवाला इस तरह देते हैं :

---

1. H. H. Newman, *Evolution Yesterday and Today* (Williams and Wilkins Company, 1932), pp. 104, 107, 123, 156.

भौतिकी के आधुनिक सिद्धांत के सामान्य अनुमान ने उसकी अन्य विज्ञानों में हुई अनुप्रयुक्तता से प्राप्त निष्कर्षों को प्रभावरहित कर दिया है, जैसे कि शरीर-क्रिया-विज्ञान में अथवा स्वयं भौतिकी में। उदाहरण के लिए, जब आनुवंशिक-विज्ञानविद् जीनों का आनुवंशिकता का निर्धारक होना मानते हैं तो द्रव्य के पुराने संप्रत्यय का साम्यानुमान कभी-कभी उन्हें उस विशेष पशु शरीर के प्रभाव की उपेक्षा करने के लिए प्रेरित करता है, जिसमें कि वे कार्य कर रहे हैं। वे यह पूर्वानुमान कर लेते हैं कि द्रव्य का गुटका हमेशा एकसमान ही रहता है, उसके परिवेश के चाहे जितने भी परिवर्तन क्यों न हो जाएँ। जहाँ तक आधुनिक भौतिकी का संबंध है ऐसे लक्षण जीनों में परिवर्तन ला भी सकते हैं और नहीं भी ला सकते, वे परिवर्तन जो कुछ मानों में तो बहुत महत्त्वपूर्ण हैं; हालाँकि अन्य मानों में नहीं हैं। अतः इन जीनों के सिद्धांत के आधार पर वंश-परंपरा के विषय में किसी प्रागानुभविक युक्ति का अनुमान नहीं किया जा सकता। वास्तव में तो हाल ही में शरीर-क्रिया-विदों ने यह पाया है कि अपने परिवेश के अनुसार जीन में कुछ मानों में परिवर्तन हो जाता है। पुराने सामान्य ज्ञान के मत के पूर्वानुमान अभी भी जीवित हैं, हालाँकि यह मत स्वयं एक मौलिक वर्णन के तौर पर छोड़ा जा चुका है।[1]

प्राकृतिक चुनाव

प्राकृतिक चुनाव का दार्शनिक महत्त्व क्या है ? वह विकास के ऊपर उठते हुए दिखाई देते हुए मोड़ पर अंगों की बढ़ी हुई जटिलता के क्रमिक स्तरों पर, हिस्सों के बढ़ते हुए भेदों पर और मूल प्रवृत्तियों और बुद्धि पर क्या प्रकाश डालता है ? यदि वह समझ सके, तो दर्शन के विद्यार्थी के लिए यह जानना आवश्यक है कि वह प्राकृतिक चुनाव क्या है, क्योंकि इस शताब्दी के आरम्भ से डार्विन के सिद्धांत के जो क्रमिक पुनरीक्षण हुए हैं उनमें अंगीय विकास में प्राकृतिक चुनाव का महत्त्व बहुधा बतलाया गया है। यदि हम वर्तमान अंगीय विकास के जीव-वैज्ञानिक सिद्धांत पर निम्न प्रकार से एक वक्तव्य देने का प्रयत्न करें तो यह बात समझ में आ जाएगी। वंश-परंपरागत भेदों से ही विकास होता है, अर्थात् जर्मप्लाज़्म से, विशेषकर जीन में उत्परिवर्तन होता है, जिसका कारण अज्ञात है। जब इन परिवर्तनों का लक्षण ऐसा होता है कि वे जीव के लिए अनुकूल सिद्ध हों तो वे प्राकृतिक चुनाव में परिरक्षित होते हैं। इस तरह के परिवर्तन संचित होते रहने से नए प्रकार और यहाँ तक कि नई जातियाँ भी उत्पन्न हो सकती हैं।

---

1. A. N. Whitehead, *Nature and Life* (The University of Chicago Press, Chicago, 1934), pp. 13, 14. प्रकाशकों की अनुमति से।

डार्विन की प्राक्कल्पना की कठिनाइयों को पूरी तौर से नहीं समझा गया है। इसका कारण यह है कि सर्वसाधारण मनस् प्राकृतिक चुनाव पर **मानवत्व का आरोपण** कर देता है और उसे कार्यों को बुद्धिमत्ता से निर्देशित करने वाला, लालन-पालन करने वाला, **युद्ध-कौशल** का उपयोग करने वाला, उत्साह दिलाने वाला और बढ़ावा दिलाने वाला मानता है; दूसरे शब्दों में उसे वही सब कुछ समझता है जैसा कि कई व्यक्ति प्राकृतिक नियमों के बारे में सोचते हैं कि वह ऐसा **बल** अथवा **कारक** है जिससे विकास का कार्य पूरा होता है। जॉन बोरो ने कहा है, "जिसे डार्विनवाद कहते हैं वह पूरी तौर से प्रकृति का मानवत्वारोपीय मत है—प्रकृति को मानवीकृत रूप में प्रस्तुत किया गया है और उसे ऐसे ही कार्य करते समझा गया है, जैसे मनुष्य करता है। जिसे प्राकृतिक चुनाव कहते हैं वह प्राणी जगत् में मनुष्य का चुनाव ही है।"[1]

जब हम यह अनुभव करते हैं कि प्राकृतिक चुनाव किसी प्रकार का कर्मक नहीं है, वह जीवन में विप्लव को रोकने की प्रकृति की प्रक्रिया का नाम मात्र है, तब यह हमारी समझ में आता है कि दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी को इस स्रोत से कितना कम ज्ञान प्राप्त हुआ है। किसी ने कहा है कि वास्तव में प्राकृतिक चुनाव तो प्राकृतिक अस्वीकार है; किन्तु कठिनाई यह है कि प्राकृतिक चुनाव अथवा प्राकृतिक अस्वीकार दोनों ही शब्द एक प्रकार के बुद्धिमत्ता से बिना पहल किए हुए **निरीक्षण, मूल्यांकन** और अंतिम **निर्णय** की ओर संकेत करते हैं। समस्त विकासवादी प्रक्रिया कुछ बातों का मूल्यांकन करना समाविष्ट करती है, कम से कम हम जितना अधिक उसका अध्ययन करते हैं उसकी योजना उतनी ही स्पष्ट होती दिखाई देती है, किन्तु हमें अपने दिमाग़ से यह धारणा निकाल देनी चाहिए कि प्राकृतिक चुनाव ही मूल्यांकन करने वाला कुटिल कर्मक है। प्राकृतिक चुनाव केवल उन व्यक्तियों को हटा देता है जो संघर्ष सहन नहीं कर पाते और परिवर्तनों के अनुकूल अपने को अभियोजित नहीं कर पाते। यदि हम प्राकृतिक चुनाव को एक पुलिस का सिपाही मान लें, जो विकास के द्वार की रक्षा करता है और उन सबके सिर पर चोट करता है जो संघर्ष के लिए नवीन और अच्छे तरीके से अपने आपको उपस्थित नहीं करते, तब भी विकास का रहस्य उस अवरोधक पुलिस के सिपाही में नहीं, बल्कि उन **व्यक्तियों की प्रतिभा में मिलेगा जिन्होंने नए साधनों की खोज की है**। किन्तु हम स्वयं प्राकृतिक चुनाव को एक **चुनावकर्ता** भी न मान लें जो कि अनुपयुक्तों में से उपयुक्त का चुनाव कर लेता है, जैसा कि पालतू पशुओं के कृत्रिम प्रजनन में होता है। **सभी** प्राणी एक द्वार से निकलते हैं और उनमें से अनुपयुक्त भूख से मर जाते हैं। स्पष्ट है कि हमें प्रगति के स्रोतों तथा विकास के रहस्यों के उद्गमों के लिए प्राकृतिक चुनाव के

1. John Burroughs, *loc. cit.*, p. 242.

अलावा और कहीं देखना होगा।

> और यही सब कुछ प्राकृतिक चुनाव के विषय में है। यह छँटनी की प्रक्रिया का नाम है जो जीव-जगत् में निरंतर ही हमारे चारों ओर चल रही है। किन्हीं भी अर्थों में वह सृजनात्मक नहीं है, वह किसी भी वस्तु को जन्म नहीं देती, किन्तु स्थित रूपों को बनाए रखती है और उन्हें कड़ा कर देती है...। हमारा तात्पर्य यह है कि वृद्धि करने की एक मूल प्रवृत्ति होनी चाहिए जिसे प्राकृतिक चुनाव उत्पन्न करने में असमर्थ है और जिसे वह केवल और अधिक गति दे सकता है या बढ़ा सकता है। वह बीज को पंख या स्प्रिंग या हुक या पक्षियों को पर नहीं दे सकता; या मछलियों के कांटे भी नहीं दे सकता, किंतु वह इन सभी चीज़ों को पूर्ण कर सकता है। इनमें से अपनी तरह का जो सबसे अनुकूल होता है उसे जीवित रहने का सबसे अधिक मौका रहता है।[1]

इसलिए, दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी को, जो विकास के रहस्यों के विषय में कुछ जानने के लिए उत्सुक है, एक निराशा स्पष्ट रूप से होती है। उसकी अभिरुचि निषेधात्मक अवरोध प्रक्रिया से प्रतिभा के बलों, अथवा नवीन व्यूह-कुशलताओं की ओर मुड़ जाती है, जो व्यक्ति की प्रतियोगिता की विध्वंसकारी शक्ति से बचने के लिए **नया साधन** प्रदान कर देती है। अनुकूलतम का जीवित बने रहना नियम जिसका सर्वप्रथम हर्बर्ट स्पेन्सर ने उपयोग किया था, से भी किसी मदद का आश्वासन नहीं मिलता, क्योंकि यह भी प्राकृतिक चुनाव के कार्य को दूसरे रूप में अभिव्यक्त करना ही है। इसका अर्थ यह नहीं कि जो प्राणी परम अनुकूल हैं—अर्थात् सर्वोत्तम हैं—जीवित रहते हैं, किंतु वे जीवित रहते हैं जिनके पास ऐसे गुण होते हैं जो उनके निकटतम परिवेश के सबसे अधिक अनुकूल होते हैं।

एक अति-कार्यभारयुक्त शब्द

समष्टि रूप से डार्विनवाद समेत जैव विकास के सभी सिद्धांत दर्शन के विद्यार्थी के लिए, जो जीव-जगत् को समझने का प्रयत्न कर रहा है, कुछ-कुछ निराशाजनक हैं। जितना हमने समझा था उसमें उससे भी अधिक दरारें और ऐसे तत्त्व हैं जिनकी व्याख्या नहीं की गई है और वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थानों पर देखे गए हैं। इसमें सबसे अधिक निराशाजनक स्वयं विकास के कारणों को निश्चित करने के लिए किसी सर्वमान्य सिद्धांत का असफल होना है। वास्तविकता यह है कि यह विकास शब्द अति कार्यभार से लदा है। पिछली शताब्दी की समाप्ति और इस शताब्दी के आरम्भ में विकास संबंधी विचारों का प्रायः निर्विरोध प्रभाव था। उसका प्रयोग अपनी मौलिक व्यावहारिकता से कहीं अधिक

---

1. John Burroughs, *loc. cit.*, p. 246—47.

बढ़ाकर किया गया था और उसे सार्वभौमिक प्रयोग में लाया गया।

हमने अकार्वनिक, ब्रह्मांडीय, तारकीय, भूगर्भ-सम्बन्धी और परमाण्वीय विकास के विषय में सुनना आरम्भ कर दिया था। यहाँ तक कि "उन्मत्त इलेक्ट्रॉन" भी परमाणुओं में विकसित हो गए। जड़तत्त्व ने स्वयं इस वृद्धि की प्रक्रिया की उत्पत्ति की। सामाजिक विकास ने पहले ही अपना रूप दिखला दिया था और हमने देखा कि वह नया नियम भाषा, विचारों और आस्थाओं, परिवारों, चर्च और राज्य, और सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं की वृद्धि में भी लागू किया गया। तथ्य की बात तो यह है कि उस प्रथम उन्माद के दिनों में किसी के दिमाग़ में यह बात नहीं आई कि वास्तविकता का कोई ऐसा भी स्तर है जो विकास के क्षेत्र से छूटा हुआ है। कुछ भी निश्चित अथवा अंतिम नहीं है; सृजित कुछ भी नहीं है, हर चीज़ बस बढ़ गई है और बढ़ रही है।

इस उत्साह से वास्तव में वैज्ञानिक अध्ययन को एक नवीन आश्चर्यजनक प्रोत्साहन मिला, क्योंकि जनन-प्रणाली का फल हमारे समक्ष स्पष्ट होना आरम्भ हो गया। उनके आनुवंशिक सम्बन्धों के ज्ञान से हमारास भी वस्तुओं का ज्ञान आश्चर्यजनक रूप से बढ़ गया। किन्तु अभी हाल में विकासवादी दर्शन की कुछ कमियाँ दिखाई पड़नी आरम्भ हो गई हैं। पहले स्पेन्सर द्वारा उन्नति और विकास को एक ही बतलाने पर आपत्ति प्रकट की गई। अभी हाल के युद्धोत्तर इतिहास ने उस आशावादी चित्रण को फीका कर दिया जो स्पेन्सर-डार्विन दर्शन द्वारा अनुप्रेरित मानवता के भविष्य के लिए उन्नीसवीं सदी के उत्साह की विरासत थी। समाजशास्त्रियों को अब समाजीय विकास के विषय में बहुत कम कहना है। समाज परिवर्तित होता है, किन्तु व्यवस्थित रूप से बहुत कम ही होता है। कभी-कभी उसके परिवर्तन अचानक और विध्वंसकारी होते हैं।

पुनः, भूतत्त्व का प्राक्कालपनिक विकास, जिसके अनुसार रासायनिक तत्त्व किन्हीं हाइड्रोजन के समान सरल प्रोटो तत्त्वों से उत्पन्न हो सकते हैं, केवल एक विकासवादी अथवा विकसित होने की प्रक्रिया मात्र सिद्ध हो जाती है। वह निश्चय ही मानवीय कार्यों में वास्तुशिल्पीय उदय की भाँति निर्माण की प्रक्रिया होगी। हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि डार्विन द्वारा अध्ययन किये हुए जीव-जगत् की परिवर्तन शृंखला में या क्रमिक सोपानों में, जिनसे जीवन और मरण हुआ है, प्रयोग करने के लिए विकास शब्द उपयुक्त है या कि वृद्धि शब्द। विकास का अर्थ है, आवरण हटाना, अनावृत करना, खोलना अथवा पर्तों को खोलना। वह ऐसी प्रक्रिया की ओर संकेत करता है जिसमें अंतर्निहित बात अभिव्यक्त होती है, जो शक्य है वह यथार्थ होता है। ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे जैव विकास किन्हीं भी अर्थों में अनावृत करने की प्रक्रिया मालूम हो। इसके विपरीत वह स्पष्ट रूप से पश्चजनन अथवा निर्माण के लक्षणों वाला है। यहाँ तक कि डार्विन का सरलतम परिवर्तन भी बहुत कुछ उत्परिवर्तन है, एक वास्तविक वृद्धि, नवीनता, नया सृजन

और यथार्थयुक्त है। इस समस्त आंदोलन का वर्णन डार्विन तथा उसके पूर्ववर्तियों ने बड़ी विलक्षणता से किया है और उसके बाद में आने वाले चिंतकों को और भी ठीक रूप में **पश्चज़ननवादी** कहा जाना चाहिए। किन्तु इस शब्द पर रोक है—इसके साथ ही जीव-विज्ञान में इसका एक तकनीकी अर्थ है जो उसे सामान्य अर्थ में प्रयोग किए जाने पर रोक लगा देता है। किन्तु फिर भी वह **ऊपर उठने** का अर्थ बोध कराता है न कि **बाहर होने का**।

विकास ऐसी प्रक्रिया भी नहीं है जिसमें शक्य यथार्थ बनता है। हम मोटर गाड़ी के विकास की बात करते हैं—किन्तु इस कला की आधुनिकतम प्रवीण उत्पत्ति उस अपरिष्कृत मशीन में नहीं थी। प्रत्येक सुधार एक नया सृजन, एक नया विचार हुआ है।

टिन्डाल ने कहा है कि उसने भूत-तत्त्व में जीवन उत्पन्न करने की शक्ति और लक्षणों को देखा है। यह आलंकारिक मात्र था, जो उन्नीसवीं शताब्दी के दर्शकों को उत्साहित करने के लिए उपयुक्त था। चूँकि हम विकास के कारणों से अवगत नहीं हैं, हम भूत-तत्त्व में किसी संवृद्धि करने वाली शक्ति को भी नहीं जानते। यहाँ पर साध्याधार वाक्य के लिए एकमात्र प्राधिकार विकास शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ हो, इस कथन की पुष्टि करने के लिए एकमात्र युक्ति यह होगी कि चूँकि जीवन की उत्पत्ति भूत-तत्त्व से हुई है, वह शक्य रूप में उसमें निहित था। कोई यह भी कह सकता है कि वह हाइड्रोजन और ऑक्सीजन में जल और उसके रूपों की शक्ति को या बन्दर के बर्ताव में अनंत सूक्ष्म कलन की शक्ति तथा आश्वासन को देख सकता है। जल प्यास को शांत करता है, मुरझाते हुए पौधे को पुनर्जीवन देता है, और शून्य डिग्री सेन्टीग्रेड पर जम जाता है। किन्तु इनमें से किसी भी गुण का आश्वासन हमें हाइड्रोजन या ऑक्सीजन से नहीं मिलता। जल के एक मोलीक्यूल में हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के अलावा कुछ और भी होता है, अर्थात् जल के विशेष लक्षणों के साथ एक विशेष व्यवस्था भी होती है।

तो, संक्षेप में, विकास का अर्थ एक तरह की ऐसी सृजनात्मक प्रक्रिया है, जिसमें वृद्धि के इतिहास के प्रत्येक सोपान पर कुछ नवीन बात दिखलाई पड़ती है। प्रत्येक परिवर्तन में एक रूपांतरण होता है। फ्राँसीसी भाषा का शब्द **तान्सफार्मिस्मे** अंग्रेज़ी भाषा के **इवोल्यूशन** शब्द अथवा जर्मन भाषा के शब्द **एन्तविकेलुंग** से अधिक अनुकूल है। अंग्रेज़ी का शब्द **डिवेलपमेन्ट**, जिसकी परिभाषा करते हुए "किसी भी वस्तु जिसमें एकता निहित है, का प्रक्रमिक प्रावस्था में प्रकटीकरण" कहा गया है, **इवोल्यूशन** शब्द से श्रेयस्कर है, क्योंकि वह आवरण हटाने की प्रक्रिया का बोध नहीं कराता; किन्तु वह वृद्धि अथवा किसी भी बात के युक्त होने की अवधारणा को बतलाने में असफल होता है। जिसे हम इवोल्यूशन कहते हैं वह न किसी वस्तु को अनावृत करना है और न ही वह एकता को प्रकट करना है। वह तो हवाई परिवहन, अथवा यूरोप के साथ टेलिफोन से बातचीत के आविष्कार जैसी

चकित करने वाली शृंखला की भाँति अधिक प्रतीत होता है।

विकास नवीन रूपों और कार्यों का इतिहास है। प्रत्येक नया रूप धन (plus) सूचक है—एक नवीन सृजन है। जब से वुन्ड ने सृजनात्मक संश्लेषण की अवधारणा का परिचय कराया अंग्रेज़ी भाषा का शब्द **क्रियेशन** विज्ञान तथा दर्शन दोनों में सामान्य रूप से प्रयोग में आ रहा है। सृजन का यह अर्थ नहीं है कि कुछ नहीं से किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है। एक वस्तु-शिल्पी गोथिक गिरजाघर का सृजन करता है, किन्तु पत्थर और चूना नहीं बनाता। एक प्रवर्त्तक नवीन संगठन का सृजन करता है, किन्तु वह उन मनुष्यों का सृजन नहीं करता जिनसे संगठन बनता है। सृजन का अर्थ केवल यह है—किसी ऐसी वस्तु का उत्पादन जो नवीन और विलक्षण हो। जैसा अरस्तू ने बहुत पहले ही कहा है कि वास्तविकता सृजन, स्वरूप, संगठन, और कार्य में ही पाई जाती है—न कि केवल उस चीज़ में जिससे जड़-तत्त्व बनता है। जैव विकास आवश्यक रूप से निर्माणात्मक तथा सृजनात्मक है।

अतः जीवन और मनस् की उत्पत्ति अथवा उसकी प्रकृति के सम्बन्ध में हमें बतलाने के लिए डार्विन के पास कुछ भी नहीं है। वह केवल अवर्णित नई घटनाओं की अनंत शृंखला का अभिलेख मात्र प्रतीत होता है; जिसमें एक महान् घटना मनस् है। यदि हम जीवन और मनस् की उत्पत्ति जानना चाहते हैं तो हमें डार्विन से भी आगे चलकर प्रक्रिया के एक गहनतर विश्लेषण में जाना होगा जिसे कहते हैं विकास। यह कोई खोलने की प्रक्रिया नहीं है। यह शक्य से यथार्थ की ओर चलने का क्रम भी नहीं है। इसकी परिभाषा करते हुए यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह व्यवस्थित परिवर्तनों की एक शृंखला है, क्योंकि जहाँ तक ये परिवर्तन विकासवादी हैं वे अव्यवस्थित हैं। उसकी परिभाषा "लौटकर पीछे न आने वाला परिवर्तन होते रहना" करना ठीक है, किन्तु यह संतोषजनक नहीं है। स्पेन्सर की परिभाषा कि विकास एकीकरण तथा भेद करने की एक प्रक्रिया है, उसकी विशेषताओं में से एक तक तो पहुँच जाती है, किन्तु उसकी आंतरिक प्रकृति के विषय में कुछ भी नहीं बतलाती; और स्पेन्सर का यह मशहूर फार्मूला जो प्रकृति में समस्त विकासवादी प्रक्रियाओं के विभागों को यदि नहीं समझाता तो कम से कम उसका वर्णन करता हुआ समझा जाता था, अब ऐसा विश्वास किया जाता है कि "खाली" हो गया है। हम जानते हैं कि विकास समाकलन करने वाला, विस्तारशील, निर्माणात्मक, भूतल पर होने वाला, सृजनात्मक तथा रूपात्मक है। वह सृजनात्मक परिकल्पना का कार्य प्रतीत होता है। वह हमें हमेशा ही कलाकार की कृति की याद दिलाता है। "यदि हम जैव प्रकृति का व्यक्तीकरण कर लें तो वह कम से कम कभी न थकने वाले कल्पनाशील स्रोतों वाला और द्रव्यों पर असामान्य आधिपत्य रखने वाला कलाकार अवश्य होगा।"[1]

1. *The Outline of Science*, edited by J. Arthur Thomson (G. P. Putnam's Sons, New York), III. p. 705, 4 vols.

विकास की तुलना कलाकार की कृति से करना अथवा उसे सृजनात्मक परि-कल्पना की उत्पत्ति मानना चाहे जितना भी आकर्षक क्यों न हो, यह अपने वर्तमान ज्ञान से परे चले जाने की बात है। अभी जहाँ तक हम देख सकते हैं विकास संगठन की एक प्रक्रिया है, नवीन एकात्मक संश्लिष्ट का गठन है जिसकी लाक्षणिक प्रति-क्रियाएँ नवीन गुणों में होती हैं, नए कार्य और क्रियाएँ हैं जो विकास की प्रगति के सोपानों को दर्शाती हैं। अनन्तिम रूप से विकास की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि यह संगठन की वह प्रक्रिया है जो बढ़ी हुई संश्लिष्टता तथा एकीकरण की ओर झुकाव रखे हुए है और नवीन संरचनाओं में अभिव्यक्त बढ़ी हुई निश्चितता और स्थायित्व है जिनमें से प्रत्येक अपनी लाक्षणिक प्रतिक्रियाओं के साथ है। और इस तरह जगत् को वह नए गुण, नए बल और कार्य के नए पर्याय देता है और हमें अधिक नियंत्रण तथा व्यापक स्वाधीनता की ओर ले जाता है। मनुष्य का शरीर ऐसी ही नवीन संरचना है; और मानव-मनस् ऐसी शक्ति और कार्य का ऐसा पर्याय है।

मनुष्य का विकास

लगभग तीस हज़ार वर्ष पूर्व मध्य यूरोप में एक जाति निवास करती थी जिसे "क्रो-मग्नन" कहते थे। वे लम्बे, सीधे और सुन्दर होते थे और उनके मस्तिष्क हमारे मस्तिष्कों के समान ही बड़े या उनसे भी अधिक बड़े थे। उन्होंने अपने रहने की गुफाओं की दीवालों पर हस्तचित्र छोड़े हैं जो उनके उच्च कलात्मक कौशल को प्रदर्शित करते हैं। उनके समय से अब शारीरीय रूप से अथवा शरीर-क्रियात्मक रूप से मनुष्य कुछ परिवर्तित हो गया है।

किंतु यदि हम और पीछे चलकर भू-गर्भीय इतिहास में आएँ, तो कहानी भिन्न है। पिछले पाँच लाख वर्षों के समय से जीवाश्म के अवशेष यह बतलाते हैं, नीची भौंहों वाला हर व्यक्ति उस समय के भयानक पशुओं से भी इतना अधिक चतुर और श्रेयस्कर था कि वह अब तक बना रह सका। क्या उस **उषोमानव** का चातुर्य ही आज मानव-बुद्धि में विकसित हो गया है?

मनुष्य के विकास के प्रश्न पर जो विवाद उठ खड़ा हुआ है उसने मनुष्य और कपि के बीच की "खोई हुई कड़ी" को ढूँढ़ना बहुत रुचिकर बना दिया है और समय-समय पर भूगर्भीय संग्रहों से प्राप्त खोपड़ियों तथा उनके टुकड़ों और कुछ खास हड्डियों और दाँतों का मनुष्य के इन अंगों के साथ अद्भुत साम्य होने से इस रुचि को और भी प्रोत्साहन मिलता है। इन खोजों में सबसे प्राचीन जावा का मनुष्य अथवा **पिथेकेन्थ्रोपस इरेक्टस** था जो पाँच लाख वर्ष पूर्व जावा के भू-गर्भीय संग्रहों में स्थित था। उसके पश्चात् हाइडलबर्ग मानव आया और तब नीएंडरथाल मानव के अनेक अवशेष आए, जिसके बारे में विश्वास किया जाता है कि यूरोप में पचास हज़ार वर्ष पूर्व रहता था। ये व्यक्ति छोटे कद के और अत्यन्त शक्तिशाली थे। उनकी

भौंहें गोत्ररेली तथा माथा नीचा होता था। वे अलाव के चारों ओर भद्दे तरीके से घूमते अथवा पल्थी मार कर बैठ जाते थे और सुंदर चकमक पत्थरों को तराशा करते थे। अन्य खोजें थीं पिल्टडाउन मानव की, जो संभवत: दो लाख वर्ष पूर्व इंग्लैंड में रहता था, और रोडेशियाई मानव और वहुत प्राचीन पेकिन मानव जो 1929 में चीन में प्राप्त हुआ था।

मानव-विज्ञानविदों में सामान्यत: अब यह माना जाता है कि इनमें से कोई भी आज के मनुष्य या **मेधावी मानव** के पूर्वज नहीं थे। वे लोग "अल्पकालीन मानव" कहे जा सकते थे, जिनकी सह-शाखाएँ आज के मनुष्य की ओर बढ़ने का नेतृत्व करती रहीं। वे प्रकृति के सफल प्रयोगों में से नहीं थे; वे विलीन हो गए।

> चूंकि जाँच अभी भी बहुत कम हुई है—अस्पष्टता से खोजा हुआ इतिहास, अस्थायी कपि और अस्थायी मनुष्य के प्रयोगों तथा परिवर्तनों के युगों की, केन्डेल्ब्रा की शाखाओं के समान वंश-वृक्ष की झलक प्रस्तुत करता है। प्रत्येक उस व्यक्ति को, जो तथ्यों को स्पष्टता से देखता है, इस अर्ध-सत्य की अशिष्टता का निश्चय ही विरोध करना चाहिए कि "मनुष्य बंदर से पैदा हुआ है।" उन कई लोगों के लिये जो, वैज्ञानिक विवरण से परे, दार्शनिक अथवा धार्मिक व्याख्या की ओर जाना चाहते हैं, विकास प्रक्रिया की तह में प्रयोजन के निहित रहने के विचार को समाप्त कर देना असंभव है।[1]

हाल के विकास सिद्धांत

अभी हाल के दार्शनिक सिद्धांतों का यह विश्वास है कि स्वरूपात्मक प्रभाव अथवा बल प्रत्येक विकास के स्तरों पर सभी में एक-समान है। पिछले अध्याय में संकेत किया हुआ बर्गसाँ का **क्रिएटिव इवोल्यूशन** इस विचार का एक सफल स्रोत है। दक्षिण अफ्रीका में ख्याति-प्राप्त जनरल स्मट्स ने एक पुस्तक **होलीज्म एन्ड इवोल्यूशन**[2] लिखी है, जिसमें वे यह विचार प्रस्तुत करते हैं कि जगत् में एक ऐसा प्रयुक्त कारक है जो व्यवस्थित, एकीकृत तथा संश्लेषित करता है। जगत् पूर्ण की ओर अग्रसर होता है। जगत् समुच्चयों का संग्रह नहीं है—किंतु एककों का तंत्र है, सम्पूर्णों का तथा जीवों व अंगों का, जैसे परमाणु, अणु, कोश, पौधा, पशु—तथा अंत में मनुष्य के व्यक्तित्वों का।

जनरल स्मट्स का मत प्रकृति के उस जैविक सिद्धांत के बहुत समीप है जिसने यंत्रवाद तथा प्राणवाद के मतभेदों को समाप्त करने के लिए बहुत कुछ

1. J. Arthur Thomson, *The Gospel of Evolution*. (G. P. Putnam's Sons, New York, 1926 की अनुमति से।)
2. Hon. J. C. Smuts, *Holism and Evolution*. (MacMillan Company, 1928.)

किया है। जैसा व्हाइटहेड कहते हैं, "विज्ञान एक नए पहलू से वस्तुओं को लेता है, जो न तो शुद्ध रूप से भौतिक है और न ही शुद्ध रूप से जैविक। वह जीवों का अध्ययन बनता जा रहा है। जैविकी वृहत्तर जीवों का अध्ययन है; जबकि भौतिकी छोटे जीवों का अध्ययन है।"[1] गेस्टाल्ट के द्वारा मनोविज्ञान के संरूपण पर बल देना कुछ ऐसे ही विचारों को परिलक्षित करता है, जैसा कि निर्गमन का सामान्य सिद्धांत भी परिलक्षित करता है।

ब्रह्मांडीय विकास

बूडिन ने अपनी पुस्तक **कोस्मिक इवोल्यूशन**[2] में एक बहुत ही सावधानी से तैयार किए हुए विकास के सिद्धांत को प्रस्तुत किया है जो इस नियम पर आधारित है कि बिना कारण कुछ भी नहीं होता, और डार्विन जैसे सिद्धांत भी जैविक विकास के कारणों को नहीं बतला सकते। उसका विश्वास है कि विकास का कारण "ब्रह्मांडीय परिवेश के ऊर्जा प्रतिमानों के साथ जीवन के सृजनात्मक अनुकूलन" में है। विकास सृजनात्मक संश्लेषण है—किंतु ऐसा संश्लेषण, "जिसके लिए सभी आवश्यक स्थितियाँ उपलब्ध की जाती हैं", और वे विश्व के ऊर्जा प्रतिमानों द्वारा ही दी जाती हैं। बुद्धि, सृजनात्मक परिकल्पना, तथा सौंदर्य का ज्ञान वास्तविकता के ऊर्जा प्रतिमान के लिए सृजनात्मक प्रतिक्रियाओं की तरह विकसित हो गए हैं। यदि "प्रकृति में उच्चतर स्तरों की ओर आगे बढ़ना है तो उन स्तरों का अस्तित्व आवश्यक है।" जैसा कि अरस्तू का भी विचार है, वस्तुएँ अन्धकार तथा दुर्व्यवस्था से उत्पन्न नहीं होतीं। विकास पृथ्वी पर "पूर्वस्थित ब्रह्मांडीय प्रतिमान" के द्वारा निर्देशित होता है।

ये सभी बातें अत्यंत रोचक हैं और हमें विकास के उच्चस्तरीय प्रत्ययवादी दृष्टिकोण से देखने के योग्य बनाती हैं।

सृजनात्मक विकास

अध्याय 9 में बहु-चर्चित तथा सापेक्ष रूप से उद्भूत विकास के नए सिद्धांत की ओर ध्यान दिलाया गया था। यहाँ विशेष रूप से सी० लायड मॉर्गन की पुस्तक **इमर्जेन्ट इवोल्यूशन** का हवाला देना आवश्यक है। वह कहता है कि विकास स्तरों की एक शृंखला है जिनके प्रत्येक नवीन स्तर पर "संबंधत्व का एक नया रूप" संघटित होता है—या हमें कहना चाहिए कि संभवतः संघटन का एक नया ढाँचा, और इससे संबंधत्व का नया रूप, कुछ नया "उद्भूत" होता है जो उस स्तर से आगे की "घटनाओं" को निर्धारित करने में **प्रभावकारी** होता है। इस प्रकार जड़-

1. *Science and the Modern World*, p. 145.
2. John Elof Boodin, *Cosmic Evolution*, chaps. II, III.

तत्त्व से जीव उद्भूत होता है—और जीव से मनस्। जगत् इन चढ़ते हुए स्तरों वाला एक पिरामिड है।

> उसके आधार के समीप संबंधी संरचनाओं के साथ तथा इस गुण के साथ जिसे हम परमाणुकता कह सकते हैं परमाणुओं का एक समूह होता है। इस स्तर के ऊपर परमाणु सम्मिलित होकर नए एकक बनाते हैं, जिनका विशिष्ट गुण है आणविकता; और ऊपर प्रगति के एक मार्ग पर, क्रिस्टल होते हैं जहाँ पर परमाणु और अणु नए संबंध में मिलते हैं, जिसे स्थिति को व्यक्त करने के लिए "क्रिस्टलीय रूप" कहते हैं और प्रगति के दूसरे मार्ग पर अन्य प्रकार के प्राकृतिक संबंधों के साथ जीव हैं जो प्राण का गुण प्रदान करते हैं; और भी ऊपर एक नए प्रकार के प्राकृतिक संबंध संघटित होते हैं और उसे व्यक्त करने के लिए पत्रकारों की कटु आलोचना से बचते हुए "प्रवृत्ति" शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।[1]

किंतु उद्भूत तत्त्व कैसे उद्भूत होते हैं? यों कहें कि कौनसा **कारक** है जो जगत् को एक स्तर से दूसरे पर उठाता है? यहाँ पर मार्गन निश्चित रूप से एक शक्ति के अस्तित्व को आवश्यक मान लेता है जिसे वह क्रिया, मनस् अथवा ईश्वर कहता है।

> अच्छा हो या बुरा, मैं ईश्वर को ही अंतःचेष्टा (Nisus) के रूप में स्वीकार करता हूँ, जिसकी क्रिया से उद्भूत तत्त्वों का प्रादुर्भाव होता है तथा उद्भूत विकास की समस्त धारा का निर्देशन होता है। मेरी वैज्ञानिक नीति की व्याख्या के पूरक के रूप में यही मेरी दार्शनिक धारणा है।[2]

यह बात समझनी चाहिए कि **उद्भूत विकास, सृजन विकास** का केवल दूसरा नाम है—बल्कि विकास सृजनात्मक है इस व्यक्त सत्य को वैज्ञानिक भाषा में लाने का ही एक प्रयत्न है। यह बात इस तथ्य पर आधारित है कि संघटन होता है और इस संघटन के परिणामस्वरूप नए गुण-धर्मों तथा नई शक्तियों के साथ नई वस्तुएँ दृष्टिगत होती हैं, और वे बिना पुराने नियमों को रद्द किए, नए नियमों का निर्माण होना आवश्यक कर देती हैं। पुरानी वस्तुएँ, जैसे रासायनिक तत्त्व, अथवा और भी प्रारंभिक वस्तुएँ, जैसे परमाणु अथवा प्रोटॉन और इलेक्ट्रॉन भी नए संबंधों तथा संसर्गों में आ जाते हैं—जिन्हें जीव कहते हैं—और तब कुछ नया दिखलाई पड़ता है, एक नवीनता, अपने ढंग के लक्षणों से युक्त एक नवीन सृजन होता है। उसके पश्चात् आगे चलकर ये नवीन वस्तुएँ भविष्य की घटनाओं को निश्चित करने में कार्यगत हो जाती हैं। अतः जैसा कहा गया है उन्मज्जन सिद्धांत

---

1. C. Lloyd Morgan, F. R. S., *Emergent Evolution*, (Henry Holt and Company), p. 35.
2. *Loc cit.*, p. 36.

तार्किक कठिनाइयों से मुक्त रहेगा, उसे अभी हाल के दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण देन माना जा सकता है। जब हम यह अनुभव करते हैं कि **जीवन** और **मनस्** के समान सर्वोच्च महत्त्व की सत्ताओं की उत्पत्ति को भी इस प्रकार बतलाया जा सकता है तब उसकी महत्ता देखी जा सकती है।[1]

अनेक जीवविज्ञानविद् इस उन्मज्जन सिद्धान्त का स्वागत इस आधार पर करते हैं कि वह जीवविज्ञान के नियमों को भौतिकी तथा रसायन विज्ञान के समकक्ष ला देता है। उदाहरण के लिए जेनिन्स कहता है :

> उद्भूत विकास का सिद्धांत एक जीव-विज्ञानविद् को अपने कार्य के क्षेत्र में प्रयोग तथा प्रेक्षणों के प्रति निष्ठावान् बना देता है, अन्य क्षेत्रों में चाहे जो भी पाया जाए। अजैव के प्रति भीरुता तथा अधीनत्व के स्थान पर उसकी आत्मा में साहस तथा बाधा की अवज्ञा अंकुरित होती है। जीव-विज्ञानविद् को अब और अधिक प्रेक्षित परिणामों को दबाने के लिए इसीलिए बाध्य नहीं किया जा सकता क्योंकि वे न तो खोजे गए हैं और न ही प्रकृति के निर्जीव अंगों से वे अपेक्षित हैं। जो सम्बन्ध निर्जीव में दिखलाई नहीं पड़ते, परन्तु जीवों में स्पष्ट हैं उन्हें कहने में अब वह अपराधी होने का अनुभव नहीं करेगा। जीव-विज्ञान स्वयं अपने अधिकार से विज्ञान बन जाता है—प्रायोगिक प्रणाली के रद्द कर देने से नहीं, किन्तु उसके प्रति अडिग निष्ठा के कारण उद्भूत विकास के सिद्धान्त से ही जैव विज्ञान के स्वतंत्र होने की घोषणा हुई।
>
> संक्षेप में, उद्भूत विकास के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना संभवतः विज्ञान तथा मानवता के लिए हितकर होगा। यह यंत्रवाद तथा प्राणवाद के गुणों को समाविष्ट करता है, हालाँकि दोनों में से प्रत्येक की अनुपयुक्तताओं से वह रहित है। वह विज्ञान की हो रही प्रगति में अथवा उसके निर्धारण में कोई बाधा उपस्थित नहीं करता। उसके साथ ही, विज्ञान किस वस्तु की खोज करेगा इसकी वह कोई सीमा निर्धारित नहीं करता। वह स्वीकार करता है कि विज्ञान कभी समाप्त नहीं होता, उसे जब तक विकास-क्रम चलता रहे विकसित होते रहना चाहिए।[2]

---

1. उद्भूत तथा सृजनात्मक विकास, सृजनात्मक संश्लेषण तथा स्तर सिद्धांत के हवाले के लिए पीछे पृष्ठ 112 देखिए। उन्मज्जन में निहित तार्किक सिद्धांतों के मार्मिक अध्ययन के लिए जर्नल फिलासफिकल स्टडीज़ II नं. 6 में देखिए। आर्थर ओ० लवज्वाय का लेख "दि मीनिंग ऑफ़ इम्रजेंस एन्ड इट्स मोड्स" उसके लेख "दि डिसकन्टीन्युइटीज़ ऑफ़ इवोल्यूशन" यूनिवर्सिटी ऑफ़ केलिफोर्निया पब० फिल V से भी तुलना कीजिए। उन्मज्जन की आलोचना विलियम मेकडूगल की "माडर्न मेटीरियलिज़्म एन्ड इवोल्यूशन" तथा "प्रोसीडिंग्स ऑफ़ दि अरिस्टोटेलियन सोसाइटी", सप्लीमेन्ट, V पृ० 39--68 में देखी जा सकती है। ड्रेक की "इनविटेशन टु फिलासफी" (हॉफ्टन मिफ्लिन कंपनी, 1933), पृ० 305 से भी तुलना कीजिए।

2. H S. Jennings, "Diverse Doctrines of Evolution", in *Science*, January 14, 1927, pp. 21 ff. 25.

विकास एक व्यूह-रचना के तौर पर

डार्टमाउथ कॉलेज में जीव-विज्ञान के प्राचार्य विलियम पेटन ने एक पुस्तक में विकास के अध्ययन को नवीन संप्रत्ययों के द्वारा देखने की प्रवृत्ति का उल्लेख किया है। उस पुस्तक का शीर्षक है **दि ग्रैंड स्ट्रैटेजी ऑफ़ इवोल्यूशन**। निश्चय ही, विकास की "व्यूह रचना" समझने के लिए सभी बातें विद्यमान हैं, किन्तु इधर ऐसे शब्दों का आलंकारिक अर्थ में प्रयोग करने का प्रचलन हो गया है, और यह समझा गया कि, हालाँकि, निश्चय ही वह व्यूह-रचना की तरह दिखलाई पड़ता है, किन्तु वास्तविकता में है वह केवल यंत्रवाद। किन्तु इस पुस्तक में इस तरह की शब्दावली का आलंकारिक से भिन्न अर्थों में ही प्रयोग किया गया है। तथ्य की बात तो यह है कि यहाँ पर बताया हुआ विकास उसके विषय में हमारे पुराने विचारों को बिल्कुल उलट देता है। लेखक एकदम नए संप्रत्ययों के संग्रह से आरम्भ करता है जो इतने भिन्न हैं कि सर्वप्रथम तो उसके लिए इन विचारों से अपनेको समायोजित करना कठिन हो जाता है—हमारे विचार यहाँ तक डार्विन के यांत्रिक बहाव में बह चुके हैं।

सबसे पहले तो पेटन यह सोचता है कि

> विप्लव के निरर्थक संघर्ष से और अधिक सुदृढ़ संरचनात्मक व्यवस्था और एकता की ओर बढ़ने का सृजनात्मक संप्रत्यय ही विकास का प्रधान विचार है। और इस घटना की सामान्यतः स्वीकृति ही आधुनिक समय के वैज्ञानिक तथा बौद्धिक विचारों को विशेषित करने का लक्षण है।[1]
>
> इस समस्त विकासवादी प्रक्रिया की पृष्ठभूमि में स्थित है सृजनात्मक क्रिया का सार्वभौम अनुरोध।[2]

किन्तु विकास, संरचना और संघटन की ओर बढ़ने का सृजनात्मक आंदोलन है, यह अवधारणा पेटन के मत की विशेषता नहीं है, वरन् इससे आगे चलकर उसका यह विश्वास है कि विकास आंदोलन जीवन और मनस् के कुछ मौलिक गुण-धर्मों की क्रिया से आगे बढ़ता है—यहाँ तक कि समस्त वास्तविकता, अर्थात् **आत्म-संरक्षण, आत्म-त्याग** तथा **सहयोग** के मौलिक गुण-धर्मों की क्रिया से भी आगे बढ़ता है। वह कहता है—

> प्राकृतिक चुनाव तथा अनुकूलतम का जीवित रहना जैव विज्ञानों में प्रयुक्त संभवतः सबसे व्यापक शब्द हैं, किन्तु इस तरह बताई हुई प्रक्रियाओं का कोई सृजनात्मक मूल्य नहीं है। ये शब्द केवल यह बताते हैं कि उत्पत्ति के निश्चित परिणाम निकलते हैं, अथवा इस स्वयंसिद्ध तथ्य की पुष्टि करते हैं

---

1. William Patten, *The Grand Strategy of Evolution*, (R. G. Badger), P. 44.
2. *Loc. cit.*, 129.

कि जो वस्तु पहले ही रची जा चुकी है उसका चुनाव जीवित रहने के लिए हो जाता है अथवा वह वस्तु बनी रहती है। वे यह नहीं बताते कि उसका सृजन कैसे हुआ, वह क्यों जीवित रहती है या उसमें अनुकूलता कहाँ होती है ?

मैं यह बताने का प्रयत्न करूँगा कि इन सभी प्रश्नों का बस एक ही उत्तर है वह यह कि केवल एक ही सृजनात्मक प्रक्रिया है जो विकास के सभी पहलुओं के लिए समान है, अकार्बनिक, कार्बनिक, मानसिक तथा सामाजिक। यह प्रक्रिया सबसे उचित ढंग से 'सहयोग' अथवा 'परस्पर सेवा' शब्दों द्वारा बतलाई जा सकती है।[1]

"पूर्व-स्थित वस्तुओं से परस्पर सेवाओं के माध्यम से नवीन वस्तुओं का उत्पन्न होना ही सृजन है।" अतः अहंवाद, परार्थवाद और सेवा (सहयोग) ही इसीलिए अंतिम संप्रत्यय हैं, केवल इन्हें ही हम विकास समझ सकते हैं। यह अपने आपको स्वार्थ से परे जाकर सदा किसी ऐसे उद्देश्य में लगाता है जो विकास की गति को निर्धारित करता है—अर्थात् प्रगति। विकास बस यही है—कि वस्तुएँ एक निश्चित देश-काल सम्बन्ध में सहकारिता से एक साथ कार्य करती हैं, और कुछ नया दिखाई पड़ता है, जिसका अस्तित्व नवीन गुणों के साथ बिना इसके नहीं होता। एक परमाणु, कार्बनिक पिंड, पशु या राज्य निश्चित ही सहकारी तंत्र हैं, जो तभी तक जीवित रहते हैं जब तक आन्तरिक सहयोग बना रहता है और जब तक परिवेश के साथ सहयोग बना रहता है।

यह सब बहुत ही शिक्षाप्रद और उत्तेजक प्रतीत होता है। यह उसी बात को उल्लिखित करता है जो आज जीव-विज्ञान की प्रवृत्ति है, भूत-तत्त्व, गति तथा बल पर कम बल देने की प्रवृत्ति, तथा जीवन और उसके समवर्ती मूल्यों के सृजन पर अधिक बल देने की प्रवृत्ति। हमने बग़ैर अधिक सफलता प्राप्त किये हुए आनुवंशिकता, परिवर्तन तथा रसायन और भौतिकी के अर्थ में गतिमय जड़तत्त्व के अर्थ में, और कुछ रहस्यमय "ऊर्जा" कही जाने वाली किसी वस्तु के अर्थ में अस्तित्व के लिए संघर्ष की व्याख्या करने के प्रयत्न किए और विकास को आकस्मिक परिवर्तनों के प्राकृतिक चुनाव की प्रक्रिया बतलाने का भी प्रयत्न किया। संभवतः हमें इसे उलट देना चाहिए और परिवर्तनों को विकास के अर्थ में समझाना चाहिए और आनुवंशिकता तथा अस्तित्व के लिए संघर्ष को आत्म-अभिव्यक्ति और सहयोग के अर्थ में समझाना चाहिए। जैसा पेटन का सुझाव है, संभवतः पौधों और पशुओं का विकास भी एक प्रकार की "आत्म वृद्धि" ही है, जो भूत-तत्त्व का एक मौलिक गुण-धर्म है।

उसका यह विश्वास भी शिक्षाप्रद है कि विकास का अर्थ है **स्वतंत्रता** के बजाय **अनुशासन** में प्रगति करना। "अतः प्रगतिवादी एकता व स्थायित्व, प्रगतिवादी

1. *loc. cit.*, pp. 32, 33.

सहयोग, संघटन, सेवा और अनुशासन जीवन और द्रव्य के अंतर्निहित गुण-धर्म हैं।" प्रासंगिक ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण ही हम ऐसे काल में जी रहे हैं जहाँ पर स्वतंत्रता को आसमान पर चढ़ाने की परम्परा बन गई है। यह निर्गमित सामाजिक स्थिति के कारण और सामाजिक विकास के एक स्तर पर आंदोलन के कारण हुआ है जहाँ पर सत्ता ने बढ़कर अत्याचार का रूप ले लिया था। स्वतंत्रता के प्रति प्रेम हमारे लिए झक बन गया है।[1] निश्चय ही, एक प्रकार से, विकास और अधिक स्वतंत्रता की दिशा को उन्मुख है। असली स्वतंत्रता, सहयोग, बढ़ने की स्वाधीनता, विचलित होने तथा सृजन होने से ही उत्पन्न होती है। यहाँ आदर्शों में कोई अंतर्विरोध नहीं है, केवल हम ही कुछ आवश्यक कारणों से स्वतंत्रता पर बहुत अधिक और अनुशासन पर बहुत कम बल देने लगे हैं। तब यदि, जैसा पेटन सोचते हैं कि, स्वतंत्रता मूल रूप से विप्लव की देन है जब कि अनुशासन और सहयोग समस्त वृद्धि और संघटन के लक्षण हैं, यहाँ पर जैविक मत नैतिक मत को बलशाली बनाता हुआ प्रतीत होता है। वह हमारे स्वतंत्रता-उन्मत्त काल को यह सीखने के लिए निर्देश दे सकता है कि अनुशासन और सहयोग विकासवादी प्रणाली में मौलिक हैं। वह इस विषय में भी प्रकाश डाल सकता है कि सामाजिक व्यवस्था में अनुकूलतम के जीवित रहने के सिद्धांत का क्या स्थान है।

पिछली शताब्दी में डार्विनवाद की विजय के पश्चात् कुछ यूरोपीय राजनीति विशेषज्ञों ने अस्तित्व के लिए संघर्ष तथा अनुकूलतम के जीवित रहने के प्रकृति के मौलिक नियमों को आधार मानकर राष्ट्रों की कटु प्रतिस्पर्धा को उचित बताया। यह इस बात को स्वीकार न करने के कारण ही था कि सहयोग का नियम प्रतिद्वंद्विता के नियम से अधिक मौलिक है और यह कारण अदूरदर्शिता ही थी जिसने महायुद्ध के पश्चात् यूरोपीय सभ्यता के पतन की धमकी दे दी थी। जब हम उस सहयोग को राजनीतिक तथा अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रयोग में लाते हैं जो पौधे अथवा पशु के जीवन में परिलक्षित होते हैं तो हम प्रकृति में प्राप्त स्थायित्व की तुलना में सामाजिक स्थायित्व की आशा कर सकते हैं।

यही विचार दूसरे दृष्टिकोण से एडविन ग्रांट कोंकलिन अपनी पुस्तक **दि डायरेक्शन ऑफ़ ह्यूमन इवोल्यूशन** में विकसित करते हैं। मनुष्य के शरीर और मस्तिष्क का विकास अपनी चरम सीमा पर है, किन्तु सामाजिक विकास के विषय में ऐसा नहीं है और उसका विकास सामूहिक विशिष्टीकरण और सहयोग की दिशा में होना आवश्यक है। उसके बिना मनुष्य जाति की कोई भी प्रगति होनी संभव नहीं है। यदि प्रजातंत्र का अर्थ है ढीली-ढाली सामाजिक व्यवस्था तथा और अधिक व्यक्तिगत स्वतंत्रता तो फिर उसका भविष्य अंधकारमय है। यदि उसका अर्थ है विशिष्टता तथा सहयोग तो वह समाज-कल्याण का मार्ग है।

---

1. **Eleutheromania, Irving Babbitt called it.**

जीवन और मनस्—उपलब्धियों के तौर पर

निष्कर्षतः विकास उपलब्धियों की ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें क्रमशः उच्चतर मूल्यों को प्राप्त किया जाता है। इन मूल्यों में से ही एक है जीवन; एक है मनस्; एक है विज्ञान; और एक है सामाजिक व्यवस्था। क्या हम और साहस कर हीगल से सहमत हों कि दर्शन, कला और धर्म ही अंतिम मूल्य हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिए जगत् संघर्ष कर रहा है, अथवा फिर हम यह कहें कि चेतना स्वयं ही इस सीढ़ी का उच्चतम सोपान है?

मैं नहीं समझता कि हम अभी भी इन प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं; किन्तु यदि यह सत्य है कि विकास उपलब्धियों की प्रक्रिया है, मूल्यों की प्राप्ति की दिशा में एक महान् आंदोलन है, तो फिर वह निराशा का संदेश नहीं होगा, जैसा कि वह प्रायः होता रहा है, किन्तु आशा का संदेश होगा।

इस अध्याय से सम्बन्धित संदर्भ

H. H. Newman, *Evolution Yesterday and Today* (Century of Progress Series, Williams and Wilkins).

अन्य संदर्भ

Darwin, *The Descent of Man* (D. Appleton and Company).

Vernon L. Kellogg, *Darwinism Today* (Henry Holt and Company).

C. Lloyd Morgan, *Emergent Evolution* (Henry Holt and Company).

J.G. Boodin, *Cosmic Evolution* (The Macmillan Company).

William Patten, *The Grand Strategy of Evolution* (R. G. Badger).

Edwin Grant Conklin, *The Direction of Human Evolution* (Charles Scribner's Sons).

Generel J. C. Smuts, *Holism and Evolution* (London and New York).

Austin H. Clark, *The New Evolution* (Williams and Wilkins).

William Morton Wheeler, *Emergent Evolution and the Development of Societies* (New York,1928).

George P. Conger, *New Views of Evolution* (The Macmillan Company, 1929).

अध्याय 12

क्या प्रकृति में प्रयोजन है ?

इस अध्याय में हम उन बहुत सी पुरानी समस्याओं की चर्चा करेंगे जिनमें **उद्देश्य** अथवा **प्रयोजन** है। क्या प्रकृति में **प्रयोजन** अथवा **अभिप्राय** है ? क्या जगत् का कोई **लक्ष्य, उद्देश्य** अथवा **प्रयोजन** है ? इन प्रश्नों के अध्ययन के लिए अंग्रेज़ी में **टिलिऑलॉजी** शब्द का प्रयोग किया गया है। यह दो यूनानी शब्दों से बना है जिसका अर्थ है उद्देश्यों का अध्ययन अथवा विज्ञान।

मानवीय कार्यों में प्रयोजन

यह बात बहुत स्पष्ट है कि मनुष्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्य करते हैं। सैद्धान्तिक रूप से तो जो भी हम करते हैं किसी उद्देश्य से ही करते हैं। इस पुस्तक को पढ़ने में आपका एक उद्देश्य है, सम्भवतः दर्शनशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना, सम्भवतः परीक्षा के लिए तैयारी करना। यदि आप कोई चीज़ बनाते हैं तो वह किसी उद्देश्य के लिए ही बनाई जाती है; और उसके प्रत्येक अंग का अपना एक उद्देश्य है। मोटर कार का एक उद्देश्य है। उसकी बनावट की प्रत्येक चीज़, प्रत्येक ढिबरी, स्प्रिंग, पिनियन, चक्र, दण्ड, उसके छप्पर के बाँधने की डोरी, बुशिंग, रिम, कमानी का भी प्रयोजन होता है। प्रयोजनात्मक रूप से विचार करना हमारे लिए स्वाभाविक है। इसका मतलब हुआ, जैसे कि प्रत्येक वस्तु का कोई प्रयोजन था, बिल्कुल वैसे ही जैसे कि इसका मानवीय कार्यों में होता है। हमारे लिए यह सोचना स्वाभाविक है कि मनुष्य के शरीर के सभी अंगों का एक प्रयोजन है। बालक सहज रूप से ही प्रयोजनवादी प्रतीत होता है, क्योंकि वह सदा ही यह प्रश्न पूछा करता है, यह किस लिए है ? ऐसा प्रतीत होता है कि वह यह बात मान लेता है कि जगत् में प्रत्येक वस्तु का प्रयोजन होता है, ठीक वैसे ही जैसे कि वह यह मानता है कि हर चीज़ जो मनुष्य बनाता है उसका प्रयोजन होता है।

किन्तु जब बालक बड़ा होता है और विचार करना आरम्भ करता है तो वह देखता है कि यह विषय कठिनाइयाँ उपस्थित करने लगता है। वह पर्याप्त

स्पष्टता से देखता है कि मनुष्य, जो विचार कर सकता है, और आगे की बात देख सकता है और योजना बना सकता है, उद्देश्य को रखकर कार्य करता है। किन्तु क्या यह बात इतनी निश्चित है कि मनुष्य के मनस् के बाहर कोई वस्तु प्रयोजन है ? विज्ञान यह सिखलाता हुआ प्रतीत होता है कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु प्रयोजन से प्रेरित होकर नहीं किन्तु यांत्रिकता से कार्य करती है। प्रकृति में जो कुछ भी होता है, पत्थर का नीचे गिरना, महाद्वीप का कटना, हिम चट्टान का निर्माण होना, यंत्रवत् होता है। अर्थात् उसके कार्य पूर्ववर्ती भौतिक परिस्थितियों के द्वारा दृढ़ता से नियत होते हैं। प्रकृति में होने वाली प्रत्येक घटना पूर्ववर्ती भौतिक परिस्थितियों के योग द्वारा पूर्ण रूप से व्याख्यायित होती है। जैसे ही एक भौतिकी-विद् यह जाँच करने के लिए रुकता है कि यह **किस लिए** है, वह अपना वैज्ञानिक दृष्टिकोण समाप्त कर लेता है, क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टिकोण की सदा यह मान्यता रहती है कि बातों का पूर्व विवरण ही उन भौतिक परवर्ती घटनाओं की शृंखला में होता है जिनसे वे निर्धारित होती हैं।

मोटर गाड़ी को पुनः ले लीजिए। उसके हिस्से प्रयोजनात्मक रूप से कार्य नहीं करते, वे निश्चित यांत्रिक नियमों के अनुसार बिना समझे-बूझे यंत्रवत् कार्य करते हैं। उसका हॉर्न बोलता है, किन्तु मोटर कार के पास आने की चेतावनी देने के कारण नहीं, एक निश्चित सर्किट में बिजली दौड़ने से सन्तुष्ट तन्तुपट में यंत्रवत् कंपन पैदा होने के कारण। एक पहिया घूमता है, किन्तु मोटर कार को चलाने के लिए नहीं किन्तु इसलिए कि धुरी में एक निश्चित मात्रा में भौतिकी शक्ति भेजी जाती है, और यदि यान्त्रिकता में कुछ खराबी हो जाती है तो मोटर कार का कोई भी पुर्जा नई परिस्थिति के साथ समायोजन नहीं कर सकता। बल्कि यान्त्रिक नियमानुसार वह टूटकर बाहर हो जाता है। यही बात वृक्ष या मानव-शरीर की भी है। वृक्ष का सार कार्य में आने के लिए उत्तेजित होता है, ऐसा किसी उद्देश्य से नहीं बल्कि सूर्य के प्रकाश के यन्त्रवत् प्रभाव के कारण होता है। शरीर की पेशियाँ मुक्का मारने के लिए नहीं सिकुड़तीं, किन्तु पेशीय तथा तान्त्रिकीय ऊर्जा के कारण सिकुड़ती हैं।

इस विचारधारा का पालन करते हुए पाठक कह सकता है : मैं सोचता हूँ कि मैं इस उलझन के अन्तर में देख सकता हूँ। यद्यपि निश्चय ही मोटर कार में पुर्जे नियत भौतिक नियमानुसार यन्त्रवत् कार्य करते हैं, तथापि यदि हम पूरी मशीन को किसी आविष्कारक अथवा मिस्त्री द्वारा **आयोजित** अथवा **रचित** सोच लें तो भी वह सत्य होगी कि प्रत्येक पहिये, वाल्व और वाशर को कुछ कार्य करना होता है जिसे उसका प्रयोजन कहा जा सकता है। यह **प्रयोजन** मशीन के बाहर अथवा उस मनुष्य के **मस्तिष्क** में होता है जिसने उसकी रचना की थी।

प्रकृति में दृश्य प्रयोजन

और आगे वह कहता है कि अब मुझे वृक्ष तथा मानव-शरीर के विषय में सोचने दो। सभी अंगों को यंत्रवत् **आवश्यक रूप** से कार्य करना चाहिए, तथापि उनमें मोटर कार के पुर्जों की ही भाँति एक उद्देश्य दिखाई पड़ता है। निश्चय ही आँख का उद्देश्य है देखना, अंगूठे का पकड़ना, दाँतों का काटना और चबाना, किन्तु चूँकि ये भौतिक नियमों से नियंत्रित भौतिक वस्तुएँ हैं उनका प्रयोजन शरीर से अलग किसी जगत्, रचयिता अथवा ईश्वर में होना चाहिए। दूसरे शब्दों में वृक्ष और मानव-शरीर, निश्चय ही, किसी ऐसे के द्वारा रचा गया होगा जिसके पास उद्देश्य की पूर्ति करने की दृष्टि की मानसिक क्षमता होगी, और तब उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपकरणों को अनुकूलित करने की; क्योंकि यह स्पष्ट है कि वृक्ष को ही ले लिया जाए, उसके अंगों में एक योजना अथवा उद्देश्य है—पत्ते फेफड़े का कार्य करते हैं जो वायु में से कार्बन डाइऑक्साइड लेते हैं, मूल-तन्तु पृथ्वी में से जल ग्रहण करते हैं, मज़बूत तनें हवा के झोंके से मुकाबला करते हैं, ऊपर की कड़ी छाल नीचे से आवश्यक अंगों की रक्षा करने का कार्य करती है। इसी प्रकार से अमरीका के ध्रुव प्रदेश के बैल (musk ox) के फर और शेर के पैने दाँतों के भी अपने प्रयोजन होते हैं।

दूसरे शब्दों में शरीर, वृक्ष पुष्प अथवा घास की पत्ती के विभिन्न अंग किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए **उपकरण** होते हैं, ठीक उसी तरह जैसे कि मोटर कार का प्रत्येक पुर्जा किसी प्रयोजन के लिए होता है किन्तु मोटर कार के पुर्जे की तरह इनमें से कोई भी उपकरण प्रयोजनात्मक रूप से कार्य नहीं करता। वे आँख मूंदकर यांत्रिक नियमों का पालन करते हैं।

ये सभी बातें तर्कसंगत ध्वनित होती हैं, और यह प्रतीत होता है कि पशु, पौधे तथा वृक्ष किसी न किसी रूप में बुद्धि और प्रयोजन की ही उत्पत्ति हैं और चूंकि वे मानव-बुद्धि की उपज नहीं हैं अतः अवश्य ही वे किसी ब्रह्मांडीय बुद्धि अथवा ईश्वर की कृति होने चाहिएं।

किन्तु यह साम्यानुमान मात्र है

जैसे ही हम भूत-तत्त्व पर और अधिक सावधानी से विचार करते हैं हमें यह दिखाई देने लगता है कि वह और कुछ नहीं वरन् साम्यानुमान ही था। पशु-शरीर तथा पौधे के अंगों तथा मोटर कार के पुर्जों में समानता इस तरह है कि वे एक अन्तिम परिणाम को प्राप्त करने में योग देते हैं, जैसे मोटर कार के विषय में गति प्राप्त करना और पशुओं के मामले में जीवन अथवा क्रिया। साम्यानुमान से यह अनुमान करते हैं कि चूंकि मोटर कार किसी बाह्य स्थित बुद्धि की उपज है, अतः पौधे और पशु-पिंडों को भी अवश्य बाह्य स्थित बुद्धि की उपज होना चाहिए। हम पौधे और पशु-पिंडों में जो देखते हैं वह बहुत ही अद्भुत **अनुकूलन** है। वृक्ष

के विभिन्न अंगों तथा परिवेश के बीच अनुकूलन है—परिवेश में सूर्य, पृथ्वी तथा वायु भी समाविष्ट हैं। ध्रुवीय रीछ के फर तथा जलवायु के बीच भी अनुकूलन है।

अनुकूलन

अब, अनुकूलन क्या है और उसमें क्या-क्या सम्मिलित है? क्या उसमें मनस् भी सम्मिलित है जो अनुकूलन तथा रचना के सम्बन्ध में भी विचार करता है अथवा जिन परिस्थितियों में जीव कार्य करता है उनसे समायोजन की उपयुक्तता का सम्बन्ध बनाने के अतिरिक्त वह और कुछ नहीं है? क्या अनुकूलता में प्रयोजन सम्मिलित है? क्या वह जीवों द्वारा **प्रयत्न** और **भूल** की प्रणाली द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता था? क्या डार्विन ने उसे छोटे आकस्मिक परिवर्तनों पर प्राकृतिक चुनाव की क्रिया द्वारा पहले से ही नहीं बतला दिया है? यदि ऐसा है तो क्या हमारा मोटर कार और वृक्ष का साम्यानुमान त्रुटिपूर्ण नहीं है? और आगे प्रकृति में कोई ऐसी पूर्ण अनुकूलता पाते हैं जैसी कि हमारे मानवीय यंत्रों में होती है? क्या अननुकूलन के अनगिनत उदाहरण नहीं हैं, जैसे कि शहर और भूकम्प, अथवा पक्षियों की स्थानांतरणीय मूल प्रवृत्तियाँ और बसन्त के देर से आए हुए तूफान, जो उन्हें हज़ारों की संख्या में नष्ट कर देते हैं।

किन्तु यदि हम अनुकूलता की व्याख्या के तौर पर प्रयोजन को रद्द कर दें तो फिर उसके स्थान पर क्या होगा? क्या **आकस्मिक घटना** ही उसका विकल्प है? तो क्या हमें यह मान लेना है कि सौंदर्य तथा व्यवस्था का जगत् आकस्मिक रूप से ही आ गया है? क्या वह व्यवस्था जो हम खगोलीय पिंडों में पाते हैं ऐसे ही आ जाती है? रात्रि में हमारे मार्गों में प्रकाश करने वाला चन्द्रमा क्या अकस्मात् ही आ गया? क्या सूर्य के प्रकाश के पश्चात् वर्षा का महत्त्वपूर्ण क्रम भी यूँ ही होता है? क्या साँस लेने के लिए उपयुक्त वायु और भोजन के लिए फल तथा अनाज पृथ्वी यूँ ही उत्पन्न करती है? यह कि जगत् द्रव्य के परमाणुओं के यदृच्छा संघटन से होता है, यह विश्वास करना और भी कठिन है। जैसा कि किसी ने कहा है कि तब तो शेक्सपियर के नाटक भी छापेखाने के दफ्तर में विस्फोट हो जाने से बने हुए होने चाहिएँ।

तब, हमें क्या करना है? यह विश्वास कर लेना असंभव-सा लगता है कि जगत् यदृच्छा से उत्पन्न हो गया है; कम से कम जब तक हमारी समस्त प्राक्कल्पनाएँ समाप्त न हो जाएँगी, तब तक हम विश्वास नहीं करेंगे। इसके विपरीत यह बात है कि जगत् एक वृहत् मशीन है, जिसका सृजन अनुभवातीत जगत्-निर्माता किसी निश्चित उद्देश्य से करता है। यह एक ऐसा बचपने का साम्यानुमान है जिसका कोई वैज्ञानिक महत्त्व नहीं है।

किन्तु कोई अन्य सम्भावनाएँ नहीं हैं? क्या केवल यदृच्छा और प्रयोजन ही विकल्प है? और यदि अन्य कोई विकल्प नहीं हैं तो क्या बिना यह विचार किए

हुए कि जगत् मानवत्वारोपी ईश्वर द्वारा कोई निर्मित नियोजित तथा संचालित वस्तु है, यह कह सकते हैं कि वह प्रयोजनात्मक है ? स्पष्ट है कि इस समस्या के लिए बहुत ही विमर्शात्मक चिन्तन की आवश्यकता है। इसलिए सर्वप्रथम तो इस विषय के इतिहास का सिंहावलोकन लाभकारी रहेगा।

ऐतिहासिक

एनाक्सागोरस नाम का एक प्राचीन यूनानी दार्शनिक था जिसने यह खोज की कि जगत् छोटे-छोटे असंख्य परमाणुओं से बना हुआ है। उसने यह विचार किया कि ये परमाणु जगत् के **द्रव्य** का कार्य करेंगे, किन्तु परमाणुओं को इनकी मूल **गति** कौन प्रदान करेगा ? एनाक्सागोरस को एक **चालक कारण** की आवश्यकता थी। इसलिए उसने प्रतिपादित किया कि **मनस्** ही चालक कारण है। किन्तु हम मुश्किल से ही कह सकेंगे कि एनाक्सागोरस प्रयोजनवादी था, क्योंकि मनस् को उसने जगत् का आरम्भिक कारण मात्र माना था, रचनात्मक बुद्धि नहीं।

तत्पश्चात् सुकरात आया, जिसने कहा कि एनाक्सागोरस ने मनस् को जगत् की गति का कारण बताकर ठीक किया है, किन्तु उसने इस सिद्धान्त का समुचित उपयोग नहीं किया है, क्योंकि सुकरात ने मनुष्य के शरीर के साथ सुन्दर अनुकूलन, जैसे आँखों की सुरक्षा के लिए ऊपर की हड्डी, भौंहों और पलकों के होने को प्रकृति की उपकृति और प्रयोजन के होने का प्रमाण माना है। अतः जैसा कि बतलाया जा चुका है कि सुकरात उस मत का प्रतिनिधि है जिसके अनुसार जगत् की धारणा मशीन की तरह की गई है, किन्तु ऐसी मशीन जिसका आयोजन किसी बाह्य बुद्धि ने किया है। कभी-कभी जगत् के इस सिद्धान्त को जो चल प्रयोजनता के स्थान पर स्थिर लक्षणों को बताता है बढ़ई का अथवा घड़ीसाज़ का विश्व-सम्बन्धी सिद्धान्त कहा जाता है।

प्लेटो का विश्वास भी अपने गुरु सुकरात से इस बात में कम नहीं था कि जगत् प्रयोजनात्मक है, किन्तु उसने इस सिद्धान्त को यांत्रिक तथा मानवत्वारोपी रूप में स्वीकार किया। प्लेटो का विश्वास था कि जगत् पूर्ण रूप से तर्कसंगत तथा व्यवस्थित है। वह "ब्रह्मांड" है, विप्लव नहीं है। उसकी चरम सत्ताएँ प्रत्यय हैं और जैसे-जैसे उसका अपरिष्कृत "द्रव्य" इन आदर्शों का रूप लेता जाता है उसी अनुपात में जगत् भी वास्तविक होता जाता है। प्लेटो के दर्शन में शाश्वत प्रत्यय **प्रतिरूप** अथवा **प्रकार** हैं और वस्तुएँ जिनकी अपूर्ण प्रतिलिपियाँ हैं। उदाहरण के लिए शुभ तथा सुन्दर ऐसे शाश्वत मूल्य हैं जो कि अनुकरण करने के लिए हैं। प्लेटो के अनुसार जगत् का एक अर्थ है और वह अर्थ है शाश्वत प्रत्ययों का पूर्ण होना। ऐसा दर्शन, जो ब्रह्मांडीय मूल्यों, प्रत्ययों, प्रतिरूपों तथा प्रकारों की चर्चा करता है, वह पूरी तरह से प्रयोजनात्मक है। इस विवाद के

आरम्भ में ही निश्चय ही प्लेटो ने विश्व का एक अद्‌भुत संप्रत्यय प्रस्तुत किया जो कि आकस्मिकता के अपरिष्कृत सिद्धान्त तथा सुकरात के यांत्रिक घड़ीसाज़ के सिद्धान्त, दोनों से ही भिन्न है। निश्चित है कि प्लेटो ने अपने दर्शन का यह हिस्सा बहुत स्पष्ट तथा संतत रूप से प्रस्तुत नहीं किया, किन्तु विचारों के इतिहास में निश्चय ही यह नया दौर था जब उसने जगत् को मूल्यों को प्राप्त करने का एक आन्दोलन बताया।

प्लेटो का अनुसरण करते हुए अरस्तू ने भी जगत् के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से प्रयोजनात्मक मत अपनाया है। कुछ कथनों में तो वह प्रतिरूपों को बिल्कुल सुकरात के ही आधार पर बताता है। अरस्तू कहता है कि जगत् की प्रत्येक वस्तु का "प्रयोजन कारण" अथवा प्रयोजन होता है। जिस उद्देश्य के लिए वस्तु का अस्तित्व होता है वही उस वस्तु के अस्तित्व का असली कारण होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि कोई भी निमित्त कारण अथवा यांत्रिक कारण होता है। अरस्तू उन्हें **प्रयोजन कारण** बताता है, जो कि प्रयोजन विषयक वाद-विवाद के प्रसंग में एक अनूठी शब्दावली का रूप धारण कर गया है। हमें प्रयोजन कारणों एवं प्रथम कारणों अथवा सामान्य यांत्रिक कारणों के बीच भ्रम पैदा नहीं कर देना चाहिए।

किन्तु जब हम अरस्तू के दर्शन की आत्मा में प्रवेश करते हैं तो पाते हैं कि वह अन्तर्निहित गतिमान प्रयोजनता का ही प्रतिपादन करता है। जगत् का सृजन कभी नहीं किया गया था किन्तु वह गति अथवा विकास की ऐसी शाश्वत प्रक्रिया है जिसमें समर्थ निरन्तर ही यथार्थ में बदलता जा रहा है और यथार्थ ही आदर्श है। हम यह भी कह सकते हैं कि पशु जातियाँ, मानव, राज्य, संस्थाएँ तथा न्याय प्रत्यय ही हैं, जिन्हें प्रकृति सिद्ध कर रही है, या जैसे कि हम कह सकते हैं कि जिन्हें प्राप्त करने के लिए प्रकृति संघर्ष कर रही है।

किन्तु आगे चलकर अरस्तू पूछता है कि इस महान् जगत्-विकास प्रक्रिया की आरम्भिक शक्ति अथवा आद्यचालक क्या है? उसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। यहाँ अरस्तू हमारे विचारों को बहुत ही समृद्ध तथा उत्तेजक सुझाव देता है, क्योंकि वह कहता है कि आद्यचालक अथवा ईश्वर जगत् को आकर्षित करके उसे चालित करता है। परम आदर्श वास्तविकता है शुभ, इसलिए वह अपेक्षित है। सिद्ध करने की प्रक्रिया के रूप में विश्व का साहसिक संप्रत्यय जो आदर्श उद्देश्य के प्ररूप से प्रेरित होता है हमें आश्चर्यान्वित कर देता है। क्या यह सत्य हो सकता है? क्या वह हमारे आधुनिक विकासवादी दर्शन के साथ समन्वित हो सकता है?

इसी बीच में एक और महान् यूनानी दार्शनिक डिमोक्रीटस ने ब्रह्मांडीय बुद्धि, योजना, उद्देश्य, प्रयोजन, लक्ष्य अथवा आदर्शों के अस्तित्व का घोर खंडन किया है। विश्व द्रव्य परमाणुओं का समूह है जो स्वयं निरन्तर गतिमान हैं और

जो यांत्रिक रूप से इंद्रियानुभव की वस्तुओं का निर्माण करते हैं। इपीक्यूरस तथा ल्यूक्रेटस ने जो बाद के इपीक्यूरसवादी सिद्धान्त के प्रतिनिधि हैं, प्रकृति में किसी प्रयोजन कारण, ध्येय अथवा उद्देश्य के न होने का और घटनाओं की शृंखला में किसी ध्येय, उद्देश्य अथवा प्रयोजन कारण के न होने का प्रयोजन-विरोधी-मत विकसित किया है। मध्यकालीन युग में जगत् विषयक यही मत डिमाक्रीटस तथा इपीक्यूरसवादी के स्थान पर प्लेटो तथा अरस्तू का था जिसे सामान्य मान्यता प्राप्त हुई। किन्तु पुन: सुकरात के ढंग पर वक्तव्य देने की प्रथा हो गई। ईश्वर ने जगत् की इच्छा की ओर उसका सृजन किया है। विचार तो यहाँ तक किया गया कि यह पृथ्वी ब्रह्मांड का केन्द्र है और इसी की रचना विशेष रूप से मनुष्य के निवास के लिए की गई थी। इस मत की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति दान्ते की कृति **डिवाइन कामेडी** में हुई है। जिसमें विश्व को मनुष्य और उसकी मुक्ति के लिए एक श्रेष्ठ तथा शक्तिशाली नाटक वताया गया है।

प्रकृति में सामान्य सोद्देश्यता का समर्थन ब्रूनो, न्यूटन, लाइबनित्स, वॉल्टेयर, तथा बाद में गेटे, जॉन स्टूअर्ट मिल, आदि ने भी किया। किन्तु वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रकृति में प्रयोजनात्मकता का विरोध देकार्ते के समय से हुआ है। पौधे, पशु-पिंड, यहाँ तक कि मनुष्य पिंडों तक को देकार्ते ने शुद्ध और सरल मशीन ही कहा है। फ्रांसिस बेकन ने कहा है कि प्रयोजन कारणों के आगमन ने विज्ञान की प्रगति में बहुत बाधा उत्पन्न की है, जिसका सम्बन्ध केवल भौतिक कार्यों से ही होता है। इसी प्रकार स्पिनोज़ा और हॉब्स ने भी प्रयोजनता की अवधारणा का बहिष्कार अपने दर्शन से कर दिया।

निक्षेपात्मक रूप से हम यहाँ जो टिप्पणी कर सकते हैं—और जिससे समूचे विषय पर प्रकाश पड़ेगा—वह यह कि जगत् केवल यांत्रिक घटना-चक्र है जिसका प्रत्येक कदम अपने पूर्ववर्ती कदम द्वारा पूर्ण रूप से निर्धारित होता है, यह संप्रत्यय फ्रांसिस बेकन के लिए बिल्कुल उपयुक्त था जो जगत् को **समझने** के लिए नहीं, किन्तु उसे **प्रयोग** करने के लिए, उसे **नियन्त्रित** करने के लिए तथा उसे **व्यवहार** में लाने के लिए था। विश्व की "व्याख्या" इसके यांत्रिक घटनाक्रमों के ज्ञान से होती है, यदि इस व्याख्या से आपका तात्पर्य उस ज्ञान से हो जो हमें प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग करने के योग्य बनाता है। प्राकृतिक विज्ञानों के उद्देश्य में एक है उस **घटना चक्र** से परिचय प्राप्त करना जो प्रकृति में देखे जाते हैं और वे **एकरूपताएँ** जो हमें दिखाई देती हैं, **ताकि** किसी विशेष बर्ताव की इच्छा करने पर हम यह जान सकें कि उसे कैसे प्राप्त कर सकते हैं। यह ज्ञान व्यावहारिक कलाओं, वाणिज्य तथा उद्योग में बहुत उपयोगी है। घटनाओं का पूर्व-कथन कर सकने, प्रकृति की शक्तियों को नियंत्रित करने तथा उन्हें भौतिक आवश्यकताओं की ओर मोड़ने से हमारी व्यापक सफलता बेकन की पद्धति के कारण ही है। किन्तु दर्शनशास्त्र जगत् की **व्याख्या** करने का एक प्रयत्न है जब कि केवल

घटनाओं का प्रेक्षण ऐसी व्याख्या का कोई निर्देश नहीं करता। सम्भवतः जगत् का कोई ऐसा **उद्देश्य** अथवा **प्रयोजन** उस अर्थ में नहीं होता जिस अर्थ में मनुष्य **प्रयोजन** शब्द का प्रयोग करता है, किन्तु निःसंदेह उसकी एक **योजना** होती है, यदि योजना का मतलब किसी खास तरीके, प्रतिरूप के बजाय किसी-किसी रचना अथवा निश्चित क्रम से लगाया जाए। वास्तव में तो हम यह भी कह सकते हैं कि उसका एक **प्रतिरूप** होता है, यदि उस शब्द का अर्थ कुछ ऐसा रूप बनाने से लगाया जाए जिसमें कुछ एकता और अर्थ खोजा जा सके।

इस विवाद के इतिहास पर पुनः लौटते हुए यद्यपि **देकार्त** ने विचारों की स्वतन्त्र क्रिया अथवा ईश्वर के प्रयोजन को सम्मिलित न करते हुए केवल प्रथम द्रव्य जगत् तक ही इस यांत्रिक संप्रत्यय का विस्तार किया, तब भी उसके समय के पश्चात् किन्हीं भी निमित्त अथवा द्रव्य कारणों के अतिरिक्त इस संप्रत्यय को समूचे ब्रह्मांड पर लागू करना सरल हो गया। किन्तु यंत्रवादियों के लिए प्रकृति में अनुकूलन को समझाना, विशेषकर जैव जगत् में, कुछ कठिन प्रतीत हुआ। अठारहवीं शती के एक धर्मप्रवक्ता पॉली ने एक पुस्तक लिखी जिसका उद्देश्य था जगत् के प्रतिरूप के बुद्धिमत्तापूर्ण अभिकल्प के प्रमाण के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना; और उसने घड़ी तथा मनुष्य की आँखों की सर्वविदित तुलना का प्रयोग किया, जिसके अनुसार मनुष्य की आँखों के विभिन्न अद्भुत हिस्से, जो स्पष्टतः दृष्टि के प्रयोजन से बने हैं, रचनाकार के होने का प्रमाण हैं, पर उससे अधिक घड़ी के विभिन्न पुर्ज़े, और उनका समय के प्रयोजन से परस्पर अनुकूलन किसी बुद्धिमान् रचनाकार के होने का प्रमाण नहीं है। प्रकृति में अनुकूलन के उदाहरण, जैसे मानव-शरीर की विचित्रताएँ और पशुओं की आश्चर्यजनक मूल प्रवृत्तियाँ, तब तक एकत्र किए जा सकते हैं जब तक वैज्ञानिकों को यह न पता चल जाए कि प्रकृति बुद्धिमान् और चेतन प्रयोजनों से नहीं बनी है।[1] आकस्मिकता के आधार पर ऐसे अनुकूलनों की व्याख्या कर सकना असम्भव प्रतीत होगा, और यह मान लिया गया कि ऐसी युक्ति का, जो प्रयोजनवाद के विरोधियों द्वारा निष्प्रभ रूप से जगत् में कुसामंजस्य के तथा पाप, मृत्यु तथा दुःख के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की थी, केवल सचेतन प्रतिरूप ही एकमात्र इसका विकल्प है। किन्तु डार्विनवाद के प्राकृतिक चुनाव के प्रचलित हो जाने से इस प्रकार की युक्ति में रुचि समाप्त हो चुकी है।

डार्विन का योगदान

किन्तु चाहे कुसामंजस्य के अनेक उदाहरण प्रतिरूप रचना की पुरानी युक्ति

1. ऐसे उदाहरणों का समूह तथा पॉली की युक्तियों का आधुनिक रूप जे० एन० शिअरमेन की पुस्तक "दि नेचुरल थिऑलॉजी ऑफ़ इवोल्यूशन" में देखा जा सकता है। इसका और भी आधुनिक रूप हाल में "दि ग्रेट डिज़ाइन" शीर्षक लेख-माला में देखा जा सकता है।

को कमज़ोर न कर पाए हों किन्तु उन्नीसवीं सदी में विकास के सिद्धान्त के आगमन से, और विशेषकर डार्विन के प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त के आगमन से, यह युक्ति बहुत ही कमज़ोर पड़ गई है। इसने अनुकूलन की पहेली पर एक बिल्कुल ही नया प्रकाश डाला है और यंत्रवादियों की स्थिति को शक्ति प्रदान की, क्योंकि यदृच्छा अथवा प्रतिरूप की अपेक्षा कार्बनिक जगत् में अनुकूलन को समझा सकना सम्भव माना गया, विशेषकर, क्रमशः छोटे परिवर्तन तथा अनुकूलतम के प्राकृतिक चुनाव के द्वारा। इस प्रकार से मनुष्य की आँख, अथवा पशुओं की अद्भुत मूल प्रवृत्तियों के अनुकूलन की अद्भुत बातें भी समझाई जा सकती थीं। पर्याप्त समय होने पर परिवर्तन आनुवंशिकता तथा अस्तित्व के लिए संघर्ष और पिंड की सतह पर कोशों का एक समूह जो प्रकाश के लिए अचानक ही संवेद्य है, बिल्कुल यांत्रिकता के सिद्धान्त पर, आँख जैसे जटिल अंग के रूप में उत्पन्न हो सकता था।

यहाँ पर विश्व का घड़ीसाज़ का सिद्धान्त जो सॉक्रेटीज़ द्वारा प्रतिपादित किया गया तथा दान्ते द्वारा पोषित किया गया और जिसे अनाड़ी ढंग से पॉली द्वारा बढ़ाया गया, बिल्कुल ही बदनामी का शिकार हो गया। विज्ञान सभी वस्तुओं की सरल यांत्रिक कारणों द्वारा व्याख्या करता है और किसी रचयिता ईश्वर को अथवा किसी रहस्यमय प्राण-शक्ति को बीच में ले आना अनावश्यक है।

अकार्बनिक प्रकृति में उद्देश्य

जीव-जगत् में किसी न किसी अर्थ में प्रयोजनता रहती है, जैसा कि हम देखेंगे, यह बात सन्देह से परे है; किन्तु क्या ऐसा भी प्रमाण है कि वह अकार्बनिक क्षेत्र में भी होती है ?

बहुत पहले एक हेब्रू कवि ने लिखा था कि आकाश ईश्वर की महत्ता तथा नभोमण्डल उसके कार्य को बताते हैं। अन्य कवि, दार्शनिक तथा धर्म-उपदेशकों ने इस विश्वास को व्यक्त किया है। प्रकृति में व्यवस्था और सौंदर्य इस बात के प्रमाण हैं कि या तो कोई बुद्धिमान् रचयिता है अथवा कोई बुद्धिमान् मनस् का अन्तर्वास है। किन्तु आधुनिक पाठक उनके इन अनुमानों से बहुत प्रभावित नहीं होता, क्योंकि उसका यह विश्वास है कि वह विज्ञान जिसके प्रति उसे एक प्रकार की श्रद्धा है कुछ और ही बताता है। यद्यपि आज का मानव वैज्ञानिकों की सलाह पर बहुत कुछ विश्वास करने की प्रवृत्ति उन विषयों के बारे में भी रखता है जो उनके विशेष क्षेत्र से बाहर होते हैं, तथापि वास्तव में प्रकृति में उद्देश्य की बात का पता लगाना बहुत रुचिकर होगा। यह कुछ कठिन हो सकता है क्योंकि वैज्ञानिक से यदि इस विषय पर प्रश्न किया जाए तो वह संभवतः यह कहेगा कि उसकी रुचि एक निश्चित घटना-समूह में है और इस समूह में उसका उद्देश्य तथ्यों का एक ठीक-ठीक और पूर्ण विवरण देना और इन

तथ्यों को यथासंभव समझाना होता है। वह कहता है कि विवरण देने से उसका मतलब होता है उन कारणों और स्थितियों का ब्यौरा लिखना और उसका लेखा रखना जिसमें वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और जिन विषयों या नियमों द्वारा परिवर्तन, वृद्धि तथा विकास होता है—कारणों से उसका तात्पर्य होता है निमित्त कारण, न कि अन्तिम कारण अथवा उद्देश्य। वैज्ञानिक होने के नाते उसका सम्बन्ध प्रकृति में उद्देश्य अथवा ध्येय से नहीं होता।

किन्तु मान लीजिए कि वैज्ञानिक पर ध्येयों, मूल्यों अथवा प्रकृति में व्याप्त बुद्धि के विषय में अपनी राय देने के लिए दबाव डाला जाए, तो निःसन्देह, केवल नगण्य रूप में ही वैज्ञानिकों की राय इस प्रश्न पर इकट्ठा कर पाएँगे। यदि ऐसे मत प्राप्त किए भी जा सकें तो संभवतः वे यही बतलाएँगे कि उनकी राय बहुत विभाजित है। कई तो कहेंगे कि वे प्रकृति में उद्देश्य, योजना, अथवा ध्येयों के कोई प्रमाण नहीं देखते हैं। अन्य कई व्याप्त आत्मा अथवा बुद्धि में आस्था व्यक्त करेंगे। दूसरे लोग प्रथम बुद्धिमान् कारण की आस्था को स्वीकार करेंगे, तथा और दूसरे लोग कहेंगे कि सब वस्तुओं के पीछे और संभवतः सबके साथ तादात्म्य करने वाला ही कुछ है, जिसे मनस् कहा जा सकता है।

इस विषय पर वैज्ञानिकों की राय को इकट्ठा करने लिए कई प्रयत्न किये गए हैं। हाल में कुछ वर्षों में किए गए प्रयत्नों में से दो मेरी डेस्क में पड़े हैं। एक तो फ्रांसिस मेसन द्वारा संपादित दि **ग्रेट डिज़ाइन**[1] शीर्षक से है जिसका प्राक्कथन स्वर्गीय सर आर्थर टॉमसन ने लिखा है। उसके चौदह अध्याय प्रमुख वैज्ञानिकों ने लिखे हैं, जिनमें रॉबर्ट ग्रान्ट एटकेन्स, जेम्स आर्नोल्ड क्रोदर, सी० लायड मॉर्गन, सर ऑलीवर लॉज, और हन्स ड्रीस हैं। ये लेख समष्टि रूप से लेखकों का यह विश्वास प्रकट करते हैं कि जब हम "प्रकृति में व्यवस्था, गोलार्धों का तंत्र, नियम की सार्वभौमिकता पर विचार करते हैं, तो हम एक महान् रचना को देखते हुए प्रतीत होते हैं"—"पूर्णता में एक प्रतिरूप" और यह जगत् प्रदर्शित करता है कि "जगत् इस असीम बुद्धि का प्रमाण है जो इसमें व्यवस्था बनाये रखती है।" यह कार्य रचना पर किसी भी वैज्ञानिक मत को बताने का दावा नहीं करता किन्तु कुछ प्रमुख वैज्ञानिकों के विचार प्रस्तुत करता है। दूसरी पुस्तक है **हैज़ साइंस डिसकवर्ड गॉड ? ए सिम्पोज़ियम ऑफ़ मॉडर्न साइंटिफ़िक ओपीनियन**[2] इस कृति में विज्ञान के सोलह व्यक्तियों के विचार संगृहीत हैं। उनमें मिलीकन, मेदर, एडिन्गटन, कौन्कलिन, आइन्स्टाइन, जुलियन हक्सले, मेक्डूगल, प्यूपिन, जीन्स तथा अन्य लोगों द्वारा लिखे अध्याय सम्मिलित हैं। उसका उपसंहार करते हुए

---

1. *The Great Design,* edited by Frances Mason (The Macmillan Company, 1934).

2. *Has Science Discovered God?* Gathered and edited by Edward H. Cotton (Thomas Y. Crowell Company, 1931).

संपादक कहता है :

हमारी सभ्यता से उत्पन्न सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक व्यक्तियों द्वारा वह निष्कर्ष जैसा कि यह इस विवेचना में प्रस्तुत किया गया है, कि हम यान्त्रिक व्यवस्था में जीवित नहीं हैं, किन्तु उस व्यवस्था और रचना के जगत् में जीवित हैं, जो पूर्ण रूप से गणितीय नियम की अच्छाई तथा हितकारी उद्देश्य के उपयुक्त वर्ताव करता है, न केवल सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्यों में एक है, जो हमारे समक्ष आता है, वरन् वही मात्र सबसे महत्त्वपूर्ण है। वह हक्सले का मानवीय निवेदन, एडिन्गटन का रहस्यवाद, मेदर की श्रद्धा, मिलीकन का विश्वास अथवा आइन्स्टाइन की सरल आस्था हो सकती है। स्वरूप चाहे जो भी हो यह मनुष्य के मनस् को शीघ्रता से "दिप्तिमान् दृष्टि" में आस्था की ओर अग्रेषित करना है।

यद्यपि यह पुस्तक वैज्ञानिक मत के पूर्ण भाग का प्रतिनिधित्व नहीं करती, तथापि उन व्यक्तियों के विचारों को प्रस्तुत करती है जो सर्वविदित हो चुके हैं और रुचिकर हैं।

पिछले अध्याय में अकार्बनिक प्रकृति में प्रयोजनता के अध्ययन का उल्लेख किया गया है।[1] ऐसे अध्ययन रुचिकर हैं, क्योंकि अब तक कार्बनिक जगत् में प्रयोजनता को असत्य सिद्ध करने के लिए प्राकृतिक चुनाव पर निर्भर किया जाता रहा है, तथा क्योंकि अकार्बनिक जगत् पर इसकी प्रयुक्ति नहीं हो सकती, अतः अकार्बनिक जगत् में प्रयोजनता की उपस्थिति प्रकृति में सामान्यतः कुछ मूलभूत प्रयोजनता का वास्तविक साक्ष्य होगी। हेन्डरसन यह देखता है कि हमारे ग्रह पर जीवन के उत्पन्न होने के पूर्व उसके लिए एक पर्यावरण में एक खास तरह की **उपयुक्तता** थी जो उसके लिए तैयारी मानी जा सकती है। हमारा उसे तैयारी कहना उचित नहीं भी हो सकता है; किन्तु उपयुक्तता तो दिखाई देती है और उसकी व्याख्या अपेक्षित है।

इस उपयुक्तता के ध्यान देने वाले उदाहरणों में हेन्डरसन ने पृथ्वी की सतह पर कार्बन, ऑक्सीजन और हाइड्रोजन और उनके सम्मिश्रण के विशेष लक्षण का उल्लेख किया है, तथा जल तथा कार्बनिक एसिड का बड़ी मात्रा में होना, समुद्र के तापमान का प्रायः समान होना, पर्याप्त वर्षा होना, जम जाने के तापमान के समय जल का विस्तार होना, शीतकाल में हमारी नदियों और तालाबों को ठोस जमने के लिए रोक लगाना, जल और ऊष्मीय गुणों का विशेष गर्मी के द्वारा पृथ्वी की ग्रीष्म तथा शीत की गर्मी को सन्तुलित करना, जल की अन्तर्निहित गर्मी और उसकी घोलन शक्ति बताया है। परिवेश की ये सभी तथा अन्य कई

1. Lawrence J. Henderson, *The Fitness of the Environment*, and *The Order of Nature*. हेन्डरसन हार्वर्ड विश्वविद्यालय में जैव रसायन के प्राचार्य हैं।

विशेषताएँ जीवन के लिए इसकी अद्‌भुत तथा ध्यान देने योग्य उपयुक्तता बताती हैं। "जल, स्वयं अपने स्वभाव से, जैसा कि ब्रह्मांडीय विकास की प्रक्रिया में स्वयं हो जाता है, उससे कम अद्‌भुत तथा भिन्नता लिए हुए उपयुक्त होता है जो जीव कार्बनिक विकास की अनुकूलन प्रक्रियाओं द्वारा उपयुक्त होता है।"

अकार्बनिक प्रकृति में जीवन तथा उसकी आवश्यताओं का पूर्वानुमान करने के ये केवल थोड़े से ही ध्यान देने योग्य उदाहरण हैं। जैसी स्थिति यह है उसमें हमें क्या निष्कर्ष निकालना चाहिए ? जैसा हेन्डरसन विश्वास करते हैं केवल एक ही निष्कर्ष सम्भव है। प्रकृति में अभी तक एक प्रकार का अस्वीकृत क्रम है जिसके नियमों को अब तक हम समझ नहीं सके हैं। यह नितान्त असम्भव ही लगता है कि भौतिक तत्त्वों के गुणधर्मों के योग की वह विलक्षणता, जो कार्बनिक जीवन को अधिकतम उपयुक्तता प्रदान करती है, आकस्मिक घटना का परिणाम हो।

> इन तत्त्वों के गुण-धर्मों के बीच का सम्बन्ध, जो आकस्मिकता के परिणाम की तरह नितान्त असम्भव ही समझा जा सकता है, यदि यंत्रवत् भी समझा जाये तो वास्तव में पूरी तौर से विकासवादी प्रक्रिया की तैयारी के तौर पर ही समझ में आ सकता है। इसमें मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि यह अनुकूलन से मिलता-जुलता है···
>
> इसलिए हम इन गुण-धर्मों के समूह को यह समझने के लिए वाध्य हो जाते हैं कि यह एक अर्थ में ग्रह विकास की भूमिका है······अतः अभी तो तत्त्वों के गुण-धर्मों को प्रयोजनात्मक लक्षणों से युक्त समझना चाहिए।[1]

समस्त जगत् में यांत्रिकता का राज्य होता है, किन्तु वह सर्वोच्च राज्य नहीं करती। न केवल जीवन ही यांत्रिकता से परे है वरन् स्वयं जीवन की वृत्ति भी उसके परे होती है।

किन्तु अब, हमें इस प्रकृति की इस अकार्बनिक जगत् के प्रयोजनात्मक लक्षण की व्याख्या कैसे करनी है ? क्या हम यह कहेंगे कि वह किसी उद्देश्य अथवा रचना की ओर संकेत करती है ? हेन्डरसन यह अगला कदम नहीं उठाता। प्रकृति में जो क्रम वह पाता है उसे मनुष्य की शब्दावली द्वारा वताना उसका ध्येय नहीं था, किन्तु वास्तविक तथ्यों में उन निहितार्थों तक सीमित रखना था जिन्हें विज्ञान खोजता है। किन्तु वह समस्त विकास प्रक्रिया द्वारा प्राप्त आदि प्रवृत्ति की तुलना उस वास्तुविद् से करता है जो घर की रचना करता है।

किन्तु शायद सबसे रुचिकर उसका यह निष्कर्ष है कि विश्व "जीव केन्द्रिक" है। चूंकि एक समय था जब पृथ्वी पर जीवन का कोई अस्तित्व नहीं था। इस

---

1. *The Order of Nature* (Harvard University Press). pp. 190, 192.

कथन का इसके अतिरिक्त कोई अर्थ नहीं हो सकता कि अपने अकार्बनिक स्तर पर जगत् जीवन के आगमन को देखता है, उसके अनुकूल होता है और कुछ अर्थ में उसके लिए तैयार होता है। कैसा भी हो, "भूततत्त्व के गुणधर्म और ब्रह्मांडीय विकास की धारा अब जीवों की संरचना के साथ उसकी क्रियाओं के साथ घनिष्ठता से सम्बन्धित दिखाई पड़ती है।"[1] जैसा व्हाइटहेड कहता है, "जीवन का यह सार है कि यह स्वयं को अपने वास्ते ही अन्तर्निहित मूल्यों को प्राप्त करने के लिए विद्यमान होता है।"[2]

जैविक दृष्टिकोण

जब हम सरलतम जीव का अध्ययन करना आरम्भ करते हैं तो यह पाते हैं कि कुछ बात ऐसी है जो यांत्रिक योजना से बाहर होती है और वह है **जीवन**। जीवों में भौतिक और रासायनिक प्रक्रिया का पूर्ण वर्णन भी उसका सारा ज्ञान नहीं देता; कुछ और बात होती है जो प्रयोजनात्मक संप्रत्ययों के जोड़ देने मात्र से ही व्यक्त हो सकती है। हम वास्तविकता के एक अन्य स्तर पर हैं और वहाँ जो कुछ होता है उसे बताने के लिए हमें नवीन पदार्थों की आवश्यकता होगी।

कार्य-कारण सम्बन्ध, जो यांत्रिक विज्ञानां में इतना मौलिक है, जीव-जगत् के लिए कोई हल देने में असमर्थ है; एक नवीन सम्बन्ध अर्थात् **साधन** तथा **साध्य** दिखाई देते हैं। निश्चय ही वह कारण और कार्य से सम्बन्ध का स्थान नहीं लेता, वह उसका पूरक है। जीवन के आगमन से कुछ चीज़ दिखाई देती है, जिसे हम **मूल्य** कह सकते हैं। जीवन शुभ है और जो इसमें योग देता है वह उपकरण शुभ है, यथा --भोजन, वायु, जल, काम और व्यायाम।

> भौतिकी में आँकड़े एक-दूसरे से बाह्य तथा स्वतन्त्र माने जाते हैं। यह गणितीय भौतिकीविद् की प्रक्रिया का सार है। उसके प्रतीक, जीवन अथवा प्रयोजनात्मक क्रिया में प्रदर्शित वर्ताव का विचरण नहीं करते। किन्तु जब हम किसी जीव का प्रेक्षण करते हैं तो यह वह है जिस बात का ध्यान हमें अवश्य करना चाहिए। हम अपने आँकड़ों का मतलब अथवा उसकी वास्तविकता को नहीं जान सकते यदि हम यह मान लें कि वे एक-दूसरे से विलग रहते है। यहाँ पर हमारा प्रयोजन उसके इस लक्षण से है कि स्वरूप का ब्यौरा, गति और रासायनिक सम्मिश्रण, जिनका कि हम उनमें भेद करते हैं, निश्चित रूप से, न कि आकस्मिक रूप से, एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। "हम तो इस तथ्य के अभ्यस्त हैं कि किसी भी

---

1. *The Fitness of the Environment* (The Macmillan Company), p. 312.

2. Alfred North Whitehead, *Nature and Life* (The University of Chicago Press, 1934), p. 9

अंगी का एक अंग अथवा एक हड्डी उसके सारे शरीर से सम्बद्ध रहती है। हम यह भी जानते हैं कि यदि कोई पशु साँस ले रहा है तो हम उसके हृदय की धड़कन, अन्य अंगों की न्यूनाधिक स्पष्ट क्रिया को देखने की आशा कर सकते हैं। हम, संरचना और जीवों की क्रिया के विवरण को एक साथ रखते हैं। हम उसे जीवित बताते हैं और उस संरचना तथा क्रिया को उसके जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं। मैं जो बात स्थापित करना चाहता हूँ वह यह है कि जीव को ऐसा समझ लेने में हम एक ऐसी प्राक्कल्पना का उपयोग करते हैं जो जीवविज्ञान के लिए इतनी ग्राह्य है, इतनी सामान्य है, ज्ञात तथ्यों के लिए इतनी सत्य है, और वैज्ञानिक कार्यगत प्राक्कल्पना इतनी ही अच्छी है जितनी की भौतिकी तथा रसायनविज्ञान के लिए भूत-तत्त्व के नष्ट न होने की प्राक्कल्पना है।"[1]

जब जैविक विज्ञान जीव के लिए "हितकर" अथवा "अहितकर" स्थिति की बात कहता है, जब वह कुछ रासायनिक तत्त्वों को "भोजन" तथा अन्य को कूड़ा बताता है; अथवा "संगठन" के संप्रत्ययों के माध्यम से समष्टि दृष्टिकोण से उसके अंगों की व्याख्या करता है; जब "वृद्धि", "बर्ताव", अथवा "पुनरुत्पादन" इत्यादि के साथ व्यवहार करता है तो, वह जीवित संरचना के प्रत्येक लाक्षणिक प्रकारों की वृद्धि अथवा उसे बनाए रखने के संप्रत्यय को लागू करता है—उसकी भाषा प्रयोजनवाद में परिपूर्ण होती है जिसकी शब्दावली में "मूल्य" अथवा यदि अधिक चुनाव किया जाये तो "वस्तुगत मूल्य" भी सम्मिलित कर लेने का आशय है। मोटे तौर से, जहाँ कहीं तथ्य हमें न केवल यह कहने की चुनौती देते हैं कि 'क' का परिणाम है 'ख', किन्तु यह कि 'ख' ही **कारण है जिसके लिए** 'क' का अस्तित्व होता अथवा वह उत्पन्न होता है, वहाँ पर हमारे पास जीवित वस्तुओं में **निहित प्रयोजनता** होती है।

जब हम यह पूछते हैं कि प्राकृतिक वस्तुओं में अथवा समस्त प्रकृति में कौनसे ऐसे लक्षण होते हैं जो निहित प्रयोजनता, यह "रचना", दर्शाते हैं, तो यह नितान्त स्पष्ट है कि निश्चित ही उसका उत्तर होगा कि वह है **संगठन** न केवल भेद किए अंगों के व्यवस्थित संरचना के अचल अर्थों में किन्तु चल अर्थों में इस संरचना के कर्त्तव्य और कार्य को समष्टि रूप से लेते हुए, और अपने अंगों द्वारा परिवेश में प्रतिक्रिया करते हुए (जो शाब्दिक अर्थों में उपकरण है) चल अर्थों में ताकि वह अपने आपको परिवेश

1. Viscount Haldane, *The Philosophy of Humanism and of Other Subjects* (Yale University Press), pp. 208—209. यह उदाहरण वाइकाउन्ट हाल्डेन के भाई जे० एस० हाल्डेन की पुस्तक "दि न्यू फिजिआलॉजी" (1919), पृ० 31 से लिया गया है।

से तथा परिवेश को अपने से समायोजित कर लेता है। कान्ट की सुप्रसिद्ध भाषा में, जिसमें प्रयोजनात्मक संरचना वह है जिसमें पूर्ण तथा भाग परस्पर एक-दूसरे के लिए साधन तथा साध्य होते हैं। पूर्ण का अंगों के ऊपर अधिकार उस परस्पर सूक्ष्म समायोजन पर स्थिर होता है जिसे उनके कार्य के सन्बन्ध में हम **नियामक** कहते हैं, और जब वे अपने रूप तथा कार्य में वैयक्तिक विशेषता बतलाते हैं और कलात्मक अर्थ में शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसे कोई भी प्रत्येक जीवित वस्तु का "परिणाम" कह सकता है। अरस्तू इस बात के अन्तर में सीधे पहुँच गया जब उसने जीवित व्यवस्था की तुलना प्रजाधिपत्य की व्यवस्था से की है। "और पशु अंगों को भी सुसंचालित प्रजाधिपत्य के समान समझना चाहिए। जब एक बार उसमें व्यवस्था स्थापित हो जाती है तो अनेक कार्यों के लिए अलग-अलग शासक को आसनारूढ़ करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। प्रत्येक व्यक्ति व्यवस्था के अनुसार सौंपा गया अपना-अपना हिस्सा अदा करता है और क्रम के अनुसार एक के बाद दूसरी बात आती चली जाती है। पशुओं में भी इसी प्रकार व्यवस्था होती है—प्रकृति रीतियों का स्थान लेती है और प्रत्येक अंग स्वाभाविक तौर से वैसा ही कार्य करता है जैसा प्रकृति ने उसे बना रखा है।" यहाँ पर स्पष्टत: हम वैसा ही पाते हैं जैसा कि आधुनिक जीवविज्ञान की भाषा में व्यक्त किया गया है कि "जीवित वस्तुओं का संप्रत्यय एक स्वायत्त एकक की तरह होता है जिसमें प्रत्येक भाग का अंग कार्य रूप से प्रत्येक अन्य अंग से सम्बन्धित होता है और समस्त के दास की भाँति उसका अस्तित्व रहता है।"[1]

अयांत्रिक संप्रत्यय

कार्बनिक जीवन के क्षेत्र में हमें "प्रयोजनात्मक" शब्द का प्रयोग करने में कोई हिचकिचाहट की आवश्यकता नहीं है। यह जीवन और मनस् के अध्ययन में वैसा ही उपयोगी संप्रत्यय है जैसा भौतिकी में गति का संप्रत्यय होता है। बिना प्रयोजन के संप्रत्यय के किसी राजनीतिक संस्था, अथवा सामाजिक संगठन या व्यापारिक संस्थान को समझने का प्रयत्न कीजिए, और तब यह देखिए कि क्या आपको मनुष्य के शरीर, पक्षी के पंख के कार्यों तथा संरचना अथवा चींटी या मधुमक्खी की मूल प्रवृत्ति को समझने में और अच्छी सफलता प्राप्त होती है। सरल से सरल जीव भी भोजन के लिए कुछ चीज़ें "चुनता" है और दूसरी चीज़ें

---

1. R. F. A. Hoernlè, *Studies in Contemporary Metaphysics* (Harcourt, Brace and Company), pp. 159, 160 में उद्धरण अरस्तू की पुस्तक *De Part. An.*, 645a, 20 और हेन्डरसन की पुस्तक "दि आर्डर ऑफ़ नेचर", पृष्ठ 21 से लिए गए हैं।

इसलिए टाल देता है कि वे उसका उद्देश्य पूरा नहीं करती हैं। कोश के प्राथमिक विभाजन में भी चुनाव की एक प्रक्रिया होती है, जिसके द्वारा जब क्रोमोसोम विभाजित होते हैं तब साइटोप्लाज़्म के पदार्थ में से अपने प्रयोग के उपयुक्त एक चुनाव किया जाता है। पौधे की जड़ें ज़मीन से उन तत्त्वों को चुन लेती हैं जो उसके लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं। पक्षी जो घोंसला बनाता है उसमें प्रयोजन होता है, अर्थात् अंडों को सेना और बच्चों को पालना। हम पक्षी की गतिविधि का, उसमें सम्मिलित शारीरिक बलों का उसी तरह यांत्रिक ब्यौरा दे सकते हैं, जैसे कि हम किसी भी मनुष्य के राजनैतिक प्रचार करने के बर्ताव का देते हैं, किन्तु ये गतिविधियाँ और बल पूरी बात नहीं बताते। पदार्थ, गति, कारण और कार्य के संप्रत्यय अच्छे और उपयुक्त हैं—परन्तु केवल वे ही पर्याप्त नहीं हैं। निःसंदेह, प्रयोजन, साधन, लक्ष्य, और मूल्य के संप्रत्यय भी पूरी बात नहीं बताते, परन्तु वे भी जीवन के तथ्य को समझने के लिए बिल्कुल उतने ही आवश्यक हैं जितने कि यांत्रिकता के संप्रत्यय होते हैं। कार्बनिक पिंडों में **एक हिस्सा सम्पूर्ण के लिए होता है और सम्पूर्ण की अखण्डता का एक मूल्य होता है**; और इतना हमें प्रकृति का उद्देश्यात्मक अथवा प्रयोजनात्मक लक्षण देने के लिए पर्याप्त होता है।

> जीव में जन्म से मृत्यु तक विकास की एक अभिव्यक्ति होती है, एक ऐसा विकास जो उस जाति के हित में नियन्त्रित होता है, जिसका वह जीव है। इस पहलू से भी लक्ष्य उसे ठीक वैसे ही संचालित करता है जैसे कि वह बाह्यता के सम्बन्धों का अतिक्रमण करता है। यहाँ पर लक्ष्य कोई बाह्य शक्ति अथवा घटना नहीं है। यह घटना का केवल भौतिक लक्षण होता है जो समस्त प्रवाह में अनुक्रमण तथा परिवर्तन के माध्यम से विद्यमान तथा उपस्थित रहता है और उसके विकास को अपने उद्देश्य के अनुरूप मोड़ता है। किसी न किसी समय दृश्य असातत्य है, कभी इसमें आकस्मिकता भी होती है तथा बाह्यता से विलग न किया जा सकने वाला दैवयोग भी होता है। किन्तु प्रवृत्ति फिर भी अविचलित बनी रही है।[1]

विकासवाद के कई मत जो ऊपर बताए गए हैं लक्ष्य अथवा उद्देश्य की धारणा को समाविष्ट किए हुए हैं। नियतवाद को चाहे किसी भी रूप में हम लें वह प्रयोगात्मक ही है। जब हम कहते हैं कि विकास की एक **दिशा** होती है, जब उसे **सृजनात्मक** रूप से **स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष** के रूप में, **सिद्धि** की प्रक्रिया के में, **उद्देश्य को लेकर चलने वाले** के रूप में, **दाँव-पेच** के रूप में, आवश्यक रूप से **सहकारिता** तथा **परस्पर सेवा** को समाविष्ट करते हुए किसी **कलाकार** की कृति से तुलना करने के रूप में, जीव की **आवश्यकताओं** से आगे बढ़ने के रूप में कहा

---

1. Viscount Haldane, *The Reign of Relativity*, p. 324.

जाता है तब प्रयोजनात्मक जगत् का मत निहित होता है। यही बात उन अभिव्यक्तियों से स्पष्ट होती है जैसे **आन्तरिक निर्देशक सिद्धान्त, विकासवादी अन्तःप्रेरणा, प्राथमिक निर्देशन तथा ऊर्जा के तालमेल से अस्तित्व के लिए संघर्ष।** यहाँ तक कि **अस्तित्व के लिए संघर्ष** की कहावत में भी लक्ष्य की अवधारणा निहित है।

व्याख्या

तो यदि प्रकृति अपने अकार्बनिक स्तर में भी क्रम, संरचना, संघटन, सामंजस्यमय एकता बताती है, यदि वह जीवों के क्षेत्र में मूल्यों, लक्ष्यों तथा उद्देश्यों को बताती है, यदि प्रकृति चयनात्मक होते हुए सहकारिता और दिशा बताती है, तो अन्त में इन सब बातों की व्याख्या कैसे करनी चाहिए ? क्या जगत् किसी **प्रयोजन** के लिए बनाए जाने के अर्थ में ही प्रयोजनात्मक है ? क्या किसी **योजना** के बनाए जाने के अर्थ में ही वह एक रचना है। यदि ऐसा है, तो हमें **मनस्** के प्रत्यय को यहाँ पर ले आना चाहिए, और जगत् के आन्दोलन को उस मनस् द्वारा योजनाबद्ध अथवा रचित मानना चाहिए जो लक्ष्य अथवा उद्देश्य की पूर्व-कल्पना कर सकता है, और किसी तरह से **दृढ़ संकल्प** कर सकता है, अथवा उसका सृजन कर सकता है, या उसे अस्तित्व में ला सकता है। तब हमें सर्वप्रथम जगत् का अस्तित्व एक **प्रत्यय** के रूप में प्रतीत होगा। और हमारी वृत्ति उसे एक प्रकार का निमित्त कारण या कम से कम जगत् के अस्तित्व में आने के पूर्व की परिस्थितियों में से एक स्थिति मानने की होगी।

यदि हम मनस् को जगत् के कारण के रूप में लागू करें तो निश्चय ही उसे मोटे तौर से मानवत्वारोपी ढंग से सोचना आवश्यक नहीं होगा। उसे जगत् निर्माता जो प्लास्टिक अथवा किसी के प्रतिरोधक पदार्थ से जगत् को योजनाबद्ध ठीक से सोचे हुए संरचित अथवा निर्मित ढंग से घड़ीसाज़ के सिद्धान्त की भाँति बनाता है। हमें जगत् को अनन्त अथवा निरपेक्ष मनस् अथवा आत्मा का व्यक्त होना अथवा अभिव्यक्ति समझना चाहिए, अथवा मनस् को हमें जगत् में व्याप्त एक अन्तरिम आत्मा अथवा ज्ञान, जो विकास तथा प्राकृति के नियमों द्वारा जगत् की आध्यात्मिक व्यवस्था में कार्य कर रहा है, मानना चाहिए। व्यावहारिक रूप में हमारे समस्त आधुनिक आदर्शवादी, व्यक्तिवादी, ईश्वरवादी अथवा दर्शन के सर्वचित्तवादी सिद्धान्तों के ये विचार एक जैसे हैं। यह जगत् आवश्यक रूप से अनन्त, निरपेक्षों अथवा अन्तर्हित मनस् चेतना, आत्मा, अन्तरात्मा या ईश्वर की अभिव्यक्ति होने के नाते तर्कयुक्त, सोद्देश्य तथा प्रयोजनात्मक है। ऐसा ही फिख्ते, हीगल, फेख्नर, लोट्से, वुन्ट, पॉलसन, ब्रेडले, रॉयस, और ब्राउन भी बताते हैं और यही अनेक प्रमुख अमरीकी, फ्रांसीसी, जर्मन, और इताली दार्शनिक भी कहते हैं। यदि हमने अपनी क्रिया को सप्रयोजन कहना

है तो यह कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है कि अन्त:स्थित विश्व मनस्, सांसारिक आत्मा, दैवी उपस्थिति को वैसे ही कार्य करना चाहिए जैसे हमारे मन करते हैं। जैसा कि बौसन्क्वेट ने संकेत किया है, हम "साध्य" को क्रम प्रक्रिया, जिसमें साधन तथा साध्य का कालिक सम्बन्ध है, माने बिना किसी क्रिया को सप्रयोजन कह सकते हैं। उदाहरणार्थ, किसी भी कार्बनिक उत्पाद, जैसे फूल, पर विचार करो।

> यह कहना हास्यास्पद होगा कि ऐसी वस्तुओं की उत्पत्ति आकस्मिक होती है, अर्थात् उन तत्त्वों की परस्पर क्रिया के उप-उत्पाद के रूप में जिनकी प्रकृति और जिनके मिश्रण के सामान्य नियमों में ऐसे कोई परिणाम निहित नहीं हैं, जैसे कि मानो हम किसी मनुष्य रचयिता की अन्तर्दृष्टि के साथ व्यवहार कर रहे हों, जिसके द्वारा और भी जटिल विकास तथा संयोग पूर्व-अनुमानित नहीं किया गया था···दूसरी ओर हमें निश्चय ही यह नहीं कहना चाहिए कि फूल अथवा लहर में "उद्देश्य कार्यशील है", यदि इसका यह अर्थ लगाया जाए कि हम उनमें कोई लक्ष्य अथवा विचार जोड़ते हैं, जो कि किसी तरह उनके तत्त्वों के प्रवाह में किसी ऐसी एक शक्ति से ला दिए गये हैं जिसकी तुलना एक सीमित चेतना से की जा सकती है जो कि आरम्भ से ही अतिरिक्त और अपनी स्वचालितता से भी अनासक्त है। यदि पहले कही हुई अवधारणा आकस्मिकता बताती है, तो यह चमत्कार बताती है।[1]

जैसा कि हमने देखा यह बहुत शक्तिशाली प्रमाण है कि व्यवस्था "रचना", संगठन, संरचना, मूल्य, लक्ष्यों के अर्थ में प्रयोजनात्मक और निश्चय ही यदि सबसे अधिक तर्कयुक्त नहीं तो सबसे अधिक स्वाभाविक यह वह तथ्य है कि जगत् में मनस् की उपस्थिति है। यह कि "दैवी मनस्" नियन्त्रित मनुष्य के मनस् की भाँति आवश्यक रूप से प्रयोजनात्मक जगत् से सम्मिलित नहीं है। इस चेतना से हमारा तात्पर्य उस बोध और विचारों की एकता से है जो मनस् के द्वारा बताया जाए। तो भी इसमें यह बात सम्मिलित नहीं है कि ऐसा मनस् चेतन है। किन्तु सृजनात्मक मनस् के गुणों का प्रश्न अभी हमारे सामने नहीं है, मात्र यह समस्या हमारे सामने है कि क्या वाह्य और अनुभवातीत प्रकृति अथवा प्रकृति में अंतर्निहित और अंतर्व्याप्त मनस् की उपस्थिति के अतिरिक्त क्या कोई इससे अच्छी अन्य प्राक्कल्पना प्रयोजनात्मक जगत् को बताने के लिए संभव है। यह बात वास्तव में महत्त्वपूर्ण है कि एल० टी० हॉबहाउस के समान सतर्क विद्वान् तथा वैज्ञानिक कहते हैं कि उनकी बाद की खोजों ने उन्हें इस बात पर विश्वास

1. Bernard Bosanquet, *The Principle of Individuality and Value* (copyrighted by The Macmillan Company. Reprinted by permission), pp. 147, 148, 149.

करने का मार्ग-दर्शन किया है कि मनस् की प्रकृति के समान कुछ बातें पहले विश्वास की जाने वाली बातों से भी अधिक कार्बनिक जगत् में आगे जाने वाली हैं, यहाँ तक कि यह प्रश्न उठाना कि क्या समस्त विकासवादी परिवर्तन आवश्यक मनस् की चालन शक्ति है ।[1]

नवीन प्रयोजनवाद

किन्तु, मनस् की विचार प्रक्रिया के द्वारा प्रकृति में लक्ष्यों के प्राप्त करने को मान लेने के अतिरिक्त प्रयोजनवाद को समझाने का क्या कोई और उपाय है ? निश्चय ही, पाठक यह कहेंगे कि **यदि** इस जगत् में कोई प्रयोजन है तो इस लक्ष्य का पूर्ववर्ती मनस् **अवश्य** होना चाहिए । किन्तु चलिए देखें कि क्या यह आवश्यक रूप से सच है । संभवत: एक ऐसी आदत के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो हमें सदा निमित्त कारण को देखने के लिए बाध्य करती है, और किसी प्रकार के कारण के लिए नहीं, वह ऐसी आदत है जो हमारी भौतिक विज्ञान की आस्था द्वारा बहुत उत्साहित हुई है । हमें हमेशा ऐसा क्यों सोचना चाहिए कि कोई भी बात समझने के लिए उसकी पूर्ववर्ती बात को जानना आवश्यक है । वह उस लक्ष्य के द्वारा क्यों न समझाई जाए जिसके लिए वह **अपरिहार्य** है । जब से कान्ट ने अपनी कृति **शुद्ध बुद्धि की संपरीक्षा** में यह बतलाया है कि जीव वह है जिसमें समस्त तथा उसके अंग परस्पर एक-दूसरे से निर्धारित होते हैं, इस अद्भुत समस्या पर दार्शनिक परेशान हैं और यह अचरज कर रहे हैं कि क्या इसके स्थान पर कोई नये प्रकार का प्रयोजनवाद माना जाए । इन अन्तिम अनुच्छेदों में चलिए हम प्रकृति में प्रयोजनता के इस नवीन तरीके पर विचार करें, और यदि यह मत समझने में कठिन और विचित्र मालूम पड़े तो चलिए हम उस प्रतिज्ञा के रुचिकर मार्ग को अपना लें जो शीघ्रता से स्वीकार अथवा रद्द किया जाए । विन्डलवेन्ड ने इस नवीन प्रयोजनवाद को बहुत स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है :

> भौतिकी तथा रसायन के क्षेत्र में हम स्वयं को व्यक्त करने के लिए स्वाभाविक रूप से यान्त्रिक शब्दावली का ही उपयोग करते हैं । जीव-विज्ञान के क्षेत्र में प्रयोजनात्मक शब्दावली का उपयोग करते हैं । जब हाइड्रोजन और ऑक्सीजन 1 : 2 के अनुपात में मिलती हैं तो हमें जल प्राप्त होता है, किन्तु हम यह भी कह सकते हैं कि यदि जल प्राप्त होना है तो हाइड्रोजन और ऑक्सीजन आवश्यक हैं, इत्यादि । दूसरी ओर हम यह कहते हैं कि जीव ने प्रकाश के विभिन्न संवेदनों को प्राप्त करना है तो उसकी संरचना आँख के समान अंडाकार होनी चाहिए, और इस विषय में विपरीत यान्त्रिक अभिव्यक्ति हमारा कार्य पूरा नहीं कर सकती, कम से

1. L. T. Hobhouse, *Mind in Evolution*, 2d ed., p. ix.

कम तब तक जब तक कि कारणता सम्बन्ध के विपरिवर्त्य में "केवल" शब्द का उपयोग न करें। अत: हम कह सकते हैं कि एक सीमित तापमान में ही जीव उत्पन्न हो सकते हैं और इसलिए यदि जीवों को उत्पन्न होना है तो सीमित तापमान की आवश्यकता होगी। यह अभिव्यक्ति इतिहास की जटिल एकांकी घटनाओं में प्राय: प्राप्त होती है। केवल जहाँ पर अठारहवीं शताब्दी के जर्मनी की भाँति आध्यात्मिक वातावरण है और गेटे की भाँति प्रतिभा है वहीं **फाउस्ट** संभव है; **फाउस्ट** को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है, इत्यादि।

जब हम इन अभिव्यक्तियों की सचाई की जाँच करें तो हमें सर्वप्रथम उनका अर्थ एकदम स्पष्ट कर देना चाहिए। चलिए हम जीव का ही सुप्रसिद्ध उदाहरण लें। उसकी क्रिया और विकास उसके निश्चित अंगों द्वारा ही नहीं, किन्तु उनके निश्चित कार्यों के द्वारा ही संभव होते हैं। किन्तु अपने स्थान पर ही ये निश्चित अंग और उनके कार्य संभव होते हैं और इस समष्टि तथा उसके अंगों के परस्पर एक-दूसरे के आश्रय को लेकर ही कान्ट ने जीव की एक उच्च कोटि की परिभाषा दी है। घड़ी एक समष्टि है जो उसके पूर्व-स्थित चक्रों को लगाकर बनाई जाती है, इत्यादि। किन्तु जीव को स्वयं उन अंगों की उत्पत्ति करनी होगी, जिनसे वह बनता है। इससे हमें समष्टि की संरचना के दो मौलिक प्रकार प्राप्त होते हैं, यान्त्रिक और कार्बनिक। एक में तो अंग समस्त से पूर्व होते हैं और एक साथ जोड़ दिए जाने पर उसकी उत्पत्ति करते हैं। दूसरी ओर कार्बनिक समष्टि में अंग स्वयं ही समष्टि के द्वारा नियन्त्रित होते हैं। मात्र उसमें ही वे संभव होते हैं। इस प्रकार कार्बनिक समष्टि में जो लक्ष्य उससे प्राप्त होता है उसी से उसका आरम्भ निर्धारित होता है।

यह बाद का मत, प्रथम दृष्टि में तो कारणता के सामान्य मत के लिए बहुत अधिक होगा। लक्ष्य के आधार पर आरम्भ का निश्चय करना कुछ विरोधाभासी और असम्भव-सा प्रतीत होता है। पूर्व-स्थिति होने वाले को ही वर्तमान का निर्धारण करना चाहिए यह बात तो स्वभाविक ही प्रतीत होती है, हालाँकि प्रथम दृष्टि में यह स्वयं स्पष्ट नहीं होती; किन्तु वह भविष्य, में जिसका अभी कोई अस्तित्व नहीं है, कैसे कुछ कर सकता है ? वह स्वयं किसी घटना की प्रक्रिया को कैसे निश्चित कर सकता है, जो उसके ही अस्तित्व का कारण है ? यह न केवल अबोधगम्य है वरन् असम्भव भी है। किन्तु हम तुरन्त ही सामान्य विचारों के आधार पर ही इन विरोधों की ताकत को कम कर सकते हैं। सर्वप्रथम तो यह बताया ही जा चुका है कि यद्यपि किसी पूर्वस्थिति के द्वारा कारणता का निश्चित करना एक सामान्य बात है, तथापि उसका गहराई से अध्ययन करने पर उसको तर्क-

युक्त ढंग से समझना ठीक होता है। उदाहरण के लिए, यदि हम काल-सम्बन्ध को दृश्य-प्रपंचीय मान लें तो यह देखते हैं कि पूर्व-स्थित केवल हमारी सीमित बुद्धि के प्रारूप ही हैं जिन्हें प्रयोजनात्मक निर्भरता का इतना अधिक विरोधाभास नहीं बनाया जाना चाहिए। यह और भी कम हो जाता है, क्योंकि इस दृष्टिकोण से वस्तुओं को समझना इधर दृश्य जगत् के कुछ समूहों के लिए असम्भव सिद्ध हुआ है। अरस्तू और शेलिन्ग दोनों ने ही इस अनिवार्यता के नियम पर पर्याप्त बल दिया और फिख्टे ने जब ठीक से यह समझ लिया कि क्या होना चाहिए यह समस्त अस्तित्व का कारण है तो उसने प्रयोजनवाद के विरुद्ध पूर्वग्रह के स्रोत का संकेत किया। यह द्रव्य तथा अभिग्रह के संप्रत्यय पर आधारित है और इसके साथ ही यह भी कि यदि किसी वस्तु को अस्तित्व में आना है तो किसी न किसी वस्तु का होना **आवश्यक** है। इसके विपरीत वह संप्रत्यय, जो **मूल क्रिया** की प्राप्ति की ओर निर्देशित मानता है और इसलिए उसके द्वारा निश्चित होता है, यह जगत् के कार्बनिक दृष्टिकोण का सच्चा, वास्तविक, और शुद्ध प्रयोजनवाद है।[1]

इस "सच्चे" अथवा "वास्तविक प्रयोजनवाद" का मनस् द्वारा रचित प्रयोजनवाद के साथ अभेद नहीं करना चाहिए। बाद के इस प्रयोजनवाद में हम अभी तक कर्त्तव्य-परायणता से पुराने कारणता-सम्बन्धों को मानते जा रहे हैं; हम केवल निमित्त कारण की श्रृंखला में लक्ष्य को रख देते हैं। यह नहीं कि हम कहते हैं, कि बड़े दिन की पवित्र अग्नि के पर्व पर मित्रों से पुनर्मिलन करने के कारण ही बैंक से पैसे निकालने और रेल के टिकट खरीदने को जाते हैं, किन्तु पुनर्मिलन का **विचार** ही होता है। निश्चय ही बात को देखने का यह एक तरीका है, परिस्थितियों के तत्त्वों का यह विश्लेषण कालिक सम्बन्धों के कार्य-कारण को देखने का एक तरीका है, जो कि विशेष कर भौतिक विज्ञानों और व्यावहारिक कलाओं के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है।

किन्तु क्या पूरे प्रश्न के सम्बन्ध में कोई अन्य मार्ग नहीं जो प्रकृति के व्यवहार को और भी गहरे ढंग से समझने का संकेत दे सके? चलिए हम यह सोचने का साहसिक प्रयोग करें कि लक्ष्य ही वास्तव में साधनों का निर्धारण करता है। यह निश्चय ही कार्बनिक जगत् के बारे में प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि आँख के अंग विकास की प्रक्रिया में ही अस्तित्व में आते हैं, किन्तु इसलिए नहीं कि अणुओं और परमाणुओं में कुछ भौतिक गतियाँ होती हैं वरन् इसलिए कि देखने की क्रिया के लिए वे **अपरिहार्य** होते हैं। निःसंदेह जैसा आचार्य विन्डलवैंड कहते हैं कि प्रकृति को इस तरह से देखना हममें से बहुतों के

1. Wilhelm Windelband, *An Introduction to Philosophy*. Translated by Joseph McCabe (Henry Holt and Company), pp. 144, 145, 146.

लिए कठिन है, क्योंकि हम यांत्रिक तरीके से कार्य और कारण के सोचने के तरीके से गहन रूप से सम्बन्धित हैं; किन्तु एक बार समझ लेने के बाद यह वास्तविक प्रयोजनवाद एक प्रकार से रहस्योद्घाटन सिद्ध हो सकता है।

इस दृष्टिकोण से रूप, और संरचना ही जगत् की वास्तविकताएँ हैं; पदार्थ उनकी मात्र क्षमता है। जगत् उसकी सिद्धि अथवा प्राप्ति की प्रक्रिया है। हमने उसे एक प्रकार का सृजनात्मक विकास कहा है। जब उसे विकास की किसी निश्चित प्रक्रिया की दृष्टि से देखते हैं तो वह ऐसा ही है, किन्तु अब हम देखते हैं कि उसके सृजन उसकी स्वयं अन्तर के मूल्यों से युक्त रचनाओं की सिद्धियाँ ही हैं। करीब-करीब यही मत अरस्तू का था और इसी से मिलता-जुलता प्लेटो का भी मत था। जगत् की गति एक विकासात्मक प्रक्रिया है जिसमें पदार्थ एक रूप अथवा संरचना धारण करता जा रहा है। रूप और संरचना आदर्श वास्तविकताएँ हैं—अर्थात् मूल्य हैं; और वे ही अन्तिम कारण हैं। तब तो पौधे और पशु भी अन्तिम कारण हैं, जीवन स्वयं अन्तिम कारण है, मानव जाति, मनुष्य का मनस् अन्तिम कारण हैं। विकासवादी दृष्टिकोण से यहाँ एक सृजनात्मक संश्लेषण है जो नवीन वस्तुओं और नवीन तथा उच्चतर मूल्यों के माध्यम से प्रवाहित हो रहा है; किन्तु वे वस्तुएँ जिन्हें हम निमित्त कारण कहने के अभ्यस्त हैं इस कारण हैं कि वे नवीन वास्तविकताओं के होने के लिए अपरिहार्य हैं। हम यह कह सकते हैं कि प्रकृति किन्हीं उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उद्यम कर रही है—जीवन, वैयक्तिकता, मनस्, चेतनता, सामाजिक व्यवस्था, स्वतन्त्रता, नैतिकता जो सभी मूल्य अथवा लक्ष्य हैं, हम यह कह सकते हैं कि यह सब अस्तित्व के लिए संघर्ष है, क्योंकि ये मूल्य विश्व की वास्तविकताएँ हैं, वास्तविक सत्ताएँ हैं। निश्चय ही ऐसा मत नितान्त प्रयोजनात्मक है—हम केवल अभी प्रकृति अथवा मनस् को इन मूल्यों का मानसिक चित्र बनाने की बात नहीं सोच रहे हैं, इसके पश्चात् स्वेच्छा की श्रृंखला द्वारा उन्हें अस्तित्व में लाने की बात सोच रहे हैं। किन्तु हम इन अन्तिम मूल्यों पर पूर्ण रूप से विचार कर रहे हैं, अन्य वस्तुएँ जिनका अंग हैं और हम यह विचार कर रहे हैं कि अंगों का अस्तित्व पूर्ण के लिए है और वे उसी के द्वारा निर्धारित होते हैं।[1] इसलिए मनस् जगत् का नियोजन नहीं करता, उसकी कल्पना या **संकल्प** नहीं करता; तथापि मनस् ही जगत् का कारण है, उसका अन्तिम कारण है; क्योंकि मनस् उन उद्देश्यों में से एक है जिनकी ओर प्रकृति अग्रसर हो रही है।

विश्व का संप्रत्यय, जैसा कि यह है, हमारे आज के वैज्ञानिक युग में आश्चर्यजनक है। प्राचीन लोगों के लिए वह बहुत साधारण था। वह स्पष्ट रूप से प्लेटो का स्मरण करता है, किन्तु प्लेटोवाद के पुनरावर्तन के अनेक संकेत हैं। पॉल

---

1. इस विषय के गहन विमर्श के लिए बर्नार्ड बोसन्क्वेट की "दि प्रिंसिपल्स ऑफ़ इंडिवजुआलिटी एण्ड वैल्यू", अध्याय IV, V से तुलना कीजिए।

एल्मर मोरे कहता है :

सामान्य तौर से यह कहा जा सकता है कि प्राकृतिक वर्ग जैसे मनुष्य और पशु के साथ नामवादी मत सम्बन्धी कठिनाइयाँ और भी अधिक दुष्कर प्रतीत हो रही हैं और विज्ञान तथा दर्शन के प्रयोजनवाद पर कुछ न कुछ आधारित होने के कारण पुनरावर्तन में एक प्रकार की विकास की प्रक्रिया है जिसमें हम पुनः उन विचारों में विश्वास करते जा रहे हैं जो प्लेटोवादी अर्थों से मिलते-जुलते हैं ।

हमारे सौन्दर्य के अनुभव का वह शिखर जो सामान्यीकरण की नीचे की सीढ़ियों द्वारा प्राप्त होता है अब सृजनात्मक शक्ति द्वारा विलोम अर्थ में समझा जाता है जो जगत् तक पहुँचता है और उसके निरन्तर परिवर्तन-शील पदार्थ को रूप और स्थायित्व का क्रम प्रदान करता है और सत्ता का यह कारण असत्ता के विरोध में विशेषकर उसके बाद के वर्षों में प्लेटो के लिए हो जायेगा, जब वह **शममियस** (Timoeus) और **लॉज** के तत्त्वमीमांसीय उलझनों की जाँच से मुड़कर युवकों की कम जिज्ञासापूर्ण आस्था में और केवल ईश्वर की ओर आता है ।[1]

यदि बहुत स्पष्ट रूप से देखा जाए तो क्या यह केवल खींचना है अथवा धकेलना जो जगत् को आगे की ओर खींचता या ले जाता है ? यह **पीछे की शक्ति** या पीछे से आने वाला धक्का है जिसे हमारी उन्नीसवीं सदी की यांत्रिक आदतों ने सदा से बल दिया है । और तो भी नम्रता से हम यह एहसास करते हैं कि इस धक्के के **कारण** को छोड़िए, उसका तरीका भी अज्ञात है । इसलिए अन्त में जगत् खींचा गया है उसे धक्का नहीं दिया गया है । हम अपने ही अनुभव के आधार पर इस **आकर्षक** शक्ति की एक रूपरेखा देख सकते हैं । हम जानते हैं कि किस तरह हम सौन्दर्य तथा मूल्य की ओर खिचते हैं । प्लेटो ने अपने प्रेम के सिद्धान्त में इसे जगत् व्यापी शक्ति का दर्जा दिया है । रॉयस ने उसे आत्मा के "घर आने की मूल प्रवृत्ति" कहा है । अरस्तू ने एक अन्तिम सुझाव दिया है कि महान् आर्य चालक ईश्वर जगत् का संचालन आकर्षण की शक्ति के द्वारा करता है—जैसे कि एक तस्वीर हमें उसकी ओर खींचती है ।

अपने आपमें जितनी गहराई और जितनी निश्चितता आप देख सकें, देखें तो आप हमेशा यही पायेंगे कि केवल भविष्य है जो वर्तमान को निश्चित करता है और एक प्रकार से उसका सृजन करता है । प्रत्येक क्षण अतीत हमारे पैरों के तले शून्यता में विलीन होता चला जाता है और हम राज दरबार से दूर होकर मिस्सिसिपी नदी में डूबते हुए उससे दूर होते हैं जब कि शाश्वत रहने वाला भविष्य सदा रहने वाले अकाल की भाँति हमें

1. *Platonism* (pp. 120, 169), Princeton University Press.

ऊपर और आगे की ओर खींचता रहता है। ध्यान दो कि न केवल उच्चतर चेतन अवस्था में स्थित निकट भविष्य में किन्तु उपचेतन की गहराइयों में भी बहुत दूर से अनजाने स्थल से आवाज़ पुकार उठती है, आने वाले काल का अनन्त विस्तार इस पुकार को पकड़ता है और अधीर होकर प्रतिभा से उसका पक्ष लेता है; आने वाले समय के दृश्य का व्यापक मुख मनुष्य की जाति से स्वयं के हृदय के अस्तित्व से आशा तथा भय से व्याप्त रहता है और केवल इन्हीं के द्वारा इतिहास का पक्षी अपने गृह की उड़ान का निर्देश प्राप्त करता है।[1]

अन्त में हम यह भी जोड़ सकते हैं कि समस्या केवल यंत्रवाद अथवा प्रयोजनवाद की ही नहीं हैं क्योंकि यंत्रवाद और प्रयोजनवाद **आवश्यक रूप** से मिलाए न जा सकने वाले नहीं है। जगत् का एक एकांगी मत उसे दृढ़ यंत्रवादी नियमों द्वारा देश और काल के सीमित क्षेत्र में पर्याप्त और सत्य रूप से संचालित होता हुआ दिखा सकता है, जबकि समस्त काल तथा अस्तित्व का दर्शन उसे एक बुद्धिमान् योजना तथा प्रयोजन के दृष्टिकोण से देख सकता है।

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

John E. Boodin, *A Realistic Universe*. Revised Edition (The Macmillan Company, 1931), chap. XVIII.

Sir J. Arthur Thomson, *Riddles of Science* (Liveright Publishing Corporation), chap. LII.

Gamertsfelder and Evans *Fundamentals of Philosophy* (Prentice-Hall, Inc.), chap. XII.

अन्य सन्दर्भ

The Great Design, edited by Frances Mason (The Macmillan Company).

Jacques Loeb, *The Mechanistic Conception of Life* (University of Chicago Press), chap. I.

Edmund Noble, *Purposive Evolution* (Henry Holt and Company).

Edgar S. Brightman, *An Introduction to Philosophy* (Henry Holt and Company), chap. IX.

Has Science Discovered God? edited by Edward H. Cotton (Thomas Y. Crowell Company).

L. T. Hobhouse, *Development and Purpose* (The Macmillan Company).

Lawrence J. Henderson, *The Fitness of the Environment* (The Macmillan Company); *The Order of Nature* (Harvard University Press).

---

1. William Benjamin Smith, "Push? or Pull?" *The Monist* (Open Court Publishing Company), 23, p. 33.

भाग तीन

वास्तविकता के सिद्धान्त

•

अध्याय 13

वास्तविकता के सिद्धान्त

•

जगत् के "उपादान"

आरम्भिक काल से ही दार्शनिक न केवल **घटना-चक्र**, जगत् की उत्पत्ति और उसके प्रारब्ध के विकास के अध्ययन में रुचि रखता रहा है, किन्तु उस "उपादान" के अध्ययन में भी रुचि रखता आया है जिससे कि जगत् का निर्माण हुआ है। हमें अब इस समस्या का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। उसकी अन्तिम प्रकृति क्या है जिसका कि निरन्तर वृद्धि और विकास होता है? वह क्या है जिसकी उत्पत्ति हुई हो अथवा न हुई हो और जिसका प्रारब्ध है? यही वास्तविकता की समस्या है, अथवा **सत्तामीमांसीय** समस्या, जैसा कि उसे कहा जाता है।

इतिहास, दर्शन-शास्त्र और विज्ञान में वास्तविकता और आभास में भेद करने वाली बात सामान्य है। पानी में डूबी हुई छड़ी झुकी हुई दिखाई पड़ती है, किन्तु वास्तव में वह सीधी होती है। यह मनुष्य ईमानदार दिखाई पड़ता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि वह बदमाश है। यह फर्श ठोस दिखाई पड़ता है, किन्तु भौतिकीविज्ञों के अनुसार वह वास्तव में इलेक्ट्रॉनों के नाचते बादल हैं। इस प्रकार हम हमेशा से आभास और वास्तविकता में भेद करते आए हैं।

तो, वास्तविकता का प्रश्न अथवा सत्ता की समस्या वह है जिसके समक्ष वास्तविकता की अन्तिम प्रकृति जानने का उद्देश्य है। क्या दिक् काल में प्रकृति का समस्त कार्यकलाप आभास अथवा अन्तिम वास्तविकता के आवरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं? क्या जगत् वैसा ही है जैसा मुझे प्रतीत होता है अथवा वह किसी ऐसी गुप्त वास्तविकता की अभिव्यक्ति है जिसकी प्रतीति बिल्कुल भिन्न है?

जैसा कि हमने देखा है, वास्तविकता की इसी समस्या ने यूनान में आरम्भ के दार्शनिकों का ध्यान उलझाया था। माइलेटस निवासी थैलीज़, ने जो छठी शताब्दी ईसा पूर्व हुआ था और जिसे दर्शनशास्त्र का पिता कहा जाता है, कहा था कि सभी वस्तुओं की उत्पत्ति **जल** से हुई है; किन्तु आयोनियन सम्प्रदाय के उसके अनुगामियों ने यह विचार किया कि उनकी उत्पत्ति वायु अथवा अग्नि से

हुई है। आरम्भ में यूनानी शीघ्रता से इन अपरिष्कृत से संप्रत्ययों से आगे बढ़ गए और शीघ्र ही इस सिद्धान्त पर आ गए कि जगत् परमाणुओं अथवा द्रव्य के छोटे-छोटे कणों से निर्मित है। तब से वास्तविकता की अन्तिम प्रकृति के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं।

सिद्धान्त के तीन प्रकार

यह स्पष्ट है कि यदि हमें वास्तविकता के अन्तिम रूपों के विषय में कहना है और यदि हमें यह विश्वास करना ही है कि जगत् को कुछ प्रारम्भिक तत्त्वों अथवा सत्ता के आरम्भिक रूपों में समझा जा सकता है, तो ऐसे एक आरम्भिक तत्त्व, दो, अथवा दो से अधिक हो सकते हैं। इस तरह हमारे पास तीन प्रकार के वास्तविकता के सिद्धान्त हो गए, **एकतत्त्ववाद, द्वितत्त्ववाद और बहुतत्त्ववाद**। जैसा प्लेटो कहते हैं, अनेकता में से एकता को खोजने की और अनेक में एक को ढूंढ़ने की प्रवृत्ति, मनुष्य के मनस् में बराबर बनी हुई है, इसलिए दार्शनिको को सत्ता का कोई एक प्रारम्भिक तत्त्व प्राप्त करने की तीव्र आशा हमेशा से रही है या किसी न किसी प्रकार दो की, जिसकी बहुमुखी अभिव्यक्ति हमारे अनुभव-जगत् का निर्माण करती है। परिणामतः दर्शन के एकतत्त्ववादी और द्वितत्त्ववादी सिद्धान्त बहुत प्रचलित हैं। ठीक वर्तमान काल में इस बात का पता लगाने में कम रुचि दिखाई पड़ती है, कि जगत् किस वस्तु से बना है। उसका अर्थ और मूल्य जानने में अधिक रुचि दिखाई पड़ती है। जीवन की समस्याएँ, विकास की समस्याएँ, अनुभव की समस्याएँ, मूल्य की समस्याएँ कुछ-कुछ "सत्तामीमांसा" की प्राचीन समस्या को ढांके हुए हैं।

किन्तु फिर भी वास्तविकता की समस्याएँ निरन्तर रुचि की बातें हैं, और इसके पूर्व कि हम अन्य बृहत्तर प्रश्नों पर जाएँ, हमें इन पर विचार अवश्य कर लेना चाहिए। हमें एकतत्त्ववाद के विभिन्न रूपों का उल्लेख करना चाहिए और स्पष्ट रूप से समझना चाहिए कि द्वितत्त्ववाद क्या है, फिर नवीनतर बहुतत्त्ववादी विचारों का परीक्षण करना चाहिए।

द्वितत्त्ववाद

वास्तविकता के इन तीनों सिद्धान्तों में, द्वितत्त्ववाद को समझना सम्भवतः सबसे सरल है। इसलिए, चलिए हम इससे ही आरम्भ करें। यह सबसे आसानी से समझ में आ जाता है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि कम से कम अमरीका में, जहाँ पर हमारी दार्शनिक परम्पराएँ स्कॉट सम्प्रदाय से अन्तरित हुई हैं, इस मत के प्रोत्साहन में विश्वास किया जाता है। द्वितत्त्ववाद का सिद्धान्त यह है कि मनस् और पुद्गल जगत् में दो मूलभूत वास्तविकताएँ हैं और उनमें से

एक भी दूसरे में सम्मिलित नहीं हो सकती।[1] आदिम काल के व्यक्तियों और आधुनिक काल के व्यक्तियों में भी मनस् को पिण्ड से पृथक् करके प्रत्येक की चरम वास्तविकता बनाने के तरीके में तीखा भेद करना स्वाभाविक दिखाई पड़ता है। आदिम मानव आत्मा और शरीर में भेद करने में कठिनाई से ही चूकता था, हालाँकि सम्भवतः आत्मा अभौतिक नहीं थी वह पिण्ड का प्रतिरूप अथवा उसकी छाया प्रतिमा थी, और वह शरीर को छोड़ सकती थी और मृत्यु के पश्चात् उसकी समाधि के इर्द-गिर्द भटकती थी।

थैलीज़ और उसके अनुगामी आयोनियनों ने भी वास्तविकता को जल, वायु अथवा अग्नि तक ही सीमित किया है। यद्यपि वे एकतत्त्ववादी ही प्रतीत होते हैं, तथापि वे यह विश्वास करते थे कि ये भौतिक वस्तुएँ भी जीवन अथवा दैवी और चेतन नियम से प्रेरित हैं, जिससे परिवर्तन तथा परिवर्धन सम्भव होता है। एम्पीडॉक्लीज़ ने अग्नि, जल, पृथ्वी और वायु को सभी वस्तुओं का मूल मानने के पश्चात् दो अन्य मानसिक अथवा आध्यात्मिक लक्षणों को जोड़ना आवश्यक समझा, अर्थात् प्रेम और घृणा को, इनमें से घृणा चालक कारणों का कार्य करती है। और एनाक्सागोरस ने परमाणु जगत् के अलावा एक अन्य वस्तु का भी प्रतिपादन किया जिसे उसने नाउस (Nous) अथवा अन्य तत्त्वों के साथ सह-अस्तित्व रखने वाली शाश्वत वास्तविकता कहा है। मध्यकालीन दर्शन इसी प्रकार सन्त ऑगस्टाइन के पश्चात् द्वितत्त्ववादी था, जिसने मनुष्य में पिण्ड तथा आत्मा का मिलन माना था, और आत्मा को माना था कि वह अभौतिक और अमर तत्त्व है।

तत्त्वमीमांसीय द्वितत्त्ववाद

आधुनिक विचार में जो शक्तिशाली द्वितत्त्ववादी धारा हमारे घरों तक बढ़ आयी है, उसका उद्गम देकार्ते के दर्शन में हुआ है, जिसे आधुनिक दर्शन की नींव रखने वाला कहा जाता है और जिसके सत्रहवीं सदी के मध्य में फ्राँसीसी और लेटिन भाषा में प्रकाशित **मेडीटेशन्स** ने हमारी आधुनिक विचारधारा को निर्विवाद रूप से प्रभावित किया है। देकार्ते का यह मत था कि जगत् में दो नितांत भिन्न प्रकार की वास्तविकताएँ अथवा "द्रव्य" हैं, वे हैं **विचार** और **विस्तार** या कि हम उन्हें **मनस्** और **पुद्गल** कहेंगे। समस्त भौतिक जगत्

---

1. दर्शनशास्त्र में दो अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण शब्द "द्वितत्त्ववाद" स्पष्टार्थ बोधक नहीं है। कभी-कभी यह शुभ तथा अशुभ नियम में आस्था रखने के अर्थ में प्रयुक्त होता है जो सभी वस्तुओं के मूल में रहते हैं। उदाहरण के लिए, ईरान के धर्म में अहरईमान और अहुरा-मज़दा (ऑर्मज़्द) शुभ और अशुभ के दो शाश्वत नियमों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस अर्थ में प्लेटो में द्वैतवाद है, क्योंकि उसने बताया कि भाव और अभाव दो आद्य नियम हैं जिनमें अभाव अपूर्णता का स्रोत है।

मनुष्यों और पशुओं के पिण्डों के समेत विस्तारित द्रव्य है—पुद्गल द्रव्यमान, जैसा कि हम उसे कहते हैं, निरपेक्ष रूप से यान्त्रिक नियमों द्वारा प्रचालित होता है। गतिमान द्रव्य से ही भौतिक जगत् बनता है। निम्नतर पशु केवल यन्त्रवत् होते हैं। पशु में आत्मा नहीं होती, उसका केवल द्रव्य पिण्ड रहता है। मनुष्य ऐसा नहीं होता, क्योंकि उसके भौतिक विस्तारित पिण्ड में एक विचारशील द्रव्य अनश्वर आत्मा होती है, विचार करना ही जिसके होने का प्रमाण है।

देकार्ते के समान बताए हुए ऐसे कठोर तत्त्वमीमांसीय द्वितत्त्ववाद का वर्तमान काल के दर्शन में कम प्रतिनिधित्व है। अब हम "द्रव्य" शब्द का न तो पुद्गल सम्बन्धी और न मानसिक वस्तुओं में प्रयोग करने के इतने इच्छुक हैं। भौतिक जगत् में हम ऊर्जाओं और मानसिक जगत् में प्रक्रियाओं की चर्चा करते हैं और हम हमेशा किसी एकता, निरन्तरता अथवा विकास के नियम की खोज में रहते हैं, ताकि दो प्रारम्भिक नितांत भिन्न परस्पर विलग वास्तविकताओं के प्रकारों को कम प्रोत्साहन दिया जाए। आधुनिक दर्शन के लिए ऐसे व्यापक निष्कर्ष अथवा विश्व को ऐसे दो परस्पर विलग भागों में बाँट देना कुछ अत्यधिक कट्टरतावादी दृष्टिकोण प्रतीत होता है। हम सदा इस द्वितत्त्ववादी को दूर करके प्राय: दो अन्तिम वास्तविकताओं के बजाय एक को खोजने में लगे रहते हैं; या जैसा कि और भी अधिक सुविधाजनक है कि जगत् में अन्तिम विपरीतता और सत्ता की अनेकता को मान्यता दे दी जाए। परिणामत: हालाँकि द्वितत्त्ववाद अब सबल प्रतिपादकों से हीन नहीं है, एकतत्त्ववादी अथवा बहुतत्त्ववादी मत जगत् में अधिक प्रचलित हो गए हैं।

अध्याय 20 में हम इस प्रकार के द्वितत्त्ववाद के कुछ व्यापक निहितार्थों को और उसके द्वारा उत्पन्न कठिनाइयों को भी देखेंगे। मनोविज्ञान तथा ज्ञान-मीमांसा में मनस् तथा पुद्गल के इस अन्तिम अलगाव के कारण वर्तमान में अनेक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं।

एकतत्त्ववाद

द्वितत्त्ववादी, सिद्धान्त जो यह प्रतिपादित करता है कि चरम सत्ताएँ दो प्रकार की हैं, के अलावा अन्य सिद्धान्त भी हैं जो इस बात पर बल देते हैं कि जगत् का चरम उपादान एक है। एकतत्त्ववाद के तीन प्रकार हैं, जो दर्शन के इतिहास में प्रमुख रूप से सामने आते हैं, भौतिकवाद, आदर्शवाद और तटस्थवाद।

भौतिकवाद के प्रतिपादक यूनानी दार्शनिकों में से थे और आधुनिक काल में भी उसके अनेक प्रतिनिधि रहे हैं। डिमोक्रीटस और ल्यूक्रेटिअस जैसे मनुष्य भी आश्वस्त थे कि जगत् को उसी प्रकार भौतिक तत्त्वों और उनके नियमों में आँका जा सकता है जैसे कि उन्नीसवीं शताब्दी के विचारक हैकल के विचार

थे। भौतिकवाद का सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि अन्त में वास्तविकता एक है। द्रव्य, मनस् जिसे देकार्त ने उतना ही अन्तिम और उससे स्वतन्त्र बतलाया जितना द्रव्य भौतिकवादियों के लिए, वास्तव में यदि कोई मनस् जैसी वस्तु है तो अधिक द्रव्य का ही एक कार्य हो सकता है। अपने अन्तिम विश्लेषण में जगत् उन नियमों के अन्तर्गत संचालित द्रव्य है जो भौतिक विज्ञान द्वारा हमें बताया गया है।

आदर्शवाद भी बल देता है कि वास्तविकता एक है। वह **एक** मनस् अथवा आत्मा की सत्ता है। आदर्शवादी के लिए द्रव्य अधिक से अधिक मनस् का प्रतिनिधान अथवा रचना है। "द्रव्य" जगत् मनस् की मात्र स्वयं को प्रतीति है। एडिंग्टन अपनी कृति **दि नेचर ऑफ़ दि फिज़िकल वर्ल्ड**[1] में उस जगत् को जिसकी चर्चा भौतिकीविद् करते हैं "छाया जगत्" कहता है। वास्तव में अन्तिम विश्लेषण में जो है वह मनस् की प्रकृति है। इस प्रकार आदर्शवादी इस बात से असहमत रहेगा कि जगत् की यान्त्रिक विवेचना अन्तिम है। विश्व पहियों का मृत यान्त्रिक और निर्मम चक्र नहीं है, जहाँ पर कि मूल्य, धर्म और नैतिक आस्थाएँ केवल मूर्खतापूर्ण भ्रम हैं। किन्तु वह ऐसी गतिमान् वास्तविकता है जो मनुष्य के संघर्ष को सांसारिक महत्त्व का आश्वासन देती है और जगत् की व्याख्या आध्यात्मिक मूल्यों के आधार पर करती है।

तीसरे प्रकार का एक और भी एकतत्त्ववाद है जिसे हम तटस्थवाद कहते हैं, जो यह प्रतिपादित करता है कि वास्तविकता न तो मनस् है न द्रव्य, किन्तु एक इस प्रकार का उपादान है एवं मनस् और द्रव्य जिसकी प्रतीति अथवा पहलू मात्र हैं। स्पिनोज़ा इस प्रकार के एकतत्त्ववाद का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि है। स्पिनोज़ा के अनुसार केवल एक ही सत्ता है जिसे हम द्रव्य कहते हैं और जगत् अपने विभिन्न पहलुओं में उसमें ही गुण अथवा पर्याय के अतिरिक्त और कुछ नहीं। जिन्हें देकार्त ने मनस् तथा द्रव्य कहा है वे स्पिनोज़ा के लिए एक द्रव्य के ही दो गुण मात्र हैं, वे दो तरीके थे जिनके माध्यम से द्रव्य की प्रतीति होती है। जो एक दृष्टिकोण से मनस् है वही दूसरे दृष्टिकोण से द्रव्य है। वास्तव में वे भिन्न नहीं हैं, किन्तु केवल ऐसे दिखाई देते हैं।

बहुतत्त्ववाद

यह तीसरे प्रकार का मत बहुतत्त्ववाद इस बात पर बल देता है कि यह जगत् इतना सरल नहीं है। इसे केवल एक अथवा दो ही तत्त्वों में नहीं समझा जा सकता। जगत् की वास्तविकता बहुमुखी है और वह विश्लेषण ग़लत होगा जो जगत् के उपादानों को दो अथवा एक द्रव्य में ही ढालना चाहता है। यह

1. Page XV.

दृष्टिकोण प्राचीन यूनानी तथा आधुनिक लोगों द्वारा भी व्यक्त किया गया है। उदाहरण के लिए, एम्पीडॉक्लीज़ जब इस बात पर बल देता है कि चरम सत्ता को पृथ्वी, वायु, अग्नि और जल में ढाला जा सकता है, तो उसे बहुतत्त्ववादी कहा जा सकता है। पुनः प्लेटो भी अपने दृष्टिकोण में बहुतत्त्ववादी था। उसके लिए भी चीज़ें वास्तविक थीं—प्रत्यय, आकार, सिद्धान्त, और नियम। यहाँ तक कि असत्ता को भी उसने वास्तविक माना है।[1]

आधुनिक समय में अन्य प्रकार के बहुतत्त्ववाद प्रस्तुत किये गए हैं। विलियम जेम्स संभवतः बहुतत्त्ववादी दर्शन का सबसे प्रसिद्ध संरक्षक है। आगे के अध्यायों में हम बहुतत्त्ववाद, जड़वाद तथा आदर्शवाद की सत्ता के ऐसे और भी खास सिद्धान्तों का अध्ययन सावधानी से करेंगे।

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Gamertsfelder and Evans, *Fundamentals of Philosophy* (Pentice-Hall, Inc.), chap. XIII, pp. 450—63.

अन्य सन्दर्भ

William McDougall, *Body and Mind, a History and a Defence of Animism* (Methuen and Company), chaps. XIII, XIV, XXVI.

Joseph Alexander Leighton, *Man and the Cosmos* (D. Appleton and Company), chap. XXVII, "Mind and Body".

Friedrich Paulsen, *Introduction to Philosophy* (Henry Holt and Company).

R. W. Sellars, *The Essentials of Philosophy* (The Macmillan Company), chap. XVI.

William James, *The Will to Believe* (Longmans, Green and Company).

---

1. William James, *The Will to Believe*, and *A Pluralistic Universe* (Longmans, Green and Company).

अध्याय 14

पुद्गल का संगठन

यदि हम अगले अध्याय में अध्ययन किये जाने वाले सत्ता के यांत्रिक सिद्धान्तों का मूल्यांकन करना चाहते हैं, तो सर्वप्रथम जहाँ तक हो सके वहाँ तक हमें पुद्गल के संघटन के विषय में जान लेना चाहिए। यह इस कारण है कि पुराने यंत्रवादी अथवा जड़वादी जगत् विषयक मत के अनुसार प्रकृति पुद्गल अथवा द्रव्य कणों के गतिमान होने की ही उत्पत्ति है। केवल इनसे ही व्यवस्था तथा सौंदर्य के महत्त्व को समझा जा सकता है और उसके सम्बन्ध में कल्पना की जा सकती है। इसलिए, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि हम पुद्गल के सिद्धान्तों तथा यांत्रिक दर्शन पर उनके प्रभाव को जितना अधिक से अधिक जान सकें जाने। और इससे भी पूर्व एक संक्षिप्त ऐतिहासिक अध्ययन अवश्य होना चाहिए।

केवल पुद्गल ही एक अमूर्त्त सुविधाजनक नाम है जिसे हम सभी सम्भव भौतिक वस्तुओं के द्रव्य के लिए प्रयोग में ला सकते हैं। वे सभी वस्तुएँ जिन्हें हम छू सकते हैं यहाँ-वहाँ खिसका सकते हैं, या जो यहाँ-वहाँ खिसकाई जा सकती हैं पुद्गल मानी जाती हैं। यह भौतिक वस्तुओं का स्थायी **उपादान** है। प्रचलन में यह उन चीज़ों से अधिक **वास्तविक** माना जाता है जो इसी से बनी हैं।

पुद्गल के संघटन का अध्ययन करने की दो प्रणालियाँ दिखाई पड़ेंगी। पहली है सूक्ष्मता तथा आवर्धन के उपकरणों की सहायता से भौतिक तथा रासायनिक विश्लेषण करने की प्रणाली। यद्यपि यह प्रणाली सर्वोच्च महत्त्व की है, तथापि यदि वहाँ पर अन्तिम एकक हो तो वह हमें अन्तिम एककों तक नहीं पहुँचा पाती। दूसरी प्रणाली है गणितीय तथा प्राक्कल्पनाओं के बनाने की जिसके परिणाम आवश्यक शर्तों को पूरा करते हैं। यह प्रणाली अद्भुत सफलता के साथ प्रयोग में आई है।

पुद्गल के संघटन का वैज्ञानिक यत्न सर्वप्रथम आरम्भिक यूनानी दार्शनिकों ने किया था। थेलीज़ जो लगभग 600 ई० पूर्व में हुआ था इस दिशा में हाथ डालने वाला प्रथम व्यक्ति था। उसने कहा कि **जल** ही वस्तुओं का प्रथम सिद्धान्त है। आयोनिया सम्प्रदाय के दूसरे सदस्य, एनाक्सामिनीज़ ने यह सुझाया कि **वायु** अथवा बाष्प ही प्राथमिक द्रव्य है। हेराक्लीटस ने माना कि सभी वस्तुएँ **अग्नि**

से निर्मित हैं। इसके कुछ पश्चात् एम्पीडॉक्लीज़ ने वास्तविक कदम आगे बढ़ाया, जब उसने यह मत प्रस्तुत किया कि भौतिक पदार्थ कुछ प्राथमिक तत्त्वों के ही घोल अथवा मिश्रण हैं, इस मामले में चार हैं—**अग्नि, जल, पृथ्वी** तथा **वायु**। उसने यह भी कहा कि चूंकि ये प्राथमिक तत्त्व स्वभाव से जड़ हैं कोई गतिमान् कारण होना आवश्यक है। इस उद्देश्य से उसने दो अन्य तत्त्वों का प्रस्ताव रखा, प्रेम तथा घृणा। महत्त्वपूर्ण यह है कि भौतिक को गतिमान् करने के लिए उसने कुछ मनस् को चुना। उसके पश्चात् एनाक्सागोरस, एक प्रसिद्ध खगोलज्ञ तथा भौतिकीविद्, आया, जिसे पैरीक्लीज़ ने एथेन्स आने को आमंत्रित किया। एम्पीडॉक्लीज़ के चार तत्त्वों को बचपना मान कर उसने रद्द कर दिया, और कहा कि पुद्गल असंख्य छोटे-छोटे कणों अथवा **कीटाणुओं** से बना हुआ है, जो गुणात्मक रूप से भिन्न किन्तु शाश्वत और कूटस्थ तत्त्व हैं। कीटाणुओं के उतने ही वर्ग हैं जितने प्रकृति में वस्तुओं के गुण हैं। इसे **गुणात्मक परमाणुवाद** कहा गया है। उसने भी गतिक कारण का विचार स्वीकार किया, जिसकी पुष्टि उसने नाउस अथवा मनस् से की।

इसके पश्चात् आए परमाणुवादी ल्यूसिपस तथा डिमॉक्रीटस। डिमॉक्रीटस प्लेटो का समकालीन दार्शनिक था, किन्तु वे दोनों संप्रदाय इतने विपरीत मतों को मानने वाले थे कि उन्होंने एक-दूसरे की उपेक्षा कर दी। यूनान के प्रसिद्ध परमाणु-वाद का आरम्भ ल्यूसिपस ने किया तथा उसे पूरा किया डिमॉक्रीटस ने तथा कई तरह से उसने आधुनिक विज्ञानवादी मतों का पूर्वानुमान कर लिया। उन्होंने कहा कि पुद्गल—वास्तव में तो विश्व की प्रत्येक वस्तु—अनेक अतिसूक्ष्म छोटे-छोटे कणों से निर्मित है, जिन्हें सर्वप्रथम **परमाणु** कहा गया, जो यूनानी भाषा के दो शब्दों के आधार पर बना, जिसका अर्थ है जिसे और विभाजित न किया जा सके। गुणात्मक रूप से सभी परमाणु एकसमान होते हैं, भिन्नता केवल उनके आकार-प्रकार तथा गति में ही होती है। वे समप्रकृति, अदृश्य तथा अविभाज्य होते हैं।

विश्व की सभी वस्तुएँ, चाहे वे भौतिक हों अथवा मानसिक, इन्हीं सरल कणों के सम्मिश्रण से बनती हैं। वे शक्ति के केन्द्र अथवा गणितीय बिन्दु नहीं हैं; वे सूक्ष्म पिंड होते हैं, जिनमें विस्तार, आकार तथा प्रकार होता है। वे रिक्त स्थान अथवा आकाश में निरन्तर गतिमान् रहते हैं, तथा उनका संगठन अथवा जोड़ ही अनेक वस्तुओं का निर्माण करता है।

परमाणुओं के आधुनिक विज्ञान की तुलना में तो यह सिद्धान्त बहुत अधूरा लगता है, तो भी यह यूनान वासियों का एक प्रतिभाकारी सामान्यीकरण था। चूंकि परमाणु पुद्गल के छोटे-छोटे कण हैं, जो ठोस, समप्रवृत्ति तथा दैशिक विस्तार वाले होते हैं। निश्चय ही पुद्गल के संघटन की वास्तविक समस्या न हल हुई है और न ही वह समझी गई है, तथा मनस् का यह सिद्धान्त कि वह चिकने

तथा गोल परमाणुओं से निर्मित है, सहज-बुद्धि-प्रसूत कहा जा सकता है।

एपीक्यूरस के मतावलम्बियों ने डिमॉक्रीटस के परमाणुवाद को अपना लिया; तथा रोम के कवि ल्यूक्रेटियस ने एक वहुत अच्छी कविता षट्-पदीं छंदों में इसी विचार का विस्तार करते हुए लिखी है। ल्यूक्रेटियस ने एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह विचार करते हुए इस सिद्धान्त में किया कि परमाणुओं में एक प्रकार का स्वतः चालन, संकल्प करने की स्वतन्त्रता से मिलता-जुलता है— वरना इस जगत् का आरम्भ ही कैसे होता।

प्लेटो का पुद्गल विषयक मत, जो प्रत्ययवादियों के दृष्टिकोण से प्राप्त हुआ, इससे नितान्त भिन्न था। केवल प्रत्यय ही वास्तविक होते हैं, पुद्गल की कोई तुलनीय वास्तविकता नहीं होती। यह भौतिक जगत् का गाढ़ा तथा रूपहीन तत्त्व होता है। उसके कोई गुण नहीं होते, इसलिए वह अभाव के बराबर ही होता है। प्लेटो के लिए यह विषय बहुत कम रुचि का था। प्लेटो के शिष्य अरस्तू के दर्शन में पुद्गल और भी अधिक अस्पष्ट प्रतीत होता है। अरस्तू ने जगत् को किसी वस्तु से **बना हुआ** नहीं माना है, वरन् उसे एक **प्रक्रिया** विकास की प्रक्रिया वतलाया है। पुद्गल केवल एक सापेक्ष शब्द है—कुछ और भी वास्तविक होने की क्षमता है।

प्लेटो, अरस्तू तथा सन्त अगस्टाइन मध्य युग पर छाये रहे—तथा पुद्गल के वैज्ञानिक अध्ययन को बाद के दिनों की प्रतीक्षा करनी पड़ी। सत्रहवीं शताब्दी में देकार्ते ने वतलाया कि जगत् में दो, केवल दो अन्तिम सत्ताएँ हैं—विचार तथा विस्तार, अथवा मनस् और पुद्गल, पुद्गल "प्रसारित द्रव्य" है, जबकि मनस् विचारवान् द्रव्य है। पुद्गल में विस्तार के अलावा कोई और गुण नहीं है, इसलिए वह दिक् के समान ही लगेगा।

इसके कुछ पश्चात् अरस्तू अथवा डिमॉक्रीटस की तुलना के योग्य एक महान् विद्वान् लायबनित्य ने पुद्गल के **गत्यात्मक** सिद्धान्त को वतलाकर बहुत प्रगति की है। जगत् अन्तिम एककों अथवा परमाणुओं से बना हुआ है जिसे वह **चिदणु** कहता है। चिदणु भौतिक वस्तुएँ नहीं हैं। वे शक्ति अथवा ऊर्जा के केन्द्र होते हैं। वह उन्हें प्रत्यक्ष कहता है जो भौतिक होने की अपेक्षा मानसिक होते हैं। भौतिक पिंडों के चिदणु सुप्त अथवा अविकसित चिदणु होते हैं जब कि मनस् के पूर्ण चेता से विकसित होते हैं।

यह रसायन-विज्ञान ही था जिसने आधुनिक काल में पुद्गल के अन्तिम एककों की खोज आरम्भ की। कल्पना की अपेक्षा प्रेक्षण तथा प्रयोग ही अब अध्ययन की प्रणाली हो गई है—तो भी, विलक्षण प्रगति जो भी हुई है उसमें पहले की भाँति अब भी कल्पना का हिस्सा रहा है; किन्तु उसने अब विमर्शात्मक चिन्तन तथा प्राक्कल्पना का रूप अपना लिया है, जो हमेशा प्रेक्षण तथा प्रयोग से नियंत्रित रहता है। रसायन ने इस स्पष्ट नियम का अनुसरण किया है कि

पुद्गल के संघटन को जानने का सबसे अच्छा मार्ग है उसका विश्लेषण करना और वर्तमान काल में उसने यह महत्त्वपूर्ण खोज की कि जब हम भौतिक वस्तुओं, खनिज पदार्थों, पौधों, पशु, जल, वायु तथा गैसों का विश्लेषण आरम्भ करते हैं तो यह पाते हैं कि कुछ प्राथमिक द्रव्य निरन्तर उत्पन्न, तथा लुप्त होते रहते हैं—उदाहरण के लिए, कार्बन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन, कैल्सियम, फ़ॉस्फोरस, सीसा, लोहा तथा पारा लिए जा सकते हैं। ऐसे बानवे तत्त्वों की पूरी सूची तैयार होती है; और ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये सरल तत्त्व हैं; जिनसे समस्त पुद्गल बनता अथवा निर्मित होता है। स्पेक्ट्रोस्कोप इन्हीं तत्त्वों को सूर्य तथा अन्य नक्षत्रों में भी बताता है। इसलिए निष्कर्ष यह निकाला गया कि पुद्गल के तत्त्वों का पता चल चुका है; यह भी कि उनकी संख्या निश्चित तथा अन्तिम है; उनका सृजन, विनाश अथवा अन्य तत्त्वों में परिवर्तन नहीं किया जा सकता; ऐसा कीमियागर की इस आशा के बावजूद भी है कि आधारभूत धातु को स्वर्ण में परिवर्तित किया जा सकता है।

इसके अनुसार तब एक प्रकार का आघात पहुँचा जब प्रोफेसर मेडम क्यूरी ने 1898 में रेडियम तत्त्व का पता लगाया, और रेडियम ठीक उनकी आँखों के समक्ष ही विघटित होते हुए दिखाई पड़ा। बाद में यह पता चला कि अन्य गुरुतर तत्त्व विघटित हो रहे हैं, इसके परिणामस्वरूप सरल तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। तभी से अन्तिम उत्परिवर्तन के विषय में अस्पष्ट सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं, युगों के पश्चात् सभी तत्त्वों को सरल तत्त्वों में विश्लेषण करने के लिए सम्भवतः विपरीत प्रक्रिया को अपनाकर। किन्तु ऐसे सिद्धान्त अत्यन्त कल्पनाशील हैं।

परमाणु की कहानी

पुद्गल के अन्तिम एककों की खोज करती हुई विज्ञान की प्रगति पर वापिस लौटें। यह बात पहले ही सीख ली गई थी कि रासायनिक तत्त्व कुछ विशेष अनुपात में ही मिलते हैं, और उन्हें केवल इस अनुमान पर ही बताया जा सकता है कि वे भिन्न-भिन्न कणों से निर्मित होते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में रसायनविद् डेल्टन ने यूनान के प्राचीन सिद्धान्त को पुनर्जीवित किया और यह बतलाया कि पुद्गल तो कणिकामय होना चाहिए अविच्छिन्न नहीं। डेल्टन के समय से पुद्गल का परमाणुवादी सिद्धान्त सर्वत्र स्वीकृत तथा पूर्ण किया गया। किसी भी सूक्ष्मदर्शी यंत्र में परमाणु दृष्टिगोचर नहीं होते, क्योंकि ये हाइड्रोजन गैस के एक घन सेन्टीमीटर में 5,40,00,00,00,00,00,00,00,000 होते हैं, किन्तु यह सिद्धान्त रसायन में अनिवार्य है और इसे रसायन तथा भौतिकी में बहुत समय से प्रमाणित किया जा चुका है।

किन्तु यह आधुनिक भौतिकी का चमत्कार है कि उसके द्वारा परमाणु की विलक्षण कथा का रहस्योद्घाटन हुआ। विज्ञान की उन्नीसवीं तथा बीसवीं

शताब्दी की सभी प्रतिभाशाली प्राप्तियों में से परमाणु की विद्युत् प्रकृति पर हुए ये अनुसंधान बहुत चौंका देने वाले हैं।[1]

परमाणुओं का अस्तित्व है—किन्तु वे किस प्रकार के होते हैं ? वे किस चीज़ के बने होते हैं ? लोहा तथा चाँदी के अकेले परमाणु निश्चय ही उन गुणों की धारणा नहीं करते जिन्हें हम सामान्यतः लोहा तथा चाँदी जैसी परिचित धातुओं के साथ जोड़ते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि बानवे तत्त्व होते हैं तथा रासायनिक तौर पर बानवे प्रकार के भिन्न-भिन्न परमाणु होते हैं। इनमें से नब्बे का पता अब चल चुका है। स्वर्ण के परमाणु चाँदी अथवा पारे के परमाणु से भिन्न होते हैं, तथा ऑक्सीजन के परमाणु हाइड्रोजन से भिन्न होते हैं—किन्तु यह भिन्नता किस चीज़ में रहती है ? भिन्नता का पता नहीं है। परमाणुओं की जटिल संरचना होती है जो छोटे-छोटे एककों से मिलकर बनता है और उनमें भिन्नता गुणों में नहीं, वरन् उनकी संख्या, व्यवस्था तथा गति में रहती है। एकक स्वयं सभी परमाणुओं में एक-से ही रहते हैं।

ये एकक क्या हैं तथा कितने प्रकार के होते हैं ? परमाणुओं के संघटन के सम्बन्ध में हुए हाल के अनुसंधान के प्रतिभाशाली योग के बावजूद इस प्रश्न का कोई हल नहीं दिया जा सकता—संभवतः अन्तिम उत्तर कभी भी नहीं दिया जा सकेगा। जितनी इसकी जाँच गहन होती है परमाणु की संरचना उतनी जटिल तथा रहस्यपूर्ण होती जाती है। 1932 में चादविक के अनुसार न्यूट्रॉन की खोज के पहले, तथा बाद की **पोज़ीट्रॉन** अथवा 1933 में धन इलेक्ट्रॉन की खोज के पूर्व तथा आगे की इस खोज के पूर्व भी कि परमाणु की संरचना तरंग यांत्रिकी जैसे गणितीय जटिल विषय में एक समस्या बन गई है। भौतिकीविदों ने यह सोचा कि वे वास्तव में परमाणु के संघटन तथा संरचना के हल तक पहुँच चुके हैं। इस निष्कर्ष को कभी-कभी बोर परमाणु कहा जाता है, क्योंकि नील बोर नामक भौतिकीविद् ने इसमें महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है। हालाँकि बाद की खोजों से इस परमाणु के सिद्धान्त में बहुत परिवर्तन हो गए हैं, तो भी यहाँ पर उसका वर्णन करना आवश्यक होगा क्योंकि यह मत प्रचलित रूप से मान्य हो गया है।

बोर परमाणु दोनों को ही, संघटन के सिद्धान्त को तथा उसके असली मॉडल को भी, सम्मिलित करता है। यह उस मॉडल की सुन्दरता तथा सरलता ही थी जिसने इस सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करने में इतना योग दिया है। किन्तु भौतिकीविद् अब परमाणु मॉडलों के विषय में बहुत सतर्क हो रहे हैं; आशंका

---

1. इस अनुसंधान कार्य में संलग्न कुछ उल्लेखनीय व्यक्तियों के नाम इस प्रकार हैं—सर विलियम क्रूक्स, रॉन्जन, बेक्वेरल, सर जे० जे० टॉमसन, सर अर्नेस्ट रूदरफोर्ड, प्लेन्क, बोर, सोमरफेल्ड, बोर्न, दे ब्रॉग्ले, श्रोडिन्गर, हाइसनबर्ग, तथा मिलीकन।

यह की जाती है कि परमाणु की संरचना केवल गणितीय रूप से बताई जा सकती है।

तो, इस सिद्धान्त के अनुसार, परमाणु के अन्तिम तत्त्व विद्युत् चार्ज होते हैं. धन चार्ज प्रोटॉन तथा ऋण चार्ज इलेक्ट्रॉन कहे जाते हैं। प्रत्येक परमाणु में एक धन नाभिक होता है जो एक अथवा अनेक ऋण इलेक्ट्रॉनों से घिरा होता है। हाइड्रोजन के परमाणु में एक प्रोटॉन होता है जो इलेक्ट्रॉन से घिरा रहता है। हीलियम में दो नक्षत्रीय इलेक्ट्रॉन तथा लीथियम में तीन होते हैं। सबसे वजनदार तत्त्व यूरेनियम में बानवे नक्षत्रीय इलेक्ट्रॉन होते हैं। सभी में न्यूक्लियस प्रोटॉन तथा इलेक्ट्रॉन से बनता है, यह परमाण्विक बाँटों की तालिका में तत्त्वों की संख्या के अनुरूप निश्चित संख्यात्मक सम्बन्ध के आधार पर होता है। गुरुतर तत्त्वों में इलेक्ट्रॉन न्यूक्लियस के चारों तरफ प्रकाश की गति की तुलना में घूमते हैं, जबकि हाइड्रोजन परमाणु के इलेक्ट्रॉन की गति केवल तेरह सौ मील प्रति सेकंड की होती है।

जहाँ तक परमाणु के मॉडल का प्रश्न है उसे एक प्रकार के नक्षत्र मंडल के रूप में दर्शाया गया था, कुछ सौर-परिवार की योजना के आधार पर, जिसमें सूर्य के स्थान पर न्यूक्लियस तथा नक्षत्रों के स्थान पर इलेक्ट्रॉन होते हैं। स्वयं कक्षों की सापेक्ष दूरी की तुलना नक्षत्र पिंडों की सापेक्ष दूरी से की जा सकती है। अतः हम पुनः जगत् की व्यापक रिक्तता से प्रभावित होते हैं, चाहे यह रिक्तता ब्रह्मांडीय दिक् की हो अथवा परमाणु की।

अपितु दर्शन का विद्यार्थी परमाणु के इस विवरण से संतुष्ट नहीं है। वह उस यथार्थ तथा अन्तिम उपादान की खोज कर रहा है जिससे यह भौतिक जगत् निर्मित है। अभी तक तो यह मालूम होता है कि परमाण्विक जगत् के अन्तिम तत्त्व विद्युत् के धन तथा ऋण चार्ज होते हैं। किन्तु ये वस्तुएँ हैं क्या? विज्ञान अभी तक इस प्रश्न का उत्तर नही दे सका है। क्या उनका कोई "ढाँचा" होता है और इसलिए क्या उनके और छोटे-छोटे भाग किए जा सकते हैं? विज्ञान का विश्वास नहीं है। जैसा हमने पिछले अध्याय में देखा है कि यह **पूर्ण**, संरचना अथवा जीव ही होता है जो वास्तविक है, जिसमें प्रत्येक ढाँचे अथवा जीव के अपने गुण-धर्म होते हैं। यदि हम किसी पूर्ण जीव के विभिन्न अंगों को अलग-अलग कर सकते और उन अंगों के विषय में सभी कुछ जान लेते तो भी यह नहीं जान सकते थे कि वे उस पूर्ण के अन्य अंगों अथवा एककों के साथ रहने पर कैसा बर्ताव करेंगे।

सम्भवतः हम सूक्ष्म भौतिकी के क्षेत्र में विज्ञान की प्रगति के अध्ययन से कुछ हट गए हैं—किन्तु हमें जबर्दस्ती हटना पड़ा है। लगभग ऐसा प्रतीत होगा कि पुद्गल क्या है इस बात की जाँच व्यर्थ है, क्योंकि यह शब्द स्वयं ऐसे अन्तिम उपादान का संकेत करता है जिससे सभी वस्तुओं का निर्माण हुआ है। हम अपने

विश्लेषण करने में चाहे जितने भी नीचे उतर आएँ, हमेशा पूर्ण एककों अथवा जीवों को कार्यरत देखते हैं—और ये जीव तथा उनकी उपलब्धियाँ इस भौतिक जगत् की ही वस्तुएँ हैं।

किन्तु यदि कोई इस भौतिक जगत् के अन्तिम उपादान की खोज करना इस स्तर पर बन्द कर दे जिसे वैज्ञानिक विद्युत् स्तर कहते हैं तो वह भौतिकीविदों को सुधार सकता है और उनसे यह पूछ सकता है कि विद्युत् क्या है। इसका उत्तर यह होगा कि यह प्रश्न ही निरर्थक है। हम यह नहीं जानते कि वह है क्या, किन्तु यह जानते हैं कि वह **करता** क्या है। यह वह नाम है जो हमने एक विशेष प्रकार की ऊर्जा के लिए रखा है; और यदि हम पूछें कि ऊर्जा क्या है, तो हमें यह बताया जाता है कि यह कार्य या सामर्थ्य—कुछ कार्य करने की क्षमता होती है। हम कार्य को देखते हैं तथा उसे नाप सकते हैं—और ये नाप ही हमारे विज्ञान की रचना के लिए तथ्य होते हैं। यह अस्तित्व नहीं, वरन् **प्रक्रिया** ही है जिसके लिए हम हमेशा तत्पर रहते हैं। चीज़ें वही हुआ करती हैं जो वह किया करती हैं। हम यह नहीं जान सकते कि ऊर्जा क्या है; हम केवल यह जान सकते हैं कि अपनी विभिन्न अभिव्यक्तियों में गणितीय अनुपात किस प्रकार ऊपर हो जाते हैं।

हाल के कुछ वर्षों मेंपरमाणु की ऐसी ही कुछ तस्वीर हमारे समक्ष रखी गई है, जो 1930 में आरम्भ हुई नवीन खोजों के पूर्व की है। इनसे ऐसा प्रतीत होता है कि परमाणु में प्रोटॉन तथा इलेक्ट्रॉन के साथ-साथ कुछ और भी प्राथमिक तत्त्व उसको बनाने वाले होते हैं। और सम्भवतः इन अन्य एककों के ही वे प्रोटॉन बने हुए हैं। न्यूट्रॉन एक ऐसा कण बताया जाता है जिसमें धन या ऋण चार्ज नहीं होता; और पोज़ीट्रॉन एक ऐसा इलेक्ट्रॉन होता है जो ऋण चार्ज नहीं वरन् धन चार्ज होता है। हम इन कणों के साथ ही कार्य करते हुए प्रतीत होते हैं; हालाँकि इन ऋणों का स्वभाव ज्ञात नहीं है, किन्तु यदि हम "प्रकाश-जगत्" का अध्ययन वर्तमान में करें तो कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है। किन्तु तत्काल तो यही प्रतीत होगा कि परमाणु चार चीज़ों से बना है, अर्थात् प्रोटॉन, इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रॉन, तथा पोज़ीट्रॉन, हालाँकि अभी हाल में एक पाँचवें का सुझाव भी दिया गया है।

प्रसंगवश हम यहाँ देख सकते हैं कि भौतिकवाद का अर्थ दर्शनशास्त्र के लिए कुछ और भी अधिक होगा, क्योंकि अन्तिम सत्ता जैसी यदि कोई चीज़ है तो वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे हम पुद्गल कह सकें—कम से कम सामान्य अर्थ में। यदि यह मालूम हो कि अन्तिम उपादान "ऊर्जा" है, जिससे कि परमाणु बना हुआ है, तो इसके लिए **गतिवाद** अधिक उपयुक्त नाम होगा। सम्भवतः सत्ता-मीमांसा जैसा कोई विज्ञान नहीं होता।

प्रकाश-जगत्

अन्तिम वस्तुओं की खोज में, जैसा कि उन्हें भौतिकीविद् देखता है, हम कुछ छोड़ गए हैं। हमने रसायनविद् के दृष्टिकोण से आरम्भ किया; और अन्तिम वस्तुओं की खोज हमें तत्त्वों तक और उसके पश्चात् परमाणु तक, फिर प्रोटॉन, इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रॉन तथा पोज़ीट्रॉन तक ले गई। यह कहानी भौतिक जगत् की हो सकती है; किन्तु भौतिकीविद् की यह पूरी कहानी नहीं है। एक ''प्रकाश-जगत्'' और है--विकिरण का जगत्। हम भौतिक वस्तुओं के जगत् पर खाते-पीते तथा चलते हों; किन्तु हम ईथर की चीज़ों से नहाए हुए होते है—अथवा हम अनेक प्रकार की किरणों से प्रहारित हो गए हैं। प्रकाश किरणें इनमें से सबसे अच्छी तरह से ज्ञात हैं। कुछ स्नायु-केन्द्रों तथा कुछ विशेष आँख के स्नायु छोरों के द्वारा हमें इनका ज्ञान प्रकाश के रूप में होता है। ऊष्मा किरणें, लम्बी बेतार की किरणें, ऐक्स-किरणें तथा रुचिकर एवं नवीन ब्रह्मांडीय किरणें भी होती हैं। विकिरण ऊर्जा के ये सभी प्रकार प्रोट्रॉन तथा इलेक्ट्रॉन से इस बात में भिन्नता रखते हैं कि वे यात्रा करने वाले हैं; वे दिक् के माध्यम से एक जैसी गति से ही यात्रा करते हैं, अर्थात् 1,86,000 मील प्रति सेकंड की गति से। उनकी भिन्नता तरंग-दैर्घ्यों में ही होती है।

ये किरणें क्या हैं? उन्नीसवीं शताब्दी के पहले तथा न्यूटन के समय से कणिका सिद्धान्त सामान्यत: स्वीकार किया गया है। प्रकाश सूर्य से पृथ्वी पर आठ मिनट में तथा निकटतम स्थित नक्षत्र से चार वर्षों से कुछ अधिक समय में आता है। ऐसी कौनसी वस्तु है जो दिक् में एक नक्षत्र से दूसरे तक यात्रा करती है? प्राचीन सिद्धान्त का कहना है कि छोटे-छोटे पिंड अथवा कण एक नक्षत्र से दूसरे तक यात्रा करते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में यह सिद्धान्त अस्वीकार कर दिया गया था तथा उस पूरी शताब्दी में प्रकाश का तरंगमय सिद्धान्त स्वीकार हुआ। वह संतोषजनक रूप से सभी प्रकाश की यात्रा करने की घटनाओं को समझाता हुआ प्रतीत होता था, जैसा अन्य सिद्धान्तों ने नहीं किया। प्रकाश तरंग-गति का ही एक रूप है। वह दिक् के माध्यम से उसी प्रकार यात्रा करता है जिस प्रकार पानी की लहरें सागर में किया करती हैं। जो बात प्रकाश के लिए सत्य है वही अन्य प्रकार की किरणों के लिए भी सत्य है। किन्तु यदि वे तरंगें हैं तो उनमें कोई न कोई माध्यम अवश्य होना चाहिए जिसके आधार पर तरंगें अथवा लहरें आ सकें। इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी के विज्ञान ने समस्त दिक् को भरने के लिए एक सार्वभौम माध्यम के अस्तित्व को स्वीकार किया है। यह विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों को ले जाने वाला था। उन्होंने उसे ईथर की संज्ञा दी।

किन्तु विचित्र तथा अविश्वसनीय प्रतीत होने वाली बात है—कि बीसवीं शताब्दी की बातें अठारहवीं शताब्दी के मत पर पुनः आ रही हैं। अब प्रकाश

के कणिका सिद्धान्त को कुछ-कुछ स्वीकार किया जा रहा है। प्रकाश की किरणें तरंगों के समान वर्ताव करती हैं —किन्तु कुछ अन्य पहलुओं से वे कणों के समान वर्ताव करती हैं। ये केवल तथ्य हैं तथा विकिरण ऊर्जा के सिद्धान्त को इन तथ्यों के साथ मेल खाने वाला बनाना चाहिए, इनमें एकता अभी स्थापित नहीं की गई है—किन्तु अवश्य की जाएगी। प्रकाश में तरंग के गुण होते हैं तथा ये तरंग के गुण ठीक वही उपकरण प्रतीत होते हैं जिनकी गतिणज्ञ को इसलिए आवश्यकता होती है कि वह कह सके कि प्रकाश-कण कहाँ होंगे।

क्वान्टम सिद्धान्त

अत: प्रकाश में कण तथा तरंग के गुण, दोनों ही चीज़ें विद्यमान रहती हैं। यह कणों, क्वांटम, छोटी-छोटी बूंदों, गोलियों शस्त्र अथवा तरंगों के पुलिन्दों के स्रोत की भाँति वर्ताव करता है। और उसमें परमाण्विक तथा तरंगीय दोनों ही लक्षण होते हैं। प्रकाश की ऊर्जा दिक् के माध्यम से पुलिन्दों के रूप में यात्रा करती है। इन प्रकाश एककों को **फोटॉन** कहते हैं—और यही शब्द अन्य प्रकार की किरण ऊर्जा के लिए भी प्रयुक्त होता है। इसलिए ऊर्जा परमाण्विक है और वैसे ही पुद्गल तथा विद्युत् भी हैं। एक फोटॉन एक सेकंड में पृथ्वी के सात चक्कर लगाता है।[1]

किन्तु यह भी पूरी कहानी नहीं है। यह देखा गया कि प्रकाश किरणें कणों के समान वर्ताव करती हैं—किन्तु अब यह भी देखा गया है कि उदाहरण के रूप में इलेक्ट्रॉन जैसे कण तरंगों के समान वर्ताव करते हैं। "**दूसरे शब्दों में न केवल तरंगों को कणों के सब गुण बतलाने के लिए बाध्य किया जाए वरन् कणों को भी तरंगों के गुणों को बतलाने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए**। किसी भी विज्ञान द्वारा परिस्थिति का सामना करने में अभी तक यह सबसे अधिक विस्मयजनक स्थिति है।"[2] मिलीकन कहता है, "वह चरम **प्राथमिक प्रक्रियाएँ**, जिनसे प्रकाश बनता है, तरंग तथा कणिका दोनों नहीं हो सकती हैं। वास्तव में ये क्या हैं? प्रकृति ने हमारे ऊपर यह किस प्रकार की जादूगरी की है कि वे कुछ और ही प्रतीत होते हैं? आखिर वास्तव में खरगोश टोप के अन्दर कैसे घुसा?" स्पष्ट है इस विरोधाभास से बाहर निकलने का एकमात्र मार्ग यह स्वीकार कर लेना होगा कि समस्त प्राथमिक प्रक्रियाएँ, चाहे वे पुद्गल, प्रकाश अथवा ऊर्जा को शामिल करती हों, वे अपने आधार में भिन्न-भिन्न कण-प्रक्रियाएँ होती हैं। इन

---

1. तुलना करो : C. G. Darwin, *The New Conceptions of Matter*, p. 23.

2. Robert A. Millikan, *Time, Matter, and Values* (The University of North Carolina Press, 1932), pp. 61, 62.

प्रक्रियाओं के नियन्त्रक नियम वे होते हैं जो तरंग के समान लक्षणों से अपना प्रतिनिधित्व करते हैं।

अनिश्चितता का नियम

तरंगों तथा कणों के तौर पर इलेक्ट्रॉनों के वर्ताव के संदर्भ में हुए प्रयोगों में एक नवीन तथा अति रुचिकर नियम की खोज हुई जिसे अनिश्चितता का नियम कहा गया। इसे हाइसेनबर्ग का अनिश्चितता का सिद्धान्त भी कहा गया है। नीतिशास्त्र के क्षेत्र में इसकी महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रिया संकल्प स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में अगले अध्याय में उल्लेख करने को रह जाएगी।

इस नवीन नियम की विचित्र विशेषता इस तथ्य से दिखाई गई है कि इसे प्रकृति में विद्यमान नियतवाद की सार्वभौम वैधता को, स्वयं विज्ञान को जिस पर आश्रित माना गया है नष्ट कर देने वाला समझा गया है। वह कारणता के उस नियम का, जिसके अनुसार प्रकृति की प्रत्येक घटना अपनी पूर्व-निर्धारित घटना से निश्चित होती है और वर्तमान दृढ़ रूप से भूत की उत्पत्ति होता है, खंडन करता हुआ प्रतीत होता है। अनिश्चितता के नियम के अनुसार यही बात परमाणु जगत् के लिए सत्य सावित होती। भौतिकीविदों के पास इलेक्ट्रॉन के, जिस प्रकार कि वह परमाणु के अंतर्गत अपनी किसी एक कक्षा में घूमता है, वेग तथा स्थिति को नापने के साधन हैं। शताब्दियों तक विज्ञान यन्त्र विज्ञान जिनके नियमों पर पूर्ण रूप से आधारित रहा है, वे सूक्ष्म भौतिक जगत् के लिए लागू नहीं होते, प्रयोगकर्त्ता को यह निर्धारित कर देना चाहिए कि किसी निश्चित क्षण में इलेक्ट्रॉन कहाँ होगा। पर आश्चर्य की बात होती है कि इलेक्ट्रॉन वहाँ नहीं होता। वह ग़लत-सलत तथा बिना किसी निर्देशन के यहाँ-वहाँ उछलता हुआ पाया गया है। वास्तव में वह मध्यवर्ती किसी दिक् को पार किये बिना भी एक कक्षा से दूसरी कक्षा में कूद जाता हुआ प्रतीत होता है। ये सभी बातें हमें कुछ धुंधला-सा आभास देती हैं जैसे कि विज्ञान की आधार-शिला में दरारें पड़ रही हैं। इसलिए यह कहा गया था कि यान्त्रिक विज्ञान के नए नियमों को अतिसूक्ष्मदर्शी जगत् में लागू करने के लिए विकसित करना आवश्यक हो सकता है।

किन्तु ऊपर कहे हुए कथन, हालाँकि वे हाल के कुछ वर्षों में बराबर किए गए हैं, कठिनाइयों को बढ़ा-चढ़ाकर बताते हैं। वास्तव में होता यह है कि मापन करने की स्थिति ऐसी है कि किसी निश्चित समय पर किसी कण की स्थिति तथा वेग निर्धारित कर सकना असम्भव है। वही साधन जिसे हम एक के निर्धारण के लिए प्रयोग करते हैं दूसरे के लिए बाधा प्रस्तुत कर देता है। "एक निश्चित परिणाम का माप उसके पूरक परिणाम के निर्धारण करने में बाधा प्रस्तुत करता है।" यथार्थता की एक निश्चित सीमा होती है जिसके द्वारा

स्थिति तथा वेग दोनों को एक ही साथ निर्धारित किया जा सकता है।[1]

एक रूढ़िवादी यान्त्रिकवादी उसे इस प्रकार से प्रस्तुत कर सकता है : "मैं अनिश्चितता के नियम में ऐसी कोई बात नहीं देखता जो यह सिद्ध करती हो कि यान्त्रिक विज्ञान के प्राचीन नियम परमाणुओं के सूक्ष्म जगत् में लागू नहीं होते। मैं तो केवल यह देखता हूँ कि हम कोई भी प्रयोग यह दिखाने के लिए नहीं कर सकते कि यह बात सत्य है।" किन्तु इस बात का प्रति-उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि यान्त्रिकवादी स्वयं कोई ऐसा प्रयोग नहीं कर सकते कि वे लागू नहीं होते।[2]

अनिश्चितता के नियम की अन्तिम व्याख्या तो उसी पर निर्भर होती है जो किसी विशेष दर्शन का पालन करता है। यदि हम यह विश्वास करते हैं कि कोई बाह्य जगत् हमारे इन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा मापकों से स्वतन्त्र है, ऐसा जगत् है जिसमें कारणता तथा नियतवाद का नियम सर्वोच्च तथा, सार्वभौम है तो हम यह देखेंगे कि परमाणुओं के सूक्ष्मदर्शी जगत् में अनिश्चितता का नियम केवल हमारे प्रयोगों की कमियों के कारण ही उत्पन्न होता है। दूसरी ओर यदि हम यह विश्वास करें कि प्रकृति में व्यवस्था का संघटन करने के लिए हमारे प्रत्यक्ष तथा वैज्ञानिक माप ही एकमात्र तथा अन्तिम सामग्री हैं, अथवा यदि हम प्रत्यक्षवादियों के साथ यह स्वीकार कर लें कि विज्ञान अपने प्रत्यक्षों तथा मापों के आगे किसी और चीज से सम्बन्धित नहीं है, तो हम इस नतीजे से बच नहीं सकते कि अनिश्चितता का नियम एक प्रकार से परमाणुओं के आन्तरिक जगत् में अनिश्चिततावाद अथवा स्वतः चालन है।

---

1. तुलना कीजिए : वी० एफ० लेन्जन, "इनडिटर्मिनिज़्म एन्ड दि कान्सेप्ट ऑफ़ फिजिकल रियलिटी", "जर्नल ऑफ़ फिलासफी", 25, मई 1933। और भी तुलना कीजिए : सी० जी० डार्विन, "दि न्यू कान्सेप्शन्स ऑफ मेटर," अध्याय IV।

2. इस विषय की चर्चा मेक्स प्लेन्क ने अपनी पुस्तक "व्हेअर इज़ साइंस गोइंग ?" में की है। वह कहता है, "कारणता का संप्रत्यय कुछ ऐसा इन्द्रिय अनुभवातीत है, जो अनुसंधानकर्त्ता की प्रकृति से बिल्कुल स्वतन्त्र है और यदि कोई प्रत्यक्षता नहीं होती, तो भी वह वैध होता" (पृष्ठ 156, 157)। यह बात जेम्स मर्फी ने उपर्युक्त पुस्तक के परिचय में लिखी है। वह कहता है, "हम एक ही समय में कण के वेग तथा स्थिति को काल तथा दिक् में अनुमानित नहीं कर सकते और न ही यह कह सकते हैं कि वह एक क्षण के पश्चात् कहाँ होगा। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वस्तुगत रूप से यथार्थ में कारणता अनुक्रम सिद्ध नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि हम उसकी कार्यविधि का पता नहीं लगा सकते, क्योंकि परिस्थिति जैसी आज है, हमारे अनुसंधान के उपकरण तथा हमारे मानसिक उपकरण इस कार्य के लिए पर्याप्त नहीं हैं। वास्तव में तो अनिश्चितता का नियम केवल कार्य करने वाली वैकल्पिक प्राक्कल्पना है जो क्वान्टम भौतिकी में दृढ़ता के साथ कारणता प्रणाली का स्थान लेती है। किन्तु हाइसनबर्ग स्वयं इस अनिश्चितता के नियम का विरोध करने वाला प्रथम व्यक्ति होगा जो कारणता के नियम का खण्डन करने वाला समझा जाए" (पृष्ठ 31, 32)।

सर जेम्स जीन्स तथा इसी प्रकार के कई अन्य लेखक यह विषयीनिष्ठ मत अपनाते हैं। अर्थक्रियावादियों के अन्यथा पुद्‌गल का अस्तित्व प्राक्कल्पना मात्र है, तथा न्यूटन से प्राप्त हुए यान्त्रिक नियम "कल्पनातीत छोटी वस्तुओं" में लागू नहीं होते, जैसा कि हमें मालूम हुआ है कि वे "कल्पनातीत बृहत्", ब्रह्मांडीय विश्व अतिसूक्ष्म जगत् में भी लागू नहीं होते, जिनका सूक्ष्मभौतिकी में अध्ययन किया जाता है।

इस नवीन अध्ययन का दूसरा रुचिकर परिणाम प्रकृति के नियमों के सांख्यिकीय लक्षणों पर बल देना है। हम चाहे यह न जान सकें कि कोई एक इलेक्ट्रॉन कैसे बर्ताव करेगा, किन्तु हम उसके विश्वसनीय सांख्यिकीय नियमों को स्थापित कर सकते हैं जो कि उसके औसतन बर्ताव का संचालन करते हैं, ताकि सूक्ष्मदर्शी के जगत् में भी विज्ञान की नींव में गड़बड़ी पैदा न हो। प्रकृति के अन्य नियम प्रमुखतः सांख्यिकीय हैं जो कि औसतन बर्ताव से सम्बन्धित हैं। समाजविज्ञान जानता है कि एक निश्चित समय में किसी भी निश्चित समूह में प्रायः कितनी आत्महत्याएँ होंगी, हालाँकि यह नितांत अनिश्चित है कि कोई भी व्यक्ति ऐसा निश्चित कर सके। व्यापक रूप से यह नया नियम व्यक्ति को कुछ सीमा तक स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

निष्कर्ष

दर्शनशास्त्र का विद्यार्थी पुद्‌गल के संघटन के सम्बन्ध में वैज्ञानिक अनुसंधानों की अन्तिमता की हीनता देखकर सम्भवतः निराश और शायद दुविधा में ही हो जाएगा। किन्तु यह अध्ययन उसको अत्यन्त रुचिकर लगेगा और वह उन निष्कर्षों की उत्सुकता से प्रतीक्षा करेगा जो बाद को आने वाले हैं। वह इस बात से प्रभावित होगा कि **पुद्‌गल** के स्थान पर **ऊर्जा** शब्द अब अधिक उपयुक्त प्रतीत होगा जो हमारी इन्द्रियों के समक्ष उन्हें अभिव्यक्त करता है। वह उसमें भौतिकीविदों से अधिक अर्थ लगाएगा। तथा यह मालूम करके उलझन में पड़ जाएगा कि ऊर्जा का अस्तित्त्व सूक्ष्म बिन्दुओं में होता है और द्रव्यमान उसके प्रत्येक रूप से सम्बद्ध रहता है।

वह वास्तव में एक विचित्र जगत् है जिसकी भौतिकी तथा गणित का नवीन अध्ययन हमें एक आंशिक झलक देता है। वह न तो भौतिकी और न ही यान्त्रिकवादी जगत् प्रतीत होता है, क्योंकि यान्त्रिकता के पुराने नियमों का घोर उल्लंघन हुआ है। जैसा कि जीन्स तथा एडिन्गटन ने सुझाया है, क्या वह मानसिक जगत् है? क्या वह शुद्ध गणितीय जगत् है जिसमें तरंग यान्त्रिकता के समीकरण सभी भौतिक वस्तुओं का आधार बन जाते हैं। किन्तु इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होगा कि **वास्तविकता** की खोज हमें भौतिक विज्ञान के द्वारा प्राप्त की हुई गहराइयों की ओर नहीं ले जाएगी,

वरन् उस ऊँचाई की ओर ले जाएगी जहाँ सृजनात्मक विकास प्रक्रिया के माध्यम में चीज़ों की सिद्धि प्राप्त होती है। उसका रूप हमें उसके संघटक पुद्गल से तथा उसका जीव, उसके तत्त्वों से अधिक रुचिकर लगेगा।

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Gamertsfelder and Evans, *Fundamentals of Philosophy* (Prentice-Hall, Inc.), chap. IX.

अन्य सन्दर्भ

C. G. Darwin, *The New Conception of Matter* (The Macmillan Company).

Robert A. Millikan, *Time, Matter, and Values* (The University of North Carolina Press).

Bertrand Russell, *The A B C of Atoms* (E. P. Dutton and Company).

A. S. Eddington, *The Nature of the Physical World* (The Macmillan Company).

W. F. G. Swann, *The Architecture of the Universe* (The Macmillan Company, 1934), chap. IV.

Sir James Jeans, *The New Background of Science*. Revised Edition (The Macmillan Company, 1934), chaps. V, VI.

Alfred Berthoud, *New Theories of Matter and the Atom*. Translated by Eden and Cedar Paul (The Macmillan Company, 1934).

Paul R. Heyl, "What is Electricity ?" The Scientific Monthly, July, 1935.

अध्याय 15

यांत्रिकतावादी जगत् विषयक मत

"यांत्रिकता तितली में है यहाँ,
और मधु-मक्खी में भी घड़ी सी कमानी।
गुलबहार में भी है निहित जलचाप-विज्ञान,
और वृक्षों में यंत्र विद्यमान।

"यदि हम उस पक्षी को,
जो करता है उत्पन्न चहक-ध्वनि,
देख सकते मनोविश्लेषक दृष्टि से,
ऐक्स-किरण युक्त वैज्ञानिक नज़रों से,
तो देख सकते थे घूमते पहिए को।"

और मैं करता हूँ आशा कि
वे सभी मनुष्य जो करते हैं विचार ऐसा
पृथ्वी में शीघ्र समा जाएँगे।

—वेशल लिन्डसे

पीछे एक अध्याय में हमने यंत्रवाद के उस सिद्धान्त का अध्ययन किया है जैसा कि वह जीवित तत्त्व, पशु तथा मानव-जीवन का विवरण देने में प्रयुक्त हुआ है और जगत् विषयक मत के लिए यांत्रिकवाद का अध्ययन बाद के लिए छोड़ दिया था। अब हम इस स्थिति में हैं कि यंत्रवादी दर्शन का अध्ययन सत्ता के सिद्धान्त के तौर पर करें। पिछले अध्याय में प्राप्त किए पुद्गल के संघटन के ज्ञान के आधार पर यह और भी सरल हो जाएगा। यह दर्शन अपने सबसे आरम्भ के तथा सरलतम रूप में भौतिकवाद अथवा भौतिकवादी एकतत्त्ववाद कहा जाता है।

भौतिकवाद

भौतिकवाद का सिद्धान्त है कि पुद्गल ही सत्ता का एक और एकमात्र प्रकार है—प्राथमिक द्रव्य है। विश्व भौतिक जगत् है और अनुभव के समस्त विषय पुद्गल से ही बने हैं। मनस् पुद्गल का ही रूप अथवा कार्य है।

जैसा यूनानी दार्शनिक डिमॉक्रीटस ने कहा है कि विश्व भौतिक द्रव्य के

परमाणुओं से बना है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के सभी पदार्थ और जगत् की कोई भी वस्तु परमाणुओं के संयोग अथवा समूह के अलावा कुछ भी नहीं है। मनस् अथवा आत्मा का कोई अलग क्षेत्र नहीं है। कोई भी बात आकस्मिक नहीं होती, किन्तु प्रकृति के नियमों के अनुसार घटती है, नियमों का शासन निरपेक्ष तथा सार्वभौम है। कोई सृजन नहीं हुआ, क्योंकि परमाणु शाश्वत हैं, वे शून्य दिक् के माध्यम से गतिशील हैं। प्रकृति में लक्ष्यों अथवा उद्देश्यों का कोई अस्तित्व नहीं है - न ही स्वतन्त्रता का। प्राकृतिक नियमों के कार्य के अन्तर्गत गतिमान् पुद्गल जगत् तथा जो कुछ उसमें है उसे समझा देगा। डिमॉक्रीटस ने विश्लेषण की प्रणाली पर बल दिया, क्योंकि दर्शनशास्त्र चरम सत्ता के एककों की खोज है। किन्तु उसके अनुगामी इपीक्यूरसवादियों ने मनस् की उस शान्ति पर बल दिया जो यांत्रिकवादी जगत् विषयक मत की उत्पत्ति है। शब्द **परमाणुवाद** सामान्यत: इस प्रकार के भौतिकवाद के लिए प्रयुक्त किया गया है, जो डिमॉक्रीटस तथा उसके अनुगामियों द्वारा स्वीकार किया गया है।

इस तरह हम देखते हैं कि आधुनिक सिद्धान्त के आरम्भिक रूपों सहित पुराना भौतिकवाद बहुत दृढ़मती था। यह निश्चित रूप से मानता था कि समस्त जगत्, जीवन, मनस् और मानव-समाज, कला, साहित्य और मानव-इतिहास के सहित पुद्गल तथा गति के पुर्नवितरण के परिणामस्वरूप अथवा शून्य दिक् में घूमते हुए परमाणुओं को केवल विकास के सिद्धान्त तथा अनुकूलन के लिए पर्याप्त समय देते हुए समझाया जा सकता है। वह पुद्गल के बाह्य आन्दोलन की प्रक्रिया में किसी भी निर्देशक सत्ता के, किसी भी जैव-नियम अथवा यांत्रिकता से भिन्न मनस् जैसी किसी भी जीवन-शक्ति की सत्ता की सृजन-शक्ति को स्वीकार करने के विरुद्ध था—अथवा मानुषिक बातों के अतिरिक्त किसी भी उद्देश्य, लक्ष्य, अथवा मूल्य के विपरीत था।

भौतिकवाद का वर्णन सामान्यत: एकतत्त्ववाद के रूप में किया जाता है, जो समस्त वास्तविकता को एक प्रकार के अस्तित्व में अर्थात् पुद्गल में ढाल देता है। किन्तु ऐतिहासिक रूप में एकता के इस लक्ष्य को प्राप्त करने में भौतिकवाद कभी सफल नहीं हो सका है। यूनानी परमाणुवादियों तक ने रिक्त दिक् के साथ-साथ परमाणुओं तथा गति के दो प्रथम नियमों को माना है। यह कहा गया कि दिक् में शाश्वत गति परमाणुओं के कारण आती है और इस तरह वर्तमान व्यवस्थित जगत् का प्राथमिक कारण उपलब्ध करते हैं। यूनानी कवि ल्यूक्रेटियस, जिसने डिमॉक्रीटस तथा इपीक्यूरस के परमाणुवाद को अपनाया था, परमाणुओं को लाक्षणिक "स्वतन्त्रता" प्रदान करते हुए, उनकी नीचे की ओर उन्मुख गति से विलग होने का कारण बताते हुए और उन्हें चक्कर लगाते हुए पिंडों का केन्द्र बनाते हुए एकतत्त्ववाद से और भी परे हट गया। जर्मन भौतिकवादी अर्न्स्ट हैकेल, जिसकी

कृतियों का उल्लेख अभी किया जाएगा, अपने परमाणुओं को मनोवैज्ञानिक गुणों से समृद्ध करके एकतत्त्ववादी दृष्टि-कोण से और भी परे हट गया, हालाँकि उसने अपने तन्त्र को एकतत्त्ववाद कहा है। उसने कहा, "द्रव्य के दो मौलिक रूप, घूम सकने वाला पुद्गल तथा ईथर जड़ नहीं हैं और केवल बाह्य शक्ति से ही चालित नहीं होते, किन्तु संवेदन तथा संकल्प से भी युक्त हैं (हालाँकि ये स्वाभाविक ही निम्नतम स्तर के हैं); वे संक्षेपण की प्रवृत्ति होने से तनाव से घृणा करते हैं और एक के लिए प्रयत्न तथा दूसरे के साथ संघर्ष करने का अनुभव करते हैं।"[1] यह कहते हुए कि भावनाएँ और प्रवृत्ति द्रव्य के पिण्ड और ईथर में विभाजित होने के मूल तथा प्राथमिक "सकर्मक कारण" हैं। वह मानसिक गुणों को एक प्रकार का रचनात्मक कार्य देता हुआ प्रतीत होता है। उसका सिद्धांत एक प्रकार का भूतजीववाद है, अथवा वह सिद्धान्त जिसके अनुसार पुद्गल जीवित होता है जो कुछ-कुछ थेलीज़ तथा उनके आयोनिया के साथियों के समान है।

प्रकृतिवाद

हाल ही में **प्रकृतिवाद** शब्द और अधिक सामान्य प्रयोग में आ गया है और वह **भौतिकवाद** शब्द का स्थान ले चुका है। ऐसा कुछ तो अपेक्षाकृत प्राचीन भौतिकवाद के अकृत्रिम और दृढ़मती लक्षण होने के कारण है और कुछ 'पुद्गल" शब्द की अनिश्चितता और उसके विषय में हमारे बदलते हुए विचारों के कारण है। प्रकृतिवाद ऊर्जा, गति, प्राकृतिक नियम, कारण नियतत्ववाद जैसे शब्दों के प्रयोग पर बल देता है। सामान्यतः प्रकृतिवाद भौतिक विज्ञानों पर विशेषकर भौतिकी और रसायन **पर बल देता** है, और उसकी प्रवृत्ति यह सोचने की रहती है कि अंगीय जीवन और मनस्, मानव-इतिहास तथा मानवीय संस्थाएँ जैसी चीज़ें और जगत् को अपने सबसे विकसित रूप में भी समझाने के लिए हमारे विज्ञानों के नियम पर्याप्त हैं। वह ऊर्जा के संरक्षण पर महान् बल देता है और जगत् को ऊर्जा अथवा पुद्गल दोनों का पुनर्वितरण मानता है, और संरचनाओं के बने रहने तथा जीवित रहने के लिए उपयुक्त कार्यों को समझाते हुए विकास तथा अनुकूलन के नियम पर गहन आस्था रखता है।

अतः प्रकृतिवाद अपने चरम रूप में पुद्गल के संप्रत्यय पर कम और ऊर्जा पर अधिक बल देते हुए भौतिकवाद से थोड़ा ही भिन्न होता है। किन्तु हाल में शब्द **प्रकृतिवाद** नवीन तथा उदार अर्थों में प्रयुक्त होकर जगत् को केवल भौतिकी तथा रसायन पर ही आधारित न मानकर सभी विज्ञानों पर आधारित मानता है, और इस प्रकार अपने विषयवस्तु में नवीनताएँ होने के कारण वह जैविक तथा मानसिक विज्ञानों में विशेष लक्षणों को स्वीकार करता है, और विकास में स्तरों

1. Ernst Haeckel, *The Riddle of the Universe*, 220.

के सिद्धान्त की सार्थकता को भी स्वीकार करता है।[1]

यांत्रिकवाद

वर्तमान शताब्दी के आरम्भ से ही, **यांत्रिकवाद** तथा **प्रकृति का यंत्रवादी संप्रत्यय** जैसी शब्दावली सामान्य प्रयोग में आ गई है। वह जगत् की भौतिक-रासायनिक व्याख्या का प्रतिनिधित्व करती है। यह अपनी सरलता के कारण तथा उन भौतिक विज्ञानों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहने के कारण जिनके निश्चित लक्षणों ने उनके प्रति हमारी श्रद्धा उत्पन्न कर दी है, कई लोगों के दिमाग़ पर गहरा प्रभाव डालती है। जगत् की जो तस्वीर वह देती है वह सरल तथा आकर्षक है। व्यक्ति को सिर्फ गति में संकलित कणों के बारे में ही सोचना पड़ता है। यह इन संकलित कणों अथवा परमाणुओं का एकत्रीकरण अथवा समूह मात्र ही होता है, जो हमारे अनुभव के विषयों को चट्टानों, समुद्र, वायु तथा पशु-पिंडों को संघटित करता है। शीतल हो जाने से एक समय के अग्निमय पृथ्वी के धरातल वहुत जटिल कार्बन मिश्रणों को, जिन्हें **कोलॉयड** कहते हैं, सम्भव बना देते हैं, और जिसे हम समस्त जीवन के एकक, पौधों, पशु-पिंडों और सरल कोश में कोलायड को प्राप्त करने के निमित्त एक अगला कदम मानते हैं। विकासवाद हमें वह प्रणाली बताता है जिसके अनुसार सरलतम जीव-कोश आकस्मिक परिवर्तनों तथा प्राकृतिक चुनाव के द्वारा पौधों तथा पशुओं के अधिकाधिक जटिल पिंडों में तब तक विकसित हो सकता है जब तक कि मनुष्य स्वयं ही बहुत भिन्न तंत्रिका-तंत्र से युक्त होकर विचार भावनाओं तथा संकल्प करने योग्य न दिखाई पड़ने लगे।

यदि प्राचीन यूनानियों ने परमाणुवादी तथा यांत्रिकवादी जगत् की तस्वीर को चित्ताकर्षक पाया है तो हम डार्विन की जाति की उत्पत्ति सम्बन्धी विशेष खोज से पुष्ट शक्तिशाली अपील को भी समझ सकते हैं। अपनी सरलता, जिन्हें स्वीकार करना उसके लिए आवश्यक है, उन संप्रत्ययों की अपेक्षाकृत कम संख्या, सृजन की कष्टकारी समस्याओं, लक्ष्यों, उद्देश्यों तथा अन्तिम कारणों और जीवन तथा आध्यात्मिक शक्तियों के अभाव से ही यह मत स्वयं अपनी ही प्रशंसा करता है। यांत्रिकवाद, प्रकृतिवाद अथवा भौतिकवाद के अध्ययन करने में हमें वास्तविकता के इन सिद्धान्तों के विरुद्ध किसी भी पूर्वग्रह से बचना चाहिए क्योंकि "भौतिकवादी" विशेषण को हमने "आधारिता" पर लगे आरोपों से सम्बद्ध कर दिया है।

यह ध्यान दिलाना आवश्यक है कि सत्तामीमांसीय अर्थों में भौतिक-वादी होना कोई हेठी की बात नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि भौतिक-

1. तुलना कीजिए : आर० डब्ल्यू० सेलर्स की "इवोल्यूशनरी नेचरलिज्म" तथा उसकी हाल की एक कृति "दि फिलॉसफी ऑफ फिजिकल रियलिज्म" (मेकमिलन कम्पनी, 1932)।

वादी आदर्शवादी की अपेक्षा निचले नैतिक स्वार्थों के लिए प्रवृत्त है ।[1]

ऐतिहासिक

ऐतिहासिक तौर पर आरम्भिक यांत्रिकवादी सिद्धान्तों ने भौतिकवाद का रूप लिया । ल्यूसिपस तथा उसका और भी उल्लेखनीय शिष्य डिमॉक्रीटस उसके प्रथम प्रतिनिधि थे । डिमॉक्रीटस प्लेटो का समकालीन था—किन्तु दोनों के संप्रदायों के परस्पर नितान्त विरोधी विचार थे और उनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं था । इसके कुछ पश्चात् इपीक्यूरस तथा इपीक्यूरसवादी संप्रदायों ने डिमॉक्रीटस के परमाणुवाद को अपने दर्शन का आधार स्वीकार किया । यूनानी कवि ल्यूक्रेटियस इस परम्परा को ईसापूर्व पहली शताब्दी तक ले गया । उसकी महान् कविता **दि रेरम नेच्चुरा**, जो षट्पदी छंदों में है और जो इस ज्ञान से कि समस्त विश्व अहानिकारी परमाणुओं के समूहीकरण के अन्यथा, जो अनन्त दिक् से गिर रहे हैं, और कुछ नहीं ऐसा बताकर धर्म को आतंक तथा भय से मुक्त तथा स्वतन्त्र करने का अच्छा चित्र अंकित करती है ।

आधुनिक काल में भौतिकवादी जगत् का मत सर्वप्रथम सत्रहवीं शताब्दी में अंग्रेज़ी दार्शनिक टॉमस हॉब्स ने प्रतिपादित किया । उसके बाद की शताब्दी में फ्राँस की क्रान्ति से पूर्व एक संप्रदाय के लेखकों द्वारा भौतिकवाद का प्रतिपादन बड़े ज़ोर-शोर से हुआ, जिसके प्रतिनिधि थे डिडेरा, लमेट्रे, तथा दहॉल्बाख । उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी में हीगलवादी दर्शन के पतन के बाद भौतिकवादियों का एक ज़ोरदार संप्रदाय हुआ जिसके जाने हुए लोग हैं मोलेशॉट, वॉग्त और अर्न्स्ट हेकेल ।

हेकेल की पुस्तिका **दि रिडिल ऑफ़ दि यूनिवर्स** ने **एकतत्त्ववाद** नाम के अन्तर्गत उस समय डार्विन के विकास के सिद्धान्त से होकर सशक्त भौतिकवाद को सामान्य रूप देकर प्रस्तुत किया । यद्यपि इस बहुपठित पुस्तक में बहुत-सी बातें अवैज्ञानिक हैं और दर्शन के क्षेत्र में ऐसी बातें लाई गई हैं जिन्हें हम बड़ी सरलता से झूठी कह सकते हैं, तथापि उनका प्रयोजन जगत् की उन समस्याओं का हल देना है जिन्हें उन्नीसवीं शताब्दी के विज्ञान ने उपजाया है । विज्ञान बोलता है और जगत् की समस्या हल हो जाती है । हेकेल ने देववाणी की भाँति "द्रव्य के नियम" को पुद्गल तथा ऊर्जा का, ईथर तथा अस्थिर परमाणुओं से युक्त अनंत काल, अनंत दिक् का, अकार्बनिक पुद्गल से जीवन के स्वतः जनन होने का, और एक प्रकार के प्रोटोप्लाज़्म का, जो चेतन मनस् का स्थान है, और जिसे **साइकोप्लाज़्म** कहा जाता है, का केवल एक कार्य माना है । डार्विन के विकास

1. Gamertsfelder and Evans, *Fundamentals of Philosophy*, p. 463 f.

सिद्धान्त के साथ इन सब बातों ने पाठकों के एक विस्तृत क्षेत्र को प्रभावित किया, तथा उन्नीसवीं शदाब्दी में जर्मनी में भौतिकवादी दर्शन को प्रचलित कर दिया।

वर्तमान शताब्दी में प्राचीन अर्थबोधक भौतिकवाद के प्रतिनिधि बहुत कम हैं। उसने यांत्रिकवाद अथवा प्रकृतिवाद सिद्धान्त को, जैसा कि वह संकुचित अर्थ में ऊपर बताया गया है, स्थान दे दिया है। यांत्रिकवादी जगत् सिद्धान्त के अब बहुत से पोषक हैं। वास्तव में ये स्पष्टतः दर्शन के क्षेत्र में नहीं हैं, जितने कि वैज्ञानिकों में जो कि इसे अनुसंधानों के लिए कारगर आधार स्वीकार करते हैं। किन्तु यहाँ भी यांत्रिकवादी शब्दावली के द्वारा जगत् की व्याख्या करने में उतनी रुचि नहीं है जितनी की कार्बनिक जीवन को समझाने के लिए भौतिक तथा रासायनिक संप्रत्ययों का उपयोग करने की है—और असामान्य रूप से मानव-मनस् की व्याख्या करने में। इनमें पहले बताई हुई बात मुख्य रूप से जेक्यूस लॉयब की पुस्तक **दि मेकेनिस्टिक कॉन्सेप्शन ऑफ़ लाइफ़** में और बाद वाली बात डॉ० जी० डब्ल्यू क्राइल की **मैन—एन एडेप्टिव मेकेनिज्म** में मिलेगी।

मनोवैज्ञानिक, जो अन्य क्षेत्रों के वैज्ञानिकों की अपेक्षा, दर्शनशास्त्र के संपर्क में अधिक हैं, वे चाहे यूरोप के हों अथवा अमरीका के, सामान्यतः यांत्रिकवादी संप्रत्ययन को समस्त प्रकृति में लागू करने के पक्ष में नहीं हैं। किन्तु अमरीका में भौतिक व्यवहारवादियों का एक समूह, जिसका प्रतिनिधित्व जॉन बी० वॉट्सन तथा मेक्स एफ० मेयर ने किया है, ज़ोरदार यांत्रिकवादी हैं। वे मनोविज्ञान के लिए पूर्णतः वस्तुनिष्ठ प्रणाली के पक्ष में हैं, जिसे वे व्यवहार का विज्ञान मानते हैं—न कि मनस्, आत्मा अथवा चेतना का विज्ञान।[1]

आलोचनात्मक

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में तथा इस शताब्दी के आरम्भ में भौतिक विज्ञानों में प्रकृति के यांत्रिकवादी संप्रत्ययनों का ही बाहुल्य रहा है। निमित्त कारणों की अपेक्षा अन्तिम कारणों के माध्यम को लेकर वस्तुओं को समझाना ग़लत साबित हुआ। प्रकृति में उद्देश्य नाम जैसी कोई बात नहीं हो सकती थी। किसी भी प्रकार वर्तमान का निर्धारण भविष्य नहीं कर सकता, वह केवल भूत के द्वारा निश्चित होता है तथा पूर्णतः यांत्रिक तरीके से जो कुछ भी घटता है वह दिक् में यांत्रिक नियमों के अनुसार चक्कर लगाते हुए द्रव्यमान कणों की परस्पर क्रिया के कारण घटता है। जो बात भौतिकी-रसायन क्षेत्र में सत्य होती है वही जीवविज्ञान तथा मनोविज्ञान के लिए भी लागू है। यह बात कि मनुष्य के पास

---

1. पाठक जॉन बी० वॉट्सन की पुस्तक "बिहेवियरिज्म" तथा मौलिक रूप से यांत्रिक-वादी दर्शन को बताने वाली ए० पी० वाइज की पुस्तक "ए थ्योरेटिकल बेसिस ऑफ़ ह्यूमन बिहेवियर" को भी पढ़ सकते हैं।

मनस् तथा चेतना जैसी वस्तुएँ हैं उसे यांत्रिकवादी शृंखला से मुक्त नहीं करती।

यह दर्शन अपने व्यावहारिक परिणामों के फलों से न्यायोचित प्रतीत होता है। प्रकृति के नियमों का ज्ञान होने से हम उसके प्रबलों को नियंत्रित करने के योग्य बन जाते हैं तथा भविष्य के विषय में बता सकने की सीमा हमारे ज्ञान की यथार्थता पर निर्भर करती है। क्रमशः जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान तथा समाज-विज्ञान जैसे विज्ञानों ने भौतिकी तथा रसायन द्वारा ली गई पहल का अनुगमन किया है। जीव-विज्ञान में अभी जैविक घटनाओं के लिए यांत्रिकवादी आधार को मान लेना "शुभ रूप" की शुरुआत माना गया है। मनोविज्ञान में भी एक जोश भरे लेखकों के संप्रदाय ने समस्त मानसिक घटनाओं को यांत्रिकवादी सिद्धान्तों के आधार पर समझाना आरम्भ कर दिया है।

वर्तमान शताब्दी में अभी कोई अधिक समय नहीं हुआ है कि स्थिति बदल गई है और यह परिवर्तन स्वयं भौतिकी से आया है, जहाँ पर पुरानी यांत्रिकवादी सार्वभौम सिद्धान्तों की प्रामाणिकता को संदेह की दृष्टि से देखा जाना आरम्भ हो गया। प्रथम खोज यह हुई कि वह अत्यन्त सूक्ष्म तथा अति बृहत् में लागू नहीं होता। कठिनाई नक्षत्र-भौतिकी तथा सूक्ष्म-भौतिकी से उत्पन्न हुई। बुध ग्रह न्यूटन के नियमों के द्वारा न समझाए जा सकने वाले मार्ग पर चलता हुआ देखा गया है। परमाणुओं के अतिसूक्ष्म कणों ने निर्ममता से इन नियमों का उल्लंघन किया। तत्पश्चात् यह पता चला कि यह सिद्धान्त स्वयं ही मानवत्वारोपी संप्रत्ययनों पर आधारित है जैसा कि तार्किक विश्लेषणों ने बता दिया है। जब हम इस बात को याद करते हैं कि हमारे पुराने लोग किस प्रकार इन ग्रहों की गतियों को समझाने के लिए देवी-देवताओं को ले आते थे तो हमें हँसी आती है, किन्तु हमें बताया गया है कि अब हमारी प्रकृति की यांत्रिक अवस्था केवल अंशों में ही भिन्न है। उसकी यह अवधारणा थी कि विश्व की प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तुओं द्वारा धकेली अथवा खींची जाती है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि हम अपने दैनिक जीवन को धकेलते अथवा खींचते हैं। यहाँ हमने **बल** शब्द का प्रयोग एक पिंड का दूसरे पिंड पर कुछ चेष्टा करने के लिए आरम्भ किया है जो कुछ उसके अनुसार है जिसे हम प्रयत्नों की भाँति अनुभव करते हैं।

पुद्गल के संघटन का अध्ययन करने में इस संप्रत्यय को लाते हुए हम द्रव्य-मान पिंडों को उन छोटे-छोटे कणों अथवा परमाणुओं से निर्मित बताते हैं, जो, जब तक समूहों अथवा संग्रहों में अणु नहीं बन जाते, तब तक परस्पर धकेलते अथवा खींचते हैं, अथवा एक-दूसरे पर "बल" का प्रयोग करते हैं और अन्ततः उन विशेष पिंडों में बदल जाते हैं, जिन्हें हम जीवित कोणों के नाम से जानते हैं, और उसके पश्चात् शेष कार्य विकास तथा प्राकृतिक चुनाव के द्वारा किया जाता है।

तत्पश्चात् परमाणु को जब एक सूक्ष्म ठोस "पिंड" नहीं, किन्तु विद्युत् से

युक्त कणों का एक तंत्र पाया गया-- जो अपने आकार के अनुसार सापेक्षत: बहुत भिन्न कण होते हैं -- तो विद्युत्-चुम्बक "बलों" को धकेलने तथा आकर्षित करने का कारण स्वीकार किया गया जिसे इन कणों को करते हुए देखा गया है। किन्तु ये कण इतनी दूर-दूर होते हैं कि "दूरी का कार्य" की समस्या हमारे लिए कठिनाई उपस्थित करती है। इसलिए हम पुन: किसी यांत्रिकवादी माध्यम को ले आते हैं—उदाहरण के लिए "ईथर" को ही लेते हैं।

इसी के समान कठिनाई गुरुत्वाकर्षण के केन्द्र के सम्बन्ध में न्यूटन के प्रकृति के यांत्रिक संप्रत्यय में उत्पन्न हुई थी। "गुरुत्वाकर्षक" नामक एक "बल" को सेब के पृथ्वी पर गिरने को समझाने के लिए तथा चन्द्रमा और अन्य ग्रहों के मार्ग को समझाने के लिए लाया गया। सभी भौतिक पिंड एक-दूसरे को प्रतिलोमत: वर्ग की दूरी के अनुसार "आकर्षित" करते हुए माने जाते हैं। किन्तु इस आकर्षण का क्या अर्थ है और नौ करोड़ मील रिक्त दिक् के पार वह किस प्रकार किया करता है ? निश्चय ही सूर्य तथा पृथ्वी दोनों एक-दूसरे को धक्का नहीं देते। इसलिए गुरुत्वाकर्षण को समझाने के लिए इस रहस्यमय ईथर को पुन: लाया गया। किन्तु ईथर के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं मिलता तथा अनेक प्रयोग यह दर्शाते हुए प्रतीत होते हैं कि ईथर का अस्तित्व नहीं है। स्पष्ट है कि प्रकृति के यांत्रिकवादी चित्र में अनेक कठिनाइयाँ थीं।

यांत्रिकवाद तथा नवीन भौतिकी

इसके बाद आइन्स्टाइन, हाइसेनबर्ग, तथा अन्य प्रतिभावान् भौतिकीविदों तथा गणितज्ञों का एक समूह आया, जिसके प्रयत्नों से वैज्ञानिक क्रांति उत्पन्न हुई। पिछले अध्यायों में इस क्रांति के विषय में हमने कुछ अध्ययन किया है, यहाँ पर इस अध्याय के संदर्भ में संक्षेप में उल्लेख कर देना मात्र आवश्यक है। दिक्-काल सातत्य तथा क्वान्टम यांत्रिकता वाला नवीन विश्व, प्राचीन यांत्रिकवादी मत की कठिनाइयों से बच निकलता है। जैसा जीन्स कहता है कि नवीन भौतिकी न तो यांत्रिकवादी है और न ही नियतवादी। वह निश्चय ही अयांत्रिकवादी है—और सम्भवत: अनियतवादी भी है। दूरी पर क्रिया "इस तस्वीर से बाहर हो चुकी है।" किसी "आकर्षक शक्ति" के कारण न तो सेब पृथ्वी पर गिरता है और न चन्द्रमा ही अपनी गति में इसका चक्कर लगाता है। हमारे लिए ऐसा विचार कर लेना सरल था कि हमने इनकी गति को पृथ्वी अथवा सूर्य के "खिंचाव" से समझा दिया था, क्योंकि हम स्वयं वस्तुओं को यहाँ-वहाँ खींच कर हटाते हैं, किन्तु यह कोई कभी नहीं जान पाया कि पृथ्वी और सूर्य इस खिंचाव का प्रयोग कैसे करते हैं।

प्रकृति के नवीन मत ने मानवत्वारोपी शब्दावली को त्याग दिया है और यही कारण है कि उसे समझना कठिन हो गया है, और वह आरम्भ में विचित्र और

सम्भवत: रुकावट डालने वाला प्रतीत होता है। गुरुत्वाकर्षण पिंडों के एक दूसरे पर खिंचाव के कारण नहीं, अपितु स्वयं दिक् की संरचना तथा प्रकृति के कारण होता है। दिक् घुमावदार है—और भौतिक पिंडों के संसर्ग में उसका घुमाव अधिक तथा भिन्न प्रकार का होता है। यथासम्भव सीधा मार्ग अपनाते हुए नक्षत्रीय तथा लौकिक दोनों ही प्रकार की वस्तुएँ दिक् के इस घुमाव से ही प्राप्त हुई हैं, और वे अन्य पिंडों के पास उनके घुमाव के विशेष लक्षण के कारण ही पहुँचती हैं। नवीन सिद्धान्त उन अनेक घटनाओं को समझाने में समर्थ हुए हैं, जिन्हें न्यूटन के यांत्रिकवादी सिद्धान्त नहीं समझा सके, और अब तक उनका कोई खंडन भी नहीं हुआ।[1]

प्राचीन यांत्रिकवादी दर्शन को प्रभावित करते हुए नवीन भौतिकी के स्थायी परिणामों का पूर्ण लेखा इस समय कर लेना बहुत शीघ्रता होगी। ऐसा प्रतीत होगा जैसा कि यांत्रिकवादी सिद्धान्त वैज्ञानिक प्रगति के लिए मात्र एक स्तर रहा हो, जो प्रकृति में होने वाली घटनाओं को समझाने में एक निश्चित सीमा तक ही सफल रहा। जहाँ तक हमारे दैनिक जीवन की सुपरिचत वस्तुओं का सम्बन्ध है भौतिकी में यह एक सफल तथा कार्यगत सामान्यीकरण है। जीव-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में उसका पर्याप्त होना कभी भी नहीं बताया गया। अभी हाल में वह सूक्ष्म-भौतिकी तथा नक्षत्र-भौतिकी के क्षेत्रों में भी असफल होता देखा गया है। जब भी हमें बहुत ही छोटे अथवा बहुत बड़े के साथ कार्य होता है तो वह असफल होता रहता है।

जीवित सत्ताओं के क्षेत्र में जहाँ मनुष्य का स्वार्थ केन्द्र में होता है, अन्य सिद्धान्त अधिक लाभकारी सिद्ध हुए हैं। जिस जगत् में हम निवास करते हैं यदि हम उसे जानना चाहते हैं तो सबसे अधिक सफल हम तब होते हैं जब हम तत्त्वों को वास्तविकता की कुंजी मानना छोड़ देते हैं, और जीवों का अध्ययन आरम्भ करते हैं। सत्ता के प्राथमिक रूपों की खोज की अपेक्षा विकास की प्रक्रिया अधिक शिक्षाप्रद है। यह बात कि समस्त प्रकृति में ऐसा कोई व्यवस्थापक कारक कार्य कर रहा है—और जो यांत्रिकवादी सिद्धान्तों से नहीं समझाया जा सकता, अब अनेक लोगों के लिए समस्या को स्पष्ट करने वाली तथा सहायता करने वाली प्राक्कल्पना बन गई है। यह प्रतीत होगा कि अणु तथा परमाणु जीवों में आकस्मिक रूप से व्यवस्थित नहीं हैं। किन्तु जीव अस्तित्व में अवश्य आते हैं, और वे नवीन तथा महत्त्वपूर्ण क्रिया के रूप को उत्पन्न करने अथवा उसका सृजन करने की क्षमता को प्रदर्शित करते हैं जो विकास के अगले निर्देशन तथा निर्धारण के लिए स्वयं प्रभावकारी हो जाते हैं।

---

1. तुलना कीजिए : सर जेम्स जीन्स की पुस्तक "दि न्यू बेकग्राउन्ड ऑफ़ साइंस"। संशोधित संस्करण (दि मेकमिलन कम्पनी, 1934), पृष्ठ 44 ff.

कुछ चीजें होती हैं जो मनुष्य की आत्मा को बहुत प्रिय होती हैं। उनमें एक है स्वयं मानव के मनस् का यांत्रिक प्रक्रिया द्वारा यदृच्छा उत्पत्ति से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण होने में विश्वास। दूसरी यह है कि एक प्रकार की स्वतन्त्रता में बनी रहने वाली भावना अथवा दृढ़ विश्वास। एक और भी है, वह है, प्राप्य लक्ष्यों के रूप में अन्तर्निहित तथा पालक मूल्यों में विश्वास का होना।

अब जगत् विषयक सिद्धान्त की सत्यता इससे सिद्ध नहीं की जाती है कि वह हमारी आस्थाओं का निर्वाह करती है अथवा नहीं—किन्तु उसकी जाँच इंद्रियानुभव के यथार्थ तथ्यों को समझा सकने की सफलता पर आधारित होगी। वास्तव में तो ये आस्थाएँ यांत्रिक सिद्धान्त की अपेक्षा कार्बनिक सिद्धान्त से अधिक संगत प्रतीत होती हैं। विलियम मार्टन व्हीलर ने जैविक अनुसंधान के अनेक क्षेत्रों में यह बताया है कि प्रकृति में कार्बनिक सिद्धान्त जीव-विज्ञान में यांत्रिक मत की अपेक्षा न केवल व्यापक रूप से सफल रहा है, किन्तु जब उसे अन्य क्षेत्रों में भी लागू किया गया तो वह अब तक हल न हो सकने वाले विप्रतिषेधों को भी हल करने में सफल हुआ है।

> उन्मज्जन तथा अंगिवाद के संप्रत्ययों के भौतिकी, रासायनिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में लागू करने से बहुत सम्भावना उत्पन्न हो जाती है कि प्रकृतिवाद बनाम अतिप्रकृतिवाद, भौतिकवाद बनाम अध्यात्मवाद, यांत्रिकवाद बनाम जीववाद, नियतवाद बनाम स्वतन्त्रता, तथा बहुतत्त्ववाद बनाम एकतत्त्ववाद आदि कुछ नहीं हैं, की प्रवृत्ति समाप्त कर दी जाए तथा सार्वभौम वास्तविकता के और भी अधिक संगत तथा संतोषजनक मत के लिए रास्ता खोल दिया जाए।[1]

शब्द **प्रकृतिवाद**, जैसा कि वह हाल की दार्शनिक चर्चाओं में प्रयुक्त हुआ है, यांत्रिकवाद की कठोरता को कुछ कम कर देता है। वह एकरूपता तथा भविष्य के विषय में कथन कर सकने पर बल देता है, क्योंकि प्रकृतिवाद प्रकृति के "स्तरों" को तथा विकास के माध्यम से सत्ता के लिए रूपों के उन्मज्जन तथा सम्भवतः जीवन, मनस् जैसे मूल्यों को स्वीकृति देता है। किन्तु वह जीवन तथा मनस् जैसे मूल्यों को तत्त्वमीमांसीय महत्त्व नहीं देता, क्योंकि वे प्राकृतिक नियमों तथा प्राकृतिक प्रक्रियाओं के क्षेत्र से बाहर हैं। वह हमें जीवन की उत्पत्ति, मनस् तथा नैतिक मूल्यों के कार्यगत सिद्धान्त प्रदान करता है, जो भौतिक विज्ञानों के नियमों द्वारा स्वीकृत रहते हैं। प्रकृतिवाद का अनुशासन यह कहता है कि निश्चय ही किसी भी दर्शन से इससे अधिक कुछ भी अपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु मनुष्य की आत्मा अब तक "शाश्वत" मूल्यों के

1. William Morton Wheeler, *Emergent Evolution and the Development of Societies* (W. W. Norton and Company, Inc., New-York), p. 74.

स्वतंत्रता के तथा विश्वव्यापी रचनाओं के, यहाँ तक कि प्लेटो के प्रत्ययों के भी, स्वप्न देखा करती है। वह इस स्वच्छन्द प्रकृतिवाद का स्वागत करती है। किन्तु उसके इस सैद्धान्तिक इन्कार पर प्रश्न करती है कि प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र के परे कुछ भी नहीं होता।

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Ralph Barton Perry, *Present Philosophical Tendencies*, Part III (Longmans, Green and Company).

अन्य सन्दर्भ

F. A. Lange, *History of Materialism* (Treubner and Company).

Sir James Jeans, *The New Background of Science*. Revised edition (The Macmillan Company), 1934 chap. IV.

Roy Wood Sellars, *The Principles and Problems of Philosophy* (The Macmillan Company), chap. XXIII; *The Philosophy of Physical Realism* (The Macmillan Company, 1932).

Hans Driesch, "The Breakdown of Materialism" in *The Great Design*, edited by Frances Mason (The Macmillan Company, 1934).

James Ward, *Naturalism and Agnosticism*, vol. I (The Macmillan Company).

J. S. Haldane, *Materialism* (Harper, 1932).

John Herman Randall, Jr., *The Making of the Modern Mind* (Houghton Mifflin Company), chap. XXI.

L. P. Jacks, *The Revolt Against Mechanism* (The Macmillan Company, 1934).

Rudolph Otto, *Naturalism and Religion* (G. P. Putnam's Sons).

William Ernest Hocking, *Types of Philosophy* (Charles Scribner's Sons). chaps. III-V.

अध्याय 16

प्रत्ययवाद

परिभाषा

जिस प्रकार भौतिकवाद विश्व को पुद्गल अथवा भौतिक शक्ति में स्थित मानता है उसी प्रकार प्रत्ययवाद उसे मनस् में स्थित मानता है। जगत् की व्याख्या करने में भौतिकवाद यान्त्रिकवादी और निमित्त कारणों पर, और ऊर्जा के संरक्षण और दिक् में द्रव्यमान कणों के यहाँ-वहाँ गतिमय होने पर बल देता है। वह मनस् को विकास की प्रक्रिया में एक घटना मात्र बना देता है जो उच्चतर पशुओं के अत्यन्त विकसित तन्त्रिका-तन्त्र के अनुरूप होता है। इसके विपरीत प्रत्ययवाद मनस् को किसी प्रकार पुद्गल से पूर्व मानकर उस पर बल देता है। वह कहता है कि यदि आप तात्त्विक वस्तुओं की खोज करें तो परिणामतः आप उन्हें पुद्गल, गति अथवा शक्ति में नहीं पाएँगे, किन्तु उन्हें अनुभव में, विचार में, विवेक में, बुद्धि में, व्यक्तित्व में, मूल्यों में, धार्मिक तथा भौतिक आदर्शों में पाएँगे। ये सब जगत् की वास्तविकताएँ हैं और उनका केवल मानवीय महत्त्व न होकर विश्व-व्यापी महत्त्व है, जबकि पुद्गल, भौतिक पिण्ड, तथा भौतिक शक्तियाँ सम्भवतः मनस् के लिए एक प्रकार का बाह्यीकरण अथवा घटना अथवा प्रतीति ही होती हैं। भौतिकवाद के अनुसार पुद्गल ही वास्तविक है तथा मनस् उसकी एक घटना अथवा संगति मात्र है। प्रत्ययवाद के अनुसार मनस् ही सत्य है तथा पुद्गल प्रतीति मात्र है।

इस प्रकार दोनों मत मौलिक रूप से न मिल सकने वाले विरोधी हैं। यदि इनमें से कोई एक सत्य है तो दूसरा असत्य होना चाहिए, और दार्शनिक इस बात की प्रवृत्ति रखते हैं कि इन दोनों विकल्पों में से एक सत्य होता है। किन्तु अभी हाल में यह विरोध बहुत कमज़ोर पड़ गया है। भौतिकी के हाल के अध्ययन ने हमारी पुद्गल सम्बन्धी अवधारणा में बहुत परिवर्तन कर दिया है। जिसे हम पुद्गल कहते हैं वह सम्भवतः उतना भौतिक नहीं है जितना हम उसे सोचा करते थे। वह विद्युत् शक्ति शुद्ध ऊर्जा अथवा दिक्-काल की विचित्रताओं में ढाला जा सकता है। अथवा जैसा कि बड़े विवेकपूर्ण ढंग से व्हाइटहेड ने उसे "घटनाओं का संक्रम" कहा है, वह विश्व की प्रक्रिया में केवल एक रुकावट का स्थान है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस भौतिक प्रक्रिया के पीछे, तार्किक तौर से उसके पूर्व और

उसे नियन्त्रित करते हुए कुछ होता है और विकास स्वयं सृजनात्मक हो सकता है। सृजनात्मक संश्लेषण किसी भी विकास की प्रगति के लिए शर्त हो सकता है और यह सृजनात्मक संश्लेषण उन भौतिक संप्रत्ययों के तन्त्र के परे प्रतीत होता है जिन्हें प्राचीन भौतिकवाद तथा प्रकृतिवाद में बड़े विश्वास के साथ उठाया जाता था।

और, हमारे मनस् की अवधारणाएँ परिवर्तित हो चुकी हैं। मनस् गहन संवेगात्मक प्रवेच्छाओं, अनुकूलित बर्ताव, विशेष प्रकार के चयन, चेतना और अंततः अर्थ एवं व्यक्तित्व को सम्मिलित करते हुए एक जटिल चीज़ है। यदि वह अपने पूर्ण रूप में, जैसे कि मनुष्य के व्यक्तित्व में होता है, वह अत्यन्त समाकलित तन्त्रिका-तन्त्र में पाया जाता है, तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह विकासात्मक प्रक्रिया में ही एक घटना है अथवा पुद्गल से कम वास्तविक है। इसके बिल्कुल विपरीत, वह समस्त विकासात्मक क्रान्ति का पूर्ण अनुभव सर्वाधिक वास्तविक या एक अर्थ में केवल वही वास्तविक वस्तु है। जैसा हम जानते हैं वह स्वयं नवीनतर मूल्यों, जैसे—कला, दर्शन, साहित्य, विज्ञान, इतिहास के लिए सृजनात्मक है तथा सौन्दर्य, नीतिपरायणता तथा सत्य जैसे प्राचीन मूल्यों का महत्त्व समझने वाला है।

यदि भौतिकवाद का अर्थ केवल इतना ही नहीं कि पुद्गल तथा भौतिक शक्तियाँ ऐसे संरचनात्मक स्तर हैं जो मनस् के पूर्ण प्रस्फुटित होने को नियन्त्रित करते हैं या मनस् के ऊपर प्रकृति का एक और आगे कदम है, तो थोड़े ही लोग इसमें आपत्ति कर सकते थे। किन्तु यदि इसका अर्थ यह है कि मनस् जगत् की प्रक्रिया के लिए एक बेकार तथा निकम्मी वस्तु है और जो मूल रूप से भौतिक है, तो फिर और अधिक प्रत्ययवादी जगत् विषयक मत के द्वारा उसका रद्द हो जाना निश्चित है। और यदि इसका अर्थ यह है कि पुद्गल विकासात्मक आन्दोलन का आरम्भ अथवा उद्देश्य है या किसी भी काल में वास्तव में एकमात्र सत्ता था तो यह एक ऐसा दर्शन होगा जिसकी रक्षा करना कठिन होगा।

प्रत्ययवादी सिद्धान्त

किन्तु अब हमें इस मत का परीक्षण विस्तार से करना चाहिए कि जगत् का कौनसा मत भौतिकवाद के सबसे अधिक विरुद्ध है। इस मत को सामान्य भाषा में प्रत्ययवाद कहा जाता है, किन्तु यह शब्द अस्पष्ट है और कभी ज्ञान-मीमांसा का ही बोध कराता है, इसलिए प्रत्ययवादी जगत् विषयक मत को कभी-कभी अध्यात्मवाद भी कहा जाता है। किन्तु यह शब्द भी अस्पष्ट है और प्रचलित भाषा में एक निश्चित धार्मिक आस्था का बोध कराता है जो कि सम्भावित जगत्-आत्मा के साथ संचार स्थापित करने पर आधारित है। किन्तु दर्शनशास्त्र में अध्यात्मवाद का अर्थ इससे अधिक और कुछ नहीं होता कि जगत् आत्मा अथवा

मनस् में केन्द्रीभूत है। यदि "अध्यात्मवाद" शब्द अधिक ठीक है तो "प्रत्ययवाद" अधिक आकर्षक और अधिक सामान्य प्रयोग का शब्द है।

प्रत्ययवाद का इतिहास लिखना प्रायः दर्शनशास्त्र का इतिहास लिखना होगा, क्योंकि संसार के बहुत अधिक महान् दार्शनिक प्रत्ययवादी हुए हैं। किन्तु उन्होंने विभिन्न प्रकार के प्रत्ययवाद का प्रतिनिधित्व किया है जो पाठक के लिए प्रारम्भ में तो निश्चय ही दुविधाजनक होगा।

प्लेटो का प्रत्ययवाद

यूरोपीय दर्शन में प्रत्ययवाद का सबसे प्राचीन तन्त्र प्लेटो का है। मनुष्य के विचारों की सृजनात्मक शक्ति के द्वारा इससे अधिक आश्चर्यजनक, इससे अधिक श्रेष्ठ तथा सम्भवतः इससे अधिक सत्य अब तक प्रस्तुत नहीं किया गया है। उसका वास्तविक विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता। प्लेटो की ठीक-ठीक व्याख्या के विषय में मतभेद अभी तक चल रहे हैं तथा विद्वान् अभी तक प्लेटो की कृतियों के काल-क्रम के विषय में अन्तिम रूप से एकमत नहीं हैं और न ही अनेक दार्शनिक प्रश्नों के सर्वमान्य समाधान प्राप्त हुए हैं। अतः स्वयं प्लेटो का अध्ययन करना सर्वोत्तम है।

इस अर्थ में प्लेटो प्रत्ययवादी नहीं था कि विश्व में मनस् के अन्यथा और कुछ नहीं है। बल्कि उसकी शिक्षा तो यह थी कि जगत् की महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ—अर्थात् **वास्तविक** चीज़ें—"प्रत्यय" ही हैं और "प्रत्यय" से उसका तात्पर्य किसी भी प्रकार की केवल मानसिक स्थितियों से नहीं था, उसका अर्थ था विषयगत वस्तुएँ अथवा "प्ररूप" जो भौतिक नहीं हैं। वे शाश्वत तत्त्व प्ररूप, प्रकार अथवा मूल प्ररूप हैं, जो रचनाओं, आदर्शों तथा सार्थक वस्तुओं के लिए स्तरों का कार्य करते हैं। ये विश्व-व्यापी वास्तविकताएँ हैं, जबकि जिसे हम पुद्गल कहते हैं उसे वह अभाव कहता है, किन्तु इस उद्देश्य से नहीं कि एक प्रकार से उसका अस्तित्व नहीं है, बल्कि इसलिए कि एक अपरिष्कृत उपादान अथवा पदार्थ होने के अन्यथा उसका कोई महत्त्व नहीं है; और इस प्रकार पुद्गल दुर्व्यवस्था, अशुभ तथा अपूर्णता का स्रोत है। जहाँ तक बोध जगत् वास्तविक प्रत्यय जगत् का आभास होता है, वहाँ तक अधिक से अधिक उसका अस्तित्व गौण माना गया है। प्रत्यय मनुष्य के विवेक अथवा बुद्धि के द्वारा जाने जाते हैं, जब कि पुद्गल की प्रतीति मनुष्य के संवेदनों के द्वारा होती है। प्रत्यय अपरिवर्तनीय हैं, और वे सदा हैं, जबकि बोध जगत् निरन्तर परिवर्तित होता है तथा यथार्थ में कभी नहीं है।

आधुनिक विज्ञान से लिया हुआ एक साधारण उदाहरण प्लेटो के अर्थ को स्पष्ट कर देगा। जब न्यूटन ने सेब को वृक्ष से पृथ्वी पर गिरते देखा तो उसने केवल इन्द्रियों से इस घटना को ही नहीं देखा, किन्तु वह घटना बुद्धि के द्वारा

एक नियम का रहस्योद्घाटन भी कर गई, गुरुत्वाकर्षण के नियम का, जिसे यान्त्रिकी में प्रति लोम वर्ग के नियम के रूप में जाना जाता है। अब इस प्रतिलोम वर्ग के नियम को गणितीय रूप में भी कहा जा सकता है, और जो मनस् के समझने के लिए उतना ही अपरिवर्तनशील तथा शाश्वत है जितना कि यह नियम कि 2+2=4। जिस प्रकार गिरता हुआ सेब उस बोधगम्य नियम की छाया-मात्र है जो प्रत्येक काल में स्थिर रहता है, उसी प्रकार से समस्त विश्व इस प्ररूपों के जगत् की "प्रतिलिपि" है, तो आवश्यक, महत्त्वपूर्ण, तथा वास्तविक चीज़ें दिक् और काल की वे घटनाएँ नहीं होंगी जो हमेशा अस्तित्व में आती हैं और भूतकाल के गाल में समा जाती हैं, किन्तु वे समस्त अस्तित्व में आने और जाने वाले नियम अथवा प्ररूप होंगे जो स्वयं शाश्वत हैं और किसी भी वस्तु के अस्तित्व में आने की पूर्वस्थितियाँ हैं।

प्लेटो का प्रत्ययवाद इस बात के पुष्टीकरण से भी अधिक है कि वास्तविक वस्तुएँ प्ररूप अथवा मूल प्ररूप हैं जो मनुष्य की इन्द्रियों से नहीं, किन्तु उसके विवेक द्वारा जाने जाते हैं। वह मूल्य के अर्थ में भी गहनता से जमा हुआ है। प्लेटो की रुचि पिण्डीय वस्तुओं में बहुत कम थी, किन्तु आध्यात्मिक बातों में वह तन-मन से लगा था—न्याय, सौंदर्य तथा सामाजिक आदर्शों में और गणितीय सम्बन्धों में। ऐसा दार्शनिक तन्त्र जैसा कि प्लेटो का था मुश्किल से ही अध्यात्मवाद कहा जा सकता है, और यदि उसे प्रत्ययवाद ही कहना हो तो वह विषयगत तथा तत्त्वमीमांसीय ढंग का होगा। वह आदर्शों तथा प्रत्ययों का भी दर्शन है। इस तरह किसी-किसी दृष्टिकोण से प्लेटो का प्रत्ययवाद आधुनिक प्रत्ययवाद के संप्रत्यय की ही भाँति अथवा आदर्शों अथवा उच्चतर मूल्यों को प्राप्त करने का संघर्ष दृढ़ दार्शनिक प्रत्ययवाद की अपेक्षा अधिक है, जिसका सिद्धान्त यह है कि केवल मनस् ही वास्तविक है।

विषयीगत प्रत्ययवाद

चलिए प्लेटो के प्रत्ययवाद की तुलना आधुनिक प्रत्ययवाद से करें, जो उससे बहुत भिन्न है तथा जिसे समझना भी संभवतः अधिक कठिन है। अठारहवीं शताब्दी के आयरलैंड के दार्शनिक जॉर्ज बर्कले ने यह विचार किया कि उसके काल की बुराई और पाप ग़लत दर्शन से—भौतिकवाद से—आई हैं और उसने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि किसी भी स्वतन्त्र जड़-पदार्थ का अस्तित्व नहीं है जिसे पुद्गल कहते हैं। वे चीज़ें जिन्हें हम भौतिक कहते हैं, अनुभव का विषय होती हैं, और ये अनुभव के विषय, जैसे वृक्ष, मकान और बादल भौतिक वस्तुएँ नहीं हैं; वे तो मात्र इन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं। जब हम कहते हैं कि किसी वस्तु का अस्तित्व है—जैसे वृक्ष का—तो हमारा मतलब यह होता है कि उसका प्रत्यक्षीकरण होता है। निश्चय ही, उसका अस्तित्व होता है किन्तु उस मस्तिष्क से

स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता जो उसका प्रत्यक्ष कराता है। हमें कहना चाहिए कि वृक्ष के समान वस्तु केवल संवेदनों का समूह है और ये पूर्णतः विषयीनिष्ठ होते हैं। इसलिए यह जगत् मानसिक जगत् है।

बर्कले पूछता है कि तो फिर वास्तविकता क्या है ? उसका उत्तर है कि केवल मनस्, जीव अथवा आत्मा ही वास्तविक हैं। ईश्वर का अस्तित्व है, मेरा और तुम्हारा अस्तित्व है, दूसरे शब्दों में, ईश्वर अनंत आत्मा तथा सीमित जीवों के जगत् का अस्तित्व है। नियमित नियमों तथा परिणामों से युक्त, जिसे हम प्रकृति कहते हैं, वह केवल हमारे सीमित मनस् पर दैनिक मनस् की क्रिया है। किन्तु हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि बर्कले का यह विचार था कि संवेदन के विषय भ्रम हैं अथवा ईश्वर हमें धोखा देता है। ये वस्तुएँ वास्तविक हैं, हाँ वे केवल प्रत्यक्ष करने वाले मनस् से स्वतन्त्र नहीं हैं। बर्कले ने कहा कि यथार्थ में तो अनंत आत्मा तथा सीमित जीवों के जगत् के अतिरिक्त विश्व में कुछ भी नहीं है।

बर्कले के इस प्रत्ययवाद को कभी-कभी "विषयीनिष्ठ प्रत्ययवाद" कहा जाता है और इसका अधिक अध्ययन ज्ञान के सिद्धान्तों सम्बन्धी अध्याय में किया जाएगा, क्योंकि यह स्पष्ट है कि वह ज्ञान की सीमाओं की व्याख्या करने से आरम्भ होता है। वह हमें वास्तविकता का बहुत संतोषजनक सिद्धान्त प्रदान करता हुआ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि व्यक्ति जो प्रश्न करता है वह यह है कि मानव-मनस् के अस्तित्व के पूर्व जगत् क्या था ? उस समय क्या आज की तरह पर्वतों, समुद्रों तथा नक्षत्रों का अस्तित्व नहीं था ? बर्कले यह युक्ति प्रस्तुत कर सकता है और उसका तर्क सूक्ष्म तथा अकाट्य है कि पर्वत, समुद्र तथा नक्षत्र अपने अन्तिम विश्लेषण में निश्चय ही प्रत्यय होते हैं। वह निश्चय ही यह कहेगा कि जिन आरम्भ के दिनों की आप चर्चा कर रहे हैं उन दिनों वे तो पर्वत, समुद्र अथवा नक्षत्र नहीं कहे जाते थे, क्योंकि उनका नामकरण करने वाला ही कोई नहीं था, न तो पर्वत नीले थे, समुद्र हरे थे और नक्षत्र लाल होते थे। क्योंकि ये रंग तो संवेदन ही होते हैं जो नेत्र पर आधारित हैं और उनको देखने वाला कोई नेत्र भी नहीं था। बर्कले ने कहा कि इसलिए समस्त गुण ही होते हैं जो संवेदन के विषयों का निर्माण करते हैं। कल्पना करने का प्रयत्न कीजिए कि उसका क्या अर्थ होता है जब आप यह कहते हैं कि जब प्रत्यक्ष नहीं होती तो कोई वस्तु होती है। तो निश्चय ही आप संवेदन के कुछ ऐसे गुण इस पर आरोपित करेंगे जो प्रत्यक्ष किए गए हों।

आयरलैंड के पादरी के द्वारा इतनी चतुराई से प्रतिपादित किया हुआ दर्शन निश्चय ही समस्त जगत् को प्रतिशोध के साथ मनस् मात्र में ही ढाल देता है। केवल मनस् का ही अस्तित्व है। तथाकथित बाह्य वस्तुएँ आत्मा के प्रत्यक्ष मात्र हों तो यही बर्कले का प्रसिद्ध विषयीनिष्ठवाद, विषयीनिष्ठ प्रत्ययवाद, मनोवाद अथवा मनस्वाद कहा जाएगा। बाद में हम उसकी प्रामाणिकता की जाँच कर

सकते हैं। विज्ञान संभवतः उन वस्तुओं के वस्तुगत तथा बाह्य लक्षणों को सिद्ध कर सकता है जिनका इसके अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है। किन्तु विज्ञान सामान्यतः यह धारणा रखता है कि वस्तुएँ मनस् से स्वतन्त्र तथा वास्तविक होती हैं।

लायबनित्स का प्रत्ययवाद

चलिए अब हम एक ऐसे प्रकार के प्रत्ययवाद पर विचार करें जो प्लेटो तथा बर्कले दोनों के प्रत्ययवाद से भिन्न है और बर्कले के प्रत्ययवाद से अधिक शिक्षाप्रद है—अर्थात् जर्मन दार्शनिक लायबनित्स का प्रत्ययवाद। जैसे कि हम सब सहज रूप से समझते हैं, लायबनित्स का यह विश्वास था कि हम अपने चारों ओर जिन भौतिक वस्तुओं को देखते और विज्ञान से जिनका अध्ययन करते हैं उनका मनस् से स्वतन्त्र वास्तविक विषयनिष्ठ अस्तित्व रहता है। केवल जब हम इन वस्तुगत चीज़ों की वास्तविक प्रकृति की जाँच करने पर आते हैं तो हमें यह पता चलता है कि वे अपने अंतरंग अस्तित्व में मानसिक अथवा आध्यात्मिक होती हैं।

इस प्रकार के प्रत्ययवाद को समझने के लिए परमाणुओं के सिद्धान्त पर लौटकर चलना अच्छा होगा। इसी बात पर यह विचार कीजिए कि संवेदन के सभी विषय कुछ निश्चित अन्तिम एककों द्वारा बने हुए हैं जिन्हें सामान्यतः परमाणु कहा जाता है। किन्तु अब इन एककों को भौतिक अथवा द्रव्यमान चीज़ें, जिनमें आकार तथा प्रकार जैसे गुण होते हैं, मत समझिए, किन्तु उन्हें **मानसिक** एकक, प्रत्यक्षीकरण तथा विकास करने की शक्ति से युक्त छोटी-छोटी आत्माएँ समझिए। ये द्रव्यमान वस्तुएँ होने के बजाय शक्ति के केन्द्र हैं। लायबनित्स ने इन्हें परमाणु नहीं चिदणु कहा है और उसका यह विचार है कि भौतिक पिण्ड उन चिदणुओं के समूह से बने हुए हैं और मनुष्य की आत्मा नियन्त्रक चिदणु है। यदि इस बात को समझना कठिन प्रतीत होता है कि अविस्तारित शक्ति-केन्द्रों से भौतिक पिण्डों का निर्माण किस तरह होता है, तो हम इस बात को याद कर सकते हैं कि इलेक्ट्रॉन सिद्धान्त के अनुसार हमारे आधुनिक परमाणु ऊर्जा तन्त्रों के अन्यथा और कुछ नहीं, और यह भी नहीं समझ सकते कि उनसे अणुओं तक का निर्माण कैसे होता है। उस व्यक्ति को जिसने आधुनिक भौतिक परमाणु की संरचना पर अधिकार करने की चेष्टा की हो इस बात से कोई कठिनाई प्रस्तुत नहीं होनी चाहिए कि मनोवैज्ञानिक ऊर्जा के केन्द्रों से भौतिक पिण्डों का निर्माण हो सकता है। किन्तु यदि लायबनित्स का प्रत्ययवाद यहाँ पर हानिकारक प्रतीत होता हो, तो वह अन्य प्रत्ययवादी तन्त्रों की ही भाँति है। किन्तु जब वह मनस् को समझाता है तो उसकी स्थिति बहुत सुदृढ़ होती है, क्योंकि लायबनित्स यह बताता है कि मनस् भी चिदणु है, जो अमर तथा आध्यात्मिक सत्ता है। वह भौतिक पिण्ड बनाने वाले अन्य चिदणुओं से केवल अपने उच्चतर विकास के स्तर पर ही भिन्न है।

सर्वचित्तवाद

पीछे कुछ कहे हुए विचारों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित किन्तु और भी आधुनिक एक और प्रत्ययवाद है **सर्वचित्तवाद**। शब्द स्वयं ही इस सिद्धान्त को स्पष्ट कर देता है कि वास्तविकता की प्रकृति मनोवैज्ञानिक है। यह सामान्यतः देखा गया है कि सर्वचित्तवाद यह बताता है कि प्रत्येक वस्तु के पास मनस् होता है। मनस् कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे विकास के पश्चात् की प्रक्रिया में जीव जटिल स्नायु केन्द्र अथवा मस्तिष्क को प्राप्त करने के बाद लेता है। मनस् समस्त प्रकृति में सार्वभौम है। विश्व के प्रत्येक परमाणु अथवा कण में जीवन, मनस्, तथा स्मृति होती है। इस प्रकार समस्त जगत् कार्बनिक अथवा अकार्बनिक से अनुप्राणित तथा मनस्युक्त होता है।

किन्तु यदि हम यह सोचें कि प्रत्येक परमाणु तथा कण कुछ न कुछ मानसिकता लिए हुए है तो हम निश्चय ही यह प्रश्न पूछेंगे कि मानसिकता का भौतिक अंग से क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न का उत्तर सर्वचित्तवाद इस प्रकार से देता है कि कण की **वास्तविकता** मनोवैज्ञानिक है और उसका भौतिक अंग केवल प्रपंचात्मक अथवा बाह्य पहलू है। वास्तविकता का सामना प्रतीति से किया गया है। पूर्वकथित वस्तु मानसिक तथा बाद वाली भौतिक है। जगत् की वास्तविकता "मनस्-उपादान" में पायी गई है—सम्भवतः चेतना में।

इस प्रकार के प्रत्ययवाद का कई ऐसे आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने स्वागत किया जिनके समक्ष मनस् तथा पिण्ड के सम्बन्ध की समस्या थी। द्वैतवादी सिद्धान्त की अपनी कठिनाइयाँ हैं। मनस् तथा मस्तिष्क निरन्तर सह-सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। मनस्ताप के बिना मनोविक्षिप्ति नहीं हो सकती। और सर्वचित्तवाद अथवा मनोवैज्ञानिक एकतत्त्ववाद के समान कुछ चीज़ जो इस बात की पुष्टि करे कि मनस् ही एक मात्र सत्ता है और जैसा कि अन्य लोग देखते हैं पिण्ड बाह्य प्रतीति मात्र है, इस समस्या का हल प्रस्तुत करती हुई प्रतीत होती है।

इस मत का सबल तथा रुचिकर विवरण पॉल्सन की पुस्तक **इन्ट्रोडक्शन टु फिलॉसफी** में डब्ल्यू० के० क्लिफर्ड[1], सी० ए० स्ट्रांग की **व्हाई दि माइंड हैज़ ए बॉडी** तथा सेमुअल बटलर की कृतियों में देखिए। जेम्स वार्ड की महत्त्वपूर्ण पुस्तक **नेचरलिज्म एन्ड ऐगनॉस्टीसिज्म** में लगभग ऐसा ही सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है, हालाँकि पुस्तक मुख्यतः आलोचनात्मक है, और रचनात्मक मत की केवल रूपरेखा ही प्रस्तुत की गई है। वार्ड यह संकेत करता है कि विज्ञान में प्रयुक्त संप्रत्यय तथा विज्ञान के किसी विशेष कार्य में प्रयुक्त संप्रत्यय—उदाहरण के लिए, यान्त्रिकवाद, कारणता, पुद्गल तथा गति का इतना सार्वभौम गहन महत्त्व नहीं है जितना कि वैज्ञानिक प्रगति के आजकल के युग में समझा जा सकता है।

---

1. *Lectures and Essays*, vol. II.

उन आध्यात्मिक सत्ताओं में ये लागू वहीं होते जो इस प्रपंचात्मक जगत् के पीछे स्थित होती हैं, ताकि हम आत्माओं के और वास्तविक जगत् में स्वातन्त्र्य, उद्देश्य, तथा ईश्वर का आश्वासन पा सकें।

एक उल्लेखनीय जर्मन दार्शनिक फेख्नर (1801—87) की कृतियों में भी ऐसा ही प्रत्ययवाद प्रतीत होता है। विश्व मनोवैज्ञानिक जीवन से रत है। जैसा कि मनुष्य को प्रतीत होता है चेतना उसी प्रकार सार्वभौम चेतना का एक अंग है जैसी कि वह पौधों, पशुओं, पृथ्वी तथा विश्व में विद्यमान होती है। जगत् महान् है—मनुष्य की भाँति शरीर तथा मनस् से युक्त मनोभौतिक जीव, किन्तु इसकी व्याख्या द्वैतवादी ढंग से नहीं की गई है, क्योंकि सम्पूर्ण महत्त्व मनोवैज्ञानिक पहलू पर ही दिया गया है जो वास्तविकता है, जब कि पिण्ड बाह्य अभिव्यक्ति अथवा वास्तविक, आन्तरिक आत्म-जीवन की प्रतीति है। अतः पौधों और पशुओं और मनुष्यों में भी आत्मा होती है। फेख्नर भी पृथ्वी की आत्मा, और अन्ततोगत्वा जगत् की आत्मा की, जो ईश्वर है, चर्चा करता है। भौतिक जगत् ईश्वर के आन्तरिक जीवन की बाह्य अभिव्यक्ति मात्र है। द्रव्यमान विश्व ईश्वर का शरीर अथवा "ईश्वर का दृश्यमान वस्त्र" है।

"और इस तरह काल के धड़-धड़ करघे पर मैं बुनता तब परिधान।
जिसको पहने देखा करते इस ईश्वर को।"[1]

इस मत को फेख्नर जड़वाद के "रात्रिमत" की तुलना में "दिवस मत" बतलाता है।

हमें पॉलसन द्वारा सर्वचित्तवाद के प्रतिपादन के पक्ष में दिए गए वक्तव्य को पढ़ने में रुचि होगी। निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है :

> सर्वत्र स्वचालित क्रियाएँ हैं! आपका जड़, ठोस द्रव्य, जो केवल प्रभावित किए जाने से ही हिल-डुल सकता है, वह एक प्रकार की ऐसी छाया है, जिसका अस्तित्व परीक्षण पर नहीं किन्तु संप्रत्ययात्मक कल्पना पर आधारित होता है। वह अरस्तू के उस दर्शन से प्राप्त हुआ है जिसने पुद्गल से समस्त शक्ति तथा रूप को अलग करके केवल रूप को ही पूर्णतः निष्क्रिय करके छोड़ दिया है। देकार्ते को उसी स्रोत से वह प्राप्त हुआ है; यह संप्रत्यय उसके भौतिकी के विशुद्ध गणितीय संप्रत्यय के लिए बहुत सुविधा-जनक था। बिना किसी आन्तरिक निश्चय के पुद्गल एक विशुद्ध विस्तारित वस्तु है, जिसका एकमात्र गुण ही है विस्तारित होना। आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान ने ऐसे मरे हुए तथा कड़े पिण्ड के प्रत्ययों का बहिष्कार कर दिया है। उसके अणु तथा परमाणु अधिकतम आन्तरिक तथा गतिकता के रूप हैं।

---

1. पढ़िए : Carlyle, *Sartor Resartus*, book III, chap. IX, गेटे की पुस्तक "फाउस्ट" के संदर्भ में।

एक अणु में इस तन्त्र के सैकड़ों और हज़ारों परमाणु एकत्र होते हैं जो अंगों में परस्पर क्रिया के द्वारा प्राय: स्थिर साम्यावस्था बनाए रखते हैं, और उसके साथ ही अन्य आन्दोलनों से उसकी गति और भी तीव्र हो जाती है—ऐसा हमें प्रकाश, उष्ण तथा अन्य बातों से अनुभव होता है जो विद्युत् की प्रक्रियाओं में दिखाई पड़ता है। और अपनी पारी में यह निरन्तर अन्योन्य क्रिया से अपने चारों ओर के वातावरण तथा सुदूर तक के स्थिर ग्रहों से सम्पर्क बनाए रखता है। अत: यह पूछना निरर्थक होगा कि क्या हमारे पास इन भौतिक शक्तियों तथा आन्दोलनों के अद्भुत खेल के समरूप एक आन्तरिक प्रक्रियाओं का तन्त्र भी है जो बहुत कुछ उसी तरह है जैसा कि कार्बनिक पिण्डों के अंगों की कार्य-प्रणाली का होता है? क्या आकर्षण तथा प्रतिकर्षण, जिनकी चर्चा भौतिकी तथा रसायन में होती है, केवल शाब्दिक होने के अन्यथा कुछ और हैं? क्या उस प्राचीन एम्पीडॉक्लीज़ की कल्पना में कुछ सत्य का पुट नहीं है कि प्रेम तथा द्वेष सभी वस्तुओं की अभिप्रेरक शक्ति का कार्य करते हैं? निश्चय ही, प्रेम और द्वेष वैसे नहीं जैसे कि मनुष्य तथा पशु अनुभव करते हैं, किन्तु उन भावनाओं तथा किसी प्रकार की आवेगात्मक क्रिया के समान कुछ इसकी तह में होने वाले की तरह होते हैं।[1]

संकल्पात्मक प्रत्ययवाद

जब मनोवैज्ञानिक **संकल्प** को मनस् का आवश्यक तथा मौलिक पहलू बताते हैं तब हम उन्हें **संकल्पवादी** कहते हैं। इसलिए जब दार्शनिक कहते हैं कि **संकल्प, निरपेक्ष संकल्प** अथवा वैयक्तिक **संकल्पों** का समुदाय ही विश्व में मूल बात है तो वस्तुनिष्ठ होकर विचार करने पर हम उस मत को संकल्पात्मक प्रत्ययवाद कह सकते हैं। यह जगत् विषयक विचार अपने आधुनिक रूप में कान्ट से आरम्भ होता है, जिसने "संकल्प की प्राथमिकता" की पुष्टि की है। किन्तु शॉपेनहावर इस महान् सिद्धान्त का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि है। उसकी महान् कृति का शीर्षक है **दि वर्ल्ड ऐज़ विल एंड आइडिया**। उसका आरम्भ इस सर्वविदित कथन से होता है "यह जगत् मेरा ही विचार है।" यहाँ तक तो वह बर्कले से सहमत है किन्तु वह बर्कले के विषयीनिष्ठवादी प्रत्ययवाद को विषयनिष्ठवादी प्रत्ययवाद में परिवर्तित कर देता है। यदि मैं स्वयं अपने मनस् का परीक्षण करता हूँ तो यह पाता हूँ कि उसमें प्रज्ञा के स्थान पर "संकल्प" ही मौलिक होता है। आत्मा क्रिया है, जो प्रत्ययन करती है, संघर्ष करती है तथा इच्छा करती है। मेरा शरीर मेरे संकल्प की बाह्य अभिव्यक्ति ही है। इसलिए शॉपेनहावर यह

1. Paulsen's *Introduction to Philosophy* (Henry Holt and Company), p. 101.

निष्कर्ष निकालता है कि वह बाह्य जगत् के साथ है। हृदयस्थित तो केवल संकल्पन है, निरपेक्ष संकल्प और प्रपंचात्मक जगत्, जिसे हम सुनते तथा अनुभव करते हैं वह सार्वभौम संकल्प की बाह्य अभिव्यक्ति ही है। चूंकि अब संकल्प कुछ मनोवैज्ञानिक वस्तु है तथा आध्यात्मिक है और चूंकि सभी वास्तविकता एक संकल्प है, दर्शन के इस तन्त्र का वशीकरण प्रत्ययवाद अथवा अध्यात्मवाद में ही किया जाएगा और यह वस्तुनिष्ठ अथवा तत्त्वमीमांसीय प्रत्ययवाद है, क्योंकि यह जगत् केवल मेरा ही विचार नहीं अपितु इसका आधार एक वस्तुगत वास्तविकता अर्थात् निरपेक्ष संकल्प है। संकल्पात्मक प्रत्ययवाद के हाल के और भी रूप वुन्ड तथा म्युन्स्टरबर्ग ने प्रस्तुत किए हैं।

कान्ट का प्रत्ययवाद

आधुनिक समय के बहुत से दर्शनों की भाँति शॉपेनहावर के प्रत्ययवादी दर्शन का स्रोत कान्ट है। कान्ट की सबसे प्रसिद्ध कृति **क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न** सर्वप्रथम 1781 में प्रकाशित हुई थी। इस महान् कृति में कान्ट ने सैद्धान्तिक ज्ञान की समस्याओं की खोज की है। ज्ञान की क्या प्रकृति है ? मनुष्य क्या-क्या जान सकता है ? उसने यह बताया है कि मनस् का एक अपना ही ढाँचा होता है और जिसे हम ज्ञान कहते हैं वह बहुत मात्रा तक इस ढाँचे से ही निर्धारित होता है। अनुभूति के कुछ रूप तथा बोध की कुछ कोटियाँ होती हैं जो कि उसकी पूर्व-क्रिया होती हैं जिसे हम सामान्यतः ज्ञान कहते हैं। अब ये रूप तथा कोटियाँ केवल इंद्रियानुभव के विषय पर ही लागू होती हैं जिससे अंत में मनुष्य का ज्ञान केवल यथार्थ तथा संभावित अनुभव तक ही सीमित होता है। अतः हमें जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आत्मा, ईश्वर, तथा इसी के समान अन्य बातों के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि ये मनुष्य के सभी सम्भावित अनुभवों से परे हैं। वर्तमान अनुभव जगत् का जो ज्ञान हमें है, वह वही है जो हम विशेष विज्ञानों में अध्ययन से प्राप्त करते हैं। यह जगत् तो प्रतीति का जगत् है, प्रंपचात्मक जगत्; ऐसा जगत् जो मनस् के इन रूपों तथा कोटियों के माध्यम से देखा गया है अथवा एक अर्थ में मनस् निर्मित जगत् है। पहली नज़र में तो यह बर्कले के विषयीनिष्ठवाद के समान ही लगता है, किन्तु कान्ट ने इस बात से इन्कार नहीं किया है कि इस प्रपंच के पीछे कोई वस्तुगत वास्तविकता है। हम इस जगत् को ठीक जैसा जानते हैं वह हमें जानने वाले के मानसिक ढाँचे के द्वारा मुहर लगने के बाद ही पता चलता है। संवेदनों पर मनस् की क्रिया होने के परिणामस्वरूप ही ज्ञान होता है। किन्तु संवेदन कहाँ से आते हैं ? कान्ट का यह मत है कि इन संवेदनों का कोई आधार अवश्य होना चाहिए और इस आधार को ही उसने जर्मन भाषा में डिन्ग एन जिश (वस्तु अपने आपमें) कहा है। यह बात केवल विषयीनिष्ठ तौर से ही वास्तविक है किन्तु उसका सैद्धांतिक ज्ञान हमें नहीं हो सकता, क्योंकि उसे जानने

का अर्थ है उसे जानने योग्य परिस्थितियों में ही जानना। हम वास्तविकता को वैसे ही जानते हैं जैसी वह **प्रतीत** होती है, न कि जैसी वह है। इसी कारण से कान्ट के दर्शन को **दृश्य प्रपंचशास्त्र** के साथ मिलाया जाता है, जिसका सिद्धान्त यह है कि ज्ञान प्रतीतियों (अथवा प्रपंच) तक ही सीमित होता है।

किन्तु, कान्ट के लिए बात यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। अपने व्यावहारिक दर्शन में वह नैतिकता का अन्वेषण करता है। वह कर्त्तव्य की ध्वनि से आरम्भ करके इस अधिकार से बोलता है जो मात्र प्रपंचात्मक जगत् से प्राप्त नहीं हो सकता। वह हमें ईश्वर, स्वतंत्रता तथा अमरत्व के अभ्युपगम से परमार्थ सत् अथवा वास्तविक जगत् तथा नैतिक व्यवस्था पर ले आता है। हालाँकि हमें वास्तविक जगत् का सैद्धांतिक ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता, फिर भी हमें उसकी प्रकृति का संकेत नैतिक स्थिति, जिसमें स्वतंत्र संकल्प को निर्णय की चुनौती होती है, मिल जाता है। यहाँ पर वास्तविक जगत् को हमें ऐसा बताया गया है, जिसमें नैतिक मूल्य गहराई से जमे होते हैं। वह आवश्यक रूप से "आध्यात्मिक" वास्तविकता है—कुछ ऐसी चीज़ जो जमे हुए नैतिक संकल्प से बहुत मिलती-जुलती है।

अतः कान्ट का दर्शन पूर्णतः प्रत्ययवादी है। वह प्रत्ययों तथा आदर्शों के जगत् के विषय में बताता है तो भी वह इतना अतिशय प्रत्ययवादी नहीं है कि मनस् के अन्यथा किसी और वस्तु को वास्तविक नहीं मानता। अन्तिम विश्लेषण में हम नहीं जानते कि वास्तविक क्या है; नैतिक स्थिति हमें सैद्धांतिक ज्ञान से अवगत नहीं कराती, किन्तु ज़ोरदार ढंग से यह बताती है कि किसी न किसी प्रकार वह हमारे अंततंम को आध्यात्मिक सत्ता के समान ही है।

निरपेक्ष प्रत्ययवाद

कान्ट के एक उत्तराधिकारी जे० जी० फिख्टे ने एक और भी अधिक स्पष्ट प्रत्ययवाद के तंत्र को सामने रखा है, जिसके अन्तर्गत समस्त वास्तविकता "अहम्" में ही समाविष्ट रहती है। किन्तु चरम सत्ता तो "पराहम्" ही है। और इस प्रकार निरपेक्ष दर्शन का आरम्भ होता है। इसकी सुविख्यात अभिव्यक्ति हीगल के निरपेक्ष प्रत्ययवाद में हुई है।

हीगल पूछता है कि जगत् क्या है? वास्तविकता क्या है? उसका उत्तर है कि वास्तविकता विचार अथवा तर्कबुद्धि है। जगत् एक महान् विचार-प्रक्रिया है। हम कह सकते हैं कि वह ईश्वर-चिन्तन है। वास्तविकता के नियमों को जानने के लिए हमें विचार के नियमों को जानने मात्र की आवश्यकता है। जिसे हम प्रकृति कहते हैं वह अभिव्यक्त विचार ही है; वह अपने आपको बाह्य रूप से व्यक्त करती हुई निरपेक्ष तर्क-बुद्धि ही है। किन्तु उसका अन्तिम लक्ष्य प्रकृति नहीं है। वह पहले अपने को और भी पूर्ण रूप में मनुष्य की आत्म-चेतना में अभिव्यक्त

करता है और अन्त में कला धर्म तथा दर्शन में अपने को पूर्णतः अभिव्यक्त करता है।

इस प्रकार का दर्शन हमें स्तब्ध कर देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्ययवाद बहक गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह भव्य है, दिव्य है, किन्तु क्या यही सत्य है? वह हमें प्लेटो की स्मृति कराता है, जो हमें दिव्य लोक में ले जाता है और यह बताता है कि हमारा घर वही है। हीगल के सशक्त तथा काल्पनिक द्वंद्वन्याय को अलग करके भी उसके विचारों के अनेक पहलू हैं जो आज भी सुझाव दे सकते हैं। जगत् के विकास की एक प्रक्रिया सम्बन्धी हीगल की अवधारणा बहुत ही चित्ताकर्षक है, इस अवधारणा से वे दोनों विचारक भी सहमत हैं जिनका योगदान चिंतन के इतिहास में बहुत रहा है, अर्थात् अरस्तू तथा डार्विन। परन्तु हीगल जगत् को केवल विकास की प्रक्रिया मात्र ही नहीं मानता, किन्तु विचार की प्रक्रिया भी मानता है और अन्ततः यह रुचिकर सुझाव भी देता है कि उसका एक आदर्श लक्ष्य कला, दर्शन तथा धर्म के क्षेत्र में भी है।

आधुनिक अंग्रेजी तथा अमरीकी प्रत्ययवाद

हीगल की मृत्यु के उपरान्त तथा कम अथवा अधिक मात्रा में उससे तथा कान्ट और फिख्टे से अब तक विषयीनिष्ठ प्रत्ययवाद के अनेक तन्त्र हो चुके हैं। वे जर्मनी, इटली, इंग्लैंड तथा अमरीका के अग्रगण्य विद्वानों के द्वारा विचारों के सतत स्रोत के निरपेक्ष प्रत्ययवाद से लेकर ईश्वरवादी प्रत्ययवाद, संकलपात्मक प्रत्ययवाद, व्यक्तिवाद तथा सर्वचित्तवाद तक का प्रतिनिधित्व करते हैं। इंग्लैंड के प्रमुख प्रत्ययवादियों में टी० एच० ग्रीन, एडवर्ड केअर्ड, एफ० एच० ब्रेडले, ए० ई० टेलर, जे० एम० ई० मेक्टेगर्ट, बर्नार्ड बोसान्क्वेट, एच० एच० जोकिम, तथा आर० एफ० ए० होर्न्ले का उल्लेख कर सकते हैं; जब कि अमरीका में जी० एस० मोरिस, जोसिया रॉयस, मेरी व्हिटन काल्किन्स, जे० ई० क्राइटन, जॉर्ज पी० एडम्स, जी० एच० हॉवीसन, बोर्डन पी० बाउने तथा अन्य कई प्रत्ययवादी हैं। पुस्तकों में रॉयस की **स्पिरिट ऑफ़ माडर्न फ़िलासफ़ी**, बोसान्क्वेट की पुस्तक **प्रिंसिपल ऑफ़ इन्डिविजुएलिटी एन्ड वेल्यू**, ग्रीन की **प्रोलेगॉमेना टु एथिक्स**, काल्किन्स की **दि परसिस्टेन्ट प्रॉब्लेम्स ऑफ़ फ़िलासफ़ी**, जॉर्ज पी० एडम्स की पुस्तक **आइडियलिज्म एन्ड दि माडर्न एज**, होर्न्ले की **स्टडीज इन कन्टेम्पोरेरी मेटाफ़िज़िक्स**, हॉवीसन की **दि लिमिट्स ऑफ़ इवोल्यूशन** तथा बाउने की पुस्तक **पर्सनलिज्म** आधुनिक रूप में प्रत्ययवादी परम्परा का प्रतिनिधित्व करती हैं। प्रत्येक दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी को इन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिए। उनकी **समष्टिता** तथा नैतिक प्रत्ययवाद उनके दीर्घजीवी महत्त्व का आश्वासन देते हैं।

बिना कुछ बल-प्रयोग के यहाँ पर उल्लिखित सभी विषयनिष्ठ प्रत्ययवादों का सामान्य संक्षिप्त विवरण देना सम्भव नहीं है। किन्तु सामान्यतः आधुनिक

प्रत्ययवाद के विभिन्न प्रकार जगत् को मूलतः आध्यात्मिक तर्कगत बोधगम्य, बुद्धिसंगत और नैतिक महत्त्व से युक्त मानते हैं। और भी विशेष बात यह है कि जगत् में एक प्रकार की ऐसी अंगीय एकता है जिसमें सम्पूर्ण का निर्धारण हिस्सों के सम्पूर्ण से होता है। अतः विभिन्नता में सामंजस्य के साथ परिणामतः एकता होती है। जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध है वह आवश्यक रूप में एक आत्मा है और वह आत्मा के समुदाय के साथ तथा सम्भवतः निरपेक्ष आत्मा के साथ भी अंगीय सम्बन्ध रखता है।

विषयनिष्ठ प्रत्ययवाद के प्रायः सभी तंत्र, निरपेक्ष, निरपेक्ष प्रत्यय, अथवा निरपेक्ष आत्मा अथवा निरपेक्ष अनुभव को कहना चाहते हैं। और अन्त में निरपेक्ष शब्द केवल श्रेष्ठता का ही बोधक नहीं है बल्कि उसका अर्थ है उस अंतिम एकता को प्राप्त करना जो दर्शन की खोज का विषय हमेशा ही रहा है। निरपेक्ष की बाहों के संरक्षण में ही हमें धार्मिक अभिप्रेरणा ऐसा आनन्द देती है और वह बौद्धिक अभिप्रेरणा ही होती है जिसे अन्तिम एकता अथवा समष्टिता अथवा संपूर्णता की अवधारणा में आराम का ऐसा अनुभव होता है।

व्यक्तिवाद

और भी रुचिकर आधुनिक प्रत्ययवाद के एक रूप का विशेष उल्लेख यहाँ कर देना चाहिए जिसे **व्यक्तिवाद** के नाम से जाना जाता है।[1] यह दर्शन व्यक्तित्व के निर्विरोध तथ्य को अपना आधार बनाता है। एक बात जिस पर हम संदेह नहीं कर सकते वह है एक व्यक्ति की तरह अपना अस्तित्व तथा समाज का एक सदस्य होना। यह दर्शन व्यक्तित्व, स्वातंत्र्य, आत्म-निश्चय, नैतिक उत्तर-दायित्व, जगत् में वास्तविक बुराई का अस्तित्व, तथा एक ऐसे व्यक्तिगत ईश्वर का अस्तित्व जो हमारे साथ बुराई पर विजय प्राप्त करने के लिए संघर्ष तथा प्रयास करता हो, पर बल देता है। कान्ट के अनुसार यह भौतिक जगत् प्रपंचात्मक है, अतः दर्शन का यह तंत्र निश्चय ही प्रत्ययवादी अथवा आध्यात्मिक है। किन्तु आधुनिक प्रत्ययवाद का एकतत्त्ववादी लक्षण अब लुप्त हो चुका है तथा आत्माओं के समाज में आत्मा की विशेष वैयक्तिकता और अनूठेपन ने इस दर्शन को

---

1. उल्लिखित लेखकों के अतिरिक्त, जैसे बोर्डन पी० बाउने, तथा जी० एच० हॉवीसन, एक पत्रिका "दि पर्सनलिस्ट" जिसे दक्षिण केलिफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर फ्लेवेन्लिग ने संपादित किया है, की ओर ध्यान दिलाया जाता है। इंग्लैंड में एच० स्टर्ट, जी० टी० स्टाउट, एच० राशडाल, जे० एम० ई० मेकटेगर्ट, जेम्स वार्ड, तथा अन्य लोगों की रचनाओं में वैयक्तिकता पर बल देखा जा सकता है। इंग्लैंड के अधिकांश व्यक्तिवादी वास्तविकता के नैतिक गुणों पर तथा व्यक्तियों की संकल्प शक्ति पर बल देते हैं, जब कि अमरीकी व्यक्तिवादी कान्ट के और भी नज़दीक रहते हैं तथा ईश्वर के प्रत्यय तथा धार्मिक अभिप्रेरणा पर और भी अधिक बल देते हैं।

बहुतत्त्ववादी मोड़ दिया है। व्यक्तिवाद बहुत अंगों तक हमारी धार्मिक आवश्यकताओं को पूरा करता हुआ प्रतीत होता है। वह अंतरातीत ईश्वरवादी प्रवृत्ति के आधुनिक प्रत्ययवाद के अनेक प्रकारों से बचकर स्वतन्त्रता, नैतिक उत्तरदायित्व तथा बुराई की उपस्थिति पर बहुत बल देता है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष में प्रत्ययवाद की प्रशंसा में अथवा आलोचना में हमें क्या कहना है? दर्शन के विद्यार्थी के समक्ष भिन्न-भिन्न तंत्र निश्चय ही उलझन पैदा करने वाले होंगे—जितने दर्शन का प्रतिपादन करने वाले हैं, ऐसा प्रतीत होता है, उतने ही तंत्र हैं। संभवतः वे सभी ग़लती पर हैं और चरम वास्तविकता का कोई भी सिद्धान्त सम्भव नहीं है। किन्तु मैं सोचता हूँ कि हतोत्साहित होने की यह अभिवृत्ति न्यायोचित नहीं है। सम्भवतः इन सभी तंत्रों में समान तत्त्व हैं। सावधानी से विश्लेषण होने पर सहमति के अनेक स्थल दिखाई पड़ सकते हैं अथवा इससे भी बेहतर अनेक मिलती हुई प्रवृत्तियाँ भी दिखाई पड़ेंगी।

निश्चय ही सभी प्रत्ययवादियों में बहुत कुछ समान होता है। वे इस बात को मानने से इन्कार करते हैं कि जगत् एक बृहत् मशीन है। वे जड़तत्त्व, यांत्रिकता तथा जगत् को समझाने के लिए ऊर्जा के संरक्षण को सर्वोच्च महत्त्व देने से इन्कार करते हैं। प्रत्ययवादी वैज्ञानिकों द्वारा दिए गये विवरण तथा अनुभव के विश्लेषण को मान सकता है, किन्तु वह इस बात से इन्कार करता है कि उसकी कही हुई बात ही अंतिम है।

प्रत्ययवादी सामान्यतः यह अनुभव करते हैं कि मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा सौंदर्यशास्त्र जैसे कुछ विज्ञानों को कुछ मूलभूत तथा अंतर्निहित वस्तुओं के साथ कार्य करना होता है, और वे भी प्रकृति के रहस्य की वैसी ही कुंजी होते हैं जैसे कि भौतिकी तथा रसायन। उनका विश्वास है कि जगत् का कुछ अर्थ, उद्देश्य, और सम्भवतः एक लक्ष्य है, और यह कि विश्वहृदय तथा मनुष्य की आत्मा में एक प्रकार का सामंजस्य है। यह सामंजस्य ऐसा है कि मनुष्य की बुद्धि प्रकृति के बाहरी हिस्से में झाँक कर और अन्दर बैठकर उसके अन्तर में स्थित अस्तित्व में कम से कम कुछ हद तक तो पहुँच ही सकती है।

विश्व एक महान् जीव है और मनुष्य उसके अन्तर्गत एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया करता है। ब्रह्मांडीय तथा शाश्वत रूप से मनुष्य का जीवन महत्त्वपूर्ण है। गहन तौर पर उसका प्रारब्ध ही जगत् का प्रारब्ध है। इस तरह प्रत्ययवाद में हम समस्त प्रकृति में मनुष्य की इच्छाओं का प्रत्युत्तर पाते हैं। वहाँ केवल अमरत्व, सौंदर्य, तथा सत्यता की खोखली इच्छा आदर्श जीवन के लिए नहीं होती—उनकी माँग होती है। किन्तु हमें भ्रमात्मक "अभिलाषा-कल्पित चिन्तन" को प्रत्ययवादी के ऊपर आरोपित न करने के लिए सावधान रहना चाहिए

क्योंकि वह दर्शन में उन मूल्यों के लिए स्थान प्राप्त करता है जिन्हें मनुष्य इतना अधिक पसंद किया करते हैं। और तब भी प्रत्ययवाद हमारी नैतिक, सौंदर्यपरक, धार्मिक तथा स्वेच्छाचारी ज़रूरतों का हल प्रदान करता है। वह हमारे समक्ष एक बुद्धिमत्तापूर्ण तथा बोधगम्य जगत् प्रस्तुत करता है, जिसका ताना-बाना कुछ-कुछ विचार, भावना तथा संकल्प के समान अवश्य होना चाहिए।

सम्भवतः प्रत्ययवाद की आत्मा और कहीं भी इतनी अच्छी तरह से अभिव्यक्त नहीं हुई है जितनी कि यथार्थवादी विलियम जेम्स के इस कथन में वह कहता है कि यह वायु और पानी का जगत् कोई प्रस्थापित वस्तु तथा ईश्वरीय उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए नहीं है, किन्तु इसलिए है कि हम इस द्रव्यमान व्यवस्था के पीछे एक आध्यात्मिक व्यवस्था में विश्वास करें और द्रव्यमान व्यवस्था को उसका मूल्य तथा महत्त्व प्रदान करें।

वास्तविकता के प्रत्ययवादी सिद्धान्तों के प्रति हम जिस अधीरता का अनुभव करते हैं वह निश्चय ही अनेक स्रोतों से उत्पन्न होती है। आधुनिक विचार ज़ोर-दार रूप से यथार्थ विज्ञानों की ओर झुके हैं, तथा दर्शन के किसी भी तंत्र का तब तक कोई स्वागत नहीं हो सकता जब तक कि वह इन विज्ञानों के परिणामों के साथ सामंजस्य स्थापित न करे। अनेक लोगों को ऐसा भी महसूस हुआ है कि जो प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन के विषय हैं प्रत्ययवाद उन ठोस तथ्यों का मूल्यांकन ठीक ढंग से नहीं करता। यदि यह कहा जाए कि ये ठोस तत्त्व परमार्थ सत् के मात्र "दृश्य-प्रपंच" अथवा प्रतीतियाँ हैं, जो "उनके पीछे स्थित होता है", अथवा ये दृश्य-प्रपंच अपना रूप अथवा अपना द्रव्य उस मन से प्राप्त करते हैं जो इनका प्रत्यक्ष करता है तो हमें क्रोध आ जाता है।

किन्तु इसके विपरीत, हालाँकि हमारी मौजूदा प्रवृत्ति वैज्ञानिक है, हम हमेशा ही ऐसी मनःस्थिति में नहीं रहते हैं। कभी-कभी हम बिल्कुल ही भिन्न मनःस्थितियों में होते हैं, उदाहरण के लिए नैतिक, सौंदर्यपरक, धार्मिक अथवा सामाजिक, और हम उन महान् सत्यों को समझ सकते हैं जो प्रत्ययवादी दर्शनों में सम्मिलित होते हैं। वास्तव में, बाद के प्रत्ययवाद के दर्शन, जैसे रॉयस तथा बोसान्क्वेट के दर्शन, अपरोक्ष रूप से ऐसे महान् सत्यों पर आधारित होते हैं जैसे वैयक्तिकता तथा मूल्य—और उनकी अपील इस तथ्य को स्वीकार करने पर आधारित होती है कि भौतिक विज्ञानों के द्वारा बताया हुआ जगत् ही वास्तविक जगत् होता है परन्तु वह सम्पूर्ण जगत् नहीं है, और न ही वह सम्पूर्ण जगत् का एक उचित नमूना है और न विज्ञानों के अध्ययन में और न ही हमारी विभाजित आत्मा के अनुभव में, हमें बोसान्क्वेट के द्वारा कही हुई "वास्तविक वस्तु" प्राप्त होती है। अतः इन प्रत्ययवादी दर्शनों में हम खंडता द्वन्द्व, तथा विभाजनों का अनुभव करते हैं जो हमें चारों ओर से घेरे रहते हैं। हम एकता, संपूर्णता तथा आदर्श मूल्यों की कामना करते हैं और यह विश्वास किए बिना नहीं रह सकते

कि यदि हम उसे समझ सकें तो सम्पूर्ण वास्तविकता में एक ऐसी एकता, सम्पूर्णता तथा मूल्य होता है, और हमारी प्रक्रियाएँ, नैतिक प्रयत्न तथा सौंदर्यपरक सुख किसी न किसी रूप में जगत् की आवश्यक संरचना का रहस्योद्घाटन करते हैं।

और मैं यह समझता हूँ कि हम इस जगत् को मनस्-उपादान माने बिना उसी प्रकार प्रत्ययवादी हो सकते हैं, जिस प्रकार हम उसे पुद्गल-उपादान माने बिना ही वैज्ञानिक रह सकते हैं। यह सम्भव है कि प्रत्ययवादियों ने पूर्णत: वास्तविकता की संरचना को बताते हुए हमारे मनस् के विचार तथा अनुमान की प्रक्रियाओं पर बहुत अधिक बल दिया है—परन्तु उतना ही अथवा उससे भी अधिक मौलिक **प्रयास** करने के गुण पर पर्याप्त बल नहीं दिया है। यदि हम जगत् को एक ऐसे महान् आन्दोलन के तौर पर सोच सकते जिसमें "सृजनात्मक शक्तियाँ अव्यवस्था से व्यवस्थित स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रही हैं" अथवा एक ऐसी विकासात्मक प्रक्रिया है जिसमें मूल्य, मानसिक, नैतिक, सौंदर्यपरक, तथा सामाजिक, क्रमश:, किन्तु निश्चित रूप से, सम्भवत: वास्तविक बाधाओं के बावजूद भी, प्राप्त हो रहे हैं, तो भी हम प्रत्ययवादी ही हैं, किन्तु ऐसे प्रत्ययवादी जो **प्रत्यक्षों** की चर्चा कम और **आदर्शों** की अधिक करते हैं।

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Josiah Royce, *The Spirit of Modern Philosophy* (Houghton Mifflin Company), chap. XI, "Reality and Idealism".

Ralph Barton Perry, *Present Philosophical Tendencies* (Longmans, Green and Company), part III.

अन्य सन्दर्भ

Arthur Kenyon Rogers, *English and American Philosophy Since 1800* (The Macmillan Company), chaps. V, VI.

George P. Adams, *Idealism and the Modern Age* (Yale University Press).

Josiah Royce, *The World and the Individual*, 2 vols. (The Macmillan Company).

Aliotta, *The Idealistic Reaction Against Science* translated by Agnes McCaskill (The Macmillan Company).

Clifford Barrett, editor, *Contemporary Idealism in America* (The Macmillan Company).

R. F. A. Hoernlè, *Idealism* (George H. Doran Company).

May Sinclair, *A Defence of Idealism* (The Macmillan Com-

pany) and *The New Idealism* (The Macmillan Company).

J. G. Fichte, "The Vocation of the Scholar", "The Nature of the Scholar", "The Vocation of Man" in his *Popular Works*, vol. I.

John Watson, *The Philosophy of Kant* (The Macmillan Company).

J. H. Muirhead, editor, *Contemporary British Philosophy* (The Macmillan Company). Contains personal statements by contemporary British philosophers.

अध्याय 17

बहुतत्त्ववाद

बहुतत्त्ववाद का अर्थ है समस्त वास्तविकता को एक, अथवा दो चरम सत्ताओं में बाँधने के विचार को तिलांजलि देना। जगत् को न तो मनस् में और न पुद्गल में ढाला जा सकता है और न ही मनस् और पुद्गल में। वास्तविकता न एक है, न दो, अपितु अनेक हैं।

प्राचीनतर बहुतत्त्ववाद

इस अर्थ में बहुतत्त्ववाद के अनगिनत उदाहरण हैं। आरम्भिक यूनानी दार्शनिक एम्पीडोक्लीज़ बहुतत्त्ववादी था। उसने कहा था कि वास्तविकता के चार अन्तिम तत्त्व हैं—अग्नि, जल, पृथ्वी, तथा वायु। जब प्लेटो ने वास्तविकता के शाश्वत प्रत्ययों को परम शुभ तथा सुन्दर जैसे प्रत्ययों में ढाल दिया तो वह भी बहुतत्त्ववादी हो गया, क्योंकि ऐसे प्रत्यय अनेक हैं। यहाँ तक कि यूनान का परमाणुवाद, जिसे दृढ़ता से भौतिकवादी एकतत्त्ववाद कहा गया है, वह भी इस अर्थ में बहुतत्त्ववादी था कि परमाणुओं में एक तरह की वैयक्तिकता थी जो उनके आकार-प्रकार पर आधारित होती थी। आधुनिक भौतिकवाद, इलेक्ट्रॉन सिद्धान्त के उद्भव के पूर्व, एक प्रकार का बहुतत्त्वाद ही था, क्योंकि अस्सी से अधिक भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राथमिक द्रव्य होते हैं।

इसी प्रकार, प्रत्ययवाद अथवा आध्यात्मिक एकतत्त्ववाद प्रायः बहुतत्त्ववाद बनकर ही रह जाता है, जैसा कि लायबनित्स के चिदणु दर्शन में हुआ है। चूँकि ये चिदणु अपने अन्तिम स्वभाव में मनोवैज्ञानिक हैं, इस दर्शन को आध्यात्मिक एकतत्त्ववाद भी कहा जा सकता है। क्योंकि वे सभी एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, उनमें से प्रत्येक की अलग-अलग वैयक्तिकता होती है, हम उसे बहुतत्त्ववाद कह सकते हैं।

स्पष्ट है कि इस प्रकार के भेद दर्शन में बहुत महत्त्व के हैं। जब हम विभिन्नता में एकता पाते हैं तो हमारी एकतत्त्ववादी इच्छा को संतोष होता है, और जब इस एकता का अभाव हो तो उस दर्शन को बहुतत्त्ववादी कहना ही श्रेयस्कर है। इसलिए यह प्रश्न होता है कि लायबनित्स के आध्यात्मिक दर्शन को

बहुतत्त्ववाद कहना चाहिए अथवा एकतत्त्ववाद। जहाँ तक चिदणु की विलक्षण तथा स्वतंत्र आत्म-सीमित सत्ताएँ होने का सम्बन्ध है वह बहुतत्त्ववादी है। कोई भी दो एक जैसे चिदणु नहीं हैं, इसलिए हम कह सकते हैं कि लायबनित्स ने जगत् के उस सिद्धान्त को माना है जो उसे विभिन्न चरम सत्ताओं की अनंतता में घटा देता है। किन्तु अन्य दृष्टिकोण से विचार करने पर लायबनित्स एकतत्त्व-वादी ठहरता है। जगत् के चिदणु एक अव्यवस्था नहीं बल्कि व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं—उनमें एक महान् सामंजस्य है। वे एक तर्क-संगत नियम से प्रभावित हैं तथा उनमें से प्रत्येक एक निश्चित दृष्टिकोण से तथा एक निश्चित स्तर से वस्तुओं की तर्कसंगत व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करता है। लायबनित्स का यह कहना है कि वे सार रूप में वही हैं। लायबनित्स के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है। कुछ लोगों का यह मत है कि चिदणु में एकता तथा सामंजस्य पर्याप्त रूप से नहीं दर्शाये गए हैं, अतः उसका दर्शन मूलतः बहुतत्त्ववादी है। अन्य लोग यह मानते हैं कि लायबनित्स के विश्लेषण के अनुसार चिदणु की अवधारणा, उस तार्किक क्रम तथा एकता के बिना, जिसे चिदणु प्रतिबिंबित करते हैं, बोधगम्य नहीं हो सकती। यदि हम पहली बात को स्वीकार कर लें तो निश्चय ही लायबनित्स बहुतत्त्ववादी है तथा एकतत्त्ववादी तत्त्व का महत्त्व नहीं रह जाता, और यदि हम बाद वाली व्याख्या को मानें तो लायबनित्स एकतत्त्ववादी है और बहुतत्त्व-वादी गुण महत्त्वहीन हो जाता है।

निःसंदेह, अधिकांश महान् ऐतिहासिक दार्शनिक तंत्र बहुतत्त्ववादी अभिवृत्ति प्रस्तुत करते हैं और हमारा किसी भी तन्त्र को यह कहना कि बहुतत्त्ववादी है, इस बात पर निर्भर होता है कि बहुतत्त्ववाद का क्या संप्रत्यय है तथा प्रस्तुत दर्शनों की हमारी क्या व्याख्या है। अभी हाल का "बहुतत्त्ववाद" यह खोजने का प्रयत्न नहीं करता कि जगत् कितने उपादानों से बना है; और न ही बाद में इसकी पुष्टि करता है कि एक या दो के बजाय उस उपादान के अनेक प्रकार हैं। न ही वह विश्व को अनेक रूपों में ढले हुए एक उपादान से बना हुआ मानता है; बल्कि वह तो जगत् की अनेकरूपता तथा विभिन्नता पर बल देता है; यह बहुत अधिक एकता देखने के प्रति विरोध है। यह नवीन "बहुतत्त्ववाद" जगत् के बहु-रूपी लक्षण पर, उसकी विभिन्नता तथा समृद्धि पर, उसकी असीमित विषमताओं और नवीनताओं पर और यहाँ तक कि उसके विरोधों तथा विषमताओं पर बहुत अधिक बल देता है।

एकतत्त्ववादी आवेग

सम्भवतः एकतत्त्ववादी दर्शन उस मानव-मनस् की असमर्थता में ही अपनी व्याख्या देखते हैं जो दुर्व्यवस्था के समक्ष असहाय रहता है तथा जिसके लिए वस्तुओं में कुछ एकता तथा व्यवस्था देखना अनिवार्य होता है। उसकी रुचि विभिन्न रूपों

को वर्गों में, और अन्त में सभी वस्तुओं को किसी अन्तिम "द्रव्य" अथवा सत्ता, मनस्, पुद्गल अथवा ईश्वर में निहित करने में होती है। वह सब मनस् के पीछे निरपेक्ष मनस् को, सभी आत्माओं के पीछे निरपेक्ष आत्मा को, सभी संकल्पों के पीछे निरपेक्ष संकल्पन को, तथा सभी अनुभवों के पीछे निरपेक्ष अनुभव को खोजता है। जगत् को समझने की उत्सुकता में मानव-मनस् उस पहेली के विवरण से गुज़रने के लिए एक निर्देशक सूत्र को खोजता है। वह किसी ऐसे नियंत्रक प्रयोजन को खोजने की आशा करता है जिसके समझ में आने पर यह पता चलेगा कि समस्त बातें एक योजना हैं—सम्भवतः एक बुद्धिमत्तापूर्ण तथा परोपकारी योजना है, जिसके मूल में एक निरपेक्ष तथा सर्वज्ञ नियंत्रक है और अन्त में वह ऐसे मानसिक अथवा भौतिक द्रव्य को खोज लेने की आशा करता है जिसके अन्दर समस्त वास्तविकता को घटाया जा सके।

बहुतत्त्ववादी प्रतिक्रिया

अब, बहुतत्त्ववाद इस बात से इन्कार नहीं करता कि जगत् में कुछ एकता है, किन्तु बहुमुखी विषमताओं, असंगतियों तथा उन असामंजस्यों के सतक्ष जो अनुभव हमें बताता है वह एकतत्त्ववादी हल को बहुत आसानी से स्वीकार करने में हिचकिचाता है। दर्शन के विद्यार्थियों ने यह अनुभव करना आरम्भ कर दिया है कि जीवन के निर्देशक सूत्रों का पता लगा लेना इतना सरल नहीं है, और इस **परमतत्त्व** के विषय में अनेक घोषणाएँ करना तुच्छ धृष्टता है। वर्तमान समय में निश्चय ही दार्शनिकों में शक्तिशाली बहुतत्त्ववादी वृत्ति है। नवीन खगोल विज्ञान, नवीन भौतिकी, नवीन यंत्र विज्ञान, नवीन तर्कशास्त्र सभी विषमता तथा विशालता पर बल देते हैं—जगत् की विचित्रता तथा प्रचंडता का क्या कहना है। प्राचीन समय में यह विश्वास करना बहुत संतोषजनक तथा शान्तिप्रद था कि यह पृथ्वी मनुष्यों के लिए बनी है और सर्वशक्तिमान तथा हितचिंतक सत्ता की देख-रेख में विश्व के केन्द्र में सुरक्षित है। किन्तु अब हमें पता चला है कि हमारा सूर्य अनगिनत लाखों में से केवल एक है, और ऐसे-ऐसे ग्रह हैं जिनका प्रकाश 1,86,000 मील प्रति सेकंड की गति से चलकर हम तक पहुँचने में लाखों वर्ष लेता है।

यदि हम जगत् के बड़े होने पर आश्चर्य करते हैं, और जब हमें यह पता चलता है कि परमाणु इतना छोटा होता है कि हाइड्रोजन के एक घन सेन्टीमीटर में 5,40,00,00,00,00,00,00,00,000 परमाणु निहित होते हैं तो हमें अचम्भा होता है, और तो भी वे अपने आकार के अनुसार विद्युत् कणों के स्वयं वैसे ही तन्त्र होते हैं जैसे कि आकाश में ग्रहों के होते हैं।

पुनः यह विश्वास करना संतोषजनक है कि हालाँकि दिक् अनन्त है, वह यूक्लिड के ज्यामिति के अन्तर्गत है, और न्यूटन की भौतिकी का समस्त विश्व पर

नियंत्रण है और दिक् और काल दोनों ही निश्चित मानकों से मापे जा सकते हैं; किन्तु सापेक्षता के सिद्धान्त ने यहाँ भी और भी बृहत्तर तथा विचित्रतर जगत् का रहस्योद्घाटन किया है। यहाँ तक कि अरस्तूवादी तर्कशास्त्र ने भी अपने द्रव्य के सिद्धान्त तथा द्रव्य में स्थित गुणों के सहित तथा वस्तुओं के वर्गों में अपनी समानता तथा भिन्नता के अनुसार जुड़कर नवीन तर्कशास्त्र को अपने-अपने अनेक सम्वन्धों के प्रकार के साथ तथा स्वयं विषयीनिष्ठ तथा वास्तविक सम्बन्धों के साथ स्थान दे दिया है। यहाँ तक कि विकास, जो अभी कुछ वर्ष पूर्व तक एक जादुई कुंजी की तरह दिखाई देता था और जो विश्व में रहस्यों को खोलने वाला समझा गया था, अब कठिनाइयों से पूर्ण हो गया है और एक अर्थ में प्रकृति कहलाने वाली वस्तु के एक हिस्से पर ही लागू होता है।

अतः हेमलेट, जब कहता है—

होरेशियो ! पृथ्वी तथा स्वर्ग में उससे भी अधिक वस्तुएँ हैं,
जितनी कि आपके दर्शन में कल्पित की जाती हैं—

तो वह बहुतत्त्ववादी आन्दोलन को प्रतिध्वनित करता है। हालाँकि मनस् एकता के लिए लालायित होता है, वह विभिन्नता को भी पसन्द करता है, और बहुतत्त्ववादी जगत् का विचार भी बिना किसी प्रतिफल के नहीं है।

जगत् इतनी अधिक वस्तुओं से पूर्ण है,
कि हमें राजाओं के समान निश्चय ही सुखी होना चाहिए ।

ये शब्द राबर्ट लूइस स्टीवेन्सन ने कहे हैं, और सम्भवतः आधुनिक मनस् की साहसपूर्ण आत्मा को बहुतत्त्ववादी जगत् की पहेली को हल करने में उतना ही संतोष मिलता है जितना कि मध्यकालीन युगों में एकीकृत तथा पूर्ण समष्टि तंत्र को मिलता था। फिर भी हमें, जगत् में इस यथार्थ का, कि जगत् कम एकीकृत है, कम संतुलित तथा अपने विचार किए हुए से कम सामंजस्यपूर्ण है, सामना करना है।

एक बहुतत्त्ववादी विश्व

अभी बहुत वर्ष नहीं हुए हैं कि विलियम जेम्स की एक छोटी सी पुस्तक **ए प्लूरलिस्टिक यूनिवर्स**, जिसने उसके अन्य लेख **रेडिकल इम्पीरिसिज्म** तथा **विल टु बिलीव** के साथ मिलकर दर्शन-जगत् को उसकी एकतत्त्ववादी निद्रा से जगा दिया है। दर्शन में तथा मनोविज्ञान में जेम्स का ध्येय गतानुगतिक मार्ग को छोड़कर नये मार्गों को खोजना था। पुराने अर्थ में उसका कोई दार्शनिक तन्त्र नहीं था, किन्तु उसकी लेखनी से दर्शन तथा मनोविज्ञान दोनों ही बिजली के धक्कों के समान पुनर्जीवित हो गए।

जेम्स पुराने निरपेक्ष दर्शनों से ऊब चुका था, यहाँ तक कि अपने सहकर्मी

जोसिआ रॉयस द्वारा प्रस्तुत उसके नवीनतम तथा मोहक रूप से भी अब ऊब चुका था। जेम्स की रुचि "एक" में नहीं, किन्तु "अनेक" में थी। "समष्टि रूप" नहीं वरन् "प्रत्येक रूप", यहाँ तक कि उनका पृथकत्व, उनका अलग होना, उनकी स्वतन्त्रता, उनकी नवीनता, उनकी स्वाधीनता, उनकी आकस्मिकता, उनकी स्वतःचालिता, उनका अनेकत्व, हाँ, उनके अव्यवस्थित लक्षण ने भी उसे प्रभावित किया। उसने "पूरी-पूरी एकता" में किसी "शिलाकल्प विश्व" को नहीं देखा। उसने कहा है कि वास्तविकता "डोरी की तरह बटी हुई" है। "शब्द 'और' उसके प्रत्येक वाक्य के साथ जुड़ा रहता है।" वास्तविकता एकत्रित होने के बजाय वितरित है। स्वतन्त्रता, यदृच्छा, नवीनता तथा प्रगति का अस्तित्व होता है। "नये पुरुष तथा स्त्रियाँ, पुस्तकें, दुर्घटनाएँ, घटनाएँ, अन्वेषण, तथा अनेक साहसी कृत्य जगत् पर निरन्तर वर्षा करते रहते हैं।" मनस्, पुद्गल तथा परमाणु जैसे प्रतीकों में वास्तविकता को क्यों खोजा जाए? जगत् का "आधिकारिक द्रव्यमान दृश्यमान प्रवाह है।" जेम्स कहता है कि "ऐसा कोई संभाव्य विचार-बिन्दु नहीं है, जिससे कि जगत् पूर्ण रूप से एक एकाकी तथ्य प्रतीत हो, वास्तविक सम्भावनाएँ, वास्तविक अनिश्चय, वास्तविक प्रारम्भ वास्तविक अन्त, वास्तविक अशुभ, वास्तविक संकट, विपत्तियाँ तथा बचाव, एक वास्तविक ईश्वर तथा वास्तविक नैतिक जीवन, जैसा कि सामान्य विचार से इन्हें समझा जाता है, केवल इन्द्रियानुभूत सम्प्रत्ययों के रूप में ही रह जाएँगे जिन्हें वह दर्शन एकतत्त्ववादी रूप को 'जीतने' अथवा नये सिरे से उसकी व्याख्या करने के लिए छोड़ देता है।"[1]

> ब्रह्मांड एक शब्द में 'संयोग' पर आश्रित है। यदृच्छा उसमें यथार्थ है। विनाश उसमें उतना ही सम्भव है जितनी कि मुक्ति, और अशुभ उतना ही सत्य है जितना शुभ है। इसमें विशेषता की बात यह है कि अशुभ तथा शुभ **सम्बन्धी** हैं, द्रव्य नहीं हैं, और यह कि प्रत्येक संघर्ष करने वाली सत्ता अपने आपमें तथा अपने हक में सदा होने वाली निन्दा अथवा जगत् की शाश्वत मुक्ति में योगदान देती है। यहाँ कोई शाश्वत नियम नहीं है; कोई सीमा से पार जाने वाला प्रारब्ध नहीं, कोई दूरदर्शिता नहीं है। नियम स्वयं भी ब्रह्मांडीय प्रवृत्ति होने के अतिरिक्त कुछ और नहीं है। यह उसकी अभिव्यक्ति का रूप है, जिसके कारण वस्तुएँ संयोग से एकत्र हो गई हैं—और विकल्प के कारण एक साथ बनी हुई हैं। उनका निर्माण इसी प्रकार हुआ है जैसे कि मनुष्य के सम्पर्क स्थापित करने के लिए जातीय परम्परा का निर्माण किया है। भले ही गुरुत्वाकर्षण हो अथवा धूम्रपान, इनके

1. *The Will to Believe* (Longmans, Green and Company), p. IX.

विस्तार-क्षेत्र में अन्तर है—इतिहास में नहीं ! स्वतःप्रवृत्त सत्ताएँ जिनकी सामूहिक प्रवृत्तियाँ "प्राकृतिक नियमों" में व्यक्त होती हैं, उक्त नियमों की अपेक्षा अधिक महान् और वास्तविक हैं। ये सत्ताएँ अपनी एक-गोचरता तथा अपने अन्तर में इस शब्द के पूरे-पूरे अर्थों में वास्तविक हैं, और उन्हीं पर वृहत्तर सत्ताओं की धुरी घूमती है। अन्यथा ब्रह्मांड का इतिहास हमारे समक्ष और किस रूप में प्रकट हो सकता है?[1]

जेम्स के दर्शन में इस प्रकार का बहुतत्त्ववाद किसी निराशावाद, संशयवाद अथवा नियतिवाद को प्रोत्साहित नहीं करता। इसके बिल्कुल विपरीत, वह हमें वास्तविक स्वाधीनता तथा वास्तविक ईश्वर प्रदान करता है—केवल सर्वस्व निहित और सर्व-शक्तिमान एकता नहीं। वह उस अशुभ की समस्या को भी हल कर देता है जिसे निरपेक्षवादी दर्शनों में समझाना इतना कठिन प्रतीत होता है। वह कहता है कि एकतत्त्ववादी तो वास्तव में अशुभ की **समस्या को उत्पन्न करता है।**

जेम्स द्वारा प्रस्तुत किए गए इस बहुतत्त्ववादी, व्यावहारिकतावादी, उत्कट इंद्रियानुभववादी दर्शन में वह मसालेदार और उत्तेजनात्मक स्वाद है जो हमारी कुछ और अधिक जानने की बुभुक्षा को और तेज़ कर देता है। किन्तु और जो कुछ हमें प्राप्त होता है वह सब एक ही प्रकार का होता है और अन्त में हम यह अनुभव करते हैं कि किसी चीज़ की कमी है। सम्भवतः मनस् की लगातार जगत् विषयक विचारों की एकरूपता की माँग के कारण व्यक्ति **दि प्लूरलिस्टिक यूनिवर्स** के लेखक से कुछ अधीरता का अनुभव इसलिए करता है कि वह विश्व तथा उस वास्तविकता की प्रकृति के विषय में निश्चित मत नहीं देता, जो इस सतत परिवर्तन के नीचे कार्य करती है। किन्तु सम्भवतः जेम्स ने यह विचार किया कि हमारे पास पहले ही पूर्ण एकरूपी दर्शन के तंत्र मौजूद हैं।

नवीन वास्तववादियों में बहुतत्त्ववाद

यदि जेम्स का "उत्कट इन्द्रियानुभववाद" बहुतत्त्ववाद में व्यक्त होता है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसी प्रकार उससे बिल्कुल भिन्न नवीन वास्तववाद भी करता है।[2]

इस सन्दर्भ में निरन्तर होने वाले गोचर परिवर्तन की समृद्धि तथा विभिन्नता हमारा ध्यान नहीं आकर्षित करती, किन्तु तर्क, विचार तथा मूल्यों के जगत् की समृद्धि और विभिन्नता उसे आकर्षित करती है। और हम अचानक

---

1. Horace Meyer Kallen, *William James* and *Henri Bergson* (University of Chicago Press), pp. 182, 183.

2. इस नवीन बहुतत्त्ववाद का स्पष्ट कथन एडवर्ड ग्लीसन स्पाल्डिन्ग की पुस्तक "दि न्यू रियलिज्म" में देखा जा सकता है।

यह अनुभव करते हैं कि जगत् में भौतिक तथा मानसिक वस्तुओं के अतिरिक्त भी बहुत सी वस्तुएँ हैं। भौतिक तथा मानसिक वस्तुएँ, घटनाएँ तथा प्रक्रियाएँ बहुतत्त्ववादी सिद्धान्त में वास्तविक हैं, किन्तु उसी तरह तर्कबुद्धि के नियम तार्किक नियम, आन्तरिक तथा वाह्य सम्बन्ध, संख्या, दिक्, काल, शृंखला, तथा न्याय और सौन्दर्य जैसी आदर्श सत्ताएँ भी हैं। यदि हम इन दिक् और काल द्वारा नियंत्रित **स्थित वस्तुओं** को सीमित करना चाहें तो हम इन अभौतिक तथा अमानसिक सत्ताओं को **वर्ती** कह सकते हैं।

जो लोग यह विश्वास करते हैं कि विश्व में मानसिक तथा भौतिक के अतिरिक्त—संभवतः भौतिक के अतिरिक्त—कुछ भी नहीं है, उनके लिए यह नवीन बहुतत्त्ववादी मत आनन्ददायक तथा मुक्ति प्रदान करने वाला है। परमाणु तथा इलेक्ट्रॉन, जो वास्तव में होते हैं, वे अपने उपयुक्त स्थान पर स्थित हो जाते हैं। भौतिक वस्तुएँ, घटनाएँ तथा गुण स्थित होते हैं, उसी प्रकार मानसिक प्रक्रियाएँ तथा मानसिक घटनाएँ तथा गुण भी स्थित होते हैं, और इस प्रकार हम द्रव्य के एकतत्त्ववाद तथा अपने पुराने रूप में परस्पर क्रिया से मुक्त हो जाते हैं।

यह बहुतत्त्ववाद हमें न केवल उस पुद्गल के दवाव से मुक्त करता है, जिसने हमें इतना मोहित कर रखा था, बल्कि विकास के दबाव से भी मुक्त कर देता है। विकास एक ऐसा शब्द है जिसने बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हमारे विचारों को अभिभूत कर लिया था। बहुतत्त्ववाद विकास का महत्त्व तथा विस्तार कम कर देता है। विकास शब्द जीव-विज्ञान में उपयोगी होता है। सावधानी के साथ, सम्भवतः अकार्बनिक जगत् में भी इसे लागू किया जा सकता है, किन्तु वास्तविकता के ऐसे अनेक बड़े क्षेत्र हैं जिन पर वह लागू नहीं होता। वह ईश्वर पर लागू नहीं होता, और न ही वह सत्य, तार्किक नियमों, तथा शाश्वत मूल्यों पर लागू होता है।

पुनः विकास के क्षेत्र में भी सत्ता के बहुतत्त्ववादी मत को सृजनात्मक संश्लेषण के सिद्धान्त तथा स्तरों के सिद्धान्त से बहुत बल मिला है। व्यवस्था के परिणामस्वरूप प्रत्येक नवीन स्तर की बनावट में वे तत्त्व प्राप्त होते हैं जो निम्नतर स्तर पर नहीं होते। जीवन तथा मनस् की सत्ताएँ ऐसे अद्भुत उदाहरण हैं जो सरलतर तत्त्वों के संश्लेषण से उद्भूत होते हैं।

स्पॉलिङ्ग इससे भी एक कदम आगे है, अर्थात् व्यवस्था के क्रमशः प्रत्येक स्तर पर स्वतन्त्रता का होना। "बिना कुछ भी जोड़े अवयवों के अवयवों में विलय" के परिणामस्वरूप उद्भूत सत्ता के प्रत्येक स्तर पर गुण अथवा दृश्य-प्रपंच अपनी प्रकृति तथा इस स्तर के अन्य गुणों के साथ अपने कारण-सम्बन्धों के अनुकूल कार्य करने के लिए स्वतन्त्रता का होना होता है।" "उन निम्नतर स्तर के नियमों को कोई उच्चस्तरीय भंग नहीं करता,···किन्तु कोई **निम्न स्तर** भी कारणतः **उच्च स्तर** का निर्धारण नहीं करता।" अतः प्रत्येक स्तर पर, जैसे-जैसे

हम नीचे अकार्बनिक से रासायनिक, फिर जीवित, मानसिक तथा नैतिक स्तरों पर उतरते आते हैं, यह स्वतन्त्रता विद्यमान रहा करती है। अत: जीव-विज्ञान भौतिकी की शाखा नहीं है, न मनोविज्ञान की और न नीतिशास्त्र मनोविज्ञान की शाखा है। इनमें से प्रत्येक स्वतन्त्र विज्ञान है, जो अपने निम्नतर स्तरों से सह-सम्बन्धित है तथा उनके नियमों को भंग नहीं करता है, किन्तु नई सत्ताओं तथा नवीन नियमों को सम्मिलित करता है और इस प्रकार वह अपनी विशेष स्वतन्त्रता का प्रदर्शन करता है। इस तरह वह समय बीत गया है जब भौतिकी तथा जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान तथा नीतिशास्त्र पर हावी थे, और प्रकृतिवाद और उसका नियतवाद, जिसे वह जगत् पर आरोपित करना चाहता है, अब पुराना पड़ चुका है; क्योंकि प्रत्येक उच्चतर स्तर पर कुछ नवीन चीज़ें दिखाई देती हैं जो अपने नियमों का पालन करने के लिए स्वतन्त्र होती हैं। जीवन तथा मनस् के जगत् को पुद्गल तथा उसके नियमों में घटाया नहीं जा सकता। जगत् में **अनेक तरह** की वस्तुएँ होती हैं जिन्हें एक ही प्रकार में नहीं रखा जा सकता।

वस्तुवादी बहुतत्त्ववाद यहीं तक सीमित नहीं है। यह आज की बहुचर्चित **मूल्यों** की समस्या पर भी प्रकाश डालता है। स्पिनोज़ा की भाँति केवल यह कहना आज पर्याप्त नहीं है कि वस्तुएँ अच्छी हैं क्योंकि हम उन्हें पसन्द करते हैं, किन्तु अब प्लेटो तथा अन्य पुराने लोगों के स्वर में स्वर मिलाकर हम यह बखूबी कह सकते हैं कि हम वस्तुओं को इसलिए पसन्द करते हैं क्योंकि वे अच्छी हैं। न्याय, सौन्दर्य तथा शुभ आदर्श हैं, जिन्हें हम निरन्तर प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु कभी प्राप्त नहीं करते हैं। ये सीमाएँ हैं, "किन्तु यह सीमा उस शृंखला का अंग नहीं है जिसकी वह सीमा है", ताकि हम प्लेटो की भाँति यह कह सकें कि भले ही यह इन्द्रियानुभवी युग में विचित्र लगे कि न्याय और सौन्दर्य तथा शुभ तथा सत्य स्वयं स्थायी रहने वाली सत्ताएँ हैं जो "शाश्वत" हैं और दिक् तथा काल द्वारा नियन्त्रित नहीं हैं।

पुन: बहुतत्त्ववादी जगत् विषयक मत हमें विश्व में प्रयोजनात्मक तथा मूल्यों के सृजनात्मक होने की अनुमति देता है, और वह हमें रंग, सौन्दर्य, न्याय तथा सत्य जैसे संप्रत्ययों को सच्ची वस्तुनिष्ठता प्रदान करने की भी छूट देता है। हम एक बार फिर से कला-कृति में सौन्दर्य के निवास का विचार कर सकते हैं, केवल उसे जानने वाले के मनस् मात्र में ही नहीं, न्याय को भी हम केवल विषय की सापेक्षता में ही नहीं, वरन् उसे प्राप्त होने वाले वास्तविक लक्ष्य के रूप में सोच सकते हैं। सत्य का भी केवल उस व्यावहारिक अर्थों में ही विचार कर सकते हैं जो हमें अधिकतम संतोष दे, किन्तु सत्ता के साथ पुष्टि के वास्तविक अर्थों में भी सोच सकते हैं। अत: वस्तुवादी दर्शन में सरलता की दिशा में यह स्पष्ट लाभ दिखाई देता है।

अन्त में बहुतत्त्ववाद ईश्वर का मत देता है, जो जगत् का काल्पनिक रचनाकार

नहीं है, आस्था की "वस्तु" भी नहीं है, किन्तु "वह स्थिति तथा बने रहने वाले दोनों ही मूल्यों का योग तथा उन कारकों तथा कार्य-कुशलताओं का योग है जो इन मूल्यों के समान ही है।" "ईश्वर ही मूल्य है, वह मूल्यों तथा उनकी कार्य-कुशलताओं के संरक्षण का क्रियाशील "सजीव" नियम है।"[1]

जगत् के बहुतत्त्ववादी लक्षण तथा वस्तुवादी लक्षण दोनों ही जगत् आज के दर्शन की अनेक अभिवृत्तियों से सामंजस्य रखते हुए प्रतीत होते हैं। हमारी एकता व पूर्णता को प्राप्त करने की उत्कट इच्छा निश्चय ही बहुतत्त्ववाद में पूरी नहीं होती, किन्तु इस कमी की पूर्ति के लिए उसमें मूल्यों की स्वतन्त्रता तथा ईश्वर के सिद्धान्त हैं।

आलोचना

किन्तु अधिकांश लोगों के लिए इस दर्शन की दो दिशाओं से पूर्ति होने की अपेक्षा है। पहले तो चेतना तथा मानसिक जीवन के लिए एक और सन्तोषजनक संप्रत्यय की आवश्यकता है। आजकल के कुछ अन्य लेखकों के साथ स्पॉल्डिन्ग चेतना को विमा तथा परिवर्ती कहता है। किन्तु चूँकि यह विमा घटकर एक—रेखीय श्रृंखला में हो जाती है, और इस हालत में चेतना वही हो जाती है जिसे हम **प्रक्रिया** कहते हैं, इसलिए और भी यथार्थ तथा महत्त्वपूर्ण विवरण की आवश्यकता प्रतीत होती है। तन्त्रिका, शरीर-विज्ञान, भौतिकी, तथा रसायन जैसे विज्ञानों में अध्ययन किए जाने वाले ऐसे तत्त्वों का केवल **क्रमिक संघटन** हालाँकि गुणात्मक रूप से सत्ता का स्पष्ट विस्तार बताता है, जिसे हम **अभिज्ञता** कहते हैं, तथापि वह हमें जगत् में उन शक्तियों का सन्तोष-जनक विवरण नहीं देता जिन्हें हम मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक कहते हैं।

दूसरी कमी जो दर्शन के इस बहुतत्त्वादी सिद्धान्त में है वह है स्वयं सृजनात्मक संश्लेषण के स्रोतों का और भी सन्तोषजनक ढंग से निर्धारण करना। हम सृजनात्मक संश्लेषण तथा संघटन की चर्चा बहुत सुनते हैं, किन्तु उनका आधार निर्धारित नहीं है। आखिरकार इस बहुतत्त्ववादी विश्व को एक आत्मा की आवश्यकता है, ऐकिक नियम वाली आत्मा की नहीं, अपितु जीवन देने वाली शक्ति के स्वरूप **आत्मा** की। हर तरह से इस दिक् और काल वाले स्थिति जगत् में किसी न किसी विकासात्मक प्रवेच्छा, किसी **जीवन-शक्ति** की, सृजनात्मक कारक अथवा विश्व-व्यापी संकल्प की आवश्यकता प्रतीत होती है।

समसामयिक विचारधारा में यह बहुतत्त्ववादी प्रकृति एकतत्त्वादी आवेग पर एक स्वस्थ रोक है। प्रायः वे दर्शन जो विशेषकर द्रव्य की परम्परागत अवधारणा से प्रभावित हैं, वे इस जटिल जगत् को किसी अन्तिम एक उपादान

1. स्पॉल्डिम्ग, वही पुस्तक, पृष्ठ 517।

में घटा देने की उतावली में हैं। उदाहरण के लिए, आधुनिक युग के आरम्भ वाले भौतिकवादी मनस् तथा जीवन के तथ्यों को भौतिकी के सरल यांत्रिक नियमों में घटा देने के लिए बहुत तत्पर हैं। वर्तमान समय के बहुतत्त्ववादी अपने स्तरों की अवधारणाओं तथा उनको इस चेतावनी के साथ कि तत्त्वों में होने वाला विश्लेषण अपने संश्लेषण की विलक्षणता को खो देने के खतरे में है, हमें यह याद दिलाता है कि उनका सरल रूप में घटाना उसकी असत्यता में परिणत होने के लिए बड़े खतरे में है।

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Edward Gleason Spaulding, *The New Rationalism* (Henry Holt and Company), pp. 432—37 and pp. 486—95.

अन्य सन्दर्भ

William James, *A Pluralistic Universe* (Longmans, Green and Company). *The Will to Believe* (Longmans, Green and Company), Preface.

C. A. Richardson, *Spiritual Pluralism and Recent Philosophy* (Cambridge University Press).

Mary Whiton Calkins, *The Persistent Problems of Philosophy* (The Macmillan Company), Introduction, chap. III; also pp. 71. ff., pp. 411 ff.

G. H. Howison, *The Limits of Evolution* (The Macmillan Company), Appendices A, B, C, and D.

Jean Wahl, *Pluralist Philosophies of England and America* (The Open Court Company, London).

भाग चार

मनस् तथा ज्ञान की प्रकृति

अध्याय 18

मनस् क्या है ?

ऐतिहासिक

जो लोग दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते हैं, वे यह आशा करते हैं कि वे आत्मा, अथवा मनस् और उसके प्रारब्ध की समस्या को शीघ्र ही हल कर लेंगे। अतः सम्भवतः यह बात जानकर निराशा होगी कि यह सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण समस्या अभी उसके हल से बहुत दूर है। इसके विपरीत यह बात बहुत उत्साहवर्धक भी है कि पिछले बीस वर्षों में इस जटिलतम तथा दर्शन की अत्यधिक रुचिकर समस्या के रहस्योद्घाटन में अद्भुत प्रगति हुई है। हालाँकि आत्मा की खोज हमारा वास्तविक कार्य होगा, इस समय हम आत्मा शब्द के स्थान पर **मनस्** शब्द को रख लें, जिस शब्द को मनोविज्ञान ने सामान्यतः आत्मा जैसे अधिक समृद्ध शब्द के लिए अपना लिया है।

क्या मनस् स्वयं अपने को समझ सकता है ?

किन्तु क्या यह कोई विचित्र बात है कि मनस् की समस्या इतनी दुविधा-जनक है ? विज्ञान सरल से जटिल की ओर अग्रसर होता है। ग्रह, जो मनुष्य की रुचि से इतने अधिक दूर थे, वे ही प्राचीन असीरिया तथा मिस्र में सर्वप्रथम अध्ययन के विषय बने। वे आरम्भ के खगोलज्ञ स्वयं अपने मनस् की सूक्ष्म प्रक्रियाओं का अध्ययन करने के लिए कितने अक्षम रहे होंगे ! तब खगोल विज्ञान के पश्चात् गणित तथा भौतिकी आए और आधुनिक समय में रसायन-विज्ञान, तथा जीव-विज्ञान; तथा अन्त में विज्ञानों में सबसे कठिन मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र आए। समस्त विज्ञान मनुष्य के मस्तिष्क की ही रचना है; किन्तु सबके अन्त में मनस् स्वयं समझा तथा जाना जा सकता है। **क्या** मनस् स्वयं अपने को जान तथा समझ सकता है ? वह इस बात का विचार करता है अथवा उसका प्रयत्न करता है, यह उसकी विलक्षण श्रेष्ठता का प्रमाण है। ऐसे समय में पैदा होना कुछ महत्त्व रखता है जबकि वैज्ञानिकों का ध्यान ऐसी बातों की जाँच पर केन्द्रित है—संभवतः उनके हल में कुछ हिस्सा लेना हो।

प्रारम्भिक उलझनें

मनस् की समस्या तक पहुँचने के लिए पाठक की वृत्ति कुछ इस प्रकार होती है : मैंने मनोविज्ञान पढ़ा है; आजकल हर व्यक्ति मनोविज्ञान के पाठ्यक्रम को पढ़ता है। मैंने भौतिक तथा मानसिक प्रक्रियाओं, तन्त्रिका-कोशिकाओं तथा अन्तर्ग्रंथनों, प्रतिक्रिया-चापों तथा अनुवंधित प्रतिवर्तों, उद्दीपन तथा अनुक्रिया, आवेग तथा मूलप्रवृत्ति, संवेदना तथा स्मृति प्रतिमाओं, भावनाओं तथा संवेगों, चेतन तथा अचेतन अवस्थाओं, बुद्धि-परीक्षणों तथा बुद्धि-लब्धियों, मनोग्रंथियों तथा अवरोधों, तथा वर्ताव और व्यवहार के विषय में बहुत कुछ सीख लिया है; और मैं यह समझता हूँ कि इनमें से कुछ को भौतिक प्रक्रियाएँ तथा कुछ को मानसिक प्रक्रियाएँ वताया गया है; किन्तु यह मुझे कभी स्पष्ट नहीं हुआ कि भौतिकी प्रक्रिया तथा मानसिक प्रक्रिया में क्या भेद है, और न ही यह स्पष्ट हुआ कि वे किस प्रकार सम्बिन्धित हैं; तथा न ही यह कि मानसिक प्रक्रियाएँ मनस् से किस प्रकार सम्बन्धित हैं और मनस् क्या है।

इसके अलावा, मैं मनोवैज्ञानिक रचनाओं के बाहर भी **आत्मा** के विषय में बहुत कुछ सुनता हूँ—काव्य में, साहित्य में और धर्म में। यह देखकर कि अंग्रेज़ी भाषा का **साइकोलॉजी** शब्द यूनानी भाषा के दो शब्दों से मिलकर बना है जिनका अर्थ होता है **आत्मा** तथा **विज्ञान**। मैंने यह समझा था कि मुझे निश्चय ही प्रकाश मिलेगा; किन्तु मैंने यह पाया कि मनोविज्ञान की आधुनिकतम पाठ्य पुस्तकें **आत्मा** शब्द के प्रयोग से अथवा यहाँ तक कि **मनस्** शब्द के प्रयोग से भी बचती हैं। सबसे बुरी बात तो यह है कि मैंने प्रवचनों तथा धार्मिक सभाओं में अंग्रेज़ी के शब्द ह्यूमन **स्पिरिट** का उपयोग प्रायः ही सुना है, जैसे कि यह स्पिरिट मनस् से कोई भिन्न वस्तु हो।[1] इस गड़बड़-घोटाले को हम किस प्रकार ठीक करना चाहेंगे ! जब मैंने इन बातों के विषय में पूछताछ की तो मुझे बताया गया कि यह प्रश्न तत्त्वमीमांसीय है अतः मुझे दर्शनशास्त्र की ओर जाना चाहिए। किन्तु, दर्शनशास्त्र से सर्वप्रथम सामना होने पर मेरी कठिनाइयाँ हल नहीं हुईं; क्योंकि मुझे मालूम हुआ कि मेरे प्रिय प्रोफेसर जेम्स ने, जिनका मनोविज्ञान इतना सहायक था, एक दार्शनिक की भाँति लिखना आरंभ कर दिया है और वे ही "डज़ कान्शन्स एक्ज़िस्ट ?" शीर्षक लेख के लेखक हैं। मुझसे कहा गया कि मनोविज्ञान में आत्मा का उल्लेख नहीं किया जाता और उसका स्थान चेतना ने ग्रहण कर लिया है, और तो भी स्वयं चेतना के अस्तित्व पर संदेह किया जा रहा है; और मुझे मालूम हुआ है कि मनोविज्ञान की आधुनिकतम पाठ्य-पुस्तकों में **चेतना** शब्द का प्रयोग भी मुश्किल से ही होता है। और, इस **चेतना** शब्द का अर्थ

---

1. यहाँ पर अंग्रेजी शब्दों soul, mind तथा spirit में भेद दर्शाने के निमित्त अंग्रेजी के शब्दों को ज्यों का त्यों रख दिया गया है।

मुझे कभी स्पष्ट नहीं हुआ। कभी यह शब्द हमारे समस्त मानसिक जीवन के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, और कभी वह केवल उसके वर्तमान अथवा परिवर्तनशील पहलू के लिए प्रयुक्त होता है।

आरंभिक परिभाषाएँ

मनस् तथा **चेतना** जैसे शब्दों का भेद हम बाद को लेंगे और हम यह देख सकते हैं कि अंग्रेज़ी के शब्द **माइन्ड, सोल** तथा **स्पिरिट** का एक तथा वही अर्थ नहीं है; किन्तु सरलता के दृष्टिकोण से हम अनुभव के आन्तरिक जीवन से हटकर, जिसे हम मानसिक अथवा सम्भवतः मनोवैज्ञानिक जीवन कह सकते हैं, और जब हम अंग्रेज़ी के **माइन्ड, सोल, कान्शसनेस, स्पिरिट, ईगो,** तथा **सेल्फ** शब्दों का उपयोग करते हैं तो ये विभिन्न शब्द आन्तरिक जीवन के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। निश्चय ही, ये शब्द पर्यायवाची नहीं हैं, **मनस्** और **मानसिक** शब्द बौद्धिक क्रियाओं का संकेत देते हैं, जबकि **आत्मा** तथा **मनोवैज्ञानिक** शब्द स्पष्टतः आवेगात्मक तथा जैविक तत्त्वों का बोध कराते हैं। और जब हम मनस् को शरीर से भिन्न हो सकने वाला मानते हैं तो अंग्रेज़ी का शब्द **स्पिरिट** प्रयोग करते हैं जब कि उसी से बना हुआ विशेषण **स्पिरिचुअल** शब्द नैतिक तथा धार्मिक मूल्यों का संकेत करता है।

समस्या में प्रवेश की योजना

हम सब विषयों से अधिक जटिल इस विषय में किस प्रकार प्रवेश करेंगे? सबसे अच्छा तरीका सम्भवतः यह होगा कि मनस् के सिद्धान्तों की एक संक्षिप्त ऐतिहासिक समीक्षा के लिए एक अध्याय रख दें। तब उसके बाद के अध्याय में हम मनोविज्ञान तथा मनस् के दर्शन के क्षेत्र में हुई हाल की प्रगति के अध्ययन को आधार बनाकर यह जान सकते हैं कि मनस् तत्त्व क्या है, तथा इस सम्बन्ध में उचित धारणा बना सकते हैं। तीसरे अध्याय में हम मनस् तथा शरीर के सम्बन्धों के विषय में विचार कर सकते हैं। इस प्रसंग में हमें आवश्यक रूप से मनस् के सम्बन्ध में जाँच का भेद, जिसे हम **मनस् का दर्शन** कहते हैं, मनोविज्ञान से स्पष्ट कर लेना चाहिए, जो मनस् का **विज्ञान** है। सामान्यतः मनोवैज्ञानिकों का भी वास्तव में, कुछ मनस् दर्शन होता है—अर्थात् मनस् क्या है इस सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त; किन्तु यदि वे चाहें तो केवल मानसिक घटनाओं के वर्णन तथा वर्गीकरण तथा मानसिक बर्ताव के नियमों के निर्धारण तक ही अपने को सीमित रख सकते हैं—अर्थात् केवल मनोविज्ञान तक ही सीमित रख सकते हैं।

ऐतिहासिक[1]

आदिम मनुष्य ने आत्मा को एक प्रकार की कल्पित प्रतिमा अथवा शरीर का प्रतिरूप माना है, जो संभवत: बाष्प, अथवा उस साँस की भाँति है, जो सोते समय शरीर का त्याग करता है तथा मरने के उपरान्त भी बना रहता है। यूनानी दर्शन तथा यूनानी साहित्य आत्मा के विचारों से ओतप्रोत हैं, यूनानी भाषा का शब्द साइके जीवन, आत्मा, तथा चेतना के समृद्ध अर्थों का बोधक है। सबसे आरंभ के यूनानी चिंतकों का "दैवी तथा जीवन उत्पन्न करने वाले तत्त्वों" में विश्वास था, जो प्रकृति में निहित है, तथा मनुष्य में आत्मा के रूप में, जो जीवन तथा बुद्धि का स्रोत है, दिखाई देता है। इस मत की अभिव्यक्ति हिराक्लीटस के सिद्धान्त में हुई है, जिसने यह बताया है कि विश्व की तर्कसंगत तथा जीवनदायी अग्नि-आत्मा के समकक्ष ही यह आत्मा भी अग्नि-बाष्प है। किन्तु यूनान का विज्ञान डिमॉक्रीटस के समय से समाप्त हो जाता है, जिसने यह घोषणा की कि यह तथ्य कि समस्त भौतिक पदार्थ परस्पर यान्त्रिक क्रिया के द्वारा पुद्गल के परमाणुओं से निर्मित होते हैं, और उसका यह भी विश्वास था कि आत्मा शरीर में व्याप्त चिकने गोल-गोल परमाणुओं से बनती है।

प्लेटो

किन्तु यह प्लेटो ही है जिसकी ओर हमें आत्मा के विषय में आधुनिक विचारों के लिए ताकना चाहिए। प्लेटो के अनुसार आत्मा अस्तित्व का अभौतिक तत्त्व है, यों कहना चाहिए कि वह शरीर में कैद होता है, और प्रकृति में पृथ्वी के गुणों से बहुत कम समानता होती है। उसका घर दिव्य प्रत्ययों का जगत् होता है। प्लेटो के दर्शन में आत्मा का अमरत्व, व्यक्तित्व तथा वैयक्तिकता स्पष्ट ही दिखाई देते हैं। शरीर में जीवन प्रवेश करने के पहले वह अपने उच्चस्थल से एक प्रकार के अवशेष साथ लाकर अपने पूर्व-अस्तित्व तक की पुष्टि कर देता है। इसके अतिरिक्त वह शरीर में गति का तथा ज्ञान एवं स्पृहा का भी स्रोत है। यह बात अपनी आन्तरिक दिव्य प्रकृति के कारण ही है कि आत्मा को उच्चतर मूल्यों तथा प्रत्यय जगत् का अंत:प्रज्ञात्मक ज्ञान होता है।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **रिपब्लिक** में प्लेटो आत्मा के तीन हिस्सों, पहलुओं अथवा कार्यों में भेद करता है जो क्रमश: तर्क, संकल्प तथा भावना के सदृश हैं। बाद के दो भौतिक शरीर के समीप हैं, और स्पष्ट है कि अमर नहीं हैं। कारण यह है कि आत्मा का "दिव्य" भाग तात्त्विक रूप से शरीर से भिन्न तथा स्वतन्त्र होता है। उसके सांसारिक जीवन के लिए शरीर एक कैद अथवा बंधन होता है,

---

1. मनस् के सिद्धान्तों के इतिहास का ज्योतिर्मय वर्णन विलियम मेक्डूगल की पुस्तक "बॉडी एन्ड माइन्ड", अध्याय I से IX में देखा जा सकता है।

किन्तु उसका अंतिम प्रारब्ध बोधगम्य प्रत्यय-जगत् में शाश्वत जीवन का होता है। आत्मा के पृथकत्व, दैवत्व तथा अमरत्व के विषय में बोलते समय प्लेटो के मनस् में संभवतः यही "दिव्य" भाग था जिसे उसने तर्क कहा है। यहाँ पर, निश्चय ही, हमें आत्मा तथा शरीर का भेद स्पष्ट हो जाता है।

विचारों के इतिहास में, और वह भी चर्च के आरम्भिक सिद्धान्तों पर प्लेटो के इस शुद्ध तथा उच्चस्तरीय अभौतिकवाद के प्रभाव की अतिशयोक्ति करना कठिन होगा। शरीर तथा आत्मा में स्पष्ट भेद करना ही उन द्वैतवादी मतों का स्रोत रहा है जो शताब्दियों से हमें प्राप्त हो रहे हैं, उसके साथ ही हमें आत्मा को तथा उसके दैवी आदर्शों को शरीर के सांसारिक लक्षणों के परे रखने की प्रवृत्ति भी प्राप्त हुई है। आत्मा के विषय में प्लेटो का यह सिद्धान्त हमारे साहित्य में भी घुस आया है, हमारे काव्य में भी उसकी प्रायः अभिव्यक्ति होती है, और हमारे नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, तथा हमारे दैनिक जीवन में भी वह बहुत गहराई से घुलमिल गया है। प्लेटो के इस आत्मा के सिद्धान्त के ऐतिहासिक महत्त्व ने हमें, कुछ समय हुआ, प्लेटो से भी पीछे ऑरफियस के रहस्यों तथा पाइथागोरस के दर्शन को देखने के लिए सफल प्रयत्नों की ओर भी अग्रसर किया है। आत्मा का विवरण करते समय प्लेटो, निश्चय ही, अपनी स्थिति में परिवर्तन करता है और आत्मा के निचले भाग को धरातल की उत्पत्ति बताता है, तथा उसके अमरत्व को शुद्ध, ईश्वर के सदृश तर्कयुक्त भाग बताता है। किन्तु भावी संतति ने, एकात्मक, व्यष्टिक तथा अमर आत्मा के सुलिखित चित्र को समझ लिया है, जिसे कि फेडो नामक सुन्दर संवाद में प्रस्तुत किया गया है।

अरस्तू

अरस्तू ने भी आत्मा के मूल लक्षण पर प्लेटो से किसी प्रकार कम बल नहीं दिया है; किन्तु वह उसे शरीर के सम्बन्धों के बहुत निकट ले आता है। वही तो शरीर का "रूप" तथा वास्तविकता तथा पूर्णता है। उसका शरीर से वही सम्बन्ध होता है जो दृष्टि का आँख से होता है; अथवा जैसा मोम का सम्बन्ध मोम की छाप से होता है। इसके साथ ही वह आत्मा को जीवन के समान मानकर उसे एक प्रकार का प्राण नियम मानता है—गति, बुद्धि तथा विचार और तर्क का स्रोत। अन्त में, प्लेटो से प्रभावित होकर, वह आत्मा को क्रियात्मक तथा सृजनात्मक तर्क से भी आभूषित करता है, जो स्वयं दिव्य का स्वभाव है, और अमर है।

किन्तु अरस्तू के मनोविज्ञान में यह अवधारणा महत्त्वपूर्ण है कि आत्मा शरीर का प्रयोजन तथा उसकी पूर्णता है, जिसके लिए शरीर का अस्तित्व रहता है तथा जिसमें वह उसे सिद्ध करता है। अरस्तू का यह सूक्ष्म निरीक्षण कि आत्मा अंतस्तत्त्व है—अर्थात् शरीर का प्रयोजन तथा उसकी पूर्णता है, वह कुछ ऐसी

वस्तु है जिसके लिए शरीर का अस्तित्व होता है, और जिसमें शरीर अपनी **पूर्णता** को प्राप्त होता है—यह बात अभी हाल में मनस् के दर्शन की स्थापना करने के प्रयत्न करने के वैज्ञानिक आन्दोलन का बीज बन गई है।

आत्मा का पूर्ण अध्यात्मीकरण तथा निर्णीत एवं हठधर्मी द्वैतवाद की प्रवृत्ति, जिसे प्लेटो के दर्शन में पहले ही देखा जा चुका है, सन्त अगस्टाइन के विचारों में उच्चतम शिखर पर पहुँचती है, और फिर उसके ही द्वारा मध्यकालीन चर्च को तथा आधुनिक विचारों को अन्तरित होती है। प्लॉटीनस, नव्य-प्लेटोवादी ने पहले ही यह बताया था कि आत्मा एक अमर द्रव्य है, जो शरीर से स्पष्टतः भिन्न है और जिसे उससे अलग किया जा सकता है। इस प्रकार दो जगतों—एक नाशवान् भौतिक जगत् तथा दूसरा दिव्य, आध्यात्मिक जगत्, के अस्तित्व के सिद्धान्त का जन्म हुआ। शरीर का सम्बन्ध पहले जगत् से तथा आत्मा का दूसरे से होता है।

देकार्ते

देकार्ते द्वारा सत्रहवीं शताब्दी में यह द्वितत्त्ववादी सम्प्रत्यय एक स्पष्ट दार्शनिक तन्त्र में बदल गया। आत्मा तथा शरीर, शाश्वत तथा क्षणिक, तर्क तथा आस्था की "दो जगतों" की लम्बी परम्परा के बावजूद मध्यकालीन विज्ञान गुणात्मक भौतिकी तथा एक प्रकार के प्रकृति के जीवमूलक मत से प्रभावित रहा है। आधुनिक युग के विचारकों ने प्रकृति की व्याख्या यांत्रिक रूप से करने के जो प्रयत्न किए थे, देकार्ते उनसे पहले ही प्रभावित हो चुका था। गेलिलियो तथा कोपर्निकस जैसे लोगों ने जिन नियमों की पुष्टि की है, यदि प्रकृति उन नियमों का पालन करती है तो मध्यकालीन विज्ञान की गुणात्मक भौतिकी तथा प्रकृति का जीवमूलक मत अवश्य ही ग़लत होना चाहिए।

देकार्ते अपनी प्रसिद्ध कृति **मेडिटेशन्स** में यह अन्तिम रूप से दर्शाने का प्रयत्न करता है कि मनस् तथा पुद्गल, भिन्न, तथा स्वतन्त्र द्रव्य हैं। वह निष्कर्ष निकालता है कि पुद्गल विस्तार, जड़ता तथा यान्त्रिक नियमों से नियन्त्रित होता है तथा उसमें यदृच्छा, प्रयोजन अथवा स्वतःचालन की शक्ति नहीं होती। और ऐसे ही विचारों पर आधुनिक भौतिकी न्यूटन के समय से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक बनी। इसके दूसरी ओर देकार्ते के लिए मनस् एक प्रसार रहित द्रव्य है, जिसकी प्रकृति है चिन्तन करना। "चिन्तन" से देकार्ते का तात्पर्य उन सब क्रियाओं से है जो मानसिक हैं, अर्थात् यदृच्छा होना, भाव होना, निर्णय करना और संकल्प करना, इत्यादि। आत्मा जड़ होने के बजाय विलक्षण तथा गतिशील है, यांत्रिक होने के बजाय प्रयोजनात्मक है, और अदैशिक है। वह सरल तथा अविभाज्य द्रव्य है।

यह नोट करना महत्त्वपूर्ण है कि देकार्ते ने मनस् के "द्रव्यकल्पनात्मक"

लक्षण पर बल दिया है। उसके ऐसा करने का कारण बहुत सरल है, हालाँकि तार्किक रूप से सम्भवत: असंगत भी है। वह कहता है कि मनस् आवश्यक रूप से क्रियात्मक है और उसकी क्रिया है "चिन्तन करना"। अब इस प्रकार क्रिया का किसी कारक अथवा इस क्रिया के विषय से पृथक् सोच सकना असम्भव है। किसी एक वस्तु से जो चलता है उससे अलग चलने का कोई उदाहरण नहीं है। जो बातचीत करता है उससे पृथक् बातचीत कोई चीज़ नहीं होती। इसी प्रकार देकार्ते यह मानता है कि चिन्तन करने वाले से चिन्तन भिन्न नहीं होता। अतः मनस् वही है जो चिन्तन करता है और वह भौतिकी के दिक्-कालीय यांत्रिक जगत् से बहुत भिन्न तथा स्वतन्त्र द्रव्य है।

देकार्ते के इस चरम द्वितत्त्ववाद ने आधुनिक भौतिक विज्ञान के विकास की ठोस नींव डालने में महान् योग दिया है और इससे आत्मा के धार्मिक पूर्वाधिकार में कोई क्षति नहीं हुई। किन्तु दूसरी ओर वह कुछ ऐसी कठिनाइयों को सामने लाया है जो पिछली तीन शताब्दियों से विवाद का तूफानी केन्द्र बनी हुई हैं। मैं क्या हूँ ? क्या मनस् की क्रियाओं के पीछे कोई वास्तविक मानसिक द्रव्य है ? पुनः, जिस अनुपात में आत्मा के आध्यात्मिक लक्षण और शरीर के यांत्रिक लक्षण पर बल दिया जाता है ठीक उसी अनुपात में एक-दूसरे पर एक-दूसरे की प्रतिक्रिया की कठिनाइयाँ बढ़ी हैं; और यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनस् तथा शरीर परस्पर क्रिया करते हैं, अथवा कम से कम एक-दूसरे से घनिष्ठता से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार मनस् तथा शरीर के सम्बन्ध की समस्या इस दृढ़ द्वितत्त्ववाद से देकार्ते के अनुगामियों को अन्तरित हुई।

ह्यूम

इस स्वतन्त्र द्रव्य के प्रभावशाली सिद्धान्त को सर्वप्रथम गहरा धक्का ह्यूम से मिला, जिसने कहा कि हमारे पास आत्मा जैसी किसी भी वस्तु का कोई भी अनुभव नहीं है, और उसके अस्तित्व का कोई प्रमाण भी नहीं है। आत्मा इन विचारों तथा प्रत्ययों के समूह के अन्यथा और कुछ भी नहीं है।

> कुछ दार्शनिकों का यह विचार है कि हम सदा अपने 'स्वत्व' के विषय में सचेत रहते हैं; उसमें अस्तित्व का हमें अनुभव होता है; तथा हमें उसकी सरलता तथा पूर्ण सत्ता का किसी प्रमाण के बिना भी पूरा-पूरा विश्वास है।...जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, जब मैं अपने अन्तर में एकाग्र होकर प्रवेश करता हूँ तो हमेशा किसी न किसी विचार के प्रत्यय से ठोकर लगती है; चाहे वह प्रत्यय गर्मी का हो अथवा सर्दी का, प्रकाश का हो अथवा अन्धकार का, या प्रेम, द्वेष, दुःख अथवा सुख का प्रत्यय हो। मुझे इन प्रत्ययों के अलावा कुछ और वस्तु नहीं मिलती। जब मैं गहरी नींद में होता हूँ तब मेरे समस्त प्रत्यय लुप्त हो जाते हैं, तब मैं अपने विषय में कुछ

नहीं जानता और यह कहा जा सकता है कि मेरा अस्तित्व, अस्तित्व ही नहीं है। यदि मृत्यु से मेरे समस्त प्रत्यय समाप्त हो जाएँ तो न तो विचार कर सकता हूँ, और न ही कुछ महसूस कर सकता हूँ, न देख सकता हूँ, न शरीर के विनाश के पश्चात् मैं प्रेम कर सकता हूँ, न द्वेष कर सकता हूँ, मुझे पूर्ण हो जाना चाहिए, मैं यह समझने में असमर्थ हूँ कि मुझे मेरे पूर्ण अनस्तित्व के लिए और क्या होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति गम्भीर तथा पक्षपात रहित मनन के पश्चात् अपनी **आत्मा** की धारणा इससे भिन्न बताता है तो मुझे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मैं उससे और अधिक तर्क नहीं कर सकता। मैं केवल इतनी ही अनुमति उसे दे सकता हूँ कि वह भी उचित हो सकता है और मैं भी, और हम दोनों इस विशेष बात में मौलिक रूप से भिन्न हैं। वह सम्भवत: किसी सरल तथा सतत वस्तु को देख सकता है, जिसे वह **अपनी आत्मा** कहता है, हालाँकि मैं दृढ़ हूँ कि मेरे पास ऐसा कोई नियम नहीं है।[1]

जैसा कि ह्यूम के अनेक आलोचकों ने संकेत किया है कि वह **मैं, मुझे** या **मेरे** आदि सर्वनामों का प्रयोग खुलकर करता है, जिसमें एक प्रत्यक्ष करने वाले तथा चिन्तन करने वाले की निश्चित एकता तथा मूर्त्तता निहित होती है, न कि प्रत्यक्षों का "समूह" अथवा एक "रंगमंच" जहाँ पर छायाएँ निरन्तर तथा गतिमान होकर बार-बार आती-जाती हैं।[2]

किन्तु, ह्यूम यह कहेगा कि **मैं, मुझे** तथा **मेरे** जैसे शब्द भाषा की आवश्यकता को ध्यान में रखकर प्रयुक्त होते हैं, और ये किसी तत्त्व-मीमांसीय **आत्मा** का रहस्योद्घाटन नहीं करते। ह्यूम के अनुसार "आत्मा" का अर्थ सरल तौर पर अनुभवों के योग के अलावा और कुछ नहीं होता। अधिकांशत: ये अनुभव निकटता तथा समानता के साहचर्य जैसे नियम के द्वारा नियन्त्रित तथा व्यवस्थित होते हैं। अत: बादलों की गड़गड़ाहट हमेशा ही बिजली चमकने के साथ होती है, और जब हम बिजली का चमकना देखते हैं तभी गड़गड़ाहट की ध्वनि का पूर्वानुमान कर लेते हैं। ऐसे ही नियम अनुभव की सामान्य व्यवस्था को बतलाते हैं—और जिसे मैं **अपनी आत्मा** कहता हूँ वह केवल व्यवस्था के कुछ नियमों से ही प्रभावित होती है।

कान्ट

कान्ट ने यह माना कि ह्यूम का यह कथन सही था कि आत्मा का रहस्योद्-

---

1. Hume, *Treatise on Human Nature* (The Clarendon Press), book I, part IV, p. 6.

2. इस आलोचना की तुलना मेरी व्हिटन काल्किन की पुस्तक "दि परसिस्टेन्ट प्राब्लेम्स ऑफ़ फिलासफी", अध्याय VI से करो।

घाटन अनुभव में नहीं होता, किन्तु वह अपनी परिस्थिति के विश्लेषण में बहुत दूर तक नहीं गया है। यह स्वयं आत्मा की प्रकृति में निहित है कि वह अनुभव का विषय नहीं बन सकता, क्योंकि आत्मा, चाहे कुछ भी हो, अनुभव का विषय होने की परिस्थिति में अविभाज्य है। अतः ऐसी परिस्थिति में आत्मा का ज्ञान पहले ही समाप्त हुआ प्रतीत होता है। किन्तु "मैं चिन्तन करता हूँ" को टाला नहीं जा सकता, जिसका ह्यूम अपने साहचर्य के नियमों में पर्याप्त विवरण नहीं कर सका। सामान्यतः स्मृति तथा साहचर्य के तथ्य उन तथ्यों से अधिक गहरी एकता के कार्यों की ओर संकेत करते हैं, जिन्हें ह्यूम ने स्पष्ट किया है। कान्ट अपनी **क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न** में इस एकता के कार्य का संकेत "अत्यानुभविक समाकल्पन की एकता" से करता है। कान्ट की स्थिति की सूक्ष्मताओं तथा कठिनाइयों में न जाकर यही कहना ठीक होगा कि कान्ट को आत्मा का अस्तित्व संदिग्ध नहीं था, किन्तु यह बात ज्ञान की परिधि के बाहर है कि आत्मा क्या है। अन्त में कान्ट मनस् के मूल एकात्मक आध्यात्मिक लक्षण पर बल देता है, प्रकृति जिसकी प्रपंचात्मक उत्पत्ति से अधिक और कुछ नहीं है।[1]

उन्नीसवीं शताब्दी

पिछली शताब्दी के दौरान प्रयोगात्मक विज्ञान तथा अनुभवात्मक मनोविज्ञान में मनस् के दर्शन की नींव आगमन विज्ञानात्मक प्रणालियों को ध्यान में रखकर रखी गई है। किन्तु इनके प्रतिफलों के विषय में कहने के पूर्व उन्नीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों द्वारा प्रमुख मनस् के सिद्धान्तों का पुनरावलोकन कर लेना ठीक रहेगा। वे अब भी प्रतिनिधि मत हैं तथा उनके अनेक प्रतिपादक आगमन तथा प्रयोगात्मक अध्ययन के साथ सामंजस्य करते हुए माने गए हैं।

हम सिद्धान्तों के इन चार वर्गों में भेद कर सकते हैं :

1. भौतिकवादी सिद्धान्त
2. द्वितत्त्ववादी अथवा जीववादी सिद्धान्त
3. आदर्शवादी सिद्धान्त
4. द्विपक्षी सिद्धान्त

मनस् के भौतिकवादी सिद्धान्त

भौतिकवाद ने अपने प्राचीन रूप में यह प्रतिपादित किया था कि जड़तत्त्व अथवा गतिमान द्रव्यकण के अतिरिक्त कोई अन्य वास्तविकता नहीं है; मनस् किसी भी तरह अस्तित्व से अलग अथवा भिन्न नहीं है, किन्तु वह स्वयं जड़तत्त्व का रूप अथवा कार्य होता है। मनुष्य एक अनुकूलनशील यन्त्र है जिसे पूर्णतः

---

1. Cf. Paulsen's *Kant*, p. 185.

भौतिकी तथा रसायन के नियमों द्वारा समझाया जा सकता है। स्नायुमंडल की अत्यन्त जटिल यांत्रिकता में ऊर्जा के रूपांतरण से चेतना उत्पन्न हो जाती है। किन्तु वह स्वयं ऊर्जा का कोई भिन्न रूप नहीं है और न ही वह अस्तित्व का कोई और प्रकार है।

यूनान के भौतिकवादी डिमॉक्रीटस ने आत्मा को शरीर की भाँति परमाणुओं से निर्मित माना है, जो केवल और अधिक गोल-मटोल तथा चिकने किस्म की होती है। अठारहवीं शताब्दी के कुछ जर्मन भौतिकवादियों ने विचार को मस्तिष्क से ही निकला हुआ वताया है। हेकेल ने अपनी पुस्तक **रिडल ऑफ़ दि यूनिवर्स** में यह विश्वास प्रकट किया है कि मनस् मस्तिष्क का एक कार्य है। इन मतावलम्बियों के अनुसार यह मनोविज्ञान, जो वास्तविकता के उस किसी रूप का अध्ययन नहीं करता जो भौतिकी तथा रसायन में अध्ययनार्थ नहीं हैं, शरीर-विज्ञान तथा जीव-विज्ञान की ही एक शाखा वन जाता है। वर्तमान काल के प्रकृतिवाद में यह विश्वास किया जाता है कि भौतिक विज्ञानों की पद्धतियाँ तथा पूर्व-मान्यताएँ भी नहीं हैं जो मनोविज्ञान की हैं और मनोविज्ञान को किन्हीं और की आवश्यकता नहीं है।

उपोत्पादवाद एक ऐसा शब्द है जो एक प्रकार के भौतिकवाद के लिए प्रयुक्त होता है। इस शब्द का सर्वप्रथम हक्सले द्वारा प्रयोग किया गया था; उसका संकेत यह है कि मनस् प्राकृतिक प्रक्रियाओं में एक कारक नहीं है, मनस् केवल उस घटना का नाम है जिसे हम स्नायु-तन्त्र में प्रक्रियाओं के प्रकारों के साथ होने के समय देखते हैं। मानसिक स्थितियाँ एक प्रकार की **अदृश्य आभा** के समान होती हैं जो मस्तिष्क की उन प्रक्रियाओं के चारों ओर घूमती रहती हैं जिनका अपना कोई कार्य नहीं होता, वे न तो कोई परिवर्तन लाती हैं, और न ही गति के क्षेत्र में उनका कोई महत्त्व है। भौतिकी, रसायन, तथा शरीर-विज्ञान के नियम समस्त क्षेत्र को समाविष्ट कर लेते हैं, तथा यदि उन्हें पूरी तरह जान लिया जाए तो वे मनुष्य तथा समाज को समझने में हमारी सहायता करते हैं।

द्वितत्त्ववादी अथवा जीववादी सिद्धान्त

'यहाँ "आत्मा" का सिद्धान्त लागू होता है, जो प्लेटो तथा देकार्ते से हमें प्राप्त हुआ है तथा जिससे सभी अवगत हैं। इसके अन्तर्गत और तत्त्वमीमांसीय द्वितत्त्ववाद का उल्लेख कर सकते हैं जिसे स्कॉटलैंड के सम्प्रदाय के प्रभाव से अमरीका में प्रचलित किया गया। मनस् तथा शरीर नितांत भिन्न हैं, दो सार्वभौम वास्तविकताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

यदि कुछ और सतर्क हों, तो इसी से कुछ मिलता-जुलता मनोवैज्ञानिक

द्वितत्त्ववाद विलियम मेक्डूगल ने प्रतिपादित किया है।[1] वहुत साहस के साथ मेक्डूगल ने **जीववाद**[2] शब्द का पुनर्प्रयोग आरम्भ किया, और उसे अपने दर्शन का नाम दिया जो सामान्य आत्मा के सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मनस्—अथवा यदि **हम** दूसरी शब्दावली प्रयोग करना चाहें तो, आत्मा, अहम् अथवा **जीव**—एकात्मक तथा भिन्न सत्ता है और उसे उस शरीर से मिलाना अथवा स्वीकृत करना चतुराई नहीं होगी, जिसके साथ वह परस्पर क्रिया करता है। यह इस प्रकार की मनोवैज्ञानिक क्रिया करने की कुछ स्थायी क्षमताओं वाला अथवा उनका योग है—जैसे संवेदनों का होना, उनके प्रति प्रतिक्रियाओं का होना, तथा तंत्रिकीय ऊर्जा प्रवाह का इस प्रकार निर्देशित होना कि जिससे शारीरिक ऊर्जा के अपव्यय और अपकर्ष की प्रवृत्ति निष्प्रभाव हो जाए। किन्तु मनस् तथा शरीर का यह द्वैतवाद, मेक्डूगल के अनुसार आवश्यक रूप से जगत् के कार्टेजियन मत को सम्मिलित नहीं करता। वह मनस् तथा शरीर का मनुष्य के व्यक्तित्व में भेद करने मात्र से संतुष्ट हो जाता है और संभवतः इस असंदिग्ध मत को समसामयिक सम्प्रदाय प्रश्नात्मक दृष्टि से ही नहीं देखता, बल्कि परस्पर क्रिया के सँदिग्ध सिद्धान्तों को और भी अधिक प्रश्नात्मक दृष्टि से देखता है।

जीववाद, अथवा आत्मा के सिद्धान्त के अन्य प्रतिनिधियों में हम जर्मनी के दार्शनिक, लात्से, श्टूम्फ, कुल्पे, तथा अमरीका में जार्ज टी० लेड, तथा जेम्स (उसके कतिपय मनोभावों में), और फ्राँस में बर्गसाँ, जिसने कुछ-कुछ इससे मिलते-जुलते सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, को शामिल कर सकते हैं।

प्रत्ययवादी सिद्धान्त

तृतीय वर्ग में हम न केवल आदर्शवादी सिद्धान्तों को ही वरन् विभिन्न प्रकार के सर्वचित्तवाद, व्यक्तिवाद तथा मनस् उपादान सिद्धान्त भी सम्मिलित करते हैं। इस वर्ष में हम विचारधाराओं के आधुनिक सिद्धान्तों का बाहुल्य पायेंगे, क्योंकि आदर्शवाद सभी कालों में विद्यमान रहा है। और तब भी, संभवतः हमें इनमें से किसी से भी इस बात की सुस्पष्ट धारणा प्राप्त नहीं होगी कि मनस् क्या है; उसकी स्पष्ट परिभाषा करने के लिए वह सभी बातों को समाविष्ट किए हुए हैं। यदि बहुत दृढ़ रूप से कहा जाए तो ये सब चेतना अथवा संकल्प अथवा

---

1. देखिए उसकी पुस्तक "बॉडी एन्ड माइन्ड, ए हिस्ट्री एन्ड ए डिफेन्स ऑफ़ एनीमिज़म", पाँचवाँ संस्करण।

2. "जीववाद" शब्द द्वारा सामान्यतः आदिम जाति के लोगों की इस प्रकृति को मानव-विज्ञान में बताने की कोशिश की गई है कि सब चीज़ों में मनस् है, यहाँ तक कि लकड़ी तथा पत्थर जैसी वस्तुओं में भी जिन्हें हम निर्जीव मानते हैं। मेक्डूगल इस शब्द का, केवल यह संकेत करने के लिए, व्यापक अर्थों में प्रयोग करता है कि मनस् में विश्वास ही वास्तविकता है।

अनुभव की विश्व में व्याख्या करने के लिए मनस् के सिद्धान्त न होकर जगत् के ही सिद्धान्त हैं। इसीलिए हम अनुभव, आत्मा, संकल्प तथा प्रत्ययों के विषयों में ही बहुत सुनते हैं।

निरपेक्ष तथा विषयनिष्ठ आदर्शवादी सिद्धान्तों में जगत् मनस् अथवा आत्मा में ही निहित अथवा केन्द्रित होता है, चाहे उसे निरपेक्ष अहं पुकारें, जैसा फिख्टे ने किया है, अथवा हीगल के साथ उसे निरपेक्ष प्रत्यय कहें, अथवा शॉपेन-हावर के साथ निरपेक्ष संकल्प, अथवा ब्रेडले के साथ निरपेक्ष अनुभव, अथवा रॉयस के साथ निरपेक्ष आत्मा कहें। इस तरह मनुष्य की आत्मा वास्तविकता के तत्त्व के बहुत समीप होती है, अथवा उसमें हिस्सा लेती है अथवा उसका प्रति-निधित्व करती है। मनस् कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो जड़-द्रव्य के साथ होती हो, अथवा विकासवादी प्रक्रिया से उत्पन्न होती हो, वरन् वह कुछ मौलिक तथा आद्य वस्तु है; वह समस्त विश्व का स्वयं उपादान है।

प्रत्यक्षवाद के अन्य प्रकार मनस् को वास्तविकता का तत्त्व मानते हैं। लायबनित्स के दर्शन में वस्तु की इकाइयाँ होती हैं जिन्हें हम **परमाणु** अथवा **चिदणु** कहते हैं। वे भौतिक न होकर मानसिक होते हैं, वे छोटे-छोटे प्रत्यक्ष होते हैं, किन्तु कभी-कभी बहुत क्षीण तथा अस्पष्ट होते हैं। मनुष्य की आत्मा में हमारे पास एक चिदणु होता है जो विकसित होकर स्पष्ट तथा चेतन अथवा प्रतिनिधित्व करने वाला बन जाता है।

आधुनिक युग के अनेक सर्वचित्तवादी अथवा मनस्-उपादान सिद्धान्तों की जड़ लायबनित्स में देखी जा सकती है। डब्ल्यू० के० क्लिफर्ड ने इस मत को प्रस्तुत किया है कि समस्त विश्व मनस्-उपादान से निर्मित है, जो अन्तिम विश्वव्यापी वास्तविकता है, और हमारी चेतना सामान्य भावनाओं से निर्मित है, जो स्वयं मनस्-उपादान से निर्मित हैं।[1] जेम्स ने बाद में लिखी हुई एक कृति[2] में यह विचार किया कि जगत् में एक प्रकार के मनस्-उपादान के भंडार की उपस्थिति माननी अवश्यक हो सकती है, जिसे "विश्व-व्यापी चेतना का अनंतरूप से होना" भी कह सकते हैं। इंग्लैंड में जेम्स वार्ड, अमरीका में सी० ए० स्ट्रांग, तथा जर्मनी में फ्रीड्रिख़ पालसन ने सर्वचित्तवाद के अनेक रूपों को ऊपर उठाया है, जिनमें जगत् का आधार ही मनस् अथवा भावना अथवा चेतना है, तथा शरीर तथा मस्तिष्क अथवा दृश्य-प्रपंच इस मानसिक वास्तविकता की प्रतीति मात्र है।

द्विपक्षीय सिद्धान्त

इस चौथे मत के अनुसार मनस् तथा शरीर एक ही अंतर्निहित सत्ता के दो

1. *Lectures and Essays*, vol. II.
2. *American Magazine*, 1909, p. 588.

पक्ष हैं, जो संभवतः स्वयं अज्ञात हैं। वास्तव में वे अलग-अलग वस्तुएँ नहीं, किन्तु सारतः सदृश हैं। वे विभिन्न पक्षों से देखी हुई वही वास्तविकताएँ हैं; जैसे एक सिक्के के दो पक्ष होते हैं। जैसा कि स्पिनोज़ा ने अपने मूल रूप में कहा है कि एक द्रव्य जिसे ईश्वर कहते हैं उसके दो गुण हैं, विचार तथा विस्तार। उदाहरणार्थ, जैसा वारेन ने कहा है कि अपने आधुनिक रूप में "चेतन तथा तंत्रिकीय घटना **एक ही शृंखला** को निर्मित करती हैं", और उनकी विभिन्न प्रतीतियाँ केवल उनके अलग-अलग देखने के तरीकों के कारण ही हैं।[1]

पिछले अध्याय में बताया हुआ फेख्नर का सिद्धान्त भी इससे मिलता-जुलता है, किन्तु फेख्नर के सिद्धान्त में वह कुछ ऐसा रूप धारण करता है जिसमें समस्त जड़-पदार्थ में एक प्रकार की प्राथमिक चेतना दिखाई गई है। समस्त जगत् को आत्मामय बना दिया गया है। हर चीज़ में आत्मा रहती है— जड़-द्रव्य के छोटे-छोटे कणों में, जीव-पिण्डों में, ग्रहों में और समस्त विश्व में। अनेक आधुनिक चिंतकों का यह विशेष मत है। यहाँ तक कि हेकेल ने भी कहा है कि भौतिक परमाणु मृत तथा जड़ नहीं हैं, वरन् भावना तथा संकल्प से युक्त हैं।

नवीनतर मत

इस प्रकार से संक्षेप में हमने मनस् के सिद्धान्तों के उन चार मुख्य-मुख्य वर्गों का पुनरावलोकन किया जो उन्नीसवीं शताब्दी में हुए। वे किसी न किसी रूप में आज भी माने जाते हैं। किन्तु हाल के कुछ वर्षों में बहुत से नवीन मत भी दिखाई दे रहे हैं। फ्रॉयड मत के समर्थक, अर्थक्रियावादी तथा व्यवहारवादी, वस्तुवादी तथा गेस्टॉल्टवादी विचारकों ने कुछ नवीनता तथा जोश के साथ इस समस्या को लिया है कि वह मनस् के दर्शन के लिए कुछ योगप्रद सिद्ध हो, विशेष कर इसलिए कि इन मतों में बहुत कुछ सामान्य है। मनस् की समस्या पर इन नवीन मतों पर विचार करने से पूर्व हमें कुछ उन सामान्य प्रवृत्तियों पर विचार कर लेना चाहिए जो उन्नीसवीं शताब्दी में स्पष्ट दिखाई देती हैं। उस समय में भी प्रयोगात्मक तथा अनुभवात्मक मनोविज्ञान में उस मनस् के दर्शन के लिए नींव रखी जा चुकी थी, जिसे अधिकतर हमारे आगमनात्मक वैज्ञानिक प्रणाली के अनुसार होना चाहिए। कान्ट द्वारा अकाट्य उत्तर दिए जाने के बावजूद ह्यूम के आलोचनात्मक कार्य को भूला नहीं जा सकता। मनोवैज्ञानिकों ने अपना ध्यान संवेदन, प्रत्यक्षीकरण, स्मृति, भावना तथा संकल्प के अध्ययन में लगा रखा है। अनुभव में जो प्राप्त होता है वह आत्मा अथवा मनस् नहीं बल्कि विचारों का एक प्रवाह हुआ करता है। **आत्मा** शब्द का प्रयोग संदिग्धता से किया जाता था, वह

---

1. Howard C. Warren, *Human Psychology*, p. 415. टिचनर ने भी इसी प्रकार के विचार प्रस्तुत किए हैं।

अन्त में मनोवैज्ञानिक भाषा से समाप्त हो गया। यहाँ तक कि **मनस्** शब्द पर भी अविश्वास किया गया और जब प्रयोग किया भी गया तो मानसिक स्थितियों के योग के अन्यथा उसका कोई महत्त्व नहीं रहा। किसी समय मनोविज्ञान की परिभाषा करते हुए उसे मानसिक स्थितियों का विज्ञान बताया गया था।

किन्तु, फिर भी, मनस् एक प्रकार का ग्रहण करने वाला अंग माना जाता है जिसमें समस्त मानसिक स्थितियाँ हुआ करती हैं, अथवा एक ऐसा रंगमंच है जिस पर वे उभरती तथा लुप्त होती हैं। मनस् के सम्बन्ध में यह धारणा उन **प्रत्ययों** के पुराने मनोविज्ञान से अधिक संतोषजनक नहीं है जिसे लॉक ने प्रोत्साहित किया था और जो इस पूर्वानुमान पर आधारित था कि ऐसी अनेक वस्तुएँ मनस् में होती हैं जिन्हें **प्रत्यय** कहा जाता है, तथा जो मनस् **में** रहती हैं और उसके **बाहर** जा सकती हैं और उन्हें स्मृति के रूप में पुनः याद किया जा सकता है।

क्रमिक रूप से इस संरचनात्मक मनोविज्ञान का स्थान कार्यपरक दृष्टिकोण ने ले लिया है, मानसिक क्रियाओं ने मानसिक स्थितियों का स्थान ले लिया है। मानसिक क्रियाओं का प्रयोगात्मक परीक्षण किया जा सकता है, जिनका कि वास्तव में प्रयोगशाला में अध्ययन किया जाता है, किन्तु जो बात इन सभी में सामान्य दिखाई पड़ती थी वह यह कि वे सभी चेतन थे। इस प्रकार **चेतना** शब्द ने सामान्य प्रयोग में आकर **आत्मा** तथा **मनस्** शब्दों का स्थान ले लिया जो तत्त्वमीमांसीय संयोग से संदिग्ध थे और कभी-कभी मनोविज्ञान की परिभाषा करते हुए उसे चेतना का विज्ञान कहा जाता था। मैं, चाहे आत्मा अथवा मनस् या शरीर न होऊँ, किंतु कम से कम मैं चेतन हूँ, और **चेतना** शब्द अस्वीकृत **आत्मा** शब्द से अधिक अच्छा प्रतीत होता है जिसने उसका स्थान ग्रहण कर लिया है। किन्तु वह बड़ा अशुभ शब्द रहा है, और उसके व्यापक प्रयोग ने मनस् के आधुनिक दर्शन में अनंत उलझनों को प्रस्तुत कर दिया है। जेम्स ने स्वयं ही उस पर प्रश्न किया और इस बात की जाँच आरम्भ की कि क्या चेतना का अस्तित्व होता है। उन्होंने कहा कि वास्तविकता तो यह है कि किसी सत्ता के रूप में उसका अस्तित्व नहीं होता क्योंकि वह लुप्त होती हुई आत्मा की ही धुँधली अफ़वाह के रूप में होती है।

फ्रॉयड के उस मनोविज्ञान के बढ़ते हुए प्रभाव ने भी, जो अचेतन क्रिया का इतना अधिक प्रयोग करता है, **चेतना** को **मनस्** का पर्यायवाची नहीं माना है। और ऐसा ही व्यवहारवाद के विज्ञान ने भी किया है, जिसने अचेतना के किसी प्रकार के उल्लेख के बिना भी मनोविज्ञान का सृजन उत्साह के साथ किया है। चेतनता के प्रति अपने दृष्टिकोण में फ्रॉयड-मतावलम्बी अधिक ठीक थे या व्यवहारवादी, इसे हम बाद में सीखेंगे। यहाँ हमें दर्शन के इतिहास की उस स्थिति के पार होने की बात पर ध्यान देना अधिक आवश्यक है जिसमें मनस् को चेतना के साथ एक माना गया था। प्रायः चेतना को एक प्रकार का **उपादान**

माना गया था, करीब-करीब वैसा ही जैसा कि पहले मनस् तथा आत्मा के विषय में माना गया था। मेक्डूगल का कथन है कि **चेतना** शब्द से मनोविज्ञान को महान् क्षति हुई है, यह शब्द पूर्णतः खराब है और यह मनोविज्ञान का महान् दुर्भाग्य रहा है कि यह शब्द उसके सामान्य प्रयोग में आ गया।[1] अगले अध्याय में हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि वास्तव में **चेतना** का क्या अर्थ है।

वस्तुपरक प्रणालियाँ

इसी बीच में ऊपर बताए हुए संप्रदायों द्वारा वास्तविक पुनर्गठन का कार्य किया जा रहा था। जो बात इन सभी नवीन आन्दोलनों में समान है वह यह है कि वे मनुष्य को जीव-विज्ञान की श्रृंखला के अध्ययन का ही एक सदस्य मानते हैं, जो एक विशेष रूप से कार्य अथवा आचरण करता है, और जिसके पास एक विशेष अनुभव होता है। और अब प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार के कार्य अथवा बर्ताव को हम **मानसिक** कह सकते हैं, और आगे उस विशेष व्यवहार को बताने के लिए, जिसे हम **मानसिक** कहते हैं, किस पूर्वानुमान की आवश्यकता होती है। इसके परिणामस्वरूप मनस् का अध्ययन विषयनिष्ठ हो गया है। अंतर्निरीक्षण की पुरानी प्रणाली का जब कि पूर्ण रूप से बहिष्कार नहीं हुआ है, उसे यदि संदेह की दृष्टि से नहीं देखा गया है तब भी कम से कम उसे स्थगित तो अवश्य ही मान लिया गया है। अधिकांशतः सामान्य प्रेक्षण ने उसका स्थान ले लिया है; यह इसलिए नहीं है कि मनस् के अध्ययन के लिए यह प्रणाली पर्याप्त है परन्तु इसलिए कि यह प्रणाली अन्य विज्ञानों द्वारा सफलता से चलाई जा रही है, और इसलिए कि **जहाँ तक इसका प्रयोग हो सकता है** इस प्रणाली के परिणामों पर विश्वास किया जा सकता है। यह वस्तुपरक प्रणाली जीव-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, आनुवंशिक-विज्ञान, अपसामान्य-मनोविज्ञान, तथा मानव-विज्ञान जैसे विज्ञानों के प्रामाणिक परिणामों के संदर्भ में मनस् के दर्शन में योग देने का आश्वासन देती है।

यह नवीन मनोविज्ञान अपना अध्ययन मनस्, आत्माओं, चेतना, प्रत्ययों अथवा संवेदनों से आरम्भ नहीं करता, वरन् सामान्यतः मानसिक प्रक्रियाओं से करता है। किस प्रकार की प्रक्रियाओं को हम **मानसिक** कहें? हम **यांत्रिक प्रक्रियाओं** को मशीन के हिस्सों की परस्पर प्रतिक्रिया में देखते हैं। हम रासायनिक प्रक्रियाओं को गैसों, द्रवों तथा ठोस पदार्थों में हुए परमाण्विक विनिमयों में देखते हैं। जब हम सरलतम जीव पर आते हैं तो हम उन अन्य प्रक्रियाओं को देखते हैं जिन्हें स्वयं जीव की अखंडता बनाए रखनी होती है; उदाहरण के लिए, उसकी वृद्धि तथा उसका प्रजनन होना। इन्हें हम **जैविक**

1. *Outline of Psychology*, p. 16.

प्रक्रियाएँ कहते हैं। किन्तु अब हम अन्य प्रकार की प्रक्रियाओं का भेद भी कर सकते हैं, जब एक जीव बाह्य परिस्थिति में किसी एकक के साथ इस प्रकार प्रतिक्रिया करना आरम्भ कर देता है जिससे वह अपनी अखंडता बनाए रख सके। **बर्ताव** एक ऐसा ही शब्द है, हम इस प्रकार की क्रियाओं के लिए इसका प्रयोग करते हैं। यह उन तरीकों को बताता है जिन पर चलकर जीव अपने पर्यावरण के संदर्भ में कार्य करता है। इस तरह हम किसी भी जीव की उन सब क्रियाओं को **मानसिक क्रियाएँ** कह सकते हैं, जिनमें वह बदलते हुए वातावरण में अपने आपको इस प्रकार अभियोजित कर सके जिससे कि वह अपने अस्तित्व एवं स्वार्थ की रक्षा तथा प्रगति कर सके। एक सरल परिवर्तन क्रिया में उत्तेजन तथा उसकी अनुक्रिया होती है। यह अनुक्रिया प्रयोजनात्मक और जीव के हितों के उपयुक्त होती है, किन्तु वह सापेक्षतः निश्चित तथा अपरिवर्तनीय रहती है, कोई **विशेष** अनुक्रिया, चुनाव अथवा विकल्प अथवा नियन्त्रण नहीं होता। यह मानसिक नहीं होता। इसके पश्चात् मूल-प्रवृत्तियाँ आती हैं, जिनमें परिवर्तित क्रियाएँ और भी संगठित होती हैं, जिसके परिणामस्वरूप एक विशेष परिस्थिति में कुछ विशेष अनुक्रियाएँ चलाने के लिए आनुवंशिक प्रवृत्तियाँ होती हैं। ऐसी क्रियाएँ जो कि अपने आपको अनुकूलित नहीं कर सकतीं, उन्हें मानसिक कहने में हम संकोच करते हैं। मानसिक शब्द का प्रयोग उन विशेष अनुक्रियाओं के लिए सीमित है जिनके द्वारा हम पूर्वानुभव के आधार पर नवीन परिस्थिति का सामना इस प्रकार से करते हैं जिससे कि जीव के हितों की रक्षा अथवा उनमें वृद्धि होती हो। इस प्रकार की अनुक्रियाओं को **बुद्धिजन्य** अथवा **मानसिक** कहा जाता है।

अब मनस् के नवीन दर्शन की कुछ इसी प्रकार की भूमिका है। हम यह देखते हैं कि यह व्यक्तियों के सरल तथा प्रत्यक्ष निरीक्षण के व्यवहारों पर आधारित होता है, और उसकी रक्षा न केवल मस्तिष्क तथा तंत्रिकीय क्रियाविधि पर आधारित होती है, वरन् समस्त शरीर पर आधारित होती है। अतः मनोविज्ञान, आत्मा, मनस् अथवा चेतना का विज्ञान नहीं है, वरन् उत्तेजक तथा अनुक्रिया को लेकर व्यवहार का एक अध्ययन है। मनुष्य के मामले में ये परिवर्तन पहले की प्रतिक्रियाओं से बहुत अधिक व्यवस्थित, समाकलित तथा प्रतिबंधित होते हैं तथा अनेक बाधाओं तथा अवरोधों से युक्त रहते हैं, इसलिए हम एक प्रकार की ऐसी क्रिया, व्यवहार अथवा वर्ताव पर पहुँचते हैं, जिसे हम **विमर्शात्मक, बुद्धिजन्य,** तथा **मानसिक** कहते हैं। यहाँ तक कि जिसे हम **विचार** कहते हैं उसे हम "प्रेरक विन्यास" अथवा "क्रियाओं का प्रवाह" भी मान सकते हैं।[1]

---

1. देखिए, एडविन बी० होल्ट, "दि फ्रॉयडियन विश एन्ड इट्स प्लेस इन एथिक्स",

व्यवहारवाद

जिस प्रणाली का उल्लेख अभी हमने ऊपर किया है वही व्यवहारवाद विज्ञान की प्रणाली है। यह प्रणाली पूर्णतः वस्तुगत दृष्टि से प्राणियों के वर्ताव अथवा व्यवहार का अध्ययन करती है तथा मनुष्य के ठीक इसी व्यवहार को अपनी विषयवस्तु बनाती है।[1]

मनोविज्ञान को संदिग्ध पूर्वग्रहों से मुक्त करके अग्रसर करने वाली एक प्रणाली होने के नाते व्यवहारवाद के लिए हमारे पास उच्चतम आदर का स्थान होना चाहिए, परन्तु वह मनस् के दर्शन के लिए विधि-संगत रूा से कोई उत्तर-दायित्व नहीं ले सकता। हम जो चाहते हैं वह ही यदि मनस् का दर्शन है तो हम चेतना की उपेक्षा नहीं कर सकते, जैसा कि व्यवहारवादी करते हैं। शब्द **चेतना** नित्य के प्रयोग में आता है और उसका कुछ अर्थ होता है, और हमारे लिए यह उचित है कि हम मालूम करें कि वह अर्थ क्या है। और, चूँकि प्रतिवर्तों के संगठन तथा एकीकरण के निमित्त इतना कुछ किया गया है, इस संगठन के स्रोत तथा रहस्य का अध्ययन अवश्य किया जाना चाहिए। निश्चय ही, व्यवहार-वाद, इस प्रकार के सभी प्रश्नों की उपेक्षा करता है। और, चूँकि जीव अपनी विशेष अनुक्रिया में इस प्रकार से कार्य करता है कि उसके हितों की रक्षा हो, अथवा वह अपने वातावरण के साथ संतोषजनक सम्बन्ध बनाने में सहायक हो, मनोविज्ञान को इस बात की जाँच करनी चाहिए कि ये हित और संतोष कौन-कौनसे हैं, कम से कम, मनस् के दर्शन में उनको नहीं छोड़ा जा सकता है।

नव्य-वास्तववाद

नव्य-वास्तववाद के नाम से चलने वाला आन्दोलन अपनी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति में व्यवहारवाद से कुछ ही भिन्न है। केवल नव्य-वास्तववादी मनोवैज्ञानिक न होकर दार्शनिक होते हैं और मूलतः ज्ञान की समस्या में रुचि लेते हैं। संयोग-वश, उन्होंने मनस् के दर्शन को व्यवहारवादियों के प्रयत्नों की अपेक्षा अधिक पूर्ण रूप में प्रस्तुत किया है। मनस् के अध्ययन तक सामान्य पहुँच, जो नवीन मतों का लक्षण बताया जाता है, नव्य-वास्तववादियों की विशेष प्रवृत्ति रही है, अर्थात् जीव के वस्तुगत अध्ययन के माध्यम से अनुकूलनशील व्यवहार के अध्ययन तक पहुँच करना। परिवर्ती के उत्तरोत्तर जटिलतर प्रक्रियाओं में परिणत होने से

पृ० 98। इस पुस्तक के प्रथम दो अध्यायों में पाठक मनस् को ऐसा समझने का सबसे स्पष्ट उल्लेख पाएँगे।

1. व्यवहारवादी दृष्टिकोण को सबसे अच्छे तरीके से समझने के लिए निम्नांकित पुस्तकों को पढ़ना चाहिए : John B. Watson's *Psychology from the Stand-point af a Behaviorist*, or Max F. Meyer's *Psychology of the Other-One*.

संश्लिष्ट नवीनताएँ जन्म लेती हैं और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि अनुकूलनशील व्यवहार अथवा विशिष्ट अनुक्रियाएँ **अभिज्ञता से युक्त मनस्** की उत्पत्ति का संकेत नहीं देतीं।[1]

राल्फ बर्टन पैरी की पुस्तक **प्रेजेन्ट फिलासॉफिकल टेन्डेन्सीज** के दूसरे अध्याय में मनस् का दर्शन कुछ भिन्न रूप ले लेता है। पैरी मनस् का तीन अंगों में भेद करता है। पहला, जैविक अभिरुचियाँ; दूसरा, जैविक उपकरण की भाँति कार्य करता हुआ तंत्रिका-तंत्र; तीसरा, पर्यावरण के वे भाग जिनके प्रति तंत्रिका-तंत्र विशेष रूप से अनुक्रिया करता है—जिन्हें **मानसिक अंतर्वस्तुएँ** कहा जाता है।[2]

आरम्भ में यह बात उलझन पैदा करने वाली प्रतीत होती है, किन्तु जब हम यह समझ लेते हैं कि यह व्यवहारवाद से भिन्न और कुछ नहीं है (केवल जैविक हितों पर बल देने के अलावा) तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्णतः भौतिक दृष्टि से विचार करने पर मनस्, चयनात्मक तथा नियंत्रात्मक पहलू से मस्तिष्क ही है। किन्तु जेम्स का अनुसरण करते हुए पैरी तथा होल्ट ने पर्यावरण के उन हिस्सों को भी मनस् का वास्तविक भाग मान लेने का प्रतिभापूर्ण विचार किया, जिनके लिए जीव विशेष अनुक्रिया करता है और जिन्हें **मानसिक अंतर्वस्तु** के नाम से भी पुकारा जाता है। तो पर्यावरण के उस भाग को, जिसके लिए जीव की कोई विशेष अनुक्रिया नहीं होती, **भौतिक** कहा जा सकता है। इसलिए यह बात उस संदर्भ पर आधारित होती है जिसमें तटस्थ सत्ताएँ हों, चाहे हम उन्हें भौतिक मानें अथवा मानसिक; जबकि यथार्थ जगत् तटस्थ होता है। इस प्रकार "तटस्थ एकतत्त्ववाद" के सिद्धान्त का प्रारम्भ होता है। जब जेम्स ने लिखा था उस समय जिसे निश्चित रूप से जड़वाद समझा जा सकता था वही इस तरह से मात्र तटस्थ एकतत्त्ववाद में परिणत हो गया। किन्तु मैं एक दुविधाग्रस्त पाठक को सलाह दूँगा कि वह मनस् के उस तीसरे विभाजन को छोड़ दे जिसे नव्य-वास्तववादी प्रस्तुत करता है और केवल बाकी दो विभाजनों को ही अपनाए; अर्थात् जैविक हितों को और अनुकूलनशील व्यवहार को। इसका विचार हम बाद में कर सकते हैं कि क्या यह वास्तव में हमें जड़वाद की ओर ले जाता है।

नव्य-वास्तववाद के मनस् के सिद्धान्त के साथ सबसे गम्भीर कठिनाई यह है कि वह चेतना क्या है, इसकी अवधारणा स्पष्ट करने में असमर्थ रहा है। हालाँकि पैरी यह स्वीकार करता है कि "अंतर्निरीक्षक दृष्टि वाला मनस् उस मनस् से लाक्षणिक भिन्नता रखता है जो प्रकृति तथा समाज की दृष्टि से देखा जाता है," किन्तु लोग यह धारणा बनाते हैं कि मानसिकता के विषयीनिष्ठ पहलू को न तो व्यवहारवाद में और न ही नव्य-वास्तववाद में समुचित मान्यता प्राप्त

1. तुलना कीजिए : Edwin B. Holt, *op. cit*; pp. 51 ff.
2. Chap. XII, "A Realistic Theory of Mind."

होती है। हावर्ड सी० वारेन ने अपनी पुस्तक **ह्यूमन साइकोलॉजी** में मनस् के दर्शन की रूपरेखा खींची है, जो अध्ययन की विषयनिष्ठ प्रणाली को पूर्ण मान्यता देते हुए इस कमी को दूर करती हुई प्रतीत होती है। वह कहता है कि मनोविज्ञान केवल ऐसा ही विज्ञान नहीं है जो केवल व्यवहार से ही सम्बन्ध रखता हो—अर्थात् केवल उन मानसिक प्रक्रियाओं के साथ ही सम्बन्ध रखता हो, जिनके द्वारा जीव स्वयं को अनुकूलित करता है, वरन् इन सब प्रक्रियाओं के **विषयीनिष्ठ** पहलू के साथ भी वह व्यवहार करता है। ये केवल अनुकूलनशील प्रक्रियाएँ ही नहीं होतीं, जैसी ये अन्य लोगों द्वारा देखी जाती हैं, वे **चेतन घटनाएँ** भी होती हैं, जैसी हम उन्हें देखते हैं। **आत्म-निरीक्षण** के द्वारा हमें इन अनुकूलनशील प्रक्रियाओं का अध्ययन करने का नया तरीका मिलता है। यहाँ **मानसिकता** के अतिरिक्त **चेतना** भी होती है। चेतना के द्वारा ही हमें ये सभी मानसिक प्रक्रियाएँ दिखाई देती हैं।

एक नज़र देखने से तो ऐसा प्रतीत होगा कि यह सभी बातें स्पष्ट कर देता है और हमारे समक्ष मनस् का स्पष्ट दर्शन प्रस्तुत करता है। यह वस्तुनिष्ठ प्रणाली से जीव की उस क्रिया का अध्ययन, जिसे हम **व्यवहार** कहते हैं, आधुनिक तरीके को अपना कर करता है—किन्तु वह यह भी स्वीकार करता है कि इन सभी अनुकूलनशील—अर्थात् मानसिक—प्रक्रियाओं का एक विषयीनिष्ठ तथा चेतन पहलू भी होता है। यह मनुष्य के जीवन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा रुचिकर हिस्सा होता है और इस प्रकार वह व्यवहारवाद की कमी को पूरा करता है।

परन्तु प्रश्न फिर भी उठता है कि यह चेतन विषयीनिष्ठ जीवन **क्या** है? क्या यह कोई ऐसी वस्तु है जो विज्ञान के क्षेत्र में अपना स्थान बना सकती है? क्या यह एक प्रकार की मस्तिष्क की अप्रधान उत्पत्ति अथवा उप-उत्पत्ति है? या कि हमें अन्ततः किसी प्राचीन द्वितत्त्ववाद में पुनः पड़ जाना है? इस अस्पष्टता से बचने के लिए ही व्यवहारवाद तथा नव्य-वास्तववाद ने विषयनिष्ठ व्यवहार का बीड़ा उठाया।

ऐसे प्रश्नों के लिए वारेन कहता है कि जिन अनुभवों को हम स्वयं देखते हैं वे **घटनाओं के नवीन समुच्चय** माने जा **सकते हैं**। यह हमें पूरे रहस्य के साथ मनोवैज्ञानिक समानांतरवाद की ओर ले जाएगा, अथवा उन्हें **उन्हीं तथ्यों के समूह को देखने का दूसरा तरीका माना जा सकता है**। यह द्विपक्ष सिद्धान्त की ओर ले जाता है, जिसका वारेन ने प्रतिपादन किया है। इस मत के अनुसार तंत्रिकीय घटनाएँ या तो अन्य व्यक्तियों के व्यवहार में देखी जा सकती हैं अथवा अपने अन्दर स्वयं अपने ही अनुभवों में। अन्य व्यक्तियों की मानसिक वृत्ति का केवल वस्तुगत अध्ययन मनोविज्ञान का बहुत यथार्थ और महत्त्वपूर्ण विज्ञान प्रस्तुत करेगा, किन्तु अन्ततः यह एकांगी मत होगा क्योंकि हमारे चेतन अनुभव का

आंतरिक जीवन इस वाह्य व्यवहार की पूर्ति करते हुए वास्तविकता का दूसरा पक्ष प्रस्तुत करता है।[1]

वारेन द्वारा इस प्रकार स्पष्टता से प्रस्तुत किया हुआ मनस् का दर्शन व्यवहारवाद से आगे निश्चित प्रगति का द्योतक प्रतीत होता है। यदि हमें अनुकूलनशील व्यवहार को मानसिक कहना है, तो पाठक कहेगा कि उसमें व्यवहार के तथा मानसिक वृत्ति के अलावा कुछ और भी होता है। निश्चय ही अनुभव का आंतरिक चेतन जीवन—मेरी अपनी इच्छाओं का, स्वप्नों का, स्मृतियों का, संकल्पों तथा प्रत्यक्षों का अपना जीवन होता है। यह बहुत सच है, किन्तु यह कहने का क्या तात्पर्य है कि यह स्पष्ट नहीं है; और यह कि तंत्रिकीय घटनाएँ तथा मस्तिष्क की घटनाएँ दो प्रकार से "देखी" जा सकती हैं। और यह पूछने को अब भी रह जाता है कि चेतना को वताने का द्वि-पक्ष द्वारा बताए हुए सिद्धान्त से वेहतर कोई और भी तरीका है या नहीं।

अर्थक्रियावाद

मनस् के अध्ययन का एक और नवीन तथा महत्त्वपूर्ण आन्दोलन है अर्थ-क्रियावाद। दर्शन के एक सिद्धान्त के तौर पर हम इस पर अन्य अध्याय में विचार करेंगे, किन्तु अर्थ-क्रियावादियों का मनस् का दर्शन क्या है यह यहीं पर देखेंगे ? अन्य दोनों नवीन आन्दोलनों की तुलना में मनस् की समस्या के सम्बन्ध में अर्थक्रियावादी दृष्टि और भी अधिक जैविक तथा विकासवादी है। हम एक जीव अथवा मनुष्य से आरम्भ करते हैं, जिसके समक्ष एक व्यावहारिक समस्या समाधान करने के लिए होती है, सम्भवतः भोजन प्राप्त करने की, अथवा शत्रु से रक्षा करने की। इस तरह एक परिस्थिति उत्पन्न होती है, एक समस्या को सामना करने का मौका होता है। विषय के अनुसार पर्यावरण को मोड़ने की आवश्यकता होती है। इसमें प्रयोग करना सम्मिलित होता है, और हमें अब पर्यावरण के इस प्रयोगात्मक परिवर्तन के विषय का अनुभव करना है। और इस अनुभव में एक ऐसी स्थिति आती है, जब वह विमर्शात्मक तथा बुद्धिमत्तापूर्ण हो जाता है, जिसे हम मानसिक अथवा चेतन भी कह सकते हैं।

अर्थक्रियावादी मनस् के विषय में चर्चा करने की चिन्ता नहीं करते, और उससे भी कम आत्मा के विषय में, और उसी तरह चेतना के विषय में भी वे चर्चा करने की चिन्ता नहीं करते। परिणामतः अर्थ-क्रियावादी मनस् के सिद्धान्त का निर्धारण कर सकना कुछ कठिन कार्य है।[2] सम्भवतः हम उसे निम्न प्रकार से

1. उद्धृत पुस्तक के पृ० 9, 10 और 415 देखिए।

2. इसका स्पष्टतम विवरण "क्रियेटिव इन्टेलिजेन्स" नामक पुस्तक में देखा जा सकता है, विशेषकर जॉन डिवी द्वारा लिखित अध्याय "दि नीड फॉर ए रिकवरी ऑफ़ फिलासफी" में तथा

कह सकते हैं। जीवों के विकास में विमर्शात्मक चिन्तन के पूर्व एक स्थिति होती है, उसके लक्षण केवल, पसंद अथवा नापसंद से, संघर्ष से, तथा प्रयत्नों से बतलाए जा सकते हैं, और वह तंत्रिकीय विसर्जन के निश्चित रूप से संगठित तंत्र से निर्धारित होता है। दूसरे स्तर पर एक निश्चित स्थिति में कुछ अनुकूलन कारक उठ जाते हैं, परस्पर विरोधी उद्दीपन, परस्पर विरोधी अनुक्रियाओं का संकेत करते हैं। वहाँ उलझन, तनाव तथा अस्पष्ट स्थिति होती है। इस प्रकार पुनः अभियोजन की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। नवीन परिस्थिति को समाकलित होना है, अनुक्रिया को नवीन स्थिति के अनुकूल करना है। इसके पश्चात् प्रयोगीकरण तथा चुनाव होता है, बर्ताव को उसके परिणाम के आधार पर नियंत्रित करना होता है, भविष्य के परिणाम व्यवहार के लिए उद्दीपन में बदल जाते हैं। अब ऐसे अनुकूलनशील व्यवहार को **विमर्शात्मक, चेतन, मानसिक** कहा जाता है। इस तरह मनस् केवल जैविक हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से **उपकरण** बन जाता है, और इस प्रकार के अर्थ-क्रियावाद को कभी-कभी "कारण-वाद" कहा जाता है।

अतः अनुकूलनशील व्यवहार के विषय में आरम्भिक महत्त्व देते हुए हम देखते हैं कि मनस् की समस्या के सम्बन्ध में अर्थक्रियावादी दृष्टिकोण अन्य आधुनिक आन्दोलनों से थोड़ा ही भिन्न है, परन्तु विशेष महत्त्व व्यक्ति की सृजनात्मक क्रिया के माध्यम से पर्यावरण के निर्माण तथा पुनर्निर्माण करने पर है। अर्थक्रियावादी इस प्रकार की क्रिया के लिए बुद्धि का नाम देना ज्यादा पसंद करते हैं, और वे इसे "सृजनात्मक बुद्धि" तथा "सृजनात्मक व्यस्त मनस् वाला साहसपूर्ण अन्वेषक व्यक्ति" कहते हैं, और भविष्य को वे बुद्धि द्वारा निर्धारित मानते हैं।

अतः अर्थक्रियावाद में हम जो पाते हैं वह है गतिमान तथा स्वतंत्र व्यक्तित्वों का उत्तेजनात्मक चित्र, जो प्रयत्नशील है, संघर्षमय है, तथा जो उपलब्धि कर रहा है। किन्तु चूँकि अर्थक्रियावादी विकास तथा जैविक दृष्टिकोण को बहुत मानते हैं, व्यक्ति यह जानने के लिए उत्सुक हो जाता है कि बुद्धि का सम्बन्ध बाकी विकासात्मक प्रक्रिया के साथ क्या है, हमारा मनस् का दर्शन यांत्रिकवादी है अथवा अयांत्रिकवादी। अर्थक्रियावाद के सभी के सभी निहितार्थ नितान्त अयांत्रिकवादी हैं। अनुभव, गतिमान व्यक्तित्वों, तथा रचनात्मक बुद्धि पर बल देना यांत्रिकतावाद की ओर नहीं ले जाता।

इसके विपरीत, अनुभव के किसी भी स्पष्ट मनोवैज्ञानिक तत्त्व में विश्वास का खुले तौर पर खंडन किया गया है, अर्थात् भौतिक तथा जैविक क्षेत्र के बाहर

वायड एच० बोड द्वारा लिखित अध्याय "कान्शसनेस एन्ड साइकोलॉजी" में। इसकी तुलना डिवी की पुस्तक "एसेज इन एक्सपेरीमेन्टल लाजिक", पृ० 8 ff. से भी करो।

किसी भी कारक का खंडन। अपने प्राचीन भौतिक अर्थ में अर्थक्रियावादियों के लिए मनस्, आत्मा अथवा चेतना का कोई उपयोग नहीं है। इसलिए प्रश्न उठता है कि वह रचनात्मक बुद्धि क्या है जो मूल्यों की रचना करती है ? अर्थ-क्रियावाद में यह स्वच्छ आकाश में एक छोटे बादल के टुकड़े की तरह दिखाई देता है, और हम यह आश्चर्य से विचार करने लगते हैं कि वह किस चीज़ का बना हुआ है, उसकी प्रामाणिकता को देखना चाहेंगे।

यही बात समादर, अरुचि, कष्ट, प्रयत्न तथा विरोध जैसे अनुभव के अविमर्शात्मक तत्त्वों के लिए भी सही है जिनके विषय में जॉन डिवी ने विमर्श के पूर्व होने की चर्चा की है। वे कब आते हैं और क्या हैं ? सम्भवतः अर्थ-क्रियावादियों का मतलब यह है कि ये अनुभव के अविमर्शात्मक तत्त्व ही हैं जिन्हें हम जैविक हितों के नाम से पुकारते हैं—जैसे आवेग, उत्कट इच्छा, जीने का संकल्प तथा इच्छा। जहाँ कहीं भी जीवन होता है, वहाँ ये गहन आवेग भी विद्यमान होते हैं; और बुद्धि केवल इन हितों के लिए साधन अथवा उपकरण मात्र है। किन्तु फिर बुद्धि की स्वतन्त्रता तथा उसमें रचनात्मक शक्ति कहाँ से आती है ? जैविक विकास के दृष्टिकोण से स्वतंत्रता तथा रचनात्मक क्रिया कहाँ पर आती हैं ?[1]

किन्तु अर्थ-क्रियावादी इस कठिनाई को हल कर सकते हैं, उनका बुद्धि की रचनात्मक शक्ति, सामर्थ्य, तथा निपुणता पर पूरा महत्त्व देना सावधानी से ध्यान देने योग्य है।

> प्रत्येक संगतिपूर्ण अर्थक्रियावादी मत की ये प्रथम मान्यताएँ हैं—कि मनुष्य वास्तव में एक कर्त्ता है— और उसके कर्त्तव्य की एक विशेषता यह है कि उसमें इस समय भौतिक रूप से अस्तित्वहीन अतीत के विश्लेषण तथा उसकी पुनः प्राप्ति में कल्पना का बहुत हाथ होता है और भौतिक रूप से अस्तित्वहीन भविष्य को कल्पना के द्वारा पहले ही देख लिया जाना शामिल रहता है। ऐसा मत पुनः समझदारी की बात करने के बराबर है, क्योंकि इन दो सिद्धान्तों को समान रूप से और निरन्तर मानकर चलने पर ही जीवन का सम्पूर्ण व्यापार सम्भव है। सोचना मात्र—अर्थात् स्मरण करना, योजना करना, तर्क करना, अथवा भविष्यवाणी करना बहुत बड़ी असंगति है और मनुष्य के व्यवहार में अथवा अपने भाग्य के निर्माण में उसका कोई हिस्सा नहीं होता---यह उसकी एक रहस्यपूर्ण अनावश्यक बात है जो उसके बिना ठीक वैसे ही मार्ग का अनुसरण करेगी—इससे अधिक मूर्खतापूर्ण तथा उद्देश्यहीन विचार मनुष्य के मन में कभी नहीं आया। यह संदेह किया जा

1. यहाँ पर उल्लिखित कठिनाइयाँ बहुत स्पष्ट रूप से आर्थर ओ० लवज्वाय ने "जर्नल ऑफ़ फि०, साइकोलॉजी एन्ड साइंस मेथड", वाल्यूम 17 (1920), पृ० 589, 622, तथा वाल्यूम 19 (1921), पृ० 5 में तीन लेखों में लिखी है।

सकता है कि विमर्शात्मक चिंतन के समय किसी भी व्यक्ति ने इसे कभी भी सत्य माना हो।[1]

गेस्टाल्ट सिद्धान्त (समग्राकृति सिद्धान्त)

सामान्य मनोविज्ञान के क्षेत्र में गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का आन्दोलन इतना महत्त्वपूर्ण हो गया है कि यह जानना रुचिकर होगा कि वह मनस् का कौनसा दार्शनिक सिद्धान्त अपनाता है। इसका निर्धारण करना कठिन है, क्योंकि अधिकतर गेस्टाल्टवादियों ने अपने आपको अभी तक प्रत्यक्षीकरण के सिद्धान्त तक ही सीमित रखा है। स्टेनफर्ड विश्वविद्यालय के श्री डब्ल्यू० एम० डेनर ,जूनियर, ने मनस् के गेस्टाल्ट सिद्धान्त का संक्षिप्त विवरण लिखा है, न कि गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का विवरण।

अनेक लोग गेस्टाल्ट मनोविज्ञान को समाकृतिवाद भी कहते हैं, जिसकी परिभाषा करते हुए कहा गया है कि यह "मस्तिष्क के उद्दीपक क्षेत्र के संरचनात्मक संवाद का चेतना की आनुभविक अंतर्वस्तु के साथ संरचनात्मक संवाद है।"[2]

गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का यह मत है कि चेतन घटनाओं का तथा जैविक बर्ताव का विश्लेषणात्मक शब्दों में विवरण निरर्थक ही नहीं असम्भव भी है। गेस्टाल्ट सिद्धान्त केवल आरम्भवाद की 'पोटलिका-प्राक्कल्पना' का ही विरोध नहीं करता वरन् वह उद्दीपन तथा वास्तविक प्रत्यक्ष के बीच स्थित मनो-भौतिक सम्बन्ध की 'सातत्य-प्राक्कल्पना' का भी विरोध करता है। वह साहचर्यवाद तथा अवधान को भी महत्त्वहीन संप्रत्यय मानकर उनका विरोध करता है।

गेस्टाल्ट विचारवादी संप्रदाय ने वर्दाइमर की 1912 में प्रकाशित पुस्तक के समय से स्वयं को आरम्भ के मनस्-शरीर विषयक दुःखद विचारों से मुक्त कर लिया है। वह मनस्-शरीर की समस्या के तथ्यों को, प्रदत्त मानकर, जिन्हें यदि साधारण तौर पर अलग-अलग बताया जाए, मानसिक प्रक्रिया तथा भौतिक संरचना मानकर निपटाने का प्रयत्न करता है। वह उनका पुनर्वर्गीकरण कार्यरत प्रतिमानों के आधार पर कर देता है जो गतिमान व्यवस्थित पूर्णताएँ हैं और अपनी विभिन्न क्षेत्रीय शक्तियों के परिवर्तन के साथ साम्यावस्था बनाने के लिए परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। वह जगत् में केवल एक घटना-सत्र की ही परिकल्पना करता है, किन्तु यह स्वीकार करता है कि उनमें से एक ओर से ग्रहण करना केवल मानसिक क्रिया के विवरण की ओर ले जाता है, जब कि उसे दूसरी ओर से ग्रहण करने पर वह भौतिक तथा शारीरिक संरचनाओं का

---

1. Arthur O. Lovejoy, *loc cit*. p. 632. लवज्वाय अर्थक्रियावादी सिद्धान्त की पुष्टि करता है और तत्त्वमीमांसा के साथ उसकी असंगति दर्शाता है।

2. Howard C. Warren, editor, *Dictionary of Psychology* (Houghton Mifflin Company, Boston), p. 145.

विवरण करने को विवश करता है ।

इस प्रकार गेस्टाल्ट की स्थिति में यदि यह द्विपक्ष एकतत्त्ववाद स्पष्ट नहीं है तो सम्मिलित अवश्य है।[1] कोहलर[2] दिक् और काल की अनुभवगत व्यवस्था तथा शारीरिक प्रक्रियाओं के अंतर्निहित गत्यात्मक प्रसंग के बीच मनोशारीरिक संवाद की कल्पना करता है ।

व्हीलर द्वारा दिए हुए मनस् के अनेक लक्षण[3] जैसे, "कार्यरत मस्तिष्क, तटस्थ गतिवाद, वस्तुनिष्ठ वृत्तिवाद, नियतत्त्ववाद, कारणता, जीववादी अर्थों में ऊर्जा का कार्य" गेस्टाल्टवादियों के मत का प्रतिनिधित्व सम्भवतः अधिकारपूर्वक नहीं कर सकते। किन्तु गेस्टाल्ट सिद्धान्त निश्चित रूप से यंत्रवाद तथा जीवतत्त्ववाद विरोधी है। वह इस तथ्य को बताता है कि प्रत्यक्षीकरण तथा विचार अंगों के परस्पर सम्बन्ध से क्रमबद्ध रहते हैं और उनकी गतिक अन्योन्यक्रिया से उत्पन्न रूप अथवा प्रतिमान उन अंगों के योग से अधिक होता है ।[4]

इस बात पर, कि पूर्णता का अस्तित्व अंगों के योग से अधिक होता है, बल देना वॉन अर्नफेल्स (1890) के प्रतिमान गुण सिद्धान्त के साथ संबद्ध हैं और उस दृष्टि से यह कुछ-कुछ उद्गामी विकास के सिद्धान्तों के साथ मिलता-जुलता है। गेस्टाल्ट सिद्धान्त की मुख्य दार्शनिक परम्परा हुसर्ल तथा उसके अनुयायियों के संवृत्ति शास्त्र के बहुत समीप है, कम से कम उस हिस्से में जहाँ ब्रेनटानो के लिए 'क्रिया' का मनोविज्ञान बताया गया है।

फ्रॉयड मतावलंबी

मनस् क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर अभी तक भी प्राप्त न होने पर हमें फ्रॉयड-मतावलंबी की ओर मुड़ना चाहिए। मनस् को देखने के नवीन तरीकों में से कोई अन्य मत इतना महत्त्वपूर्ण तथा आन्दोलनकारी नहीं है जितना फ्रॉयड मताव-लंबियों का मत। जो बात बहुत पहले देखी जानी थी उसे यह संप्रदाय स्वीकार करता है कि दार्शनिकों तथा मनोवैज्ञानिकों में, जिनमें विवेक तथा चेतना का हिस्सा बहुत विकसित होता है, इस तत्त्व पर बल देने की प्रवृत्ति होती है। परिणामतः वह मनस् का सिद्धान्त बहुत कुछ एकांगी है, जिसे हम प्राचीन

---

1. Edwin G. Boring, *The Physical Dimensions of Consciousness* (The Century Company, New York,1933), pp. 75—77.

2. Dr. Wolfgang Köhler, *Gestalt Psychology* (Horace Liveright, New York), pp. x+403.

3. Raymond Holder Wheeler, *The Laws of Human Nature* (D. Appleton Company, New York), pp. 4, 93.

4. Oliver L. Reiser, "Gestalt Psychology and the Philosophy of Nature", *Philosophical Review*, 1930, vol. 39, pp. 556—72.

परम्पराओं तथा पाठ्य पुस्तकों में देखते हैं। वास्तव में अतार्किक तथा अचेतन मानसिक तत्त्व और अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार फ्रॉयड मतावलंबियों ने यह पता लगा लिया है कि मनस् संवेदनों, प्रत्यक्षों, विचारों, तर्कसंगत प्रक्रियाओं अथवा एक विशेष आध्यात्मिक द्रव्य, जिसमें विचार, संवेदन, तथा अन्य इसी प्रकार की वस्तुएँ होती हैं, समूह नहीं है, वरन् मनस् एक गहरे और व्यग्र समुद्र की भाँति है जिसके रहस्य चेतना तथा तर्क की ऊपरी सतह पर नहीं देखे जा सकते वरन् उनकी अचेतन और विवेकहीन गहराइयों में पाये जा सकते हैं। उन्होंने दो महान् सत्यों का पता लगा लिया है। एक तो यह है कि मनस् शब्द चेतना से बहुत अधिक व्यापक है, और दूसरा यह कि आवेग हमारे मानसिक जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। प्राचीन मनोविज्ञान में रात्रि-स्वप्न तथा दिवा-स्वप्न के अध्याय कोई महत्त्वपूर्ण नहीं होते थे; वहाँ वे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे हमारे मानसिक जीवन की गहनतम धारा का उद्घाटन करते हैं—ये गहन परामानसिकीय ऊर्जाएँ हैं, जिन्हें हम आवेगों, उत्कट इच्छाओं, प्रवेच्छाओं, लालसाओं, बुभुक्षा, तथा रुचियों के नाम से जानते हैं, और जिनके उदाहरण हैं काम भावना, बुभुक्षा, आत्म-रक्षा तथा सामाजिकता। हमारे परम्परागत सभ्य जीवन में ये आवश्यक इच्छाएँ आवश्यक रूप से दब जाती हैं। इस प्रकार चेतना के स्तर के नीचे दबे दुःखद अनुभवों के समुदाय आवेगों से प्रभावित होकर चेतन स्तर पर आने की चेष्टा करते हुए दुःखद "ग्रंथियाँ" उत्पन्न करते हैं।[1]

अब ये सभी बातें बहुत रुचिकर तथा महत्त्वपूर्ण हैं, और सम्भवतः सत्य भी हैं। यह नया मनोविज्ञान है, किन्तु क्या यह मनस् का दर्शन है? हमें अनेक नये शब्दों से परिचय करा दिया गया है—अचेतन, परामानसिकीय ऊर्जा, सेन्सर, ग्रन्थियाँ आदि; हम यह जानने के लिए उत्सुक हैं कि वे सब क्या हैं तथा किस प्रकार वे सब मनस् के दर्शन का निर्माण करते हैं? परामानसिकीय ऊर्जा[2] क्या है तथा यह अन्य सु-अधिकृत ऊर्जाओं के साथ किस प्रकार सम्बद्ध है? हम व्यर्थ ही फ्रॉयड-मतावलंबी तथा मनोविश्लेषक की ओर इसके स्पष्ट उत्तर के लिए देखते हैं। अचेतन, परामानसिकीय ऊर्जा तथा सेन्सर संप्रत्यय तथा मानसिक निर्मितियाँ हैं जो ऐसे संप्रत्ययात्मक संरचना के ढाँचे का कार्य करती हैं जिन पर हम यथार्थ में तथ्यों को लटका सकते हैं। यदि ऐसी वस्तुओं का अस्तित्व हो जैसे अचेतन छापों

---

1. फ्रॉयड द्वारा दिया हुआ मनस् दर्शन का बोधगम्य विवरण टान्सले की पुस्तक "दि न्यू साइकोलॉजी" में देखा जा सकता है। ब्रिल की पुस्तक "फंडामेन्टल कान्सेप्शन्स ऑफ़ साइको-एनालिसिस" तथा फ्रॉयड की पुस्तक "साइकोलॉजी ऑफ़ एवरी डे लाइफ" तथा "जनरल इन्ट्रोडक्शन टु साइको-एनालिसिस" से भी इसकी तुलना कीजिए।

2. Jung, *Psychology of the Unconscious*, pp. 144 ff. Tansley, *op. cit.*, pp. 59 ff.

का संचय—तो तथ्य वैसे ही होंगे, जैसे वे हैं। उनके तर्क-प्रमाण वे ही होंगे जो पहले के समय में आत्मा के थे। यदि आत्मा का अस्तित्व है और उसमें "संकाय" हैं, तो तथ्यों को उसी प्रकार अनुसरण करना चाहिए जैसा वे करते हैं।

फ्रॉयड के मनोविज्ञान का विवरण देते हुए टान्सले मनस् के विकास का वर्णन ठीक नए संप्रदायों के अनुसार ही करता है, अर्थात् प्रतिवर्त क्रिया तथा सहज व्यवहार के माध्यम से विमर्शात्मक चिन्तन तथा सचेत होकर प्रयोजनात्मक क्रिया के अन्तिम स्तर तक पहुँचाना। किन्तु जब मनस् का आगमन होता है, तो वह कुछ **स्वजातिक** वस्तु होता है, वह कुछ मस्तिष्क तथा शरीर से भिन्न होता है। वह कहता है कि "संक्षेप में, हम मनस् को स्वयं अपनी घटनाओं तथा नियमों के साथ द्वितत्त्ववादी सत्ता माने बिना नहीं रह सकते।"[1]

सारांश

तो ये हैं दर्शन के इतिहास में अवगत कतिपय महत्त्वपूर्ण मनस् के सिद्धान्त। ये विभिन्न सिद्धान्त निम्नलिखित पाँच वर्गों में संक्षेप में बताए जा सकते हैं। पहला है, द्रव्य-कल्प मन सिद्धान्त, उस प्रकार का, जैसा देकार्ते ने माना है और जिसके अनुसार मनस् अथवा आत्मा निम्न तथा स्वतन्त्र सत्ता है। दूसरा है उपोत्पादवादी सिद्धान्त, जो यह मानता है कि मनस् एक प्रकार से शरीर का निरर्थक उप-उत्पादन है। इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा, निश्चय ही शरीर के क्षय के साथ ही नष्ट हो जाएगी और समस्त चेतन अथवा मानसिक कहा जाने वाला जीवन भौतिकता में घटाया जा सकता है। तीसरा वह सिद्धान्त है जो द्रव्य-कल्प मनस् के अस्तित्व का खंडन करता है और यह मानता है कि जिसे हम "मनस्" कहते हैं वह अनुभवों अथवा मानसिक स्थितियों के अनुक्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह दृष्टिकोण ह्यूम का है। चौथा है, जिसे हम कार्यपरक मत कह सकते हैं, जैसे कि अरस्तू का सिद्धान्त, और हाल के युग में वे सभी सिद्धान्त जो यह मानते हैं कि मनस् एक ऐसा अनुकूलनशील उपकरण है जो विकास के दीर्घकाल में विकसित अथवा उन्मज्जित हुआ है। पाँचवाँ चरम व्यवहारवादी किस्म का सिद्धान्त, जिसके अनुसार मनस् अधिक से अधिक कुछ विशेष प्रकार के जीवों का व्यवहार होता है। इस सिद्धान्त के विषय में कहा जा सकता है कि वह मनस् को बताने के बजाय उसके अस्तित्व को ही अस्वीकार करता है।

क्या इन विभिन्न सिद्धान्तों में से कोई मनस् का स्पष्ट दर्शन निकलेगा, इसकी जाँच हम अगले अध्याय में करेंगे। आरम्भ में, निश्चय ही वे उलझन पैदा

1. A. G. Tansley, *The New Psychology*, pp. 20, 21.

करने वाले हैं, किन्तु चिन्तनशील पाठक देखेगा कि ये सभी, कुछ सीमा तक कुछ विशेष परिणामों में एकत्र होते हैं। मनस् के सिद्धान्तों के इस इतिहास में कुछ बातें ऐसी हैं जो सत्य की रक्षा करती हुई प्रतीत होती हैं, जिनका अनुसरण करना चाहिए तथा जिसे सावधानी से तोलना चाहिए। इनमें से एक है महत्त्वपूर्ण आवेगों पर फ्रॉयड का बल देना अथवा वे गहन जैविक हित जो परामानसिकीय ऊर्जाओं की भाँति दिखाई पड़ते हैं और स्पष्टतः हमें किसी अचेतन उद्देश्य से साथ खींचते हैं। दूसरा वह मत है जो सभी नवीन आन्दोलनों में सामान्य है, वह है वस्तुगत रूप से विचार करने पर मानसिक क्रिया, जो **अनुकूलनशील** है। वारेन द्वारा बताई हुई अन्यः बात है यह विश्वास कि अनुकूलनशील एक विषयी-निष्ठ पहलू है जिसे हम **चेतना** अथवा **अनुभव** कह सकते हैं। एक और, जिस पर प्लेटो ने बल दिया है, वह है आत्मा का विशेष एकात्मक व्यक्तिगत लक्षण होना। अन्त में अरस्तू का एक विचित्र संप्रत्यय यह है कि मनस् शरीर की पूर्णता तथा उसका प्रतिफल है। अरस्तू का अन्तस्तत्त्व (इंटेलेकी) अथवा गतिमान सत्ता के समान मनस् का सिद्धान्त जो जीव के साथ गहनता से सम्बद्ध है, वह बहुत लोगों का ध्यान आकर्षित कर रहा है, यह गेस्टाल्ट सिद्धान्त जैसे आन्दोलनों से स्पष्ट होता है। क्या इन सभी तत्त्वों को मनस् के एक संगत दर्शन में सम्मिलित कर सकना सम्भव होगा ?

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Gamertsfelder and Evans, *Fundamentals of Philosophy* (Prentice-Hall, Inc.), chap. XV.

William McDougall, *Body and Mind* (Methuen and Company), chaps. I to IX.

अन्य सन्दर्भ

Hume, "An Enquiry Concerning Human Understanding," as found in Rand's *Modern Philosophers*, pp. 307—46.

L. T. Hobhouse, *Mind in Evolution* (The Macmillan Company).

Henri Bergson, *Matter and Memory* (The Macmillan Company). *Creative Evolution* (Henry Holt and Company).

J. S. Haldane, *Mechanism, Life and Personality* (J. Murray).

J. B. Pratt, *Matter and Spirit* (The Macmillan Company).

C. W. Morris, *Six Theories of Mind* (The University of Chicago Press, 1933).

D. S. Robinson, *Anthology of Recent Philosophy* (D. Appleton and Company, 1924), part 2, chap. VI; part 3, chap. V;

part 4, chap. XXV.

Will Durant, *Mansions of Philosophy* (Simon and Schuster, 1929), chaps. IV, XXIV.

J. A. Leighton, *The Field of Philosophy* (D. Appleton and Company, 1923).

A. E. Avey, *Readings in Philosophy* (D. Appleton and Company, 1924), chap. XXV.

G. Watts Cunningham, *Problems of Philosophy. An Introductory Survey* (Henry Holt and Company), chap. XV.

Howard C. Warren, *Human Psychology* (Houghton Mifflin Company).

John B. Watson, *Psychology from the Standpoint of a Behaviorist* (J. B. Lippincott).

अध्याय 19

मनस् क्या है ?

पुर्ननिर्माणात्मक

जिस आत्मा को हमने दर्शन के इतिहास में देखा है उसके विषय में उलझन के कारणों में एक है मानव-शरीर के जटिल लक्षण का होना तथा **मानसिक** तथा **मनोवैज्ञानिक** शब्दों के अंतर्गत अनेक क्रियाओं का सम्मिलित होना। हम यह तत्काल ही स्वीकार कर सकते हैं कि मनस् एक बहुत जटिल वस्तु है, अथवा वस्तुओं का समूह है, अथवा प्रवृत्तियों, प्रक्रियाओं तथा क्रियाओं का समूह है। हमें मनस् के तीन पहलुओं में अवश्य भेद कर लेना चाहिए और उनकी अलग-अलग परीक्षा करनी चाहिए।

I. क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ

मनस् के किसी भी सच्चे दर्शन का आरम्भ बर्ताव तथा व्यवहार के उद्गम से अवश्य होना चाहिए। हाल के इस विषय के साहित्य में आम तौर पर इन्हें प्राथमिक जैविक रुचि की वस्तुएँ कहा जाता है। सामान्यत: उन्हें अलग अध्याय में, **इच्छाओं, मूल-प्रवृत्तियों, संकल्प,** अथवा **क्रियात्मक प्रवृत्तियों** के शीर्षक के अंतर्गत वर्णनात्मक ढंग से इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है, जैसे वे हमारे चेतन जीवन की ऐसी साधारण बातें हों जिन्हें अन्य मानसिक प्रक्रियाओं के साथ चलते-चलते बता दिया जाए।

किन्तु हमें समझ लेना चाहिए कि वे नितान्त भिन्न वर्ग में हैं; वे प्रक्रियाएँ अथवा क्रियाएँ नहीं किन्तु प्रवृत्तियाँ तथा स्वभाव हैं। जिस अनुपात में आज मनोविज्ञान क्रिया, व्यवहार, कार्य, और **करने** पर बल देता है, ठीक उसी के अनुसार करने के आधार अथवा उसके उद्गम को समझना भी आवश्यक है। हमारे अस्तित्व की तह के मूल में एक शक्ति कार्य कर रही है जो हमें बाध्य करती है, और जिसे हम **व्यवहार** कहते हैं, वह इसी शक्ति के कार्य करने का परिणाम है। हम चाहे इसे क्रियावृत्ति, उद्यम, इच्छा, संकल्प, लिबिडो, क्षुधा, भूख, काम, यदृच्छा, लालसा, मूल-प्रवृत्ति, मनोवैज्ञानिक ऊर्जा कह सकते हैं, अथवा केवल एक प्रकार का **अंतर्नाद** भी कह सकते हैं। पिछले अध्याय में जब हम मनोविज्ञान की नवीन

गतिविधियों का अध्ययन कर रहे थे, तब हमने इन गहन क्रियात्मक, तत्त्वों, अथवा व्यवहारवादियों के शब्दों में अनुभव के मननशील तत्त्वों पर बल दिए जाने को देखा था। फ्रॉयड के मनोविज्ञान का ज़ोर अधिकांशतः उस बल देने पर आश्रित है जिसे वह मनस् के प्राथमिक निर्माणात्मक तत्त्व **अभिलाषाओं** पर देता है। प्लेटो तथा अरस्तू, स्पष्टतः, इन तत्त्वों के आधारभूत लक्षणों से प्रभावित थे, क्योंकि उन्होंने क्षुधाग्रस्त **आत्मा** तथा वानस्पतिक **आत्मा** के विषय में बताया है। मेक्डूगल ने यह विस्तार से बताया है कि मूल-प्रवृत्तियाँ ही समस्त मानवीय क्रियाओं की आद्यचालक हैं, तथा पशु-व्यवहार इसी प्रयोजनात्मक अथवा प्रयोजनमूलक ऊर्जा की अभिव्यक्ति है।[1]

क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ रुचियों के रूप में

यह बात संदेहजनक है कि जब शब्द **ऊर्जा** को प्रयोजनात्मक अथवा "प्रयोजन-मूलक" शब्दों से विशेपित कर दिया जाता है, तब भी वह प्राथमिक मानसिक तत्त्वों का सर्वश्रेष्ठ नाम होता है। जो हमारे पास है, वह **अंतर्नाद** से कुछ अधिक वस्तु है, वह **आंतरिक इच्छा, प्रवृत्ति** अथवा **व्याकुलता** से भी कुछ अधिक है, यहाँ तक कि उसे एक लेखक ने "जीवों में उत्तेजना अथवा बुलबुले वाले ऊर्जा-प्रभावों" से भी अधिक कहा है;[2] बल्कि उसे **रुचि** कहना चाहिए। जहाँ कहीं भी जीव होते हैं वहाँ रुचियाँ होती हैं। आत्म-रक्षा तथा आत्म-निरन्तरीकरण को देखते हुए जीवन प्रयोजनात्मक है। जैसा कि हमने देखा है, यह आवश्यक रूप से उद्देश्यवाद अथवा जगत् में सजग प्रयोजनता सम्मिलित नहीं करता। यह केवल इतना ही है कि जीवन स्वयं प्रयोजनात्मक होता है। यह बात "रुचि" की अवधारणा मात्र से स्पष्ट है। रुचि सदैव किसी न किसी प्रयोजन को सम्मिलित रखती है और इस प्रकार किसी न किसी उद्देश्य अथवा लक्ष्य को भी। जीवन की **वृत्ति** उसकी वृद्धि तथा आत्मसातन के समय में आत्म-संरक्षण की तथा उसके सरल कोश विभाजन के समय आत्म-निरंतरीकरण करने की होती है। यह उसी बात का प्रदर्शन करता है जिसे पेटन ने एक प्रकार का अहंवाद तथा परहित-वाद कहा है। यह आत्म-संरक्षण तथा आत्म-निरंतरीकरण वाली बात प्रत्येक जीव के लिए जन्मजात होती है; संभवतः इस बात को कहने के लिए **जीने का संकल्प** से बढ़कर कोई अन्य नाम नहीं होगा।

मिट्टी का हर कण उसकी शक्ति का स्पन्दन,
ऊपर उठने की जो उसकी प्रवृत्ति है नैसर्गिक;

1. देखिए उसकी पुस्तक "आउट लाइन्स ऑफ़ साइकोलॉजी", पृष्ठ 72, 213, "एट पेसिम" तथा उसकी पुस्तक "इन्ट्रोडक्शन टु सोशल साइकोलॉजी"।

2. Louis Berman, अपनी पुस्तक *Glands Regulating Personality*, p. 196 में।

उससे ही वह उठकर ऊपर अथक यत्न करता है, छूने को प्रकाश
और पकड़ लेने को अंतरात्मा उस हरित घास और पुष्पों की भी ।[1]

"यूनान के प्रकृतिवादियों ने देखा (जिसे देख लेने के लिए केवल स्वस्थ चित्त होना पर्याप्त है) कि जो जीवन है उसमें निरन्तर गति तथा सुखद क्रम, वस्तुओं का अनन्त द्रव्य होना सहज है, तथा मानव की आत्मा उसी सार्वभौम अग्नि की एक चिंगारी है।"[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि अभी तक हम आत्मा की खोज के सम्बन्ध में इंद्रियानुभव के सुदृढ़ आधार पर ही कायम हैं। हमने अपने मानसिक जीवन की तह में, स्वाभाविक आवेगों, मूल-प्रवृत्तियों अथवा प्रवृत्तियों के रूप में गहन क्रिया-स्रोतों को ही देखा है। हमारे चेतन जीवन में, न केवल यदृच्छा तथा क्षुधा के साथ ही, किन्तु अस्पष्ट लालसाओं, आकांक्षाओं, आशाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं के साथ संवेगात्मक स्वर में मिलकर **भरे हुए** हैं, ताकि वे हमारी उन्नति के स्रोत तथा प्रेम-जीवन, सामाजिक जीवन तथा हमारे आर्थिक जीवन के स्रोत बन जाएँ। उसमें वे उसकी सत्ता के पीछे की शक्ति हैं।

इसके पूर्व कि हम व्यवहार, बुद्धि, स्मृति, भावना, तथा प्रत्यक्ष जैसे मनस् के अन्य तत्त्वों पर विचार करें, अथवा चेतना अथवा व्यक्तित्व की जाँच करें, इन आधारभूत तत्त्वों पर विचार करने को थोड़ा टाल देना बेहतर होगा, और यह देखना होगा कि उनका सम्बन्ध कैसा है, आगे अथवा पीछे, अर्थात् जटिल आत्मा में अपनी उत्पत्ति के आगे, और अपने तत्त्वमीमांसीय स्रोतों के पीछे। निश्चय ही, यदि हमारा लक्ष्य केवल मनस् को जानना मात्र ही है, तो इसकी कोई आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि जिसे हम मनस् कहते हैं उसमें इन गहन आवेगात्मक संघर्षों की उपस्थिति है केवल इसका संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा। उसके पश्चात् हम अन्य तत्त्वों का विवेचन कर सकते हैं, जैसे अनुकूली व्यवहार, बुद्धि, तथा व्यक्तित्व—और हमें संभवतः यह भी बतला सकना चाहिए कि मनस् क्या है। किन्तु मनस् के दर्शन को इससे अधिक करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए; यदि संभव हो तो उसे विकासात्मक प्रक्रिया में, पशु-जीवन में, तथा समस्त विश्व में आवेग तथा संघर्ष के महत्त्व को खोजने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। उसे इस बात की भी जाँच-पड़ताल करनी चाहिए कि कहीं पश्चात् की मानसिक प्रक्रियाएँ इन जैविक संघर्षों के **उपकरण** ही तो नहीं हैं।

---

1. Every clod feels a stir of might,
   An instinct within it that reaches and towers;
   And grasping blindly above it for light,
   Climbs to a soul in grass and flowers.
2. Santayana, *Soliloquies in England and Later Soliloquies*, p. 212.

क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ ब्रह्मांडीय कारकों के रूप में

पिछले अध्यायों में जब हम जीव की उत्पत्ति तथा स्वभाव, विकास का दर्शन और प्रयोजनात्मक जगत् का अध्ययन कर रहे थे तब हमने प्रकृति में एक ऐसे कारक को देखा जो विकास को **सृजनात्मक** बनाता है। इस कारक को अनेक दार्शनिकों द्वारा अनेक नाम दिए गए हैं जैसे, **प्राण-शक्ति, विकासवादी प्रवृत्ति, जीवन-शक्ति, व्यवस्थापक शक्ति, एक सामान्य सृजनात्मक कारक,** तथा **आन्तरिक पूर्ण-कर्त्ता नियम।** कभी-कभी ये शब्द केवल जीव-जगत् तक ही प्रयुक्त किए जाते थे—कभी-कभी जैसे कि हेन्डरसन के मामले में, यह **धारा** अथवा **प्रवृत्ति** अकार्बनिक जड़-द्रव्य तक पहुँच गई थी। वहाँ निश्चय ही, हम परि-कल्पनात्मक स्तर पर हैं और मनस् का दर्शन प्रतिपादन करने के लिए किन्हीं **ब्रह्मांडीय नियमों** की आवश्यकता नहीं है, किन्तु, निश्चय ही, मनस् की सृजनात्मक शक्तियों को जगत् की सृजनात्मक शक्तियों का हिस्सा अथवा उससे सम्बन्धित होना, सोचना और विकासवादी परिवर्तनों में ही नहीं, वरन् सामाजिक तथा नैतिक प्रगति में भी उसे सम्भवतः एक उत्साहजनक शक्ति सोचना प्रलोभनीय रहा है।

इसी विचार को बर्गसाँ ने अपने ढंग से विकसित किया है। वह उसे **मनस्-ऊर्जा** अथवा जैविक प्रेरणा के नाम से संबोधित करता है। एक महत्त्वपूर्ण स्थल पर वह कहता है, "विकास सामाजिक जीवन का नेतृत्व करता है, जैसे कि उसकी आवश्यकता आरम्भ से ही अनुभव की गई हो, अथवा जैसे कि जीवन की कुछ मूलभूत तथा अत्यावश्यक **अभिलाषाएँ** ऐसी हों, जो पूर्ण संतोष केवल समाज में ही पा सकती हों।"[1]

मैं नहीं जानता हूँ कि क्या मनस्-ऊर्जा की यह प्रेरक शक्ति केवल समाज तथा इतिहास की ओर ही नहीं, वरन् बुद्धि, तर्क, व्यक्तित्व, व्यष्टित्व और स्वतन्त्रता की ओर भी देख रही है। हम जानते हैं कि बुद्धि सृजनात्मक है, हम उसकी सृजनात्मक शक्ति को प्रतिदिन कला तथा साहित्य में, विज्ञान तथा अन्वेषणों में, वाणिज्य के कार्यों तथा व्यापारिक संगठनों में देखते हैं। क्या उसकी यह सृजनात्मक शक्ति उस प्रयोजनात्मक शक्ति के कारण है जो समस्त मानसिक जीवन के जड़ में रहा करती है? जब हम बुद्धि तथा अनुकूलनशील व्यवहार के अध्ययन पर आएँगे तब देखेंगे कि वे तंत्रिकीय प्रक्रियाओं के संगठन तथा समाकलन पर आधारित होते हैं। यदि हमें इन्हें इस प्रकार से समझाना हो, अथवा हमें अवधान तथा अन्य उच्चतर मानसिक प्रक्रियाओं को "प्रतिक्रिया-चापों के पूर्ण समाकलन" की भाँति समझाना हो तो समाकलन करने वाला कारक क्या होगा? प्राथमिकतः मनो-विज्ञान में हम मनस् की चर्चा नहीं करते, हम उस जीव की चर्चा करते हैं, जो

1. *Mind Energy*, Lectures and Essays. H. Wildon Carr द्वारा अनूदित, p. 33.

उद्दीपन प्राप्त करता है तथा प्रतिक्रिया करता है। एक निश्चित प्रकार की **क्रियाएँ** अब मानसिक कही जाती हैं। मस्तिष्क तथा तंत्रिका-तंत्र को हम और अधिक पर्यावरण के अनुकूल करने का उपकरण मानते हैं। हम यह जानते हैं कि वे किस कार्य **के लिए** उपकरण हैं, परन्तु वे **किसके** उपकरण हैं ? स्पष्ट है कि वे ऊर्जा प्रभावों के "उन जैविक हितों के हैं जो जीव में उबल और बुलबुला रहे हैं; यही दिखाई पड़ता है।"

प्रेरक शक्तियाँ अथवा आकांक्षाएँ

किन्तु विषय के इस भाग को छोड़ने से पूर्व एक विचित्र प्रश्न उठता है, जो पिछले अध्यायों में हमारे सामने रहा है और अन्त तक हमें भयभीत करता रहेगा—**आकर्षण** तथा **विकर्षण** का प्रश्न। जैविक हितों की व्याख्या हम वास्तव में कैसे करेंगे ? क्या हम उनकी व्याख्या इस प्रकार करेंगे कि प्रयोजनात्मक शक्ति, प्रेरक शक्ति अथवा आकांक्षाएँ हैं ? **प्रेरक शक्ति** एक बहुत ही प्रभावपूर्ण पद है और आज के गतिमय दर्शन के लिए बहुत उपयुक्त बैठता है। इसका अर्थ होता है, पीछे से किसी शक्ति का कार्य करना, और हम **प्रारंभिक** विकर्षण को खोजने की व्यर्थ चेष्टा करने लगते हैं और तब तक हमें शान्ति नहीं मिलती जब तक हम किसी **मूल** सृजनात्मक शक्ति अथवा ईश्वर तक पहुँच कर अकारण ही न रुक जाएँ। **प्रयोजनात्मक ऊर्जा** पद इससे कुछ बेहतर लगता है। इसकी दृष्टि कुछ आगे होती है—यह छानबीन, खोज, तथा प्रयत्नों का सुझाव रखती है, और फिर भी मैं चकित-सा हूँ कि क्या यह शब्द **ऊर्जा** ही है जिसे हम यहाँ चाहते हैं। यदि यह जगत् उमड़ रहा है, बाहर बह रहा है, और अर्थक्रियावादी अर्थों में नये मूल्यों की अनन्त सृजनात्मक तथा उत्पत्ति की प्रक्रिया है तो यह पद वर्तमान सत्ता का वर्णन करने के लिए सही है।

किन्तु यह सम्भव है कि **उत्कंठा** अथवा **हित** सबसे अच्छे शब्द हों। क्या हम सबके पीछे सृजनात्मक शक्ति ईश्वर है, अथवा वह आदर्श है जो हमें आगे की ओर आकर्षित कर रहा है ? क्या उच्चतर मूल्य उत्पत्ति-प्रक्रिया का परिणाम हैं, या कि वे ऐसी आदर्श सीमाएँ हैं जिनकी ओर हम हमेशा अग्रसर हो रहे हैं—"स्वयं आपमें सुन्दर", "स्वयं आपमें शुभ", जिनके विषय में कहते हुए प्लेटो कभी नहीं थका ? सरलतम जीवन सम्भवतः केवल आत्म-रक्षा तथा स्वतः प्रजनन में **रुचि** रखता है, क्योंकि जीवन स्वयं ही शुभ है। हम लोग सम्भवतः विचार करने, तर्क करने और सौंदर्य उत्पत्ति तथा सामाजिक न्याय में रुचि रखते हैं, क्योंकि विचार, तर्क, सौंदर्य तथा न्याय शुभ हैं—ये मूल्य हैं, सम्भवतः हमारे जैविक हित **भूख** के ही रूप हैं—किन्तु, उस प्रकार की भूख जिसे बर्गसाँ **आकांक्षा** कह कर संबोधित करता है, और जिसे हम **सृजनात्मक प्रयत्न** भी कह सकते हैं। ऐसा केवल विचार करने की आदत के यांत्रिकवाद के काल में होने के कारण है कि

आकांक्षा अथवा **प्रशंसा** जैसे शब्दों की तुलना में **प्रेरक शक्ति** पद अधिक उपयुक्त है। सम्भवतः हमारे मानसिक जीवन के पीछे के राज्य में "वह शक्ति है जो हमें सत्यता के लिए तैयार करती है।"

ये सब बातें मनस् के दर्शन के अध्याय के लिए बहुत गूढ़ तथा विमर्शात्मक प्रतीत होती हैं। जो पाठक ऐसा विचार करता है वह इन पंक्तियों को भूल जाए, और उन्हीं जैविक हितों पर पहुँच जाए जो स्पष्ट तथ्य हैं और जिनकी अनुपस्थिति में मनस् के किसी भी दर्शन का अभाव रहेगा, और तब उसे **हित** शब्द पर चिन्तन करना चाहिए और स्वयं अपनी व्याख्या बनानी चाहिए। इससे कुछ भिन्न तरीके से पूरी बात हॉबहाउस ने प्रस्तुत की है, जिसका प्रभाव हममें से अधिक लोगों पर पड़ेगा। वह जगत् को विकास की एक ऐसी प्रक्रिया मानता है जिसमें आरम्भ का निर्धारण उसके लक्ष्य से होता है और लक्ष्य का उसके आरम्भ से।

> इस प्रकार निर्धारण करती हुई तथा स्वयं अपनी करनी से निर्धारित होती हुई प्रक्रिया 'प्रयत्न' के स्वभाव की होती है, और इसलिए जगत्-विकास आवश्यक रूप से इस विभाग में आना चाहिए···।
>
> यह 'प्रयत्न' ही ईश्वर और मनुष्यों की रचना का तथा सुन्दर गाथाओं का, वास्तव में जो उत्कृष्ट और है उसका, नियम तथा नीति का, विज्ञान तथा कला का, संभवतः प्रकृति में जो सुन्दर है उसका, और निश्चय ही उसका जो उस सुन्दरता में हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है, सृजनकर्त्ता है। उसका कार्य बुद्धिमत्तापूर्ण, प्रयोजनात्मक तथा सर्वग्राही है। वह प्रयत्न जो किसी भी उद्देश्य से होता है उसमें मनस् सम्मिलित होता है, और वह मनस् जो सामंजस्य स्थापित करता है, उसकी एकता सबके साथ अवश्य होनी चाहिए, चाहे उसकी उपलब्धि कितनी ही नगण्य क्यों न हो। अतः यदि जगत्-प्रक्रिया किसी सामंजस्य की ओर बढ़ती है तो हम मनस् के केन्द्र में होने का उचित रूप से अनुमान कर सकते हैं, परन्तु मनस् के पास जो एकता रहती है उसका रूप कठिनाई से निश्चित होता है। यह सम्भव है कि एक ओर व्यक्तित्व और दूसरी ओर व्यक्तित्वों का सामाजिक संगठन उसके ठोस तत्त्वों की पर्याप्त अभिव्यक्ति होने के वजाय उसकी रचनाएँ हों।[1]

यदि यह सत्य है, तो मनस् का वह भाग जिसे हम **आवेग** कहते हैं, वह जीव-जगत् में केवल **जैविक हितों** से ही सम्वन्धित नहीं होता वरन् उसी समय वह जगत् के उस नियम से भी सम्बन्धित होता है जिसे हॉबहाउस **प्रयत्न** से सम्बोधित करता है, और तब सम्भवतः, जैसा वह अन्तिम वाक्य में संकेत करता है, व्यक्तित्व तथा मानव-समाज इस सार्वभौम विश्वव्यापी "प्रयत्न" की ही रचना हैं। इस प्रकार व्यक्तित्व एक तरह का जगत् का लक्ष्य हो सकता है, जिसे

1. L. T. Hobhouse, *The Rational Good*, (Geo., Allen and Unwin), pp. 229, 230.

प्राप्त करने के लिए मनुष्य का मस्तिष्क और उससे उत्पन्न बुद्धि उपकरण बन सकती है।

II. मानसिक प्रक्रियाएँ

किन्तु अब हम अपना अगला कदम मनस् के दर्शन में उठाने के लिए तैयार हैं। हमें निरन्तर यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मनस् एक बहुत जटिल वस्तु है, वह केवल उन्हीं चीज़ों को सम्मिलित नहीं करता जिन्हें हम साधारणतः मानसिक अथवा बौद्धिक प्रक्रियाएँ कहते हैं, वरन् मौलिक प्रवृत्तियों, रुचियों तथा आवेगों को भी सम्मिलित करता है। इन वस्तुओं का अध्ययन हम करते रहे हैं, अब हमें उन विशिष्ट मानसिक प्रक्रियाओं की ओर बढ़ना चाहिए, जिन्हें हम कभी-कभी **बुद्धि** शब्द के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं।

यहाँ हमें उन संप्रदायों की प्रणालियों का अनुसरण करना चाहिए, मनस् के दर्शन पर जिनकी बहुमूल्य कृतियों का हमने पिछले अध्यायों में अध्ययन किया है—अर्थक्रियावादियों की, व्यवहारवादियों की और नव्य-वास्तववादियों की। हम अपना अध्ययन उद्दीपन तथा अनुक्रिया करने वाले गुणों से युक्त जीव से आरम्भ कर सकते हैं, और हम प्रतिक्रिया-चाप से लेकर अनुवर्तनों तथा मूल प्रवृत्तियों के माध्यम से मनस् के विकास का पता लगाकर अनुकूलनशील व्यवहार के प्रथम दिखाई देने तक पहुँच जाते हैं; और तब हम यह दिखला सकते हैं कि यह वही अनुकूलनशील व्यवहार है जिसे हम **मानसिक** कहते हैं। हम यह भी बतला सकते हैं कि जिसे हम मनस् कहते हैं वह एक प्रकार का व्यवहार होता है, अर्थात् उसमें चयनात्मक नियन्त्रण तथा विशेष अनुक्रिया सम्मिलित होती है। मनस् एक ऐसी क्षमता होती है जिसे जीव महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओं के अधिकाधिक उच्च एकीकरण के परिणामस्वरूप प्राप्त करता है। यह एक ऐसी क्षमता होती है जो किसी भी नई परिस्थिति में एकक के प्रति ऐसी प्रतिक्रिया करना होता है जिसमें वह अपने हितों की रक्षा तथा उनकी वृद्धि कर सके। यहाँ तक तो यह व्यवहारवादियों की कार्य करने की सामान्य पद्धति है, इसके पश्चात् हम यह दिखाते हुए इस वस्तुनिष्ठ और निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण की अनुपूर्ति कर सकते हैं कि जिसे हम अन्य लोगों के सम्बन्ध में **व्यवहार** और **मनोवृत्ति** की संज्ञा देते हैं, उसे स्वयं **अपरोक्षानुभूति** के आधार पर, हम **चेतना** अथवा **अनुभव** कहते हैं।

ये सब बातें उचित होतीं, यदि हमने मनस् के उस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग के विचरण को अलग न छोड़ दिया होता जिसका हम अभी-अभी अध्ययन कर रहे थे, अर्थात् व्यवहार की महत्त्वपूर्ण आवेगात्मक चेष्टाएँ अथवा उत्पत्तियाँ और यह निश्चय ही हमें मनस् का दृढ़ तथा वैज्ञानिक दर्शन प्रदान करेगा। तब वास्तव में, यदि हम चाहें तो परामानसिकीय विकास के इन दूसरे स्तरों तक के लिए **मनस** के इस संकुचित अर्थ को सीमित कर सकते हैं, अर्थात् बुद्धि अथवा

अनुकूलनशील व्यवहार तक के लिए—और उससे व्यापक शब्द आत्मा को समस्त आवेगों, क्रियाओं, तथा सम्बन्धों के समूह के लिए उपयोग कर सकते हैं, जिनका हम आवेग, बुद्धि तथा चेतना से भेद करते हैं।

किन्तु मैं समझता हूँ कि इस पद्धति से भी अच्छी पद्धति एक और है। यह पाठकों को रूखी सैद्धान्तिक तथा अमूर्त प्रतीत होगी; यह अत्यन्त ही जीवपरक होगी। जव वह पूर्ण होगी तो वह कह सकता है, "यह सब मनस् का बहुत सुन्दर दर्शन है, किन्तु यह पर्याप्त रूप से इन्द्रियानुभविक नहीं है। मनस् के दर्शन को और अधिक अपरोक्ष अनुभव के तथ्यों से आरम्भ होना चाहिए, यह आवश्यक नहीं कि वे मेरे अपने ही विषयीनिष्ठ अनुभव से आरम्भ हों, बल्कि उन्हें मानसिक क्रिया के सुगठित रूपों से आरम्भ होना चाहिए। उसे चिन्तन, भावना, संकल्पन, प्रत्यक्षीकरण, स्मृति, तथा तर्क से आरम्भ होना चाहिए—न कि प्रतिक्रिया-चापों और साइनेप्सों, जैसी शारीरिक चीज़ों तथा अनुकूलनशील व्यवहार से आरम्भ होना चाहिए। लोग व्यवहार नहीं करते—वे चिन्तन करते हैं, तर्क करते हैं, स्मरण करते हैं और भूलते हैं और प्यार तथा घृणा करते हैं।"

इन्द्रियानुभविक उपागम

अच्छा, तो मान लीजिए, सुपरिचित मानसिक तथ्यों को हम और अधिक सुपरिचित इन्द्रियानुभविक रूप से आरम्भ करें, और तत्पश्चात् हम सम्भवत: इन परिणामों को अपेक्षाकृत कम परिचित शारीरिक तथ्यों से मिलाएँ। मान लीजिए, हम एक ऐसा प्रश्न, एक कॉलेज के विद्यार्थी, एक व्यापारी, और दुकान के एक कर्मचारी से करते हैं कि "क्या मानसिक प्रक्रिया जैसी कोई चीज़ें होती हैं, यदि होती हैं, तो कुछ का उल्लेख करें।" वह उत्तर देगा, "हाँ, क्यों, अवश्य होती हैं, चिन्तन करना, भावना होना, स्मरण करना, भूलना, प्रेम करना, घृणा करना और दु:ख अथवा सुख आदि होते हैं।" स्पष्ट है कि ऐसी बातों का अस्तित्व होता है, और इनके विषय में चर्चा उसी प्रकार हो सकती है जैसे किसी भण्डार तथा ऋण-पत्र, मक्खन और पनीर, सड़क तथा गलियों का अस्तित्व होता है और उनके विषय में चर्चा हो सकती है। उसी प्रकार चिन्तन तथा तर्क, याद तथा योजना, पसंद तथा नापसंद का अस्तित्व होता है, और फिलहाल इससे कुछ अन्तर नहीं होता कि वे वस्तुएँ हैं या प्रक्रियाएं, अथवा सम्बन्ध हैं या शक्तियाँ, अथवा मस्तिष्क की स्थितियाँ हैं, अथवा यहाँ तक कि अन्त:स्रावी ग्रंथियों के रसने की क्रिया है, उनका मात्र अस्तित्व होता है और वे रुचिकर होती हैं। और इस बात से कभी कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता कि हम उन्हें किस तरह से जानते हैं, अन्तर्निरीक्षण द्वारा अथवा अन्त:प्रज्ञा द्वारा, तात्कालिक अनुभूति अथवा केवल अन्य व्यक्तियों के व्यवहार को देखकर; उनका अस्तित्व तो ठीक वैसा ही रहता है। वे वास्तविक हैं, और कोई भी सत्ता इतनी वास्तविक नहीं होती जितनी

वास्तविक ये मानसिक वस्तुएँ होती हैं। मनुष्य के दैनिक जीवन में अति-वास्तविक वस्तुएँ, मक्खन, पनीर, लकड़ी, लोहा, भोजन अथवा धन नहीं होतीं, किन्तु सुख-दुःख, भय तथा ईर्ष्या, लालसाएँ तथा महत्त्वाकांक्षाएँ, निर्णय, भावावेश, अभिलाषाएँ तथा खेद, संताप तथा पाप होती हैं। यदि इच्छाएँ न होतीं तो धन का कोई भी महत्त्व न होता।

तो, हमने मनस् के दर्शन के अध्ययन में अच्छी शुरुआत की है; हमने देखा कि कुछ प्रक्रियाओं का, जिनका हम उल्लेख कर चुके हैं, एक वास्तविक अस्तित्व होता है, और उनके विषय में चर्चा तथा अध्ययन किया जा सकता है। सर्व-सम्मति से वे रुचिकर होती हैं और सामान्यतः उन्हें मानसिक कहा जाता है, और मकान, मेज़-कुर्सी तथा पशु आदि जैसी भौतिक वस्तुओं से उनका भेद किया जाता है।

किन्तु इन सब वस्तुओं में और इन समस्त प्रक्रियाओं में वह कौनसी सामान्य चीज़ है जिसे हम मानसिक कहते हैं ? वस्तुतः वे किसी जीव, पशु अथवा व्यक्ति के व्यवहार के रूप प्रतीत होते हैं। वे सभी किसी कर्त्ता के किसी विषय के लिए संकेत के पर्याय हैं। वे किसी विषय के लिए कर्त्ता की प्रवृत्तियाँ होते हैं। कोई कर्त्ता, सम्भवतः एक जीव, किसी उद्देश्य की ओर बढ़ रहा है; कोई पशु सम्भवतः किसी अन्य पशु का पीछा कर रहा है अथवा उससे बच रहा है; अथवा सम्भवतः कोई कर्त्ता किसी बात से सुखी अथवा दुःखी है अथवा किसी वस्तु के प्रति संज्ञानात्मक दृष्टिकोण रखता है—अर्थात् उसे जानता है, अथवा स्वीकार करता है। इन तीन प्रकार के उल्लेखों में सभी में किसी कर्त्ता का किसी विषय के साथ व्यवहार होने का यह तत्त्व सामान्य है।[1]

इसलिए, वस्तुतः ये बातें अथवा प्रक्रियाएँ, जिन्हें हम मानसिक कहते हैं, पुरुष, स्त्री अथवा बच्चों के व्यवहार के ही प्रकार हैं, अथवा सम्भवतः उच्चतर पशुओं के व्यवहार के प्रकार हैं। और चलिए फिलहाल हम उन पर वस्तुगत रूप से विचार करें—उस मानव-इतिहास के नाटक में स्पष्ट तथा खंडन न किए जा सकने वाले तथ्यों के वर्ग की तरह, जो हमारे अथवा पशु-जीवन के विकास के समक्ष खोला गया है। निश्चय ही हममें से प्रत्येक को यह बात तत्काल कहने के लिए महसूस होती है कि जगत् में चारों ओर मानसिक व्यवहार के प्रदर्शन का बिल्कुल ही भिन्न पक्ष होता है, जैसा कि वह किसी की आन्तरिक चेतना में व्यक्त होता है, अनुभव के आन्तरिक चेतन जीवन में, जो उसे **अन्तःनिरीक्षण** में प्राप्त होता है। यह बात सच है, किन्तु केवल प्रयोग के निमित्त, हम मानसिक जीवन को अपने विवरण से अलग कर दें, यदि वस्तुनिष्ठ रूप से मनस् का दर्शन बनाना सम्भव हो जैसे हम प्रकृति का दर्शन बना चुके हैं। वह व्यवहारवादी, जो

1. तुलना कीजिए : John Laird, *Problems of the Self*, chap. II.

चेतना का खंडन करता है और अन्तर्निरीक्षण की प्रणाली पर सन्देह करता है; मानसिक तथ्यों को वस्तुनिष्ठ रूप से जाने हुए तरीकों से अध्ययन करता है। कुछ समय के लिए हम भी उसकी प्रणाली अपना लें। वह भी आदतों, मूल-प्रवृत्तियों, संवेगों, भ्रमों, स्वप्नों, विचार, स्मृति, भय, थकान, अनुकरण तथा व्यक्तित्व के विषय में चर्चा करता है।[1]

किन्तु पाठक इस स्थल पर बीच में रोक कर पूछ सकता है, "आखिरकार, मनस् की वे मानसिक प्रक्रियाएँ तथा तथ्य, जिनकी वास्तविकता, रुचि तथा महत्त्व मुझे अवश्य स्वीकार करना चाहिए, शारीरिक प्रवृत्तियों, मस्तिष्क की स्थितियों, अन्तस्त्वचिका के कार्यों अथवा प्रेरक केन्द्रों, अथवा अनुबंधित प्रतिवर्तों के कार्यों के अन्यथा और कुछ नहीं हैं ?"

खैर, यदि उनका उल्लेख केवल शारीरिक अभिवृत्ति की भाँति वस्तुनिष्ठ होता और मेरे व्यक्तिगत जीवन के अंग की भाँति किसी आन्तरिक अर्थ का उल्लेख नहीं होता तो भी ये प्रक्रियाएँ वास्तविकताएँ होतीं और वे मानसिक वास्तविकताएँ ही होतीं। यदि तुम प्रेम, घृणा महत्त्वाकांक्षा, लोभ, पश्चात्ताप, चिंतन, आविष्कार, तर्क, जैसी वस्तुओं के जगत् के इतिहास में इनके परिणामों पर विचार करो तो यह देखोगे कि हम वास्तविक चीज़ों के साथ काम कर रहे हैं, यदि तुम उन्हें भौतिक शब्दों में अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करोगे तो यह अनुभव करोगे कि तुम उन्हें उनके वास्तविक नाम नहीं दे रहे हो।

यदि हम मानसिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण मनस्-उपादान यथा परमाणुओं, अणुओं अथवा कोशों की तरह सरल तत्त्वों में करें, तो भी हम मानसिक प्रक्रियाओं की वास्तविकता के समीप नहीं पहुँच पाते। मक्खन और पनीर बहुत उपयोगी तथा मनपसन्द वस्तुएँ हैं। जब यह पता लग जाता है कि वे कार्बन, ऑक्सीजन तथा हाइड्रोजन का मेल हैं तो उनकी वास्तविकता समाप्त नहीं हो जाती। जब मक्खन और पनीर को यह पता चले कि वे सम्मिलित प्रकृति के हैं तो उन्हें मुँह लटका लेने की और यह कहने की आवश्यकता नहीं होगी, "हमने सोचा था कि हम अन्तरंग मूल्य वाली सत्ताएँ हैं और अब हम यह देखते हैं कि हम कार्बन, ऑक्सीजन तथा हाइड्रोजन के कार्यों के अन्यथा और कुछ नहीं हैं।" ऐसे मामलों में "के अन्यथा" में एक दोष छिपा होता है। मक्खन और पनीर में रासायनिक तत्त्व वास्तविकताएँ नहीं होतीं, वे केवल पदार्थ होते हैं। वास्तविकता रूप में, संगठन में और गुणों में होती है, जो कि संगठन से उत्पन्न होते हैं।

यदि इस तथ्य को पूर्ण रूप से समझ लिया जाए तो यह हमेशा के लिए भौतिक परिस्थितियों के अध्ययन से उत्पन्न मानसिक जीवन की भौतिक अवनति

1. तुलना करो : वाट्सन की पुस्तक *'Psychology from the Standpoint of a Behaviorist* की तालिका।

के भय को समाप्त कर देगा। हमारे मानसिक जीवन की वस्तुएँ द्रव्य अथवा प्रक्रियाएँ नहीं हैं, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, वे आध्यात्मिक हैं। हमें जिसे याद रखना है वह बात यह है कि यदि हम **वास्तविकता** के विषय में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि हमारे मानसिक जीवन से अधिक कुछ भी वास्तविक नहीं है या नहीं हो सकता है। यह धारणा कि उसे कुछ और अधिक वास्तविकता में ढाला जा सकता है, जैसे द्रव्य, गति, मनस्-उपादान विद्युत्-आवेग में, तो वह भ्रम से ही उत्पन्न मानी जाएगी। मानसिक प्रक्रियाओं को शरीर, मस्तिष्क, प्रतिक्रिया-चापों, साइनेप्सों, अथवा इन्डोक्रीन ग्रंथियों के द्वारा समझने की यह बात भी ग़लतफहमी के कारण होती है। ये सब, निस्संदेह रूप से, सत्य हैं, किन्तु संरचना की आकृति को पूर्ण करने में सहायक होकर वे अपना प्रयोजन पूरा कर चुके होते हैं। वे अब पीछे का स्थान ग्रहण कर शान्त बैठ सकते हैं। अब उन्हें छोड़ कर आगे बढ़ा जा चुका है। हम उच्चतर वास्तविकता अथवा बृहत्तर मूल्यों के क्षेत्र में आ चुके हैं।

अपने मनस् में हम वास्तविकता की अपरोक्ष उपस्थिति में होते हैं। ऐसे सभी सिद्धान्त जो भौतिकवाद, प्रकृतिवाद, परमाणुवाद, और यहाँ तक कि उस चित्तवाद में भी, जो मानसिक तथ्यों के बजाय किसी बृहत्तर सत्ता की ओर लौट कर जाने का प्रयत्न करते हैं, अथवा विश्लेषण के द्वारा अन्दर घुस कर वास्तविकता के तत्त्वों तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं, बहका देने वाले हैं। अरस्तू ने भी मनस् को शरीर के रूप की अवधारणा बता कर, और द्रव्य तथा रूप के मिलाप से विकास की प्रक्रिया द्वारा प्राप्त सत्ता बता कर, और इस सत्ता को बीजभूत सत्ता बता कर हमें और अधिक विश्वसनीय दर्शन प्रदान किया है।

अब तक हमने कम से कम एक उपयोगी पाठ सीखा है। हमने सीखा है कि मानसिक प्रक्रियाएँ, विचार, भावनाएँ, भय, महत्त्वाकांक्षाएँ, दुःख, सुख, निर्णय, क्रियात्मक स्थितियाँ वास्तविक चीज़ें हैं, और शब्द को चाहे जितना भी क्यों न खींचें यह वास्तविकता में कोई कमी नहीं लाता। यह उपलब्धि कम नहीं है; मान लो कुछ मनोवैज्ञानिकों के साथ सहमति करते हुए हम मनस् को मानसिक प्रक्रियाओं का योग मानते हैं जो मानसिक जीवन की पूर्णता को व्यक्त करने के लिए सुविधाजनक शब्द है, तो भी हमने मनस् के दर्शन को प्राप्त करने में कुछ न कुछ प्रगति की है।

और वास्तव में ऐसा प्रतीत होगा कि हमने अभी तक ऐसी कोई अवैधानिक मान्यताएँ उनसे अधिक नहीं बनाई हैं जो वैज्ञानिकों द्वारा तथ्यों और वस्तुओं को एकत्र करने में बनाई जाती हैं। जैसा देखा गया है कि सर्वाधिक स्वीकृत व्यवहारवादी दर्शन तथ्यों का वर्णन करने में उन्हीं शब्दों का प्रयोग करता है जिनका वह अध्ययन कर रहा है। विश्व के इतिहास में चिन्तन केवल इसलिए शक्तिशाली कारण होने से ही नहीं रुक जाता कि उसका वर्णन बहुत ही समाकलित

शारीरिक क्रिया के तौर पर किया जाता है। जैसा व्यवहारवादी स्वीकार करते हैं[1] कि यह केवल मान्यता मात्र हो है कि यह एक समाकलित शारीरिक क्रिया है। किन्तु यदि ऐसा हो, तो भी क्या है ? ऐसा वर्णन करने से विचार का "पतन" अथवा भौतिकीकरण नहीं होगा। आवश्यक क्रिया, संगठन, संरचना और उच्च स्तर के समाकलन जैसे संप्रत्ययों को प्रस्तुत करते हुए व्यवहारवादी सत्ताओं के अद्भुत तथा नवीन समूह की चर्चा कर रहा है जो उतनी ही "श्रेष्ठ" तथा सम्माननीय है जितने विचार तथा संवेग होते हैं। केवल विचार और संवेग ही हैं जिनके विषय में हम बतला रहे हैं।

व्यक्तित्व

किन्तु अब परिस्थिति में एक और ज्ञानवर्धक तथ्य दिखाई पड़ता है। अपनी विषयनिष्ठ प्रणाली में बराबर खटकने वाली बात "अहं" क्या है। मानसिक जीवन केवल विचारों का प्रवाह, केवल संवेदनों का समूह और केवल योगात्मक रूप में संगृहीत शृंखला ही नहीं है, वरन् एक अद्भुत एकात्मकता है जो व्यक्तित्व का रूप ले रही है। यहाँ भी कुछ नवीन बात सामने आती है, कुछ बहुत समादर तथा महत्त्व की बात अर्थात् स्वयं मनुष्य, अहम्, व्यक्तित्व, आत्मा की बात, यदि मुझे इस वहिष्कृत शब्द का उपयोग करने की अनुमति दी जाए, तो एक ऐसा शब्द जिसके अर्थ की समृद्धि सम्भवत: तब पुन: लौट आएगी जब मनोविज्ञान अपने वेडौल स्तर को पार कर आगे बढ़ जाएगा।

जॉन लेयर्ड से लिया गया निम्नलिखित उद्धरण मनस् की एकता के इस महान् तथ्य को स्पष्टत: प्रकाश में लाता है:

> यह बिल्कुल सत्य है कि कोई भी अध्ययन इतनी उलझन वाला और फिर भी इतना रुचिकर नहीं होता जितना मनुष्यों का अध्ययन और अन्त में स्वयं अपना अध्ययन। हालाँकि दिनभर की व्यस्तता का भार एक सामान्य व्यक्ति के पास बहुत थोड़ा ही समय विमर्शात्मक चिन्तन के लिए छोड़ता है तो भी वह अन्य लोगों के व्यक्तित्व में और उन कठिन प्रश्नों में भी गहन रुचि लेता है जो उसे अपनी तथा उनकी आत्माओं के लिए उत्सुक कर देते हैं। इसके अतिरिक्त मानव-रुचि के महान् विषय व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं और स्वयं व्यक्तित्व से प्रभावित होते हैं। नाटक, उपन्यास, इतिहास तथा जीवन-गाथा का उल्लेख देकर इस कथन को सिद्ध करना अत्यावश्यक है। यह बात इतनी स्पष्ट है कि टिप्पणी की ज़रूरत नहीं है, और केवल इस कौतूहलपूर्ण तथ्य से उदाहरण देकर बता देना ही पर्याप्त है। वे लोग, सामान्यत: जिन्हें जीवन-गाथाओं के अध्ययन में बहुत रुचि नहीं है, भी साहित्य के महान् लेखकों के व्यक्तिगत इतिहास में रुचि लेते हैं तथा

1. Watson, *op. cit.*, p. 326.

उनकी कृतियों के अथवा कम से कम उन लेखकों के अन्तरंग जीवन-चरित्र में अत्यधिक रुचि लेते हैं। इसके अतिरिक्त और कैसे ओडिसी के छायात्रादी लेखक पर समर्पित वर्षों की चर्चा तथा साहित्य को समझाना सम्भव होगा, अथवा शेक्सपियर के जीवन-चरित्र के विषय में जो थोड़ा-बहुत ज्ञान है उसे समझाना कैसे सम्भव होगा ? इसका कारण खोजना बहुत कठिन नहीं है। जैसे सेमुअल बटलर ने कहा है, "प्रत्येक व्यक्ति का कार्य, चाहे वह साहित्य हो, अथवा संगीत, अथवा चित्रकारी, अथवा वास्तुकला, अथवा कुछ भी क्यों न हो, उसकी अपनी ही प्रतिभा होती है। और जितना ही वह अपने को छिपाने की चेष्टा करता है उतना ही उसका चरित्र स्पष्ट होता जाता है"...यह सम्भव है कि उसकी समस्त कृतियों से स्वयं कलाकार अधिक रुचिकर हो, किन्तु उसका आचरण तथा चरित्र प्रायः ध्यान को उसकी किसी भी अन्य कृति की अपेक्षा अधिक रोमांचकारी ढंग से आकर्षित करता है और इस प्रकार सभी वस्तुओं में आत्मा केन्द्रीभूत होती है जो मनुष्य की अन्तरात्मा को छू लेती है।[1]

व्यक्तित्व के विषय में बताते हुए हम उसे विषयनिष्ठ अर्थ में ही प्रयोग कर रहे हैं—ठीक उसी तरह जैसे कि हम रोजमर्रा के जीवन में अन्य व्यक्तियों के लिए उसका प्रयोग करते हैं। **स्व** अथवा **अहम्** अथवा यहाँ तक कि **आत्मा** शब्द का प्रयोग भी हम यह मानकर नहीं करते कि उसमें किसी ऐसी रहस्यमय सत्ता का निवास है जैसी कि हमने पहले आत्मा अथवा अंतरात्मा के सम्बन्ध में बतलाई थी। हम ऐसे व्यक्तित्व के विषय में बता रहे हैं जिसका अनुभव हम प्रतिदिन करते हैं। यदि तुम चाहो तो व्यवहारवादियों की भाषा का आश्रय लेते हुए "परम्परागत या अर्जित प्रतिक्रियाएँ तथा उनके समाकलन" का योग अथवा व्यक्तित्व की समस्त लाभकारी सम्पत्ति तथा दायित्वों की प्रतिक्रिया के पक्ष में "संगठित आदतों, समाजीकृत तथा नियंत्रित सहज प्रवृत्तियों, तथा समाजीकृत और संतुलित संवेग इनके बीच मेल और आपसी सम्बन्ध" भी कह सकते हैं। अथवा श्री लेयर्ड की भाँति, आप इन्हें हमारी मानसिक प्रक्रियाओं का संगठन कह सकते हैं। हम इसे चाहे कुछ भी कह कर पुकारें हम सभी यह जानते हैं कि व्यक्तित्व के समान **वास्तविक** और उतना शक्तिशाली और कुछ नहीं है। यह व्यक्तित्व ही है जो हमारे सामाजिक जीवन, व्यापारिक जीवन, कॉलेज और विश्वविद्यालय के जीवन और घरेलू जीवन में महत्त्व रखता है।

यह व्यक्तित्व की विशेष प्रभावित करने वाली शक्ति और आत्मा की विलक्षणता और एकता का ही स्पष्ट तथ्य है जिसने सदियों से यह धारणा बना

---

1. John Laird, *Problems of the Self* (copyrighted by The Macmillan Company, reprinted by permission), pp. 1, 2.

रखी है कि मनुष्य का व्यक्तित्व एक प्रकार की सत्ता अथवा ऐसे द्रव्य में आधारित होता है जिसे आत्मा कहते हैं, जो अविभाज्य तथा अविनाशी सत्ता है। यह द्रव्य इस अर्थ में है कि "यह ऐसी अपरिवर्तनशील सत्ता है जो अनुभव के परिवर्तन में भी बराबर बनी रहती है।"

आत्मा के सम्बन्ध में सोचा जाता है कि उसमें ऐसे अनुभव होते हैं जैसे कि वह चिन्तन कर सकती है, उसकी भावनाएँ होती हैं, वह प्रयत्न और कार्य कर सकती है। निस्संदेह, यह बात अंशतः परमाणु अथवा रेत के कण के सादृश्य पर भौतिक वस्तुओं के तरीके से आत्मा की एकता, तथा तादात्म्य की आवश्यकता का अनुभव करके प्राप्त हुई है। ऐसी आत्मा मस्तिष्क के एक विशेष भाग में "स्थित" पाई जा सकती थी, जैसा देकार्ते ने किया है, और निश्चय ही वह आत्मा मृत्यु के समय शरीर को त्याग कर अमर भी मानी गई थी। निश्चय ही आत्मा के विषय में इस प्रकार सोचना अंशतः अरस्तू के तर्कशास्त्र तथा तत्त्व-मीमांसा के कारण हुआ है, जिसने द्रव्य के सिद्धान्त पर बल दिया है। इस मत के अनुसार प्रत्येक वस्तु या तो द्रव्य है अथवा द्रव्य का गुण है और चूँकि चिन्तन, अनुभव करना, प्रयत्न तथा कार्य करना द्रव्य नहीं हैं, उन्हें अवश्य ही किसी अंतर्निहित द्रव्य के गुण होना चाहिए। इस दृष्टिकोण में कठिनाइयों तथा ग़लतियों की ओर संकेत करना हमें भटका देगा। इतना कह देना पर्याप्त होगा कि जहाँ तक मनस् की सामान्य समस्या का प्रश्न है, हमारे नवीन विकासवादी चिन्तन के तरीके ने इसे परिवर्तित कर दिया है। जटिलता के स्थान पर सरलता वास्तविकता का आधार हो सकती है। सम्भवतः व्यक्तित्व जटिलता की पराकाष्ठा का प्रतिनिधित्व करता है, तथापि वह वास्तविकता की पूर्णता का प्रतिनिधित्व करता है।

इसके परिणाम में **आत्मा, जीवात्मा,** अथवा एक ऐसा व्यक्तित्व होता है जिसमें एकता, सातत्य तथा व्यक्तिगत तादात्म्य होता है। जीवात्मा की वास्तविकता स्वयं उसके अंगों में नहीं किन्तु अंगों के **सम्बन्धों** में पाई जा सकती है। विन्डलबेंड कहता है कि वस्तु "हमेशा ही गुण-धर्मों का और संश्लेषित एकता का सम्बन्ध है, जिनके कारण वह केवल एकत्रित ही नहीं वरन् आवश्यक रूप से संगठित भी होती है। इस तरह हम रासायनिक द्रव्यों की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि वे ऐसे परमाणुओं की आणविक एकता हैं जिनका सहअस्तित्व आकस्मिक नहीं है वरन् वह इस एकता पर ही आधारित होता है।"[1]

---

1. Wilhelm Windelband, *Introduction to Philosophy*. Translated by Joseph McCabe, p. 71.

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि व्यक्तित्व एक तथ्य है—एक वास्तविकता; एक अस्तित्ववानवस्तु, यहाँ तक कि यदि आप चाहें तो उसे वस्तु भी कह सकते हैं। (इन शब्दों पर चर्चा की तुलना [illegible] की पुस्तक "दि न्यू रेशनलिज़्म", अध्याय XLIV से करो।)

मनस् वही है जो वह करता है

किन्तु सम्भवतः हम एक कदम और आगे ले सकते हैं। हम मनस् के विषय में इसके अलावा कुछ और भी जान सकते हैं, वह यह कि वह मानसिक प्रक्रियाओं की व्यवस्था है जो व्यक्तित्व का रूप धारण कर रही हैं। ऐसा होने के लिए यही अधिक लाभदायक होगा कि हम यह अध्ययन न करें कि मनस् क्या है, वरन् यह कि वह क्या करता है। यह पुरानी अवधारणा कि तुम विश्लेषण करके, थोड़ा-थोड़ा कर उसे समेट कर और उसे तत्त्वों में विभाजित करके, किसी वस्तु की तह तक पहुँच जाओगे, मनस् के अध्ययन में प्रतिफलित नहीं होती। यदि हम दूसरा मार्ग अपनाएँ और यह जाँच करें कि मनस् की शक्तियाँ, उसकी क्षमताएँ क्या हैं तो हम बहुत अंशों तक आगे बढ़ जाते हैं। जब हम मनस् के अध्ययन की इस पद्धति को अपनाते हैं तो हम सहसा यह पाते हैं कि उसमें अन्य सत्ताओं से भेद कर लेने की विलक्षण शक्तियाँ विद्यमान हैं। इन शक्तियों में प्रथम तथा सबसे अधिक लक्षणपरक है अनुकूलनशील व्यवहार की शक्ति, जो पहले ही देखी जा चुकी है। जहाँ कहीं हम जीवों को परिस्थिति के अनुसार अनुक्रिया करते देखते हैं, "अपने अनुभव का लाभ उठाते हुए आवश्यकता के अनुसार आचरण करते हुए देखते हैं", "परिस्थितियों का नवीनताओं में अभियोजन करते हुए, और ये अभियोजन जिनके लिए परिचित अनुक्रियाएँ नहीं होतीं", जहाँ कहीं परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए जैव प्रकृति का पुनर्गठन किया जाता है और जिसके अन्यथा जीवन-व्यापार समाप्त हो जाएगा, वहाँ मनस् होता है। मनस् अपने अस्तित्व का दृढ़ता से प्रतिपालन करने वाला तथा अपना अस्तित्व बनाये रखने वाला है।

मनस् के होने का क्या अर्थ है यह वुडब्रिज ने निम्न प्रकार से कहा है:

> आज मनोविज्ञान में यह धारणा सामान्य बात बन गई है कि **मनस्** है का अर्थ है किसी "विशेष प्रकार से कार्य करना"। चिन्तन करना एक साहसिक कार्य करना तथा अभियोजन कार्य में यह एक वास्तविक उपकरण माना गया है। ज्ञान अब केवल मानसिक प्रतिलिपि अथवा वस्तुगत क्रम की प्रतिभा नहीं माना जाता, और जानना घटनाओं के क्रम में सक्रिय

आगे लेयर्ड की पुस्तक "प्रोब्लेम्ज ऑफ़ दि सेल्फ", अध्याय XII और XIII की तीक्ष्ण व्याख्या से पता चलेगा कि अन्ततोगत्वा आत्मा एक "द्रव्य" है। यह निश्चय ही, वास्तविकता अपरिवर्तनशील तत्त्व अथवा मूल पदार्थ के भौतिक अर्थ में नहीं, वरन् भौतिक अनुभवों की आधुनिक व्यवस्था के अर्थ में होगा। सम्भवतः आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में पूरा विवाद "द्रव्य" को बहुत गम्भीरता से लेने के कारण ही उत्पन्न हुआ है। उदाहरण के लिए, लात्से जीवात्मा (आत्मा) को एक सरल और अविभाज्य द्रव्य कहता है, किन्तु वह कहता है कि यह उसकी एकता को बताने के लिए अनभिज्ञता के कारण है। (*Metaphysics*, English translation, vol. II, pp. 173—74.)

भाग लेता है। दूसरे शब्दों में, वस्तुओं के प्रति सचेत होने का अर्थ यह नहीं है कि उनके परामानसिकीय तुल्यांकों को पास में रखा जाए, अथवा ऐसी बात की चेतना को भी सम्मिलित किया जाए जो किन्हीं भी वस्तुओं के तुल्य हो और जगत् का पूरा प्रतिनिधित्व करती हो। बल्कि उसका अर्थ यह होता है कि वस्तुओं के साथ प्रभावशाली ढंग से कार्य कर सकता हो, उसकी खोज कर सकता हो और उसे टाल सकता हो, परिवर्तन कर सकता हो—संक्षेप में अनुभव को व्यवस्थित कर सकता हो। मनस् की यह नवीनतर अवधारणा मनोविज्ञान से परे भी विस्तृत हो चुकी है और अब मानव-विज्ञान तथा समाज-विज्ञान को भी प्रभावित कर चुकी है।[1]

अतः मनस् एक क्रिया है, बल है, शक्ति है, और विकास में, विकासात्मक आन्दोलन को उत्कर्ष पर लाते हुए वह एक नवीन बल और शक्ति है। ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी के इतिहास के क्रमिक स्तरों में प्रस्तुत शुद्ध यांत्रिक रूप से रासायनिक, तत्पश्चात् जैविक और फिर परामानसिकीय सृजनात्मक संश्लेषण, एक प्रकार से गुणोत्तर सीढ़ी से विकसित होता है। मानव-मन की सृजनात्मक शक्ति कठिनाई से ही किसी सीमा में बँधना जानती है। मनस् में प्रकृति एक उच्च-तर स्तर पर पहुँचती है, एक ऐसी नवीन वास्तविकता को जन्म देती है, जिसका वर्णन करने के लिए एक नवीन शब्दावली की आवश्यकता है। मनस् में न केवल भविष्य का निर्माण करने और उसे प्राप्त करने के लिए वर्तमान को नियंत्रित करने की शक्ति होती है, अपितु वह मूल्यों के क्षेत्र में भी दक्ष होता है, वह इन मूल्यों की रचना करता है, और फिर उन्हें प्राप्त करने के लिए समस्त कठिनाइयों को पार करता है, उसके कार्य-क्षेत्र हैं, विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य तथा समालोचना। वह अपने समेत समस्त जगत्-प्रक्रिया का सर्वेक्षण तथा समालोचना करता है, आत्म-संयम तथा आत्म-निर्देश उसके ही क्षेत्र में होते हैं। वह जगत् को न केवल जानता और उसका अध्ययन करता है किन्तु उस पर प्रभाव रखता है और उसका नियंत्रण करता है। निम्नस्तरीय पशुओं में सबसे शक्तिमान भी उसके सामने डर से दुबक जाता है और आज्ञाकारी बन जाता है। इसी प्रकार प्रकृति की शक्तियाँ मनस् के अधीन होती हैं। अपने उद्देश्य के निमित्त वह ऊर्जा के प्रत्येक रूप, जैसे आणविक, रसायन सम्बन्धी ऊर्जा, ताप सम्बन्धी ऊर्जा तथा विद्युत् की दिशा को मोड़ता है और स्वयं अपने पर्यावरण में सुधार करता है और पृथ्वी, सागर तथा वायु पर विजय प्राप्त करता है। वह महान् व्यापारिक तथा औद्योगिक धंधे आरम्भ करता है, और लगभग विलक्षण ढंग से उनके स्रोतों तथा उनमें व्यय करने के तरीकों का रहस्योद्घाटन करता है।

1. F. J. E. Woodbridge, article on "Pluralism" in Hastings's *Encyclopedia of Religion and Ethics*.

मनस् के पास न केवल स्वामित्व का अधिकार है, अपितु उसके पास मूल्यांकन कर सकने की शक्ति भी होती है। वह प्रकृति में कुछ खोजता है, जिसे हम सौंदर्य के नाम से जानते हैं, और वह उसके समक्ष मौन रहता है; उसकी उपस्थिति में वह विशेष तथा विशुद्ध आनन्द का अनुभव करता है। भौतिक जगत् की शक्तियों के परे जाने के लिए क्या कोई अन्य प्रमाण इस सूक्ष्म मूल्यांकन कर सकने के वरदान से अधिक हो सकता है ? सौंदर्य के उत्पादन में प्रकृति को नियंत्रित करने के लिए शक्ति के अलावा कुछ नहीं है। ऐसा मनस् कला के क्षेत्र में करता है। पुनः नैतिकता के क्षेत्र में वह पहले के किसी जाने हुए की अपेक्षा आचरण के उच्चतर आदर्शों की कल्पना करता है और इन आदर्शों को प्राप्त करने के लिए स्वयं को नियंत्रित करता है। अन्त में वह मानव-समाज में सहयोग, प्रेम, शान्ति तथा संवेदन का एक ऐसा कार्यक्रम प्रस्तुत करता है जो पुरानी प्रतिस्पर्धा तथा युद्ध का स्थान ग्रहण कर ले।

ये कुछ ऐसी बातें हैं जो मनस् करता है। यदि हम आध्यात्मिक शब्द को केवल रहस्यमय अथवा तत्त्वमीमांसीय अर्थ में ही न लें, वरन् ऐसी क्रिया बताने के रूप में लें जो केवल बुद्धिमत्तापूर्ण, संवेगात्मक तथा संकल्पनात्मक ही सम्मिलित नहीं करता, अपितु मूल्यांकन की क्षमता तथा उच्चतम मूल्य की वस्तुओं का सृजन करता है, तो हम स्वयं को एक ऐसी विशेष प्रकार की क्रिया की उपस्थिति में अनुभव करते हैं जिसे हम **आध्यात्मिक** कहते हैं। होर्नले मनस् का विवरण निम्न प्रकार से करता है।

> आवश्यकता मन के ऐसे संप्रत्यय की प्रतीत होती है जो विश्व की "अनुप्रस्थ काट" मात्र न होकर विश्व से सम्बन्धित अनुभवों का एक केन्द्र हो—जो एक द्रव्य न होकर, (जैसा कि हीगल ने माना है) एक "विषयी" हो, जिसे हम विश्व में विकास-क्रम से प्राप्त एक नई शक्ति जैसी कह सकते हैं, ऐसी शक्ति वर्तमान आंकड़ों की व्याख्या में अतीत के अनुभव को प्रयुक्त करने के व्यापार से सम्पन्न है, जिसे ज्ञान के अनुपात में कार्य को आयोजित और निर्देशित करने की योग्यता प्राप्त है, जो इच्छा को नियंत्रित और नए सत्यों की खोज कर सकती है, सौंदर्य का रसास्वादन कर सकती है, प्रेम और घृणा करने में समर्थ है, दूसरों की सेवा तथा दूसरों से युद्ध कर सकती है, अपने साथियों से सहयोग कर सकती है और उन्हें यंत्रणा भी पहुँचा सकती है, जो संक्षेप में उन सभी ऊँचाइयों को प्राप्त कर सकती है तथा उन सब गहराइयों में गिर सकती है जिनकी मानवीय स्वभाव की परिधि में आने की बात स्त्री-पुरुष सभी जानते हैं।[1]

1. R. F. Alfred Hoernle, *Studies in Contemporary Metaphysics* (Harcourt, Brace and Company), pp. 242, 243.

तो हमने देख लिया कि मनस् क्या करता है, और हमारे आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार मनस् क्या करता है, यह जानने का मतलब है कि मनस् क्या है। यह एक क्रिया है, एक शक्ति है, एक प्रक्रिया है, प्रक्रियाओं का एक संगठन है, **और यह वास्तविक है, क्योंकि हम अपने दैनिक जीवन के अनुभव में इन बातों को होते हुए देखते हैं।** यह कि मनस् जगत् में एक गत्यात्मक तथा प्रभावकारी कारक है, वर्तमान युग के मनस् के दर्शन की कुंजी है। हमें यह नहीं मानना चाहिए कि मनस् क्रिया से भिन्न है, अथवा यह कि कोई रहस्यपूर्ण वस्तु, अथवा द्रव्य, जिसे हम मनस् अथवा आत्मा या अंतरात्मा कहते हैं, कार्य कर रही है। अथवा यह कि जगत् मनस् तथा पुद्गल इन दो भागों में विभक्त है। यह द्वितत्त्ववादी धारणा हमारे समक्ष प्रस्तुत तथ्यों से नहीं निकलती और अब वह दर्शन से अलग होती जा रही है।

किन्तु पहली ही नज़र में विचित्र बात यह है कि यह आवश्यक नहीं है कि वह एकतत्त्ववादी संप्रत्यय से अंतरित हो गया हो, और कोई यह कहे, "ओह, अब मैं समझा। ऐसी कोई अलग सत्ता नहीं होती, जिसे मनस् कहते हों, यह तो मानव-मस्तिष्क में ही उच्चस्तरीय व्यवस्था होती है जो यह सब कार्य करती है।" हमारे लिए ऐसे विचार की आदतों से बचना कठिन है जो किसी भी **पुद्गल** अथवा **आत्मा** जैसे तत्त्वमीमांसीय आधार में अथवा द्रव्य में वास्तविकता खोजते हैं। भौतिकी के अर्थों में जिसे हम **पुद्गल** कहते हैं वह अंतिम वस्तु होगी जिसमें ऐसी शक्तियाँ हों, यदि हम पुद्गल में शक्ति होने की बात कह सकें। अथवा यदि हम **पुद्गल** के स्थान पर परमाणु अथवा इलेक्ट्रॉन को रखना पसंद करें तो भी स्थिति सुधरेगी नहीं। यदि हम परमाणु तथा इलेक्ट्रॉन को ऐसे द्रव्य मान लें जो एक निश्चित प्रकार की क्रिया के प्रतीक होने के बजाय कार्य कर सकते हैं, तो वे चिन्तन, आयोजन, अथवा आदर्शों की रचना तथा अनुकूलनशील व्यवहार प्रदर्शित नहीं कर सकते, और न ही इस बात के कहने का कोई अर्थ होता है कि जब ये परमाणु मस्तिष्क का रूप ले लेते हैं तब वे यह कार्य कर सकते हैं। कार्य हो रहा है, किन्तु उसे परमाणु नहीं कर रहे हैं।

एकतत्त्ववाद का आदर्शवादी रूप भी उचित ज्ञान के लिए हमें सहायक नहीं होता, हालाँकि, वह भौतिकवादी एकतत्त्ववाद की तुलना में श्रेष्ठतर हो सकता है। यह कहना कि **मनस्** अथवा **आत्मा** कहे जाने वाले जगत् में एक अंतर्निहित एकता, सत्ता अथवा द्रव्य होता है, जिसकी अभिव्यक्ति हम स्वयं अपने में तथा चारों ओर के परिवेश में देखते हैं, अथवा जिसके गुण चिंतन, भावना, स्मृति तथा संकल्प हैं, ऐसा कथन भी विचारों के अनुपयोगी चिंतन की वृत्ति बन जायेगा। **मनस् के अध्ययन में वास्तविकता हमारे समक्ष होती है; हम उसकी उपस्थिति में होते हैं। हमारा मानसिक जीवन किसी गुप्त सत्ता की अभिव्यक्ति नहीं है; वही सत्ता है। एकता है, किन्तु वह अंतर्निहित एकता,**

विश्व-आधार, तथा सब वस्तुओं की पूर्वमान्यता नहीं है; अपितु वह उपलब्ध एकता, संगठन की एकता, और वास्तविक परामानसिकीय अनुभवों की एकता है।

किन्तु अब पाठक यह कह सकता है, "मैं अभी तक ठीक से नहीं समझा। यह कि मानसिक प्रक्रियाओं का अस्तित्व होता है, वे एक ऐसी एकता में बद्ध होती हैं जिसे हम **व्यक्तित्व** कहते हैं, यह कि मनस् इस अर्थ में सृजनात्मक होता है, और फिर उसमें परिकल्पना तथा समालोचना कर सकने की शक्ति होती है—ये सब स्पष्ट तथ्य हैं। मनस् की मौलिक तथा सृजनात्मक शक्ति प्रतिदिन विज्ञान, यांत्रिक कलाओं, साहित्य तथा ललित कलाओं में देखी जा सकती है। मैं केवल हमबोल्ट, डार्विन, शेक्सपियर, बीथोवन, एडिसन, बरबेन्क, तथा अन्य अनेक सृजनात्मक विभूतियों को गिना सकता हूँ, किन्तु तब भी मैं यह ठीक-ठीक नहीं जान सकता कि यह सृजनात्मक मनस् क्या है। यह मस्तिष्क नहीं है; और यह आत्मा कहलाने वाला रहस्यपूर्ण आध्यात्मिक द्रव्य भी नहीं है।"

मनस् शरीर का प्रतिफल

यदि हम मनस् को ऐसी शक्ति मान लें जो सरलतर तत्त्वों के संगठन तथा संरचना से उत्पन्न है तो संभवतः हमें इसे समझने में सहायता मिलेगी। परमाणु वास्तविक हैं, शरीर वास्तविक है; किन्तु वैसा ही मनस् भी है। जगत् को सृजनात्मक विकास की ऐसी प्रक्रिया की दृष्टि से देखा जा सकता है जिसमें उच्चतर वास्तविकताएँ क्रमशः प्राप्त की जा सकती हैं। यह **उपलब्धि** की प्रक्रिया है—हम संभवतः कह सकते हैं कि यह उत्तरोत्तर उपलब्धि है। अरस्तू ने जब यह सोचा कि मनस् "रूप" है या उपलब्धि है, प्रतिफल है, अथवा शरीर की पूर्णता है तो उसका यह विचार उचित था। शरीर तथा मस्तिष्क, मनस् जैसी उच्चतर सत्ता के आरम्भिक स्तर हैं। विकास **स्तरों** की एक श्रृंखला प्रदर्शित करता है, और क्रमशः स्तरों का रहस्य संगठन में पाया जाता है। **समाकलन** शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। निरीक्षण करने योग्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि महत्त्वपूर्ण तथा तंत्रिकीय प्रक्रियाओं की व्यवस्था हमें परामानसिकीय संगठन के क्षेत्र में ले जाती है। विकास में सृजनात्मक संश्लेषण निरंतर कार्यगत है, तथा नवीनताएँ प्रत्येक स्तर पर प्रतीत होती हैं।

जब हम जीवन की उत्पत्ति तथा उसके स्वभाव की परीक्षा पिछले अध्याय में कर रहे थे, तभी हमने स्तरों के सिद्धान्त का भी अध्ययन किया था। जैसा हमने वहाँ देखा था कि परमाणु अणुओं में योगशील बनकर सम्मिलित नहीं होते, अपितु जैविक रूप से ऐसे नवीन गुणों को जन्म देते हुए सम्मिलित होते हैं, जिनका परमाणुओं के गुणों से अनुमान नहीं लगाया जा सकता, और पुनः अणु ऐसे जीव-कोशों में सम्मिलित होते हैं जिनमें विकास तथा प्रजनन के नवीन तथा

विलक्षण गुण उद्भूत होते हैं, और इस प्रकार हम यह देखते हैं कि **मनस्** महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओं के संगठन से उद्भूत होता है।

मनस् आत्मा के रूप में

प्रकृति पुनः एक नवीन स्तर पर ऊपर उठी है, परामानसिकीय अथवा मनस् के क्षेत्र तक। परामानसिकीय प्रक्रियाएँ तंत्रिकीय प्रक्रियाएँ नहीं होतीं; वे नवीन प्रक्रियाएँ होती हैं; उनकी विशेष विषय-वस्तु तथा नियम होते हैं। अब हम मानसिक तथा परामानसिकीय क्षेत्र में पहुँचे हैं—कह सकते हैं कि आध्यात्मिक क्षेत्र में भी। आत्मा से हमारा अभिप्राय है महत्त्व के दृष्टिकोण से मनस् का मूल्यांकन करना, और मैं यह विश्वास करता हूँ कि प्रकृति क्रमशः जिन स्तरों से विकास करती है उसी प्रकार महत्त्व में क्रमशः वृद्धि होती है, और इस उच्चतर स्तर को आध्यात्मिक कहना ठीक ही है। जो कोई भी इस विचार को अग्रसर करके विकास के उच्चतर स्तर के विषय में, अर्थात् नीति तथा समाज के विषय में बताना चाहे उसे ऐसा करने की अनुमति होगी।

अतः ऐसा प्रतीत होता है कि विकास के दृष्टिकोण से मनस् एक **उपलब्धि**, प्रतिफल, अथवा संभवतः एक लक्ष्य है। हमने सीखा है कि मानसिक प्रक्रियाएँ वास्तविक हैं, वे एकता का रूप ले लेती हैं जिसे हम **व्यक्तित्व** कहते हैं; वे नवीन शक्ति तथा क्षमताएँ अनुकूलनशील व्यवहार, सृजनात्मक कार्य, तथा सौन्दर्य की समालोचना की शक्ति प्रतीत होती हैं, और अंत में वे मनस् की उपलब्धि से विशेषित विकास की प्रगति के एक स्तर का प्रतिनिधित्व करती हैं।

निश्चय ही, यह प्रश्न पूछा जायेगा कि क्या वास्तव में हमें **उपलब्धि** शब्द का प्रयोग करने का अधिकार है। क्या किसी हद तक यह बेहतर तथा उचित नहीं होगा कि हम प्राप्त आधार से संतुष्ट रहें और उस संरचना, संगठन तथा नवीन गुणों की चर्चा करें जो संरचना से मिलते हैं ? मनस् का यदि पर्याप्त दर्शन इसी से प्राप्त होगा, तो आगे बढ़कर मनस् को एक उपलब्धि क्यों कहें ? **उपलब्धि** शब्द दोनों ही बातों को सम्मिलित करता हुआ प्रतीत होता है, लक्ष्य, तथा उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील कारक। क्या हमें इनमें से किसी एक का भी आश्वासन प्राप्त है ?

स्पष्ट अर्थों में, मैं यह मानता हूँ कि जगत् की महान् व्यवस्था में मनस् के स्थान के विषय में चर्चा करते हुए हम निश्चित रूप से यह नहीं, कह सकते कि हमें **लक्ष्य** शब्द का प्रयोग करने का अधिकार है। यह इस बात पर निर्भर करेगा कि हम प्रकृति के प्रयोजनात्मक पक्ष को कहाँ तक खींचना चाहते हैं। किन्तु हमारा मनस् का दर्शन इस विश्वास के अभाव में भी समुचित रूप से पूर्ण हो सकता है। हम केवल यह कह कर भी संतोष कर सकते हैं कि मनस् वह कुछ वस्तु है जो विकास की प्रक्रिया से प्राप्त होती है।

अंत में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अध्याय के इस दूसरे भाग में हम मनस् का अध्ययन उसके संकीर्ण अर्थ में कर रहे हैं, अर्थात् **बुद्धि** के तौर पर, **मानसिक प्रक्रियाओं**, जैसे चिंतन, प्रत्यक्ष करना, स्मरण करना, तथा निर्णय करना सहित अनुकूलनशील व्यवहार के तौर पर; और हमने यह जाना है कि बुद्धि रचनात्मक है और वह व्यक्तित्व का रूप धारण कर लेती है।

और आगे, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि **मनस्** का प्रयोग प्रायः व्यापक अर्थ में भी होता है (जहाँ **आत्मा** शब्द अधिक उपयुक्त होगा), जो उन ज्ञानात्मक प्रवृत्तियों तथा जैविक हितों को भी समाविष्ट करता है, जिनका अध्ययन हमने पिछले भाग में किया है. तथा उस विशेष वस्तु को भी स्मरण रखना चाहिए जिसे हम **चेतना** कहते हैं और जिसका परीक्षण निम्नांकित भाग में किया जाएगा।

III. चेतना

चेतना के विषय में बताना बाकी रह गया है—जिसके अनेक अर्थ हैं और विद्यार्थी उलझन में पड़ जाता है। इस उलझन के कारण अनेक मनोवैज्ञानिकों ने इसे अपने विज्ञान शब्द-संग्रह से निकाल दिया है। विशेषकर व्यवहारवादियों के शब्द-संग्रह से, जबकि चेतना के अस्तित्व का खंडन नहीं किया है, वे चेतना का बिना कोई उल्लेख किए मनस् के विज्ञान की रचना करने में बहुत सफल रहे है। इस अध्याय के पिछले दोनों भागों में हमने चेतना का उल्लेख बहुत कम किया है, और तब भी हम जगत् में नवीन शक्ति की भाँति विकसित मनस् के दर्शन पर पहुँच गए हैं, जो जीव की व्यक्तिगत एकता में सुसंगठित क्षमताओं का ध्यान देने लायक योग है तथा अंतर्निहित आवेगों तथा हितों से निर्देशित है।

चेतना तथा मनस् का भेद

जो भी हो, हमें यह पता लगाने का प्रयत्न करना चाहिए कि चेतना शब्द का क्या अर्थ है। व्यवहारवादी मनोविज्ञान वास्तव में इसे नज़रअन्दाज़ कर सकता है; किन्तु मनस् का दर्शन ऐसा करने का साहस नहीं करेगा। पहली बात तो यह है कि हमें **चेतना** शब्द को **मनस्** के पर्यायवाची के रूप में प्रयोग नहीं करना चाहिए, हालांकि ऐसा प्रायः हो जाता है। निश्चय ही, हम यह कह सकते हैं कि चेतना जैसी कोई वस्तु सभी मानसिक अवस्थाओं तथा प्रक्रियाओं में **साथ होती** है, किन्तु यह भी बहुत संदेहात्मक है। फ्रॉयड मतावलंबियों ने एक महत्त्वपूर्ण तथा व्यापक रूप से मान्य मनस् के सिद्धान्त का विकास किया है, जिसमें अचेतन मानसिक तत्त्व बहुत महत्त्वपूर्ण हिस्सा अदा करते हैं। अथवा यह उदाहरण लीजिए: हम बालक में भय अथवा क्रोध का होना देख सकते हैं—किन्तु वह भय

अथवा क्रोध होता है, चेतना नहीं। यदि तुम यह कहो कि मैं बालक के क्रोध से अवगत हूँ तो इस बात का इससे अधिक और कोई अर्थ नहीं होता कि तुम उसे देखते हो अथवा उसे जानते हो। बालक स्वयं अपने क्रोध से अवगत हो सकता है, किन्तु यदि वह हो तो भी दोनों चीज़ें निश्चय ही एक नहीं हैं, और वास्तव में तो हो सकता है कि वह अवगत न हो। बहुत संभव है कि वह नहीं होता, वह केवल क्रोध में होता है। कई जानवर भय तथा क्रोध का प्रदर्शन ऐसे समय करते हैं जब कि वहाँ चेतना बिल्कुल अकारण सिद्ध होगी। अतः मनस् तथा चेतना एक ही चीज़ नहीं हैं।[1]

इससे अधिक चेतना को हम एक प्रकार का ऐसा द्रव्य अथवा आद्य उपादान नहीं समझ सकते जिससे मनस् बना है, अथवा जिससे जगत् बना है, और न ही हम उसे सत्ता अथवा स्वयं अपने आपमें एक गुण सोच सकते हैं।[2] न ही हम उसे एक प्रकार के ऐसे पात्र की तरह सोच सकते हैं जिसमें विचार तथा अन्य मानसिक बातें होती हैं, अथवा वहाँ उनका अस्तित्व होता है। और न ही हमें "यह निष्कर्ष निकालने का अधिकार है कि चेतना अन्य अस्तित्वों के समानान्तर अस्तित्वों की शृंखला से बनती है।"[3]

चेतना आन्तरिक अनुभव के रूप में

चेतना के विषय में इन अनेक ग़लत संप्रत्ययों के समाप्त हो जाने पर शब्द का वास्तविक क्या अर्थ रह जाता है ? समस्या का एक बहुत ही सरल समाधान है जो किसी हद तक प्रथम दृष्टि में ही सन्तोषजनक प्रतीत होता है। पिछले अध्याय में जब हम मनस् के उन ऐतिहासिक सिद्धान्तों की चर्चा कर रहे थे, जिन्हें वारेन तथा अन्य अनेक मनोवैज्ञानिकों ने माना है, तभी हमने इस मत को स्थिर किया था। अनुकूलनशील व्यवहार जब अन्य लोगों में देखा जाता है तो हम उसे **मनस्** कहते हैं; जब वह स्वयं अपने में **अनुभव किया जाता** है तो वही **चेतना** कहलाता है। चेतन घटनाएँ केवल मानसिक घटनाएँ ही होती हैं जैसा कि हम उन्हें आत्मगत रूप से अनुभव में देखते हैं। मानसिक घटनाओं को देखने के दो

---

1. बर्ट्रेंड रसेल द्वारा प्रयोग की हुई बात उसकी पुस्तक "दि एनालिसिस ऑफ़ माइन्ड", पृष्ठ 40 में देखिए : "अतः यह अनुमान कर लेना स्वाभाविक है कि चेतना' की सही परिभाषा कुछ भी हो, चेतना जीवन अथवा मनस् का तथ्य नहीं है। आगे आने वाले व्याख्यानों में, इसलिए, तब तक इस शब्द का लोप कर दिया जाएगा जब तक हम शब्दों पर चर्चा नहीं कर चुकेंगे, और तब यह भाषा की आदतों में एक क्षुद्र तथा महत्त्वहीन परिणाम बन कर पुनः सामने आएगा।"

2. देखिए : James, "Does Consciousness Exist ?" *Jour. of Phil., Psych, and Sci. Meth.*, vol. I, pp. 447—91.

3. देखिए : F. J. E. Woodbridge, "The Nature of Consciousness", *Jour. of Phil., Psych., and Sci. Meth.*, vol. II, pp. 119—25.

तरीके हैं—अन्य व्यक्तियों में देखना तथा स्वयं अपने में देखना, इस वाद वाले तरीके में वे चेतन घटनाओं का एक समूह बना लेती हैं। यह उन्हीं तथ्यों को देखने का मात्र एक अन्य तरीका है—यह अन्तर्दृष्टि का तरीका है—किन्तु बहुत महत्त्वपूर्ण तथा शिक्षाप्रद तरीका है, और हमें अन्तरानुभव का एक नवीन जगत् प्रदान करता है। दृढ़ अर्थ में यह एक नया जगत् नहीं है, बल्कि भिन्न दृष्टिकोण से देखा गया वही पुराना जगत्—अर्थात् आन्तरिक अनुभव का जगत् है। अत: चेतना एक प्रकार की गोपनीयता है—एक घनिष्ठ, आन्तरिक, और मानसिक जीवन, एक ऐसा गम्भीर पक्ष है जो अन्य लोगों द्वारा आधा ही देखा जा सकता है। इस तरह चेतना अनुभूति है, जो जीवन में ऐसे व्यक्ति में होती है, जिसे अनुभव होता है, जो विचार करता है, भावना रखता है, अचरज करता है और इच्छाएँ रखता है।

चेतना शब्द का यह अर्थ स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति दिखाई नहीं पड़ती, यदि उसे द्विपक्ष सिद्धान्त का एक प्रकार मान कर तत्त्वमीमांसीय न समझा जाए, जिसके दो पक्ष, मानसिक पक्ष तथा भौतिक पक्ष होते हैं। ऐसा कोई कारण नहीं है, कि मनुष्य अपनी मानसिक प्रक्रियाओं का निरीक्षण न करें, फिर इस परीक्षण के होने से स्मृतियों तथा अंगीय भावनाओं की एक राशि हो जाएगी जो अन्य लोगों के लिए अप्राप्य रहेगी।

चेतना एक सम्बन्ध के रूप में

किन्तु, अन्तत: मैं विश्वास करता हूँ कि चेतना के इस सिद्धान्त में सत्य को कुछ भिन्न तरीके से बेहतर समझाया जा सकता है। **चेतना** शब्द का सरलतम तथा सबसे स्वाभाविक अर्थ है **अभिज्ञा** जो अवधान तथा रुचि से विशेषित प्रत्यक्ष करने वाले व्यक्ति तथा प्रत्यक्ष किए जाने वाले विषय के बीच स्थित विशेष **सम्बन्ध** के अन्यथा कुछ भी समाविष्ट नहीं करती। मान लो कि तुम अकेले किसी पढ़ने के कमरे में बैठे हुए हो। अचानक किसी अन्य व्यक्ति के कमरे में होने की तुम्हें चेतना होती है। स्पष्ट है कि इस सबका अर्थ है कि तुम्हें उसकी अभिज्ञा होती है। तुम एक हल्की ध्वनि सुनते हो, तुम्हारा ध्यान उस ओर जाता है, तुम इस ध्वनि से आदमी का होना समझते हो। यह केवल एक ऐसी प्रत्यक्षात्मक प्रक्रिया है, जो ध्यान को उत्पन्न करती तथा आकर्षित करती है। अनुभव का विशेष गुण न तो मानसिक अन्तर्वस्तु ध्वनि में मिलता है और न ही ध्वनि की व्याख्या व्यक्ति की भाँति करने में, किन्तु वह देखी जाने वाली वस्तु तथा देखने वाले व्यक्ति के बीच के, **सम्बन्ध** में प्राप्त होता है। यह कोई देखने अथवा निर्णय करने का मामला नहीं

1. तुलना कीजिए: S. Alexander, '*Space, Time, and Diety*, vol I, Introduction; तथा Wendell T. Bush, "An Empirical Definition of Consciousness", *Jour. of Phil., Psych. Meth.*, vol. II, p. 561.

होता, वरन् केवल अभिज्ञ होने का होता है ।

चलिए हम एक इससे भी सरल उदाहरण लें। आप ऐसे कमरे में बैठे हैं जहाँ घड़ी टिक्-टिक् कर रही है; आप किसी रोचक कार्य में बहुत व्यस्त हैं; आप घड़ी के प्रति सचेत नहीं हैं; किन्तु, अचानक आप घड़ी की टिक्-टिक् के प्रति सचेत हो जाते हैं, जिसका अर्थ केवल यह होता है कि आप उससे अभिज्ञ हो गए हैं, आपका ध्यान उसकी ओर चला गया है। इससे स्पष्ट है, कि वह चेतना का सरलतम उदाहरण है, जो अभिज्ञा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं बताता । फिर, मान लीजिए हम कहें कि जंगल में चर रहे किसी हरिण को शिकारी के होने का अचानक **ज्ञान** होता है । हरिण उसे सुनता है, अथवा उसे सूँघता है, फिर उस पर ध्यान देता है, और फिर संभवत: परिस्थिति में तीव्रता के साथ अपनी प्रतिक्रिया करता है । यहाँ भी अनुभव के संज्ञानात्मक तथा प्रेरक पहलुओं में अवधान तथा रुचि द्वारा विशेषित एक प्रकार के सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं पड़ता ।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि अपने सरलतम रूप में चेतना, मात्र अभिज्ञा है, और वह क्रमश: रुचि तथा अर्थ का सम्बन्ध लेती जाती है । बसन्त ऋतु में सूर्य की प्रथम किरण को सोया हुआ नील-पुष्प ग्रहण करता है और अपनी प्रतिक्रिया करता है । तो क्या हम यह कहेंगे कि नील-पुष्प सूर्य की गर्मी से अभिज्ञ होता है और वह उससे सचेत रहता है ? हमारे लिए ऐसा कुछ भी कहना उचित नहीं होगा । हरिण शिकारी के आगमन से अभिज्ञ होता है, तो क्या हम यह कहेंगे कि हरिण शिकारी से सचेत होता है ? यह स्पष्ट है कि **अभिज्ञ** शब्द ही यहाँ बेहतर होगा । किन्तु कमरे में पाठक अन्य व्यक्ति की उपस्थिति से **सचेत** होगा। स्पष्ट है कि यहाँ पर अभिज्ञा के साथ-साथ **अर्थबोध** का सम्बन्ध भी होता है ।

अत: चेतना एक प्रकार का, प्रत्यक्ष करने वाले व्यक्ति तथा प्रत्यक्ष की जाने वाली वस्तु के बीच विशेष सम्बन्ध प्रतीत होता है। यदि **चेतना** शब्द का मुख्य अर्थ यही हो तो इसके सम्बन्ध का बहुत-सा रहस्य तथा उलझन समाप्त हो जाए। वह संपूर्ण मनस् के लिए नाम नहीं है; यह वही नहीं है जो मनस् अथवा आत्मा है; यह कोई विशेष प्रकार का उपादान नहीं है। अब हम **चेतना की प्राथमिकता** अथवा **चेतना की धारा** की बात नहीं कर सकते, संभवत: **चेतना के क्षेत्र** तक के विषय में भी । इन सभी अभिव्यक्तियों में हम किसी अन्य वस्तु के विषय में ही चर्चा कर रहे हैं, अर्थात् मनस् मानसिक क्रियाओं, अथवा मानसिक प्रक्रियाओं के विषय में । तथापि, जैसा मैंने वर्णन किया है, **चेतना** उन समस्त वस्तुओं का एक ऐसा विशिष्ट लक्षण है जिसे हम **मनस्** अथवा **आत्मा** कहते हैं, और वह उन सभी हिस्सों से भिन्न है जिनका हम अध्ययन कर रहे हैं । जब हम मनस् की चर्चा उसके संकीर्ण अर्थ में करते हैं, तो हमारा तात्पर्य किसी प्रकार के कार्य से होता है । एक परिस्थिति से मुकाबला करना है, एक समस्या को हल

करना है, प्रतिरोधित पदार्थ का नियन्त्रण करना है, एक द्वन्द्व को अभियोजित करना है। इन सब "क्रियाओं" को कार्य की आदतों, योजनाओं तथा प्रायोजनाओं, मानसिक प्रतिमाओं तथा प्रेरक प्रकृतियों की इस समस्त व्यवस्था को हम **बुद्धि**, **स्वभाव**, अथवा **मनस्** की संज्ञा दे सकते हैं, और इन कार्यों, आदतों, स्मृतियों तथा नामों के संगठन के लिए हम **व्यक्तित्व** अथवा **जीवात्मा** शब्द का प्रयोग कर सकते हैं।

किन्तु **चेतना** इन सभी से भिन्न है। यह क्षण-जीव की भाँति अधिक होती है, कुछ ऐसी वस्तु है जो क्षणिक परिस्थिति पर प्रकाश डालती है। संभवतः यह प्रकाश मात्र वह **अर्थ** होता है जो वस्तुएँ समूह में रहकर किसी विशेष सम्बन्ध में प्राप्त करती हैं।[1]

आत्म-चेतना

किन्तु कभी-कभी हम **चेतना** शब्द का उस अर्थ तथा रुचि के सम्बन्ध की अपेक्षा अधिक व्यापक रूप में प्रयोग करते हैं जो प्रत्यक्ष करने वाले जीव तथा प्रत्यक्ष की जाने वाली वस्तु के बीच में होता है। कभी-कभी जिसे हम **आत्म-चेतना** कहते हैं उसका भेद करते हैं, किन्तु उसमें निहित सिद्धान्तों की किस्म भिन्न नहीं होती। आत्म-चेतना तब भी एक सम्बन्ध – एक **सामूहिकता** होती है, केवल अब ही विषयीनिष्ठ तत्त्वों, स्मृतियों, नामों, रुचियों तथा संज्ञानात्मक प्रवृत्तियों की निधि का नवीन समूहीकरण सामने आता है।

चेतना तथा आत्म-चेतना के बीच का भेद सम्भवतः इस प्रकार दर्शाया जा सकता है। जब हम ईथर अथवा किसी निश्चेतक वस्तु को ग्रहण करते हैं तो यह कहते हैं कि हम चेतना खो देते हैं। इस विषय में चेतना पुनः प्राप्त करते हुए व्यक्ति के अनुभव उपयोगी हैं। आरम्भ में तो मात्र अभिज्ञा होती है, केवल आवाज़ों की, सम्भवतः उन उपचारिकाओं के बोलने की, जिसका सम्बन्ध स्वयं अपने

1. चेतना के सम्बन्धात्मक सिद्धान्त के विषय में देखिए :

James, "Does Consciousness Exist ?" *Jour. of Phil., Psych., and Sci. Meth.*, vol. I, pp. 477—91.

McGilvary, "Experience as Pure and Consciousness as Meaning", *Jour. of Phil., Psych., and Sci. Meth.* vol. VIII, pp. 511—25.

Woodbridge, "The Problem of Consciousness", *Studies in Phil. and Psych.*, by former students of G. E. Garman. 1906.

Woodbridge, "The Nature of Consciousness", *Jour. of Phil., Psych., and Sci. Meth.*, vol. II, pp. 119—25.

Montague, "The Relational Theory of Consciousness and its Realistic Implications", *Jour. of Phil., Psych., and Sci. Meth.*, vol. II, pp. 309—16.

से अथवा परिस्थिति से साफ-साफ नहीं बताया जा सकता। क्रमशः यह स्थिति उत्पन्न होती है: कि मैं यहाँ हूँ और सोता रहा हूँ। ये आवाज़ें, मैं स्वयं, तथा पर्यावरण एक सम्बद्ध कहानी में गुँथे होते हैं; मैंने चेतना पुनः प्राप्त कर ली है। यहाँ स्पष्ट है कि यहाँ **सचेत** शब्द के दो अर्थ हैं। एक प्रकार से, मैं उन पहली आवाज़ों के प्रति सचेत हुआ था; मैं उनसे अभिज्ञ था—अर्थात् मैंने केवल उनका आभास प्राप्त किया था। चेतना शब्द के दूसरे अर्थ में, वर्तमान अनुभवों को पिछले अनुभवों के साथ एक प्रकार की संगत कहानी के रूप में जोड़ना होता है। इस बाद वाले अर्थ में वह मात्र अभिज्ञा अथवा किसी प्रकार की अनुक्रिया, व्यवहार अथवा अनुकूलनशील प्रतिक्रिया से कुछ और अधिक होती है। वह विकास की प्रगति में एक नवीन, कुछ विलक्षण तथा विशिष्ट रूप से मानवीय वस्तु होती है। तथापि जैसा कुछ लोगों ने किया है, सम्भवतः उसे "सत्ता की नवीन दिशा"[1] कहना आवश्यक नहीं है। उसे सम्भवतः नवीन तथा विलक्षण प्रकार का सम्बन्ध, आत्मा तथा परिवेश के जटिल तत्त्वों का समूहीकरण कहा जा सकता है।

यदि चेतना के विषय में इस मत को स्वीकार कर लिया जाए तो निश्चय ही मनस् का दर्शन बहुत कुछ सरल बन जाएगा। यदि हमें इसे स्वीकार करने में कठिनाई होती है तो ऐसा सम्भवतः हमारी चेतना तथा मनस् को एक समझते रहने की पुरानी आदत के कारण होगा। किन्तु मैं विश्वास करता हूँ कि यदि हम विचार तथा सृजनात्मक बुद्धि को मनस् का मूल तत्त्व मानते हुए तथा **चेतना** शब्द को विशेष तथा महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध, अथवा सामूहिकता के लिए सुरक्षित कर दें जो हमारे समस्त परामानसिकीय जीवन पर नवीन प्रकाश डाल सकें तथा अर्थ-बोध करा सकें तो कुछ उपलब्धि होगी।[2]

निष्कर्ष

अन्त में ऐसा प्रतीत होता है कि मनस् एक जटिल वस्तु है, जो सर्वप्रथम संज्ञानात्मक कृतियों अथवा जैविक हितों के समूह को, फिर द्वितीय, अनुकूलनशील प्रक्रियाओं के ऐसे समूह को जिसे हम व्यवहार कह सकते हैं (संकीर्ण अर्थ में मनस्), तथा तृतीय चेतना को सम्मिलित करता है। यदि हम **आत्मा** शब्द का व्यापक अर्थों में मनस् के लिए प्रयोग करें जिससे वह, चित्तवृत्तियों, प्रक्रियाओं तथा सम्बन्धों के समूह को सम्मिलित कर सके और **मनस्** शब्द को उन प्रक्रि[illegible] के समूहों के लिए सुरक्षित कर दें जो अनुकूलनशील व्यवहार [illegible]

---

1. पूर्ण चर्चा के लिए तुलना कीजिए : Spaulding'[illegible] pp. 470—86.

2. बर्ट्रेन्ड रसल की पुस्तक "एनालिसि[illegible] से चेतना के पूर्व सिद्धान्त की तुलना [illegible]

तथा **मानसिक** तदनुरूप विशेषण में अपने उपयुक्त स्थानों में सम्मिलित होते हैं: तो बात स्पष्ट हो जाएगी। निम्नांकित सारणी मनस् के इस दर्शन को बताती है:

- आत्मा (व्यापक अर्थ में मनस्)
  - I. संज्ञानात्मक प्रवृत्तियाँ
    - आवेग
    - इच्छा
    - संकल्प
    - अभिलाषा
    - लिबिडो
  - II. मानसिक प्रक्रियाएँ बुद्धि (संकुचित अर्थों में मनस्)
    - चिन्तन करना
    - निर्णय करना
    - तर्क करना
    - स्मरण करना
    - भावना करना
    - → अनुकूलन-शील व्यवहार
  - III. चेतना
    - सरल अभिज्ञा
    - आत्म-चेतना
- → व्यक्तित्व जीवात्मा अहम्

अमरत्व

आत्मा के अमरत्व की प्राचीन समस्या के लिए लम्बे समय की प्रगति से उपलब्ध मूल्य को आत्मा मानने वाला मत विशेष महत्त्व का है। यह बात हमेशा से अनुभव की गई है कि अमरत्व का सिद्धान्त आत्मा को एक विशेष महत्त्व तथा आदर प्रदान करता है। आत्मा, चूँकि अमर है, एक ऐसी अमूल्य निधि है जिसमें दिव्यता तथा एक प्रकार की पवित्रता है। ऐसी आस्था अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण नैतिक निहितार्थों से हीन नहीं हो सकती। वह अनन्त जीवन की अपेक्षा के माध्यम से आचरण को शुद्ध करने वाली है ऐसी आस्था है।

किन्तु यह उत्कृष्ट दर्शन मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा के अस्तित्व के विश्वास पर आधारित है, और यह बात कभी-कभी ऐसे धार्मिक सिद्धान्तों पर आधारित होती है, जो धार्मिक सन्देहों के समय में आस्था कम कर देती है। अतः इस बात का भय है कि धार्मिक आस्था के इस विशेष सिद्धान्त के, जिसका सम्भवतः धर्म के मूल-तत्त्वों से बहुत थोड़ा सम्बन्ध है, लोप होने से नैतिक आदर्शों का भी लोप हो जाएगा। जब कि पूर्वानुमान की अपेक्षा दैविक वरदानों की आशा तथा भविष्य में अपराधों के लिए दण्ड के भय के प्रभाव आचरण पर कम हो सकते हैं, तो भी इस प्रकार की प्राचीन आस्था के अचानक लोप हो जाने से किसी हद तक शायद गम्भीर सामाजिक परिणामों के साथ कुछ-कुछ प्रभाव आचरण तथा नैतिकता पर अवश्य ही पड़ेगा।

अतः यह प्रतीत होगा कि ऐसे किसी भी मनस् के दर्शन का नैतिक मूल्य

बहुत होगा जो बिना अमरत्व के सिद्धान्त का उल्लेख किए हुए आत्मा को निरपेक्ष महत्त्व तथा गौरव प्रदान कर सके। प्लेटो ने अपने एक सुन्दर सम्वाद **फेडो** में अमरत्व की सत्यता को दार्शनिक आधारों पर स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उनकी रचना में कई स्थलों पर आत्मा के अमरत्व के सिद्धान्त का दिव्यता से भेद करना कठिन है। प्लेटो ने आत्मा को जो अत्यन्त उच्च स्थान दिया है, उसका निरपेक्ष बोध, ईश्वर के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध, उसकी अमरत्व की इच्छा ने आत्मा के पूर्व-अस्तित्व तथा उसके जीवन के पश्चात् यहाँ-वहाँ भटकने की कथाओं की अपेक्षा उसके मनस् के दर्शन को अधिक गौरवान्वित किया है।

ऐसा प्रतीत होगा कि मनुष्य की आत्मा एक ऐसी उपलब्धि है जो लाखों वर्षों के जीवन-विकास के शिखर पर पहुँच कर प्राप्त हुई है। हम यह विश्वास कर सकते हैं कि ठीक इसी उत्पत्ति में आदिकालिक "रुचि" तथा इस "दुलर्भ दैनिक घटना" को प्राप्त करने के लिए मौलिक "प्रयत्न" किए गए हैं। आत्मा के इस प्रकार विकास के मत के विषय में हम अपरोक्ष तथा निश्चित प्रमाण की आशा नहीं कर सकते। इसे अपना स्थान एक सिद्धान्त के रूप में ही दर्शन-शास्त्र के अन्य सिद्धान्तों के साथ लेना चाहिए, ताकि हमारा ज्ञान पूर्ण हो सके और हमारी आस्था या तो और सशक्त हो अथवा कम हो। यदि ऐसा हो जाए कि हम आत्मा को प्रकृति की उच्चतम देन न मान सकें, क्या हमें उसे प्रकृति की पूर्ण कृति भी नहीं मानना चाहिए। यदि, वास्तव में, सत्य, सौन्दर्य, प्रेम जैसी उच्चतर मूल्यों की वस्तुएँ होती हैं, तो आत्मा एक प्रकार से इन सबसे अधिक महान् होती है, क्योंकि वह इन सबको मूल्यों की तरह स्वीकार करती है तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहती है।

अतः **अमर** शब्द, जिसके अनुसार आरम्भ तो होता है परन्तु अन्त नहीं होता, आत्मा के लिए प्रयुक्त करना कठिन हैं; **नित्य** शब्द जिसके अनुसार न तो आरम्भ होता है और न ही अन्त, भी इसके लिए उपयुक्त नहीं है। हमें सम्भवतः ऐसे शब्द की आवश्यकता है जो आदर्श महत्त्व तथा चिरस्थायी मूल्य का अर्थ-बोध कराए। सम्भवतः **शाश्वत** शब्द का प्रयोग बिना किसी विशेष उथल-पुथल के इस अर्थ के लिए किया जा सकता है—ताकि आत्मा के सम्बन्ध में हम कह सकें कि वह शाश्वत है।

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Ralph Barton Perry, *Present Philosophical Tendencies* (Longmans, Green and Company), chap. XII, "A Realistic Theory of Mind."

David R. Major, *An Introduction to Philosophy* (Doubleday, Doran and Company), chap. X, "On Immortality."

अन्य सन्दर्भ

John Laird, *Problems of the Self* (The Macmillan Company).

Bertrand Russell, *The Analysis of Mind* (George Allen and Unwin, Ltd.). *Philosophy*, Parts I, II (W. W. Norton and Company, Inc., 1927).

DeWitt H. Parker, *The Self and Nature* (Harvard University Press).

G. Watts Cunningham, *Problems of Philosophy, An Introductory Survey* (Henry Holt and Company), chap. XVI.

Edwin B. Holt, *The Freudian Wish* (Henry Holt and Company), chaps. I, II.

Durant Drake, *Mind and Its Place in Nature* (The Macmillan Company).

F. J. E. Woodbridge, *The Realm of the Mind* (Columbia University Press).

William James, *Essays in Radical Empiricism* (Longmans, Green and Company), chap. I, "Does Consciousness Exist?"

Bernard Bosanquet, *The Value and Destiny of the Individual* (The Macmillan Company).

Josiah Royce, *The World and the Individual*, second series (The Macmillan Company), lectures VI, VII.

Boyd H. Bode, "Consciousness and Psychology", in *Creative Intelligence* (Henry Holt and Company).

C. S. Sherrington, *The Integrative Action of the Nervous System* (Charles Scribner's Sons).

Joseph Alexander Leighton, *Man and the Cosmos* (D. Appleton and Company), book IV.

J. M. E. McTaggart, *Human Immortality and Pre-existence* (Longmans, Green and Company).

G. T. W. Patrick, *What Is the Mind?* (The Macmillan Company).

अध्याय 20

मन और शरीर

मनः-शरीर की समस्या प्रायः इतनी ही प्राचीन है जितना कि दर्शन का इतिहास, किन्तु इसने सत्रहवीं शताब्दी में देकार्ते के समय से पहले आलोचनात्मक रूप नहीं लिया था। उसी समय से इसने दार्शनिकों तथा मनोवैज्ञानिकों में भारी व्यथा उत्पन्न कर रखी है और जगत् की समस्या ऐसी "सात पहेलियों" में से एक मानी गई है जिनका कि कोई हल नहीं निकल सकता।[1] वास्तव में यह समस्या जटिल है, किन्तु यदि मन के विषय में हमारा वह दृष्टिकोण जिसे हमने पिछले अध्याय में विकसित किया है, सृजनात्मक विकास की प्रक्रिया में सत्य सिद्ध हो जाए तो सम्भवतः यह समस्या बहुत कुछ हल हो जाएगी।

ऐतिहासिक

किन्तु सबसे पहले हमें समस्या तथा उसके प्राचीन कला सम्बन्धी समाधानों के इतिहास का पुनर्विलोकन कर लेना चाहिए। यह बात स्मरण करने की है कि देकार्ते ने विचार और विस्तार के, अथवा मन और शरीर के बीच एक स्पष्ट भेद किया है। इस स्पष्ट भेद का महत्त्व उस काल के परिमाणात्मक प्राकृतिक विज्ञानों के तत्त्वमीमांसीय आधार को बनाने के लिए बहुत अधिक था, किन्तु इसने देकार्ते के उत्तराधिकारियों के समक्ष एक उलझनपूर्ण समस्या प्रस्तुत कर दी—अर्थात् मन और शरीर के आपस के सम्बन्ध की समस्या।

स्वयं देकार्ते की यह मान्यता थी कि मन तथा शरीर परस्पर क्रिया करते हैं। उसने कहा कि उनमें आकस्मिक सम्बन्ध होता है। उनमें अन्योन्य क्रिया होती है, यह दैनिक जीवन का और यहाँ तक कि क्षणिक अनुभव का तथ्य प्रतीत होता है। शरीर के ऊपर मन निरंतर कार्य करता रहता है—कुहनियों में गति लाता है, उन्हें नियन्त्रित करता है, उनमें अवरोध उत्पन्न करता है, हृदय की धड़कन को शान्त करता है, आँखों में व्यक्त भावों को नियन्त्रित करता है, ध्वनि को रूप देता है, और यहाँ तक कि अनेक प्रकार की व्याधियाँ भी मन के सुझावों से पैदा

1. Emil du Bois-Reymond, *Ueber die Grenzen des Naturerkennens* and *Die Sieben Weltratsel.*

हो सकती हैं अथवा ठीक की जा सकती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इतनी ही स्पष्ट मन के ऊपर शरीर की क्रिया होती है। कॉफी उत्तेजित करती है, तम्बाखू शीतलता देता है, सुरा मूर्छाकारक होती है, दवा नशा लाती है, श्रम थकावट लाता है, बिना पचा हुआ भोजन अजीब सपने लाता है, अन्तरासर्गी ग्रंथियों का स्राव अथवा उनके अवरोध का परिणाम एक विचित्र प्रकार की मनोविक्षिप्ति होता है; जबकि छोटे से छोटे ज्ञानवाहक तन्तु का उद्दीपन भी सरलतम संवेदन उत्पन्न कर सकता है। किन्तु यह सब कैसे होता है ?

सम्भवतः यह प्रश्न पूछना इससे श्रेष्ठ होगा: यदि देकार्ते सही है तो यह सब कैसे हो सकता है। देकार्तेवाद के अनुसार दो पदार्थ होते हैं—विचार तथा विस्तार—और ये वास्तविकताएँ दो "पूर्ण" तन्त्र हैं। अर्थात् किसी तन्त्र में जो होता है वह उस तन्त्र के नियमों के अनुसार होता है और हमें ऐसी घटनाओं को समझाने के लिए उस तन्त्र से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। और इसी दृष्टिकोण को बताने के लिए देकार्ते ने इतना प्रयास किया। वह मुख्य रूप से मध्यकालीन "आत्मा" तथा "गुणों" के दृष्टिकोण से भौतिक जगत् की यांत्रिक व्याख्या में रुचि रखता था। भौतिक तन्त्र (अर्थात् शरीर, पुद्गल, अथवा विस्तार) पूर्णतः यांत्रिक है। प्रत्येक भौतिक घटना का कारण भौतिक होता है, तथा भौतिक तंत्र में यांत्रिक नियम के अतिरिक्त किसी अन्य नियम का पालन नहीं होता। इसे स्वीकार करते हुए हम यह कैसे कह सकते हैं कि एक विस्तार-रहित विचारशील वस्तु पीनियल ग्रंथि में स्थित रहती है तथा शरीर की यांत्रिक व्यवस्था में प्रभावकारी नियंत्रण रखती है ? किसी भी विस्तार-रहित वस्तु की स्थिति विस्तार में कैसे हो सकती है ? पुनः प्रत्येक भौतिक कारण इतना अधिक मौलिक कार्य उत्पन्न करता है कि गति का परिमाण (आज हम कहेंगे "ऊर्जा") स्थिर है—कम अथवा अधिक स्थिर नहीं अपितु पूर्णतः स्थिर है। ऊर्जा का सूक्ष्मतम भाग भी महान् यांत्रिक भौतिक व्यवस्था से नहीं बच सकता। तब हम कैसे कह सकते हैं कि भौतिक घटनाएँ मानसिक घटनाओं को जन्म देती हैं तथा मानसिक घटनाएँ भौतिक घटनाओं का कारण बनती हैं ? मात्र अन्योन्य क्रिया-वाद के द्वारा हल करने के देकार्ते के प्रयासों में अनेक आपत्तियाँ हैं। उदाहरण के लिए, यह माना गया है कि दो नितान्त भिन्न तथा स्वतन्त्र पदार्थों का अन्योन्य क्रिया करना कल्पना के परे है। अतः यह स्पष्ट है कि मन और शरीर की इतना निरपेक्ष स्वतन्त्रता मनः-शरीर की समस्या के साथ मेल नहीं खा सकती।

देकार्ते के तात्कालिक उत्तराधिकारियों ने इस समस्या की प्रचण्डता को अनुभव किया था। उदाहरण के लिए, निकोलस मेलेब्रान्श (1638—1715) देकार्ते की सामान्य स्थिति की सत्यता को लेकर चला था, किन्तु तभी उसने यह अनुभव किया कि अन्योन्य क्रिया का सरल सिद्धान्त समस्या का समाधान नहीं कर सकता। उसने प्रसंगवाद नामक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जो

उसके समय में वहुत प्रचलित हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार मन तथा शरीर परस्पर क्रिया नहीं करते, किन्तु इनमें से कोई भी क्रिया दूसरे में उसी प्रकार की क्रिया करने के लिए दैवी हस्तक्षेप का एक "प्रसंग" वना देती है। मैं अपनी भुजा उठाने का **संकल्प** करता हूँ; ईश्वर उसे उठा देता है। निश्चय ही यह यथार्थ **दैवी समाधान** है। घनिष्ठ रूप से प्रसंगवाद से सम्वन्धित तथा लगभग इतना ही उन्मार्गगामी लायबनित्स द्वारा दिया हुआ इस समस्या का समाधान था, अर्थात् उसका "पूर्व स्थापित सामंजस्य"। वह चिदणु जिसे हम मन कहते हैं उन चिदणुओं पर कार्य नहीं करता जिनसे शरीर बनता है, किन्तु उनमें दिखाई पड़ने वाला सामंजस्य दैवी रचना की पूर्णता के कारण आरम्भ से ही पूर्व स्थापित सामंजस्य होता है।

देकार्त के समय से वैज्ञानिक मंच में परिवर्तन होने से **अन्योन्य क्रियावाद** को मनः-शरीर संवंध का संभावित समाधान माना जाने लगा है और इसकी पूर्ण रक्षा करने में समर्थ इसके प्रतिपादक वर्तमान काल में हैं। यह सिद्धान्त अभी भी मनुष्य के व्यक्तित्व में मन और शरीर के द्वैत को मानता है और यह घोषित करता है कि वे एक-दूसरे पर क्रिया करते हैं। ऊर्जा संरक्षण के नियम से उत्पन्न इस मत के विरोध में जो आपत्ति प्रायः की जाती है वह झूठ है, अथवा यह भी हो सकता है कि मानसिक घटनाओं को उत्पन्न करने में शरीर जो शक्ति प्रसारित करता है वह इतनी कम होती है कि जहाँ तक इन्द्रियानुभविक निरीक्षण का संवध है वह भौतिक व्यवस्था को अछूता ही छोड़ देती है। और दूसरी यह आपत्ति भी ठीक नहीं है कि इसकी कल्पना नहीं की जा सकती कि दो नितान्त भिन्न चीज़ें, जैसे मन और शरीर, अन्योन्य क्रिया भी कर सकते हैं। यह इस तथ्य से अधिक कल्पनातीत नहीं है कि दो शरीर व्युत्क्रम वर्ग नियम के अनुसार एक-दूसरे को आकर्षित करते हैं। कठिनाई अन्योन्य क्रिया की सम्भावना में उत्पन्न नहीं होती, अपितु दो वस्तुओं के परस्पर क्रिया करने की सम्भावना में होती है। मन को शरीर में स्थित एक पदार्थ अथवा शारीरिक प्रक्रियाओं के "समानान्तर" एक प्रक्रियाओं की शृंखला की अपेक्षा उसे नितान्त भिन्न ढंग से सोचना सम्भव है। बल्कि हम आज उस **जीव** के विषय में सोचते हैं जो **कार्य** करता है, और मन को उन विशेष प्रकार की प्रक्रियाओं का संगठन मानते हैं जो विशेष रूप से मनुष्य तथा उच्चतर प्राणियों के लिए होता है। कुछ विशेष प्रकार के "कार्य-तंत्रों" को हम मानसिक कहते हैं। इसलिए, इस समय हमें अन्योन्य क्रिया की समस्या पर श्रम करने की आवश्यकता नहीं है, हमें पूछना यह चाहिए कि क्या किसी प्रकार की अन्योन्य क्रिया की कोई भी आवश्यकता है।

इसके पश्चात् हम विभिन्न **द्विपक्षी सिद्धान्तों** को देखेंगे, जिनका मूल उद्गम स्पिनोज़ा से हुआ है और जिसे आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। ये मनः-शरीर समस्या से यह कह कर छुटकारा पाना

चाहते हैं कि दो सत्ताएँ नहीं हैं अपितु मन और शरीर एक ही सत्ता के दो पक्ष अथवा पहलू हैं।

कभी-कभी इसे **अनन्यता प्राक्कल्पना**[1] भी कहते हैं, क्योंकि यह मन और शरीर के तात्त्विक द्वैत का खंडन करती है, और उनकी अनन्यता का प्रतिपादन करती है। इस मत के समीप ही **मनोदैहिक समानान्तरवाद** का मत है। किन्तु जैसा कि सामान्यत: मनोविज्ञान में माना गया है, यह बाद वाला मत मन तथा शरीर के सम्बन्धों का ठीक-ठीक सिद्धान्त नहीं है, अपितु, उनके अपरिवर्तनीय साहचर्य के तथ्य की घोषणा मात्र है। यह कहा जाता है कि बिना मनस्ताप के मनोविक्षिप्ति नहीं होती। कुछ मस्तिष्क की प्रक्रियाएँ समस्त मानसिक प्रक्रियाओं के साथ होती हैं, और ये बाद की प्रक्रियाएँ उतनी ही वास्तविक होती हैं जितनी पहले वाली, और पहले की प्रक्रियाएँ उतनी ही वास्तविक होती हैं जितनी बाद वाली, किन्तु उनमें कोई भी कारण का सम्बन्ध नहीं माना जाता, उनमें केवल समय की दृष्टि से सहवर्तन होता है।[2]

अब निश्चय ही, इस प्रकार **मात्र** समानान्तरवाद मनोवैज्ञानिक के लिए एक कार्यकारी आधार हो सकता है, जो मानसिक प्रक्रियाओं में तथ्यों की शृंखला तथा मस्तिष्क की प्रक्रियाओं में दूसरे तथ्यों की शृंखला देखता है तथा जो उन दोनों आपस के सम्बन्धों को समझने में असमर्थ होने के कारण केवल प्रत्येक शृंखला का अध्ययन तथा वर्णन करके तथा आपस में उनका कालिक साहचर्य बताकर ही संतुष्ट हो जाता है। किन्तु यह स्पष्ट है कि यदि ऐसा कोई समानान्तरवाद हो तो निस्संदेह इस सम्बन्ध की **कोई न कोई** व्याख्या अवश्य होनी चाहिए, ताकि अपने दार्शनिक मनोभाव में कोई भी मनोवैज्ञानिक इस देखे हुए समानान्तरवाद का पुन: अन्योन्य क्रिया, पूर्व-स्थापित सामंजस्य, तादात्म्य प्राक्कल्पना अथवा किसी भौतिकवादी या प्रत्ययवादी सिद्धान्त की ओर संकेत करे। इसलिए यद्यपि हम द्विपक्षी मत के अंतर्गत अपनी सुविधा के लिए इसे रख सकते हैं किन्तु मनोभौतिक समानान्तरवाद मन:-शरीर समस्या का वास्तव में कोई सिद्धान्त नहीं है, यह केवल कठिनाई को टाल देता है। स्पिनोज़ा का द्विपक्षी सिद्धान्त स्वयं परीक्षण करने पर केवल शाब्दिक समाधान ही प्रस्तुत करता है, वास्तविक नहीं, क्योंकि मन तथा शरीर को, एक पदार्थ के दो "गुण" बताकर द्वैत ज्यों का त्यों रह जाता है क्योंकि स्पिनोज़ा गुण की परिभाषा करते हुए कहता है कि जिसे बुद्धि पदार्थ में उसके निर्माण के तत्त्व के रूप में देखती है वही गुण है। अत: अंत में दोनों में एक "तात्त्विक" भेद दिखाई पड़ता है।

इसके पश्चात मन:-शरीर समस्या का एक तीसरा सम्भावित समाधान

---

1. स्पष्ट वक्तव्य के लिए देखो: Höffding's *Outlines of Psychology*, pp. 64 ff.

2. देखो: McDougall's *Body and Mind*, p. 131.

भी है अर्थात् भौतिकवादी सम्प्रदायों का समाधान, जिसे कभी-कभी **उपोत्पादवाद** भी कहते हैं। इस मामले में यह सिद्धान्त यह घोषित करके कि शरीर ही एक मात्र सत्ता है, समस्त मनः-शरीर समस्या के द्वैत को एकतत्त्ववाद में परिणत करके छुटकारा पाने का प्रयत्न करता है। जिसे हम मन कहते हैं वह उपोत्पाद है, अर्थात् मस्तिष्क सम्बन्धी क्रियाओं का निष्क्रिय द्रष्टा अथवा शरीर द्वारा फैलाई हुई एक प्रकार की परछाईं, के समान है। इसकी कमज़ोरी इतनी मनोदैहिक द्वैत के खंडन में नहीं है जितनी मन की कुशलता के **खंडन** करने में और उसकी इस घोषणा में है कि **वास्तविकता** भौतिक परमाणुओं तथा उनकी गति जैसे **प्राथमिक** तत्त्वों में और उसके इस रसायन की ओर भौतिकी जैसे दो विज्ञानों पर अधिकारपूर्ण लक्षण में होती है।

अंत में हम मनः-शरीर समस्या के चौथे मानक समाधान का स्मरण करेंगे, जिसे सामान्यतः **प्रत्ययवाद** कहा जाता है। अथवा विशेषतः इस स्थल पर **परामानसिकीय एकतत्त्ववाद** कहा जाता है। भौतिक एकतत्त्व की भाँति यह भी मन तथा शरीर के द्वैत में से एक का खंडन करके इस समस्या से छुटकारा पा लेता है। किन्तु यहाँ पर शरीर के अस्तित्व पर संदेह व्यक्त किया जाता है। मन अथवा चेतना स्पष्टतः कोई बहुत वास्तविक वस्तु है...यथार्थ में तो जगत् में यही एक मात्र सत्ता होती है। शरीर तो अन्य दर्शकों के लिए मन की ही अभिव्यक्ति होता है। वह एक प्रकार से मन का प्रपंच अथवा बाह्यीकरण होता है। इस मामले में मन वास्तविकता होता है और शरीर इसकी परछाईं होता है।

इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की ताकत शरीर पर मन की प्राथमिकता के अनुभव पर आधारित होती है। किन्तु हमें ज्ञानमीमांसीय प्राथमिकता, मूल्यों की प्राथमिकता तथा मात्र काल की प्राथमिकता में भेद कर लेना चाहिए। इनमें से दूसरी प्राथमिकता मात्र ऐसी है जिसकी तार्किक रूप से रक्षा हो सकती है। इस तरह परामानसिकीय एकतत्त्व का सिद्धान्त प्रायः सर्वचित्तवाद का रूप ले लेता है। काल के संदर्भ में तुम जितना चाहे पीछे चलकर सरलतम जीव अथवा परमाणु या अणु तक जा सकते हो। वस्तुओं का "तत्त्व" अथवा वास्तविक उपादान मन है, और जिसे हम भौतिक पहलू या बाहरी रूप कहते हैं वह मात्र प्रपंच अथवा प्रतीति होता है।

किन्तु, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्ययवाद को सबसे अधिक बल भौतिक जगत् की स्वतन्त्र सत्ता के खंडन से नहीं और न ही इस घोषणा से मिलता है कि यह भौतिक सत्ता मात्र एक प्रतीति है, अपितु जब मानसिक जीवन दृष्टिगत होता है तब उसके महत्त्व, वास्तविकता तथा अनुभवातीत मूल्य पर ज़ोर देने से मिलता है। दूसरे शब्दों में इस मनः-शरीर समस्या के प्रत्ययवादी समाधान को बहुत ऊँचा मूल्य देकर खरीदा गया है। भौतिक जीव मन की "उच्चतर" वास्तविकता को प्राप्त करने के लिए एक सोपान ही सकता है अथवा वह

आध्यात्मिक शक्तियों को ऊपर उठाने के लिए संघर्ष में एक "बाधा" बन सकता है, किन्तु सभी क्षणों में यह पूर्णतः वास्तविक होता है।

तो यदि मनः-शरीर समस्या के चारों "समाधानों" में से प्रत्येक दुस्तर कठिनाइयाँ प्रस्तुत करता हो, तो क्या हम अपना "अज्ञान" अथवा "अज्ञान-शीलता" स्वीकार कर लेंगे और एक प्रकार के अज्ञेयवाद में शरण लेकर खोज बंद कर देंगे? ऐसा त्याग दर्शनशास्त्र की अंतरात्मा के साथ मेल नहीं खाता, हमें अपनी खोज जारी रखनी चाहिए।

उद्गामी सिद्धान्त

अभी हाल में मनः-शरीर सम्बन्ध का नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, जिसे **उद्गामी सिद्धान्त** कहते हैं। यह सिद्धान्त एक रुचिकर प्रयोग है। यह अरस्तू के उस सिद्धान्त के निकट है जिसके अनुसार मनः-शरीर की उपलब्धि अथवा फल होता है। यदि हम इस मत को स्वीकार कर लें, तो निश्चय ही हम मुक्ति अथवा बन्धन से छुटकारा पाने की भावना लेकर यह अनुभव करेंगे कि मन की समस्या का यह नवीन संप्रत्यय हमें मनः-शरीर समस्या के समस्त "समाधानों" से मुक्त कर देता है, अर्थात् अन्योन्य क्रियावाद से, समानान्तरवाद से, उपोत्पाद-वाद से, द्विपक्षीय सिद्धान्त से, विषयीनिष्ठवाद से और भौतिकवाद से; यह सभी "वादों" को पीछे करके आगे निकल जाता है। यही स्थिति अभिव्यंजन सिद्धान्त तथा पारगमन सिद्धान्त की भी होगी।[1]

---

1. जेम्स ने विचार किया कि समस्त जगत् "वास्तविक सत्ताओं के जगत् का छिपाए हुए प्रपंच का मात्र एक आवरण" हो सकता है, और यह अपारदर्शी आवरण किसी-किसी स्थान पर और किसी-किसी समय पतला और पारदर्शी हो जाता है, जिससे उच्चतर सत्ताओं के जगत् की झलक मिलती है। तो हमें यह भी मान लेना चाहिए कि मानव का मन भी आवरण में ऐसा ही पतला तथा अर्धपारदर्शी स्थल है। ऐसे मामले में मानव-मस्तिष्क के माध्यम से आत्माओं का जीवन स्वयं यह अभिव्यक्त करता है, जो जीवात्माओं के जगत् से, कहना चाहिए, कि इस प्रकार समाचार का संचारण करता है। कुछ ऐसी ही बात जेम्स के संचारण सिद्धान्त में थी। जिसे मैं समझता हूँ कि उसने आगे विचार करने के लिए एक सम्भावना के रूप में प्रस्तुत किया था। देखिए उसकी पुस्तक "ह्यूमन इम्मार्टलिटी", पृष्ठ 15 और आगे।

बर्गसाँ का सिद्धान्त भी कुछ इसी के समान है। वह मन अथवा चेतना को अस्तित्व का स्वतन्त्र वास्तविक रूप मानता है। प्रत्येक व्यक्ति की चेतना, चेतना के ब्रह्मांडीय सागर का एक अंश होती है, जो एक-एक जीव में केन्द्रित होकर भौतिक व्यवस्था के द्वारा अपनी वैयक्तिकता निर्धारित करती है। इस तरह मस्तिष्क एक ऐसा यन्त्र होता है जो इस ब्रह्मांडीय चेतना के स्रोत का संचारण करता है और जड़-जगत् में उसे प्रभावकारी बनाता है।

मन और शरीर के सम्बन्ध के अभिव्यंजन सिद्धान्त के लिए देखिए: DeWitt H. Parker, *The Self and the Nature*, chap. IV, "The Relation between Mind and Body."

जैसा कि अन्योन्यक्रियावाद एवं द्वैतवाद बताते हैं, मन और शरीर परस्पर क्रिया नहीं करते। जैसा भौतिकवाद बताता है, मन परमाणुओं के यांत्रिक खेल का रूप नहीं है। जैसा कि प्रत्ययवाद बताता है शरीर मन का प्रपंच, अथवा प्रतीत या बाह्यीकरण नहीं है। मन तथा शरीर समानान्तर नहीं होते, जैसा कि मनोशारीरिक समानान्तरवाद सिखाता है। और न ही वे एक सत्ता के दो रूप अथवा पक्ष होते हैं, जैसा कि द्वि-पक्षीय सिद्धान्त सिखाता है। आप मन और शरीर के सम्बन्धों को किसी भी समानान्तर रेखाओं के तंत्र द्वारा समझा नहीं सकते चाहे ये रेखाएँ समानान्तर हों, परस्पर जुड़ी हुई हों अथवा किसी तीसरी रेखा से सहसम्बन्धित हों, और न ही उसे दो ऐसी रेखाओं द्वारा समझाया जा सकता है जिनमें से एक दूसरी की छाया हो। मन कुछ ऐसी वस्तु है जिसे शरीर प्राप्त करता है अथवा जिसे प्रकृति शरीर के माध्यम से प्राप्त करती है। यदि तुम्हें आरेख बनाना पड़े तो उसके सोपान समानान्तर रेखाओं की अपेक्षा अधिक अच्छे बनेंगे। जब प्रकृति अणुओं को प्राप्त करती है तब परमाणु प्राथमिक महत्त्व की वस्तु, मूल्य अथवा सत्ता नहीं रह जाता। जब प्रकृति कोश प्राप्त करती है तब अणु लुप्त हो जाता है। जब जीव प्राप्त होता है तो कोश लुप्त हो जाता है। जब मन की उपलब्धि होती है तो शरीर लुप्त हो जाता है। मन एक नवीन वास्तविकता है—जो उपलब्ध होती है, प्राप्त की जाती है, और जीती जाती है; इसे अरस्तू के शब्दों में शरीर का प्ररूप कहा गया है।

यह स्पष्ट है कि यदि हम मन का शरीर के साथ सम्बन्ध इस प्रकार से बताना चाहें तो हम इस नवीन अवधारणा को **उद्‌गामी सिद्धान्त** कह सकते हैं।[1] मन का उन्मज्जन शरीर से होता है। स्तरों का सिद्धान्त, समानान्तरवाद, अन्योन्य क्रियावाद तथा द्वि-पक्षीय सिद्धान्त का स्थान ले लेगा। यह कहना कठिन है कि इनमें कौनसा सिद्धान्त सबसे अधिक असंतोषजनक है, जिससे छुटकारा हितकारी रहेगा। द्वैतवाद के सभी सिद्धान्त असंतोषजनक हैं। दो की संख्या के साथ कोई जादू नहीं है। दो प्राप्त कर लेने के पश्चात् प्रकृति तीन और चार की ओर आगे बढ़ जाती है। यहाँ पर जगत् का बहुतत्त्ववादी मत अधिक आशाजनक प्रतीत होता है, मन वास्तविक है, शरीर वास्तविक है और इसी प्रकार कई अन्य वस्तुएँ भी वास्तविक हैं।

किन्तु, कुछ पाठक कहेंगे कि मनः-शरीर समस्या इतनी सरलता से नहीं निपटाई जा सकती—इसे इस मनमाने ढंग से समाप्त नहीं किया जा सकता।

---

1. एस० एलेक्जेन्डर, जिसने हमें उद्‌गामी सिद्धान्त से परिचित कराया है, कहता है कि लायड मॉर्गन तथा जार्ज हैनरी लेविस ने इस शब्द का पहले भी प्रयोग किया है। उसकी पुस्तक "स्पेस, टाइम, एन्ड डीटी", खंड 2, पृष्ठ 14 से तुलना कीजिए। मॉर्गन ने अपनी हाल में लिखी पुस्तक "इमर्जेन्ट इवोल्यूशन" में उद्‌गामी सिद्धान्त का समस्त विकासवादी आंदोलन के लिए प्रयोग किया है।

मानसिक प्रक्रियाएँ शारीरिक प्रक्रियाओं के साथ सहसम्बन्धित प्रतीत होती हैं। प्रत्येक मानसिक चित्र, प्रत्येक संवेदन अथवा प्रत्यक्ष के साथ कोई न कोई तांत्रिक प्रक्रिया का सह-सम्बन्ध रहता है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि उद्गामी सिद्धान्त के अनुसार कोई सहसम्बन्ध, समानान्तरवाद अथवा द्वि-पक्ष नहीं होता। अपितु यहाँ पर वास्तविकता के विभिन्न स्तर रहते हैं। हमारे पास तो वास्तव में ऐसी महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओं की शृंखला होती है, जो व्यवस्थित अथवा एकत्रित कर दी जाने पर ऐसी क्षमताओं का प्रदर्शन करती है, जिन्हें हम **मानसिक** अथवा **परामानसिकीय** कहते हैं। जब वह **बुद्धिमत्तापूर्ण नियन्त्रण** कहाने वाले बिन्दु की क्रिया पर पहुँच जाते हैं तब हम उन्हें महत्त्वपूर्ण अथवा तांत्रिक प्रक्रियाएँ कहना बन्द कर देते हैं और परामानसिकीय कहते हैं। हम एक नवीन स्तर पर ऊपर हो जाते हैं, नवीन सत्ताओं के बीच, नवीन वातावरण में, अपने नियमों तथा अपनी विशेषताओं के साथ नई वस्तुओं के साथ बर्ताव कर रहे होते हैं। मनस् का उन्मज्जन पुद्गल से हुआ है, अध्यात्म का उन्मज्जन भौतिक से हुआ है। अनेक शताब्दियों के दुरुपयोग के बाद **आत्मा** शब्द ने एक निश्चित लाभकारी अर्थ ले लिया है, इसका अर्थ है मूल्य की दृष्टि से परामानसिकीय स्तर।

मनः-शरीर समस्या का यह सिद्धान्त अत्यन्त सरल तथा सही कहलाने के लिए अति सुगम प्रतीत होता है। इसमें कहीं न कहीं बाधा अवश्य होनी चाहिए, अन्यथा इसे बहुत पहले ही स्वीकार कर लिया गया होता। इसे निश्चय ही अरस्तू ने स्वीकार कर लिया था, फिर आखिर इसे छोड़ क्यों दिया गया ?

कम से कम दो शक्तिशाली अभिप्राय हैं जो इसका उत्तर दे सकते हैं। एक है धार्मिक अभिप्राय और दूसरा वैज्ञानिक। चर्च ने सदा ही आत्मा की अमरता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, और आरम्भ से ही आगस्टाइन तथा पॉल द्वारा प्रतिपादित "आत्मा से शरीर भिन्न होने का सिद्धान्त" बताया है। इस "क्रियाशील तर्क" के अतिरिक्त आत्मा को शरीर का रूप अथवा उपलब्धि अथवा प्ररूप का अरस्तू का सिद्धान्त शरीर के नाश के साथ ही आत्मा का नाश और लोप होना सम्मिलित करता है। इस प्रकार धर्म की पूर्वाभिरुचि का प्रभाव ऐसा था जो अरस्तू के आत्मा के सिद्धान्त के प्रतिकूल था। पुनः वैज्ञानिक अभिप्राय, जिसने ज़ोरदार ढंग से देकार्ते को प्रभावित किया, ऐसा था जिसने प्रकृति के "वास्तविक" यांत्रिक विवरण को उद्देश्यवादी जीववाद एवं गुणों से मुक्त करने का प्रयास किया। सत्रहवीं शताब्दी के मानव को यह बताना देकार्ते का महान् उद्देश्य था कि पुद्गल एक वास्तविक और पूर्ण पदार्थ है जो मन के समस्त निर्धारों से स्वतन्त्र होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनः-शरीर का कोई "रूप" नहीं होता, अपितु वह एक अलग और स्वतन्त्र वस्तु होती है।

उद्‌गामी सिद्धान्त की कमियाँ

किन्तु वास्तव में उद्‌गामी सिद्धान्त कुछ कठिनाइयों को दूर नहीं करता और इसे सावधानी पूर्ण जाँच किए बिना स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। पहली बात, जिस पर हमें ध्यान देना चाहिए, यह है कि जैसा हमने इस अध्याय में सीखा है, मन बहुत जटिल है और उन मानसिक तत्त्वों के संगठन अथवा समूह से भी अधिक उन बातों को सम्मिलित करता है जो अनुकूल व्यवहार अथवा सृजनात्मक बुद्धि बनाते हैं। यदि हम **मन** शब्द का उसके संकीर्णतर और सरलतर अर्थ में सृजनात्मक बुद्धि के रूप में प्रयोग करें तो मुझे उद्‌गामी सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिए मना करने वाला कोई कारण समझ में नहीं आता, वह हमें बहुत सी रहस्यमयता और उलझनों से छुटकारा दिलाता है। किन्तु वह भ्रामक वस्तु जिसे हम **चेतना** कहते हैं, क्या है और वे आदि वस्तुएँ जिन्हें हम **क्रियावृत्ति, संकल्प, आवेग, मूलप्रवृत्ति,** तथा आचरण एवं व्यवहार का स्रोत कहते हैं, क्या होती हैं ?

मैं समझता हूँ कि इन सब बातों से यह पता चलता है कि प्राचीन मनः-शरीर समस्या एक प्रकार की भ्रामक समस्या थी। वह मन को एक सरल आध्यात्मिक तत्त्व अथवा वस्तु मानती थी जिसे शरीर के साथ एक निश्चित सम्बन्ध स्थापित करना होता था। उदाहरण के लिए, चेतना शरीर के विपरीत कोई ऐसी सत्ता तो नहीं होती जिसके लिए शरीर के साथ सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक हो, वह तो स्वयं ही प्रत्यक्ष करने वाले जीव तथा प्रत्यक्ष की जाने वाली वस्तु के मध्य एक सम्बन्ध होता है, अथवा अपने उच्चतर रूप में यह एक ऐसा जटिल सम्बन्ध होता है जो हमारे मानसिक जीवन के समस्त तत्त्वों को एक सूत्र में बाँधता है।

तो, यदि चेतना को विचार, बुद्धि तथा सृजनात्मक क्रिया से अलग रखा जाए, और अपने सरलतम अर्थों में इसकी परिभाषा करते हुए इसे मात्र **अभिज्ञा** कहा जाए, और अपने पूर्ण अर्थों में हमारे अनुभव के विभिन्न तत्त्वों की **एकता** स्थापित करने वाला विशेष प्रकार का सम्बन्ध कहा जाए, जो उन्हें एक सूत्र में बाँधता है, तो हम देखेंगे कि चेतना और शरीर के बीच के सम्बन्ध को पूछना निरर्थक हो जाता है। जब हम ऐसा करते हैं तब भी हम चेतना को उसी प्राचीन रूप में सोचते हुए एक ऐसी एकात्मक अथवा गुणार्थक वस्तु मानते रहते हैं जो शरीर के साथ परस्पर क्रिया कर सकती हो, अथवा उसके समानान्तर हो सकती हो, अथवा इसका दूसरा पहलू हो सकती हो। जब हम चेतना को उसके सरलतम रूप में **अभिज्ञा** कहते हैं तो यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है। मान लो यदि हम कहें कि जंगली फूल अपने स्थूल अर्थ में सूर्य के प्रकाश की अभिज्ञा होती है जिसकी ओर वह झुका होता है तो क्या फिर इस अभिज्ञा का फूल के "शरीर" के साथ सम्बन्ध पूछना निरर्थक नहीं होगा ? अभिज्ञा स्वयं ही फूल का किसी

अन्य वस्तु के साथ सम्बन्ध होती है। उद्गामी सिद्धान्त भी यहाँ लागू नहीं होगा, यद्यपि चेतना, निश्चय ही, अपने आत्म-चेतना के उच्चतर अर्थ में कुछ ऐसी वस्तु है जो विकास के दौरान उत्पन्न होती है।

और तब तत्त्वों का एक तीसरा वर्ग है, जिसे हम मन कहते हैं, अर्थात् क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ, अथवा भावनात्मक इच्छाएँ अथवा जैविक हित—ये शरीर से किस प्रकार सम्बन्धित होती हैं ? यहाँ हम फिर देखते हैं कि मनः-शरीर समस्या यदि भ्रामक नहीं तो कम से कम कितनी जटिल है; और हम पुनः यहाँ देखते हैं कि इसे समानान्तरवाद, अन्योन्य क्रियावाद अथवा द्वि-पक्षवाद की अपेक्षा विकासवादी दृष्टिकोण से देखना बेहतर है। यह स्पष्ट है, कि यहाँ सम्बन्ध वैसा ही नहीं है, जैसा चेतना के मामले में था, और न ही वैसा है जैसा कि वह विचार, व्यवहार, तथा बुद्धि के मामले में था; क्योंकि क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ हैं। सम्भवतः बुद्धि के अर्थ में मन इन गहरी क्रियात्मक शक्तियों के लिए करण होता है। अर्थ-क्रियावादी हमें बताता है कि विचार और बुद्धि साधन हैं; ये जीव को नई जटिल स्थिति का सामना करने के योग्य बनाते हैं। किन्तु वे कौन अथवा क्या हैं जो बुद्धि का नियन्त्रण के लिए साधन रूप में प्रयोग करते हैं ? स्पष्टतः जैविक हित ही इस प्रकार उपयोग में लाए जाते हैं। इसलिए यह सोच सकना सम्भव होगा कि मस्तिष्क और वास्तव में तो पेशियाँ, हड्डियाँ और शरीर के अनेक अंग तथा वे विशेष मानसिक शक्तियाँ जो इस समस्त व्यवस्था से उत्पन्न होती हैं, जैविक हितों के लिए साधन होते हैं। ऐसी परिस्थिति में तो करण सिद्धान्त का एक नवीन रूप ही मनः-शरीर समस्या के उस हिस्से का समाधान प्रतीत होगा जो क्रियात्मक प्रवृत्तियों अथवा जैविक हितों से सम्बन्धित होता है।

वे लोग जो प्रत्येक वस्तु की प्रकृतिवादी या भौतिकवादी व्याख्या अधिक पसंद करते हैं, निश्चय ही यह कहना अधिक पसंद करेंगे कि आवश्यक प्रयास तथा क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ सरल भौतिक तथा रासायनिक तत्त्वों के संघटन से उत्पन्न होती हैं। किन्तु हमारे ज्ञान की वर्तमान स्थिति यह स्वीकार करने की अनुमति नहीं देती कि हमारी क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ भौतिक एककों के संघटन से उत्पन्न होती हैं। इसके विपरीत ही ठीक होना अधिक सम्भव है, जैसा कि हमने पिछले अध्याय में की गई पूरी चर्चा में देखा है। यदि हम किसी वस्तु को मौलिक अथवा आदिम अथवा जगत् में प्राथमिक वस्तु मान सकते हैं तो यह कुछ वह होगी जिसे हम **भावना** अथवा **प्रयास** कह सकते हैं, न कि **जड़तत्त्व** अथवा **शरीर**। बर्गसाँ का विश्वास है कि जड़तत्त्व विपरिवर्तन अथवा जीवन में बाधा का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि वास्तविकता का रूप मूल-प्रेरणा में होता है, जो "वह आन्तरिक प्रेरणा है जो जीवन को उच्चतर प्रारब्धों तथा अधिकाधिक जटिलतर रूपों की ओर ले जाती है।"[1]

1. *Creative Evolution*, p. 103.

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Durant Drake, *Invitation to Philosophy* (Houghton Mifflin Company), chap. XXI.

Friedrich Paulsen, *Introduction to Philosophy* (Henry Holt and Company), pp. 128—44.

अन्य सन्दर्भ

S. Alexander, *Space, Time, and Deity* (The Macmillan Company), vol. II, book III, chap. I.

E. G. Spaulding, *What Am I?* (Charles Scribner's Sons, 1928), lecture I.

William McDougall, *Body and Mind* (Methuen and Company).

Morton Prince, *The Nature of Mind and Human Automatism* (J. B. Lippincott Company).

J. B. Pratt, *Matter and Spirit* (The Macmillan Company).

C. D. Broad, *The Mind and Its Place in Nature* (Harcourt, Brace and Company).

G. Watts Cunningham, *Problems of Philosophy. An Introductory Survey* (Henry Holt and Company), chap. XVII.

R. W. Sellars, *Evolutionary Naturalism* (The Open Court Publishing Company), chap. XIV. *The Essentials of Philosophy* (The Macmillan Company), chap. XXII.

C. A. Strong, *Why the Mind Has a Body* (The Macmillan Company).

Descartes, *Meditations*. Especially I to IV.

Spinoza, *Ethics*, book I.

अध्याय 21

स्वतन्त्रता

आधुनिक भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में अनिश्चितता के सिद्धान्त की खोज से अब संकल्प की स्वतन्त्रता के पुराने विवाद पर एक नवीन एवं अभूतपूर्व अभिरुचि केन्द्रित हो गई है। इसके फलस्वरूप कुछ क्षेत्रों में यह माना जाने लगा है कि विज्ञान, जिसे कि किसी भी प्रकार के अनिश्चयवाद का शत्रु समझा जाता था, अब दूसरी ओर चला गया है तथा इसने भौतिक जगत् में भी एक प्रकार की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया है। इस अध्याय में आगे चल कर हम देखेंगे कि अनिश्चिता के सिद्धान्त की ऐसी व्याख्या कहाँ तक उचित है। इसके अतिरिक्त संकल्प की स्वतन्त्रता के विषय में बर्गसाँ तथा जेम्स के द्वारा लिए गये स्पष्टवादी पक्ष के कारण इस विषय पर एक असामान्य अभिरुचि को पहले ही जागृत किया जा चुका है। इस पर भी हम आगे चलकर विचार करेंगे। अभी हम उस अस्पष्टता को दूर करने का यत्न करेंगे जो अनावश्यक रूप में इस समस्या के साथ जोड़ दी गई है। यह कोई समस्या है या बुझौवल? किसी ने कहा है कि बुझौवल तथा समस्या में मुख्य अन्तर यही है कि समस्या विचारपूर्ण चिन्तन को उत्पन्न करती है। क्या विचारपूर्ण चिन्तन इस प्राचीन समस्या की कठिनाइयों को सुलझा देगा? सम्भवत: सावधानी से की गई शब्दों की परिभाषा कठिनाई के कुछ अंश को दूर कर सकती है।

स्वतन्त्र होने का अर्थ क्या है?

अपने सरलतम अर्थ में **स्वतन्त्रता** का अर्थ है किसी बाह्य शक्ति के द्वारा आरोपित अनिवार्यता, अवरोध अथवा बलात्कार का अभाव। दास स्वतन्त्र नहीं होता, क्योंकि अन्य व्यक्ति उस पर अपने बल का प्रयोग करते हैं। एक पिंजड़े में बन्द सिंह स्वतन्त्र नहीं होता, क्योंकि लोहे की छड़ें उसे अवरुद्ध करती हैं। पिंजड़े से छूट कर जंगल में वापिस पहुँचा हुआ सिंह अपनी इच्छा के अनुसार जीवन बिताने के लिए स्वतन्त्र होता है, और उसके लिए यही स्वतन्त्रता का अर्थ होता है। दासता से मुक्त व्यक्ति स्वतन्त्र होता है जब उसे उन दूसरे व्यक्तियों के साथ समानता के आधार पर मिलने का सौभाग्य प्राप्त होता है जो कि स्वयं अपने लिए काम करते हैं, अपनी भूमि को स्वयं जोतते हैं तथा अपने श्रम के उत्पादन

का उस रूप में उपयोग करते हैं जिस रूप में कि वह उन्हें उचित प्रतीत होता है।

बीसवीं शताब्दी के स्त्री-पुरुषों को इस प्रकार की स्वतन्त्रता पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। वे दासता-रहित, बन्धन-रहित एवं अवरोध-रहित रूप में अपने मनचाहे कार्यों को करने के लिए स्वतन्त्र हैं। व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य पर ही हमारी सरकार की नींव रखी गई है। हमने धीरे-धीरे साम्राज्यवादी सरकार से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की, दासता से नीग्रो लोगों की स्वतन्त्रता की, यौन की असमानता से नारी जाति की स्वतन्त्रता की, मूर्खतापूर्ण रूढ़ियों एवं रीति-रिवाजों से स्त्री-पुरुषों की स्वतन्त्रता अथवा मुक्ति की कामना की तथा उसे पा लिया है और अब हम पूँजीवादी उत्पीड़न से श्रमिक की मुक्ति के लिए तथा बेकार व्यक्तियों को काम करने की स्वतन्त्रता के लिए माँग कर रहे हैं। कभी-कभी यह सोचकर आश्चर्य होने लगता है कि क्या स्वतन्त्रता के लिए हमारा यह इस प्रकार का उन्माद हमें स्वस्थ अनुशासन की अनिवार्यता के प्रति अन्धा तो नहीं कर देगा। चाहे जो भी हो, आज के युग में हमें वह सारी स्वतन्त्रता, शायद उससे भी अधिक, प्राप्त है जिसका कि हम ठीक प्रकार से उपयोग कर सकते हैं।

नियतत्ववाद

किन्तु एक स्वतन्त्र वाद-विवाद में आपका उत्तर होगा कि हमारा अभिप्राय जिस स्वतन्त्रता से है वह यह नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या किसी स्थिति के पूर्ण पर्यावरण में किसी व्यक्ति की क्रियाएँ इस अर्थ में स्वतन्त्र हैं कि वे किसी पूर्वगामी कारण के द्वारा प्रेरित, निर्धारित, निश्चित की गईं अथवा पूर्वानुमानित की जा सकने वाली नहीं हैं। क्या मानवीय क्रियाएँ प्रकृति की अन्य सभी क्रियाओं के समान ही उस प्राकृतिक नियम से अनुशासित नहीं जो कि मानवीय व्यवहार के सहित विश्व में घटित होने वाली सभी क्रियाओं का दृढ़तापूर्वक निर्धारण करता है। क्या हम सभी कार्य-कारण के नियम शिकंजे में जकड़े हुए नहीं हैं, जिसके फलस्वरूप हमारा प्रत्येक कार्य किसी पूर्वगामी कारण अथवा स्थिति का परिणाम होता है? क्या मानव-संकल्प प्रकृति में पूर्ण रूप से व्याप्त यांत्रिकता के बन्धन से बच सकता है?

यह नियतत्ववादियों का एक सुपरिचित तर्क है। प्रकृति की अन्य घटनाओं के समान ही मानव-क्रियाएँ भी प्रकृति के नियमों का पालन करती हैं। वे अन्य पूर्वगामी घटनाओं से पूर्णतः अनुमेय होती हैं, सभी संक्रमण आवश्यक संक्रमण होते हैं। **बिना कारण के** किसी कार्य की कल्पना, चाहे वह स्वेच्छाकृत मानव-कार्य ही क्यों न हो, करना असम्भव होगा। मानवीय संकल्पों का निर्धारण पूर्णतया पूर्वगामी संकल्पों, अर्जित अभ्यास, परम्पराओं, रीति-रिवाजों तथा शिक्षा के द्वारा होता है। एक तीक्ष्ण दृष्टि किसी पशु अथवा व्यक्ति के प्रवृत्ति-

निमित्तों, क्रियाओं तथा व्यवहार का सर्वथा ठीक-ठीक पूर्व-कथन कर सकती है। किसी व्यक्ति के चरित्र का निर्धारण उसकी आनुवंशिकता, उसके सामाजिक पर्यावरण, उसकी परिस्थितियों तथा उसकी शिक्षा के आधार पर किया जाता है। स्वतन्त्रता की अनुभूति एक भ्रम है जिसका आधार यह तथ्य है कि हम अपने आचरण के निर्धारक कारणों के विषय में अचेतन होते हैं। सांख्यिकी के द्वारा भी यह सिद्ध होता है कि मानवीय क्रियाओं में एकरूपता होती है तथा किसी बाहरी दर्शक के लिए निश्चित गुणों का सभी प्रकार का निर्धारण उनमें रहता है। विवाह, विवाह-विच्छेद तथा आत्महत्याएँ, लगभग एकरूपता से आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक स्थितियों के अनुसार होती हैं।

तर्क की यह पद्धति बड़ी प्रभावपूर्ण प्रतीत होती है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में इसे विशेषकर उन लोगों से, जो कि भौतिक विज्ञानों को एक विशेष आदर के साथ देखने के आदी हो गए थे, एक सामान्य मान्यता प्राप्त हो गई थी। डार्विन के सिद्धान्तों के आगमन से नियतत्ववादियों की स्थिति काफी मज़बूत हो गई। मानव प्रकृति से श्रेष्ठ नहीं, वरन् उसकी सृष्टि मात्र है। उसकी साधारण उत्पत्ति की खोज लगा ली गई है। वह सरलतम पशु-जीवन का एक अति विकसित रूप मात्र है। प्रकृति में कोई त्रुटि नहीं, अर्थात् इसमें कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ पर कि इसके नियम लागू न होते हों। वृक्ष के पत्तों का उन्मीलन इन्हीं नियमों के अनुसार होता है। इसी प्रकार एक बालक भी प्राकृतिक नियमों के साथ पूर्ण संगति रखता हुआ ही खाने, सोने, बढ़ने, सोचने तथा चयन करने की क्रियाएँ करता है। इस प्रकार, **नियतत्ववाद** के नाम से प्रसिद्ध सिद्धान्त को, न केवल भौतिक विज्ञानियों में ही, अपितु नैतिकतावादियों, समाजशास्त्रियों, तथा यहाँ तक कि अध्यात्मवादियों में भी बहुत अधिक मान्यता प्राप्त हुई। कहा गया कि नियतत्ववाद में कोई भी बात ऐसी नहीं जो कि नैतिकता अथवा धर्म के लिए अप्रीतिकर हो। यह सदाचरण, शिष्ट नागरिकता तथा मानवीय दायित्वों के साथ पूर्ण संगति रखता है। अशुभ अशुभ ही रहेगा और शुभ शुभ ही होगा, हमें इसी प्रकार अपने आचरण के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। अपराधी का न्यायाधीश के सामने जाकर यह कहना निरर्थक होगा कि "मुझे दण्ड मत दीजिए, मैं अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं हूँ; वे प्रकृति के नियमों के द्वारा मेरे लिए दैवी रूप से निर्धारित हैं, मेरे संकल्प के कार्य मेरे अभिप्रयोजनों से निर्धारित हैं।" न्यायाधीश का उत्तर होगा "बहुत अच्छा, हम तुम्हें सद्व्यवहार के लिए कुछ नवीन अभिप्रयोजन देंगे। तीस दिन। अगला मुकदमा।"

व्यवहार शास्त्र तथा अच्छी सरकार को नियतत्ववाद में कुछ भी आपत्तिजनक दिखाई नहीं देगा। उचित तथा अनुचित के बीच भेद को समझने वाले, विमर्श कर सकने वाले तथा स्वयं के अथवा समाज के विभिन्न प्रकार के कार्यों का मूल्यांकन कर सकने वाले प्रत्येक सामान्य बुद्धि के व्यक्ति को अपने कार्यों के लिए

उत्तरदायी ठहराया जाता है तथा वह स्पष्टता से अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करता है। यदि उसके कार्यों का निर्धारण उसकी पूर्व ईप्साओं, उसकी भूख अथवा संवेगों, उसकी आदतों तथा परम्पराओं के द्वारा होता है तो ये सभी उसके स्वयं के ही अंग होते हैं, और इस प्रकार उसका निर्धारण आत्म-निर्धारण होता है; इसका अर्थ हुआ, यह स्वतन्त्रता है। इस प्रकार यह देखा गया है कि अनेक सावधान, विद्वान् एवं पुरातनवादी लेखकों के द्वारा अपने नीति-वाक्यों तथा दर्शन में नियतत्ववाद को स्वीकार किया गया है तथा अब भी किया जा रहा है। नियतत्ववादियों की स्थिति में एक निश्चित आश्वासक तथ्य यह है कि शिक्षा प्रभावकारी होगी तथा चरित्र आश्रयणीय होगा।

आश्रितता से हमारा अभिप्राय इसी से है। हमारा अभिप्राय है कि किसी व्यक्ति के व्यवहार के नियमन में उसकी शिक्षा, उसका परिवार तथा सामाजिक परम्पराएँ, राज्य के विधान तथा ईमानदारी व सत्यशीलता के नियमों के प्रति उसका आदर भाव शक्तिशाली कारण होंगे। हमारा मतलब है कि हम उस व्यक्ति पर भरोसा कर सकते हैं। हम जानते हैं कि वह क्या करेगा। हम उस पर विश्वास कर सकते हैं। अन्यथा आचरण का कोई अर्थ नहीं होगा। यदि स्वेच्छा का अर्थ इस प्रकार के नियमन का अभाव है तो कोई भी व्यक्ति इसे नहीं चाहेगा, निश्चित ही, कोई भी नहीं चाहेगा कि उसका बच्चा या उसका मित्र इसे प्राप्त करे। आवश्यकता के समय तुम्हारा मित्र तुम्हारी सहायता के लिए आ भी सकता है और नहीं भी आ सकता। तुम्हारा विश्वसनीय क्लर्क बिक्री की पूँजी को दे भी सकता है और नहीं भी दे सकता। तुम्हारी बीमारी में तुम्हारी माँ तुम्हारी परिचर्या कर भी सकती है और नहीं भी कर सकती। बैंक के कर्मचारियों की वाणिज्यिक निश्चितता का अन्त हो जायेगा। समाज में अव्यवस्था का शासन हो जायेगा तथा आचरण में अस्थिरता आ जायेगी।

इस प्रकार नियतत्ववाद का सिद्धान्त सभी आगन्तुकों के लिए अपने द्वार बन्द करता हुआ प्रतीत होता है। इसके रूढ़िवादी निष्कर्षों से बचने का कोई मार्ग दिखाई नहीं देता। निश्चय ही, स्वतन्त्रता में अपने विश्वास को बनाए रखने की कोशिश करने वाला स्वेच्छाचारितावादी उत्तर देगा: "यह सत्य है कि व्यक्ति अपने चयन में अपनी शिक्षा, अपनी परम्पराओं तथा अपने सामाजिक रीति-रिवाजों से प्रभावित होता है, किन्तु उसका निर्धारण इनके द्वारा नहीं होता। निश्चय ही वह विचार-विमर्श करता है, किन्तु जब वह चयन करता है तो उसका चयन स्वतन्त्र होता है। वह अपनी स्वतन्त्रता के प्रति सजग होता है। वह कम से कम स्वतन्त्रता से अपने **अवधान** को एक निर्धारित कार्य के प्रति मोड़ सकता है। तथा जैसा कि सभी जानते हैं कि अवधान संकल्प का पूर्वगामी होता है तथा अवधान स्वतन्त्र होता है।" किन्तु नियतत्ववादी का उत्तर है कि अन्य मानसिक प्रक्रियाओं के समान ही अवधान भी अपनी पूर्ववर्ती मानसिक प्रक्रियाओं से

अपरिहार्य रूप से प्रवाहित होता है तथा कारणता के साथ यह दैविक सम्बन्ध से सम्बद्ध रहता है।

नियतत्ववाद के तार्किक आधार की दुर्बलताएँ

तथापि, नियतत्ववाद का मामला इतना स्पष्ट नहीं जितना कि यह इसके प्रायः लोकप्रिय कथनों से प्रतीत होता है। ऊपर प्रस्तुत किया गया तर्क शिथिल सामान्यीकरणों से पूर्ण है जिसका समर्थन करने में विज्ञान का सतर्क विद्यार्थी अवश्य ही हिचकिचाएगा। हमें **नियम का शासन** तथा **कारणात्मक आवश्यकता** जैसी अभिव्यक्तियों को अति गम्भीरतापूर्वक नहीं लेना चाहिए। प्रकृति के नियम "शासन" नहीं करते और वे किसी चीज़ का "निर्धारण" नहीं करते। वे विवश करने वाली शक्तियाँ नहीं हैं और न वे किसी प्रकार की **शक्तियाँ** ही हैं। वे केवल प्रकृति में प्राप्त एकरूपताओं से सम्बद्ध कुछेक अनुभवों के संक्षिप्तीकरण के सूत्र मात्र हैं। विज्ञान घटनाओं के व्यवहार में **आवश्यकता या निरपेक्ष निश्चितता** जैसी चीज़ों को नहीं जानता, वह केवल एकरूपता को जानता है। जब प्रकृति में कुछ घटनाओं को एकरूपता के साथ घटित होते हुए देखा जाता है तो यह आशा करना उचित ही है कि जब ये पूर्वघटित घटनाएँ पुनः घटित होंगी तो इनके वही परिणाम निकलेंगे, किन्तु इस मामले में आवश्यकता जैसी कोई चीज़ नहीं है। प्रकृति में इस बात में पर्याप्त एकरूपता दिखाई देती है जिससे कि हम, यांत्रिक विज्ञानों के स्तर पर सम्भाव्यता की उच्च मात्रा के साथ, कार्बनिक विज्ञानों में घटती-बढ़ती निश्चितता के साथ, तथा मानवीय कार्यों में निश्चितता की कुछ मात्रा के साथ भविष्य का पूर्वकथन कर सकते हैं।

कारण के संप्रत्यय का अधिक विचार पूर्ण विश्लेषण, उदाहरणार्थ जैसा कि बर्ट्रेन्ड रसल ने किया है, दिखाता है कि हमें **विवशता** के किसी प्रकार के तत्त्व से भी छुटकारा पा लेना चाहिए, तथा प्रकृति में प्राप्त एकरूपता स्वतन्त्रता के साथ किसी प्रकार भी असंगति नहीं रखती।

> संक्षेप में स्वतन्त्रता, किसी भी मान्य अर्थ में केवल यही चाहती है कि हमारे संकल्प, जैसे कि वे हैं, हमारी अपनी इच्छाओं के परिणाम होंगे न कि किसी ऐसी वाह्य शक्ति के परिणाम होंगे जो कि हमें उस इच्छा के लिए विवश करे जिसकी कि हम कामना नहीं करते। अन्य सब कुछ विचारों का भ्रम होता है जो कि इस भावना के कारण होता है कि भविष्य के विषय में ज्ञान उन घटनाओं को विवश करता है जिन्हें कि यह जानता है, यद्यपि यह एकदम स्पष्ट है कि अतीत के सम्बन्ध में ज्ञान की ऐसी कोई शक्ति नहीं होती। अतः स्वतन्त्र इच्छा केवल रूप मात्र में ही सत्य है जो कि महत्त्वपूर्ण है। तथा अन्य रूपों की कामना

केवल अपर्याप्त विश्लेषण का ही परिणाम है ।[1]

उपागम की अन्य प्रणाली

किन्तु जब स्वतन्त्रता के समूचे विषय पर पहुँचने का एक और भी रास्ता है, जो कुछ-कुछ जैविक तथा विकासात्मक है। हम यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि क्या प्रकृति तथा मनस् में कुछ ऐसी वस्तु नहीं होती जिसे हम **वास्तविक स्वतःचालन** कह सकें। यदि है तो इसका अर्थ यह नहीं निकलेगा कि मनुष्य का प्रत्येक संकल्प स्वतन्त्र है, इसका अर्थ केवल यह निकलेगा कि वास्तविक स्वतन्त्रता की सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। प्रमाण एकत्रित हो रहे हैं जो विकासात्मक प्रक्रिया के कुछ निश्चित स्तरों पर एकरूपता के स्थान पर स्वतःचालन के विद्यमान होने का संकेत देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति यन्त्रवादी चक्की के पंजे से बचकर जीवन, मनस् तथा नैतिकता और चेतन-सहयोग जैसी विलक्षण नवीनताओं में विकसित होने का प्रयत्न करती है। कार्बनिक जीवन कुछ इस प्रकार के व्यवहार को परिलक्षित करता है जिसे **यांत्रिक अनिवार्यता** के स्थान पर **स्वतःचालन** शब्द ही अधिक ठीक तरह से बताता है। कार्बनिक स्तर पर ही कुछ ऐसे कारण प्रवेश होते हैं जिन्हें हम हित कहते हैं। उत्कंठा, आवश्यकता तथा जीवन का संघर्ष और उसकी लालसा, इच्छा तथा संघर्ष करने के लक्षण आदि बातें भौतिक विज्ञानों की शब्दावली के माध्यम से अब ठीक तौर से नहीं बताई जा सकतीं, क्योंकि वहाँ मात्र भौतिक कणों का प्रभाव होता है, जो हमें दबाव तथा आवश्यकता के रूप में सोचने को बाध्य करता है। जीव, पानी के प्रवाह के कारण पनचक्की के पंखों की भाँति, घूमते हुए प्रतीत नहीं होते। बल्कि वे कुछ माँग करते हुए, कुछ अपेक्षा करते हुए तथा कुछ इच्छा करते हुए प्रतीत होते हैं। उनका दृष्टिकोण अग्रगामी है, पीछे की ओर जाने वाला नहीं है। कार्बनिक प्रकृति में "क्रियात्मक झुकाव हमेशा भविष्य की ओर होता है।" नियतत्ववाद की शब्दावली यांत्रिक विज्ञानों से प्राप्त की गई है अतः वह प्राण सम्बन्धी परिस्थिति में कठिनाई से लागू होती है।

अभी हाल के एक लेखक ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि "तालाबों में शरद् ऋतु में अधिकतम उत्पत्ति एक वर्ग गज़ में सात सौ करोड़ डायटम **मैलोसीरा वेरियन** हो सकते हैं जिससे कि पानी जीवित सूप की भाँति हो जाए।"

> किन्तु जीवन के बाहुल्य होने के अतिरिक्त—व्यष्टित्वों तथा व्यक्तियों में समान रूप से—विद्रोह करने का एक गुण होता है। जीव प्रत्येक रुकावट के विरुद्ध जोर लगाते हैं, वे संसार भर का प्रत्येक कोना भर लेते हैं, वे यह

---

1. Bertrand Russell, *Scientific Method in Philosophy* (Open Court Publishing Company), p. 236.

दर्शाते हैं कि प्रकृति रिक्त स्थान पसन्द नहीं करती। मॉन्टेरोज़ा की दस हज़ार फुट से भी अधिक ऊँचाई पर बर्फ में भी हम जानवरों को पाते हैं, हम उन्हें समुद्र की तह में से भी, उस छः मील गहरे स्थल में से भी पकड़ सकते हैं, जहाँ माउँट एवरेस्ट के डुबाव से भी अधिक गहराई है। यह कह सकना कठिन नहीं है कि कौनसी मुश्किलें हैं जिन्हें प्राणी जीत नहीं सकते अथवा पार नहीं कर सकते हैं···। जब हम प्रत्येक कोना भरने, असाधारण स्थानों में घर ढूँढ़ लेने, कठिन परिस्थितियों में विजय प्राप्त कर लेने, असाधारण संकट के समय में अभियोजित कर लेने की क्षमता, दिक् का छल करना (जैसा कि स्थानान्तरण करते समय होता है), और काल पर अधिकार (जैसा एकान्तवास में होता है) कर लेने जैसी बातों पर विचार करते हैं तो हम जीवन के संघर्ष का आभास करने लगते हैं। हम जीवन को स्थिर तथा बलपूर्वक प्रवेश कर लेने वाला—हर जगह फैलता हुआ, अपने आपको बढ़ाता हुआ, अभियोजित होता हुआ, प्रत्येक वस्तु को सहन करता हुआ, प्रत्येक वस्तु का विरोध करता हुआ, और प्रत्येक वस्तु को बनाये रखता हुआ देखते हैं।[1]

सत्य तो यह है, कि समस्त विकासवादी आन्दोलन में प्रकृति अपने आपको यान्त्रिक बेड़ियों से मुक्त करने के लिए संघर्ष कर रही है—एक विकसित होते हुए बालक की भाँति स्वयं अपना संकल्प कर सकने का प्रयास कर रही है। जैसा हमने पहले अध्याय में देखा है कि विकास स्वतन्त्रता के लिए एक लम्बा संघर्ष है। जब जीव मनुष्य के मनस् द्वारा प्रतिनिधित्व किए जाने के स्तर पर आ जाते हैं, तो महत्त्वपूर्ण हित भी सचेत हो जाते हैं। व्यवहार कुछ निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जानबूझ कर अभियोजन करता है। मनुष्य का मनस् परिस्थितियों के नियंत्रण से बनता है—वास्तव में तो कुछ उद्देश्यों को पूरा करने के लिए परिस्थितियाँ स्वयं ही नियंत्रित होती हैं। बर्ताव के विभिन्न पहलुओं को **आँका** जाता है, तथा **उच्चतर** मूल्यों को प्राप्त करने के लिए जानबूझ कर साधन चुने जाते हैं। इस प्रकार की परिस्थिति में कार्बनिक जीवन द्वारा प्रयुक्त शब्दावली अपने निम्नतर स्तरों पर प्रयुक्त शब्दावली की अपेक्षा नियतत्ववाद की शब्दावली और भी कम उपयुक्त है। हालाँकि स्वतन्त्रता की भाषा पूरी तौर से लागू नहीं होती तो भी यहाँ अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है।

वास्तव में प्रकृति का यह स्वतःचालन ही है जो स्वयं विकास का कारण है। कार्बनिक विकास में हर थोड़ी-थोड़ी देर में ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति को नए-नए "विचार" प्राप्त होते हैं, और संश्लेषण होता है जिससे कि आश्चर्य-

1. Quoted by permission from *The Outline of Science* (vol. III, p. 708), edited by J. Arthur Thomson (4 vols., New York : G. P. Putnam's Sons, 1922).

जनक बातों का उद्भव होता है। ऐसे सम्बन्ध पैदा हो जाते हैं जो **कारण तथा कार्य** की शब्दावली में समुचित रूप से अभिव्यक्त नहीं प्रतीत होते; यह नवीन गुणों के उद्भव होने की बात होती है। नवीन मूल्य "नियत" प्रतीत नहीं होते, वे "प्राप्त" किए हुए प्रतीत होते हैं। मशीन की गति नियत होती है। तेल, ईंधन डालो और मशीन चक्की की भाँति जब तक घिस नहीं जाएगी, चलती रहेगी। नियतत्ववाद की भाषा उसके लिए बिल्कुल ठीक बैठती है, किन्तु यह भाषा जीवों के व्यवहार को बताने के लिए ठीक नहीं बैठती, और बुद्धिमान् व्यक्तियों के बर्ताव को समझाने के लिए तो बिल्कुल ही अयोग्य है। यहाँ साधन और साध्य कारण और कार्य का स्थान ले लेते हैं। अभियोजनशील व्यवहार में व्यक्ति विपरीत वातावरण को नियन्त्रित करने में संलग्न होता है, ताकि वह इच्छित उद्देश्य को प्राप्त कर सके। किसी विषम परिस्थिति में कुछ कारक प्रयोग प्रणाली के द्वारा सफल अभियोजन का मार्ग दर्शाते हैं। भविष्य में होने वाले परिणाम कार्य में महत्त्वपूर्ण कारक होते हैं। यदि इस कार्य को बताने के लिए हमें **स्वतन्त्र** तथा **नियत** शब्दों में से चुनाव करना हो तो निश्चिय ही वरीयता **स्वतन्त्र** शब्द को दी जाएगी।

अतः यह प्रतीत होता है कि जीवों के व्यवहार के सम्बन्ध में इस नवीन तरीके में स्वतन्त्रता तथा नियतत्ववाद का प्राचीन मतभेद अब अप्रचलित हो गया है। नियतत्ववाद को अस्वीकार नहीं किया गया है, उससे भी परे की स्थिति हो गई है। उसकी भाषा परिस्थिति में ठीक नहीं बैठती। और न ही **अनियतत्ववाद** अथवा **स्वेच्छातन्त्रवाद** जैसे शब्द उपयुक्त लगते हैं। शब्द **स्वतन्त्रता** बेहतर है, लेकिन यह शब्द दूसरे विचार-क्षेत्र से लिया गया है और ठीक वही नहीं है जो हमें चाहिए। परंपरागत मंगल नक्षत्र वासी पृथ्वी पर पधारे और मनुष्य से पूछे, "क्या तुम स्वतन्त्र हो?" उत्तर होगा "नहीं, हमारे सामने **रुकावटें** हैं।" "क्या तुम्हारी सभी गतिविधियाँ नियंत्रित तथा नियत हैं?" "बकवास, नहीं! हम कुछ लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहें हैं, और हम उन्हें कठिनाई से प्राप्त कर रहे हैं, किन्तु सभी बातों को ध्यान में रखते हुए हम सफल हैं।"

इसलिए तथ्य यह निकलता है कि जबकि स्वतन्त्रता की भाषा मनुष्य के बर्ताव के सम्बन्ध में यथार्थ परिस्थिति का विवरण देने के लिए अपर्याप्त है, तो नियतत्व-वाद की भाषा उसके लिए अप्रचलित है। हमें सभी तरफ नवीन शब्दावली की आवश्यकता प्रतीत होती है। यह सम्भव है की यदि नैतिक उत्तरदायित्व के विषय में दुविधा न उठ खड़ी होती तो संकल्प की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में कोई विवाद न होता। जब धर्मशास्त्रियों ने प्राकृतिक दंडों की अपेक्षा प्रतिकारार्थ दंड सिद्धान्त का उपदेश (पाप की कठोरता तथा उसके भयावह परिणामों को ध्यान में रखते हुए) दिया, तो उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि जब व्यक्ति का आचरण उसकी आनुवंशिकता, शिक्षा तथा परिवेश की परिस्थितियों के साथ इतनी घनिष्ठता के

साथ सम्बन्धित होता है तो क्या उसे न्यायोचित रूप से दंडित किया जा सकता है। इसका उत्तर यह होना चाहिए कि दंड प्रतिकारार्थ नहीं होते, वरन् वे प्राकृतिक तथा अनुशासनार्थ होते हैं। इस प्रकार यह ज्ञात करके कि व्यक्ति आखिर अपने आचरण के लिए स्वयं उत्तरदायी है, तो स्वतन्त्रता की इस मनोवैज्ञानिक समस्या को नैतिक समस्या से बिल्कुल पृथक् किया जा सकेगा, और तब यह देखा जा सकेगा कि **स्वतन्त्रता** तथा **नियतत्ववाद** जैसे शब्द मनुष्य के आचरण को समझाने के लिए अच्छे नहीं हैं। हमारे पास हर तरफ से प्रभावित होने वाला, उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार करने, अपना मार्ग निकालने वाला, उनके साथ लड़ने वाला, उन पर दबाव डालने वाला एक संघर्षशील जीव है।

आकस्मिकता का नवीन दर्शन

जब जेम्स तथा बर्गसाँ खुलकर स्वतन्त्रता के समर्थन में सामने आए तो यह पिछली शताब्दी के उन संतुष्ट विचारकों के लिए कुछ धक्का पहुँचाने वाली बात थी जो आश्वस्त होकर नियतत्ववाद के दर्शन को मानकर बैठे थे।[1] जेम्स ने उस समय स्वतन्त्रता का पक्ष ज़ोरदार ढंग से लेना आरम्भ किया जिस समय स्वतन्त्रता विज्ञान के सभी पहलुओं के विरोध में प्रतीत होती थी। वह पूछता है, कि हम किसी कारणता के नियम पर ही क्यों ठहर जाएँ, जबकि वह स्वतन्त्रता की चेतना तथा ग़लतियों के लिए अफसोस के तथ्य जैसे तात्कालिक अनुभव के तथ्यों का ही विरोध करता है। कारणता का नियम, "अज्ञात ईश्वर की बलिदान वेदी है।" जगत् इतना संकुचित तथा प्रारब्ध-बद्ध नहीं है जैसा नियतत्ववाद उसे समझता है। यह अनिवार्य तर्क-वाक्य नहीं है कि, "जगत् के वे हिस्से जो पहले ही पूर्ण रूप से निश्चित हो चुकें हैं अन्य हिस्सों के लिए यह निश्चय करें कि वे क्या करें।" यह पूर्व-निश्चित नहीं है कि "भविष्य के गर्भ में कोई भी बात अनिश्चित सम्भावनाओं की स्थिति में नहीं है।" यह हालाँकि हो सकता है कि सम्भावनाएँ अब वास्तविकताओं की ओर बढ़ रही हैं और विश्व के हिस्सों में कुछ "हिलने-डुलने" का स्थान हो। जेम्स ऐसा विश्वास करता है कि जगत् में नवीनता, आकस्मिकता, क्रिया, तथा वास्तविक स्वतन्त्रता के लिए स्थान है। वहाँ रुकावट तथा अविरलता दोनों ही हैं।

> हमारे अनुसार "स्वतन्त्रता" का अर्थ यह स्वीकार करना है कि कुछ बातें कम से कम यहाँ और अभी निश्चित हैं, आगे आने वाले क्षणों में कुछ नवीनता निहित हो सकती है, उनमें घटनाओं को आरम्भ करने के लिए कुछ-कुछ मौलिक अंश हो सकते हैं केवल कहीं और से बदलाव नहीं है। हम

1. इन नवीन अध्ययनों का स्पष्ट विवरण देखिए: Gertrude Carman Bussey's brief monograph entitled *Typical Recent Conceptions of Freedom*.

समझते हैं कि कम से कम कुछ अर्थों में भविष्य को भूत के साथ नहीं लपेटा जा सकता, किन्तु वह उसके साथ वास्तव में जोड़ा जा सकता है, और यथार्थ में कभी एक रूप **अथवा** कभी दूसरे रूप में जोड़ा जा सकता है, ताकि घटनाओं का अगला क्रम उचित रूप से अस्पष्ट हो सकता है, अर्थात् सम्भवतः यह अथवा सम्भवतः वह भी हो सकता है···।

कुछ हद तक जगत् यथार्थ में जोड़ने वाला **प्रतीत** होता है, वह वास्तव में ऐसा हो सकता है। हम सम्प्रत्ययात्मक रूप से यह नहीं समझा सकते कि यथार्थ में नवीनताएँ **कैसे** आ सकती हैं, किन्तु यदि कोई नवीनता आ जाए तो उसका आना अनुभव करते हैं। वास्तव में हम दृश्य नवीनताओं को हर समय देखते हैं। हमारा दृश्य अनुभव सम्प्रत्ययात्मक तर्क के साथ परस्पर मिल जाता है: वह क्यों को पार कर जाता है। अतः जीवन का सामान्य दृष्टिकोण, कुछ किए हुए काम तथा बातों के साथ यहाँ और अभी निर्णय किए हुए कुछ नाटकीय ढंग से बहुतत्त्ववाद को स्वीकार्य है। "स्वतन्त्र संकल्प" का अर्थ वस्तविक नवीनता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिए बहुतत्त्ववाद स्वतन्त्र संकल्प की अवधारणा को स्वीकार करता है।[1]

जितना हम सोचते थे जगत् उतना व्यवस्थित, अविरल, जड़, सावधानी से पूर्व-नियत और बिल्कुल अकेला नहीं है। उसमें, यहाँ तक कि असंगत बातों के लिए भी स्थान है, और वास्तविक क्षमताओं, आरम्भों, वास्तविक आपत्तियों, निर्णयों तथा वास्तविक दुःखों के लिए भी स्थान है। यह वास्तव में दुःख, वास्तविक तथा देर तक टिकने वाला दुःख ही है जिसने जेम्स को अनिश्चयवाद के कार्य को अबाध रूप से चलाने के लिए प्रेरित किया।

हमें सही मार्ग अपनाने के लिए तब तक कौनसी रुचि, उत्साह या जोश हो सकता है, जब तक कि हमें यह न अनुभव कराया जाए कि ग़लत रास्ता भी सम्भव तथा स्वाभाविक मार्ग है—इतना ही नहीं वह एक डरावना तथा भयावह मार्ग भी है? और ग़लत रास्ते को अपना कर अपने आपको कोसने का क्या मतलब हो सकता है, जब तक कि हमने ऐसा कोई कार्य न किया हो और हमारे सामने सही रास्ता भी खुला हो? इस विश्वास के बिना कि कार्य वास्तव में शुभ अथवा अशुभ होते हैं, हम कैसे भी क्यों न सोचें, कार्य करने की इच्छा को मैं नहीं समझ सकता। मैं इस विश्वास को भी समझने में असमर्थ हूँ कि जिस कार्य के होने से अफसोस न हो वह कार्य अशुभ है। मैं अफसोस को भी जगत् में यथार्थ तथा वास्तविक सम्भावनाओं को स्वीकार किए बग़ैर नहीं समझ सकता। अपने अच्छे से अच्छे प्रयत्नों से असफल रहने के पश्चात् यह अनुभव करना मज़ाक के

1. William James, *Some Problems of Philosophy* (Longmans, Green and Company), pp. 139—41.

अलावा क्या कुछ और है, कि जगत् से एक ऐसा अवसर निकल गया है जिसकी क्षति-पूर्ति नहीं हो सकती और जिसका दुःख हमें हमेशा मानना चाहिए।[1]

यहाँ तक कि यदि हम शब्द-प्रयोग पर ही ज़ोर दें तो "संयोग" शब्द "प्रारब्ध" से अधिक उपयुक्त होगा। **संयोग** शब्द से जुड़े हुए **भयंकर** सम्बन्धों ने लोगों को वैसा ही पूर्वग्रह से ग्रस्त कर रखा है जैसा कि **स्वतन्त्रता** से जुड़े हुए प्रशंसात्मक सम्बन्धों ने लोगों को उसके विषय में कर रखा है। इस प्रकार जेम्स ने आशावाद तथा संभावित विजय का नारा लगाया है। अपने बहुतत्त्ववादी तथा अस्थिर विश्व, वास्तविक सम्भावनाओं तथा चुनावों, तथा वास्तविक शुभ तथा अशुभों के साथ वह अनेक लोगों को दिव्य सन्देश तथा साहस की आशा बंधाता है। अब व्यवस्था, तर्क-संगति तथा एकता-प्रिय अन्य लोगों को वह डर तथा भय दिलाता है। जैसा वह खुलकर कहता है, यह कुछ हद तक अपने स्वभाव की बात होती है। वह केवल यह दर्शाने का प्रयत्न करता है कि जगत् में स्वतन्त्रता के लिए स्थान है, यदि कोई केवल नैतिक, व्यावहारिक, अथवा इन्द्रियानुभविक कारणों से इस विश्वास को पसंद करता हो। जेम्स का बहुतत्त्ववादी दर्शन निश्चय ही, यह सिद्ध नहीं करता कि मनुष्य के संकल्प स्वतंत्र होते हैं, किन्तु यह कि विश्व इस प्रकार का है कि उसमें स्वतंत्रता के लिए स्थान है,[2] ताकि यदि कोई व्यक्ति स्वतन्त्रता में विश्वास रखता है तो वह नियतत्ववादियों की अत्यंत सत्याभासक युक्तियों से डर न जाए।

जेम्स स्वतन्त्रता के नैतिक आधारों तथा तात्कालिक अनुभव के आधारों पर स्वयं एक तथ्य स्वीकार करता है। अब तक हम जगत् की तार्किक सम्भावना दर्शाने में इतने उत्साहशील रहे कि यह भूल ही गए कि उसकी नैतिक सम्भावना भी अवश्य होनी चाहिए। नैतिक संघर्ष यथार्थ होना चाहिए, दिखावटी नहीं, और वह स्वतन्त्रता के अभ्युपगम के बिना यथार्थ नहीं हो सकता। और जीवन तथा अनुभव के सभी विभागों के तथ्यों के साथ न्याय करने का प्रयास करना जेम्स का विशेष उद्देश्य था।

> उसका मानव-प्रकृति का ज्ञान तथा समझदारी ऐसी थी कि वह इस बात से कभी राज़ी नहीं हो सका कि अणु की गति की शब्दावली में मनुष्य के समस्त अनुभव को बताया जा सकता है। उसके नैतिक उत्साह ने मनुष्य के संघर्ष की वास्तविकता की माँग को स्वीकार किया। बार-बार उसने इस बात पर बल दिया कि यदि मनुष्य की क्रिया का विश्व के प्रारब्ध में अभी

1. William James, *The Will to Believe* (Longmans, Green and Company), pp. 175 and 176.

2. इस विषय पर अच्छी चर्चा के लिए देखिए: Perry's *Present Tendencies in Philosophy*, chap. XI secs. 5, 6, and 7.

और यहाँ कोई हिस्सा नहीं है तो जीवन अपना नाटकीय गुण तथा महत्त्व खो देता है।[1]

बर्गसाँ का मत

जेम्स के समान बर्गसाँ भी संकल्प की स्वतन्त्रता को खुले रूप में स्वीकार करता है, किन्तु यहाँ, जेम्स के निर्भीक तथा कभी-कभी जगत् में आकस्मिकता के निर्द्वन्द्व प्रतिपादन के स्थान पर हमारे पास आकस्मिकता का सावधानी से निर्धारित किया हुआ तर्कसंगत दर्शन है। बर्गसाँ के दृष्टिकोण से वास्तविकता के गठन में ही स्वतन्त्रता सम्मिलित होती है। जगत् की मौलिक सत्ता "वह मानसिक जीवन है जो उन संकेतों के माध्यम से सामने आता है जिनके पीछे वह छिपा रहता है"; और **काल** ही वह उपादान है जिससे यह मानसिक जीवन निर्मित है। काल इसलिए **अवधि** के अर्थ में बर्गसाँ के लिए बिल्कुल वास्तविक है, यथार्थ में तो सभी वास्तविकताओं में वह वास्तविक है, और "अवधि का अर्थ है अन्वेषण, स्वरूपों की रचना, परम नवीन का निरंतर विस्तार होना।" इस प्रकार स्वतन्त्रता मानसिक जीवन का तत्त्व है। जीवन स्वयं ही स्वतन्त्रता, स्वतःचालन, परिवर्तन तथा सृजन है। कारणता का नियम, जो एकरूपी परिणामों पर आधारित होता है, ऐसी जगह लागू नहीं हो सकता जहाँ, दोहराना न हो सके, जहाँ सृजनात्मक क्रिया सदा कार्यरत हो, और जहाँ एकरूपी अनुक्रम सम्भव न हों।

जब हम जीवन तथा मनस् की प्रकृति को समझ लेते हैं तो स्वतन्त्रता सम्बन्धी दुविधा समाप्त हो जाती है, क्योंकि हम देखते हैं कि भविष्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसके विषय में **चुनाव** किया जा सके। वह ऐसी वस्तु है जिसका सृजन करना होता है। हमारे समक्ष विकल्प नहीं होते, परिवर्तित तथा विकसित होता हुआ जीव होता है। बर्गसाँ के लिए जगत् ज्यामितीय तथा दिक्परक नहीं है जैसा कि बुद्धि उसे समझती है, वरन् वह उसके लिए, अवधि चेतना, मनस्-ऊर्जा, विकास, परिवर्तन, तथा आद्य आवेग होता है जो आद्यप्रज्ञा में दिखाई देता है। वास्तविकता की इन गहन तथा मौलिक गहराइयों में दबाव का कोई प्रश्न नहीं होता केवल प्रेरणा का प्रश्न होता है। यहाँ **स्वतन्त्र सृजनात्मक क्रिया** होती है। पुद्गल वास्तव में मौलिक सृजनात्मक क्रिया के लिए **अवरोध** होता है। किन्तु वह अपने नियमों को इस क्रिया पर थोंपने की इच्छा नहीं करता, उसमें इतनी शक्ति ही नहीं होती। "चेतना ऐसी शक्ति प्रतीत होती है जो पुद्गल में प्रवेश करके उस पर अधिकार स्थापित कर अपने लाभ के लिए परिवर्तित करने की इच्छा करती है।"

---

1. Gertrude Carman Bussey, *Typical Recent Conceptions of Freedom* (Morey) p. 29

. . . इस प्रकार चेतना तथा पुद्गल हमें नितान्त भिन्न तरह के अस्तित्व प्रतीत होते हैं, यहाँ तक परस्पर विरोधी रूप जिनके रहने के ढंग को खोजना पड़ेगा। पुद्गल अनिवार्यता है, चेतना स्वतन्त्रता है, हालाँकि दोनों एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत हैं। जीवन ने दोनों के समन्वय का मार्ग खोज लिया है। यही यथार्थ में जीवन है—अर्थात् अनिवार्यता की सीमा में स्वतन्त्रता का प्रवेश करके उसे अपने लाभ के योग्य बना लेने में सफल होना। जहाँ पुद्गल का नियतत्ववाद इतना पक्का हो कि वह कोई ढील न दे सके वहाँ जीवन असम्भव हो जाएगा।[1]...

हम अपनी पृथ्वी के समस्त जीवन के विकास में देखते हैं कि यह सृजनात्मक चेतना तथा पुद्गल का ताना-बाना है, यह अपनी निपुणता तथा अन्वेषण की शक्ति के द्वारा किसी ऐसी वस्तु को स्वतन्त्र कर देने के प्रयत्न में है जो पशुओं में तो अभी तक बन्दी होती है और केवल अन्तिम रूप से तभी मुक्त होती है जब हम मनुष्य पर पहुँचते हैं।[1]

ऐसे दर्शन के साथ स्वतन्त्रता तथा नियतत्व की प्राचीन समस्या कोई कठिनाई प्रस्तुत नहीं करती; जीवन तथा स्वतन्त्रता लगभग पर्यायवाची हैं।

जब हम अपने आपको संकल्प के स्थान पर रखते हैं और स्वयं संकल्प को उस प्रेरणा के स्थान पर जिसे वह प्रोत्साहित करता है, तो हम अनुभव करते हैं कि वास्तविकता एक निरन्तर होने वाला विकास तथा एक ऐसा सृजन कार्य है जिसका कोई भी अन्त नहीं है। हमारा संकल्प पहले ही इस विलक्षण कार्य को करता है। मनुष्य का प्रत्येक ऐसा कार्य जिसमें अन्वेषण है, ऐसा प्रत्येक ऐच्छिक कार्य जिसमें स्वतन्त्रता है, जीव की प्रत्येक गति जिससे स्वतःचालन अभिव्यक्त होता है, कुछ न कुछ जगत् में नवीनता लाता है।[2]

अतः हम पुनः देखते हैं कि पुराने विवाद ने किस प्रकार विचारार्थ बात को उलझा दिया है। यह स्वतन्त्रता तथा **नियतत्ववाद** का प्रश्न नहीं है, अपितु स्वतन्त्रता तथा दायित्वों का प्रश्न है। आरम्भिक प्रेरणा, अथवा **जीवन-शक्ति** को पराजय मिल सकती है किन्तु यह पराजय नियत नहीं है। कोई यह दावा नहीं करता कि जीवन कभी-कभी दास नहीं हो जाता, यहाँ तक कि मनुष्य भी कभी-कभी दास नहीं हो जाता। प्रायः ऐसा हो जाता है। किन्तु मनुष्य की अन्तरात्मा फिर भी जीवित रहती है और अपनी पराजयों पर काबू पा लेती है और स्वयं विजेता बन जाती है, और स्वयं अपने को कला, दर्शन, विज्ञान तथा

1. Henry Bergson, *Mind-Energy, Lectures and Essays*. Translated by H. Wildon Carr (Henry Holt and Company), pp. 17—18, 23.

2. *Creative Evolution* (Henry Holt and Company), p. 239.

स्वतन्त्र राजनीतिक संस्थाओं में व्यक्त करती है। बर्गसाँ इसे कुछ निम्न प्रकार से प्रस्तुत करता है:

> अतः सबसे अधिक बुद्धिमान् पशुओं की चेतना तथा मनुष्यों की चेतना में मौलिक भेद है। क्योंकि चेतना जीव का चुनाव कर सकने की शक्ति के अनुसार ही होती है; वह सम्भावित कार्य की उस सीमा के बराबर होती है जो वास्तविक कार्य के चारों ओर रहती है, चेतना अन्वेषण तथा स्वतन्त्रता की पर्यायवाची है। पशुओं में अन्वेषण उनकी दिनचर्या में किसी परिवर्तन होने के अलावा और कुछ नहीं होता। किसी जाति विशेष की आदतों में बँधकर यह, निस्संदेह, अपनी वैयक्तिक पहल के द्वारा उन्हें बढ़ाने में सफल हो जाता है, किन्तु ऐसा करने से यंत्रीकरण केवल थोड़ी ही देर के लिए स्थगित होता है, केवल उस समय तक के लिए जब तक नवीन यंत्रीकरणों का सृजन नहीं हो जाता। उसके बन्दीगृह के पट खुलते ही बन्द हो जाया करते हैं, अपनी ज़ंजीर को खींचने से केवल वह उसे बढ़ाने में ही सफल होता है। मनुष्य में चेतना ज़ंजीर को तोड़ देती है। मनुष्य, और केवल मनुष्य में ही, वह अपने को स्वतन्त्र करती है...।
>
> हमारा मस्तिष्क, हमारा समाज, तथा हमारी भाषा उसी एक आन्तरिक श्रेष्ठता के बाह्य तथा भिन्नता लिए हुए संकेत हैं। वे प्रत्येक को उसकी विलक्षण तथा अद्वितीय सफलता के विषय में बताते हैं जिसे जीवन ने अपने विकास की अवधि में प्राप्त किया होता है। वे प्रकार का भेद व्यक्त करते हैं, केवल मात्रा का नहीं, जो मनुष्य को बाकी पशु-जगत् से भिन्न कर देता है। वे हमें यह अनुमान करने के लिए छोड़ देते हैं कि एक ऐसे विस्तृत स्प्रिंगदार तख्ते के अन्त में जिससे जीवन छलांग ले चुका है, बाकी सभी यह देख कर उतर कर जा चुके हैं कि रस्सी बहुत ऊँची खींच दी गई है और केवल मनुष्य ही उसे पार कर पाया है।[1]

स्वतन्त्रता—प्रगति का रहस्य

यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि स्वतन्त्रता की पुष्टि करने में आधुनिक चिन्तकों में केवल जेम्स और बर्गसाँ ही हैं। मैंने इन दोनों व्यक्तियों के विचारों का उल्लेख इसलिए किया है कि ये दोनों ही वर्तमान दर्शन में प्रमुख

---

1. *Creative Evolution* 263—64 तथा 265। पाठक यह देखेंगे कि बर्गसाँ ने "चेतना" शब्द का प्रयोग उससे भिन्न अर्थों में किया है जिसे हमने पहले के अध्यायों में मनस् के दर्शन में किया है। बर्गसाँ इस शब्द को प्राचीन तथा अधिक प्रचलित अर्थ में प्रयोग करता है जिसके अनुसार वह समस्त वस्तु की आवेगात्मक, सृजनात्मक, तथा चयनात्मक क्षमताएँ होती हैं, जिन्हें हम "मनस्" के नाम से जानते हैं। यह उसके और भी निकट होती है जिसे हम "संकल्प" कहते हैं।

स्थान रखते हैं, इनकी स्थिति अद्वितीय है।[1] आकस्मिकता के इस नवीन दर्शन के महत्त्व को आँकते हुए इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि वह स्वतन्त्रता की सम्भावनाओं की सैद्धान्तिक समस्या के विषय में है, चाहे वह कार्वनिक विकास में हो, अथवा मनुष्य के बर्ताव में। वह केवल इस सम्भावना की पुष्टि करता है, वह इस बात की पुष्टि नहीं करता कि मनुष्य के कार्य हमेशा अथवा सामान्यतः भी अनियमित, अस्थिर तथा अनिश्चित होते हैं। व्यक्तियों के व्यवहार के सम्बन्ध में आनुवंशिकता के प्रभाव का केवल एक ही उदाहरण ऐसे किसी भी विचार को समाप्त कर देगा। मनुष्य की अन्तरात्मा पृथ्वी पर सामाजिक रीतियों तथा आनुवंशिकता की शंकाओं के आधार पर घूमती है, किन्तु वह इस दायित्व के बावजूद इन सबके ऊपर उठ सकती है; इस बात की पुष्टि प्रगति के पूरे इतिहास तथा स्वयं विकास के तथ्यों से हो सकती है। प्रोटोप्लाज्म के प्रथम टुकड़े से लेकर मनुष्य के व्यक्तित्व तक जीवन की प्रत्येक प्रगति, यंत्रवादी नियतत्ववाद से बचने के लिये तथा क्रमशः स्तरों पर नवीन तथा विलक्षण रूपों तथा वास्तविकताओं में मुखरित होने के लिए एक प्रकार का संघर्ष प्रतीत होता है। डार्विन की योजना में नवीन बात परिवर्तनों तथा उत्परिवर्तनों के रूप में दिखाई पड़ती है, और ये जातियों की समृद्धि के लिए सामान जुटाती है। यहाँ तक कि डार्विन के "जीवन के लिए संघर्ष" में भी स्वतन्त्रता सम्मिलित रहती है। यहाँ नियतत्ववाद की भाषा लगभग असंगत प्रतीत होती है। हम संघर्ष को दमन किया हुआ अथवा विमुख हुआ समझ सकते हैं—किन्तु उसे "नियत" नहीं मान सकते। डिमॉक्रीटस के पश्चात् ल्युक्रेटियस जो प्राचीन काल का चरम भौतिकवादी था, उसने भी अपने आदिम परमाणुओं को एक प्रकार की स्वेच्छाचारिता प्रदान की थी।

पारिभाषिक शब्दावली

संकल्प की स्वतन्त्रता विषय के सम्पूर्ण विवाद में कभी-कभी उलझन पैदा हो जाती है क्योंकि हम यह ठीक तौर से नहीं समझ पाते कि **संकल्प** का क्या अर्थ है। और इसके साथ ही कुछ उत्तेजना होती है और ऐसा लगता है कि समूचे प्रश्न को मनोवैज्ञानिक के पास भेज दिया जाए। किन्तु यहाँ मनोवैज्ञानिकों ने हमारी बहुत सहायता नहीं की। सामान्यतः वे इस विषय की उपेक्षा कर देते हैं। हमारी रुचियों, इच्छाओं, सामाजिक रीतियों तथा आनुवंशिक परम्पराओं के द्वारा जो

---

1. अनेक आधुनिक लेखकों ने स्वतंत्रता का पक्ष लिया है, जबकि अन्य अनेक लोगों ने नियतत्ववाद के पक्ष में लिखा है। स्वतंत्रता के पक्ष के सर्वश्रेष्ठ लेखों में से एक जेम्स वार्ड के "दि रेल्म ऑफ़ एन्ड्ज", लैक्चर्ज XIII, XIV में देखा जा सकता है। इसकी तुलना आयकेन, बॉयस गिब्सन, बोट्रॉक्स, तथा एफ० सी० एस० शिलर के सक्रियावादी दर्शन से करो।

दिशा हमारे कार्यों को मिलती है, वे प्रायः उसी पर अधिकारपूर्वक मँडराते हैं।[1]

किन्तु, निश्चय ही, मनोवैज्ञानिक यह स्पष्ट कर देते हैं कि **संकल्प** जैसा कोई विशेष संकाय अथवा तत्त्व नहीं होता। यह केवल एक ऐसा शब्द है जिसे किसी भी "नियन्त्रण करने की क्रिया" के लिए प्रयोग किया जा सकता है। संकल्प "सम्पूर्ण क्रियात्मक मनस्" होता है। इस उलझन को टालने के लिए **संकल्प की स्वतन्त्रता** के घिसे-पिटे वाक्य को कुछ इस प्रकार के शब्दों से बदल देना चाहिए, जैसे **जीव-आत्मा की स्वतन्त्रता**, अथवा **व्यक्ति की स्वतन्त्रता** अथवा **जीव की स्वतन्त्रता**। इससे भी अधिक अच्छा वाक्यांश होगा **आत्मा की स्वतन्त्रता** अथवा **मनस् की स्वतन्त्रता**। जैसा मैंने पहले ही संकेत किया है, सबसे अच्छा तो सम्भवतः यह होगा कि पुरानी शब्दावली को छोड़ कर नई भाषा को अपना लिया जाए, उदाहरण के लिए, जैसा कि नीचे दिए हुए उद्धरण में एक मनोवैज्ञानिक ने किया है:

> प्रतिभा की महान् कृतियों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है, कि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मानव-मन अपनी उच्चतम उड़ान में नवीन बातों की रचना करता है, और ऐसी दिशाओं में सोचता है जिनके विषय में पहले कभी भी सोचा नहीं गया है। वे व्यक्ति जो यह कहते हैं कि पासा फेंकने के गिलास में अक्षरों को रखकर हिलाने से ही साहित्यिक कला की महान् कृति उत्पन्न हो जायेगी अथवा एक सम्पूर्ण पंक्ति तैयार हो जाएगी, वे शाब्दिक रूप से सत्य हो सकते हैं, यदि हम उन्हें क्रिया को अनिश्चित काल तक करते रहने दें। किन्तु मनुष्य जाति की यह ध्यान देने योग्य विशेषता रही है कि पिछले कुछ हज़ार वर्षों में उसने ऐसी चीज़ें उत्पन्न की हैं, और बारम्बार नवीनताओं का सृजन किया है।
>
> तो यदि मानव-मन अपने उच्चतम रूपों तथा उड़ानों में अत्यन्त सृजनात्मक होता है तो हम इस बात से इन्कार कैसे कर सकते हैं कि वह छोटी बातों में, सामान्य व्यक्ति के नैतिक संघर्ष में भी सृजनात्मक नहीं होगा? मनुष्य की छोटी व बड़ी दोनों की ऐसी सृजनात्मक क्रियाओं की शृंखला के द्वारा, नैतिक परम्परा, जो अंगीय विकास की सर्वोच्च उत्पत्ति है उसका क्रमशः कठिनाई के साथ विकास हुआ है। हमें इस बात का सन्देह क्यों होना चाहिए कि वे अंगीय विकास सृजनात्मक विकास नहीं हैं और मनस् रचनात्मक कारक नहीं है? हमारे पास समस्या के अनुरूप दूर तक भी अंगीय विकास का कोई सिद्धान्त नहीं है।[2]

---

1. उदाहरण के लिए तुलना कीजिए: James Rowland Angell, *Psychology*, pp. 436—37.

2. William McDougall, *Outline of Psychology* (Charles Scribner's Sons), pp. 447—48.

इस छोटे से अध्याय में इस पुरानी समस्या के विवादास्पद पहलुओं पर विचार करना उचित नहीं समझा गया। विभिन्न बातों का संक्षिप्त विवरण अध्याय के अन्त में उल्लिखित पुस्तकों तथा पृष्ठों के नीचे लिखी हुई टिप्पणियों में देखा जा सकता है। नियतत्ववाद को इस प्रकार से बताया जा सकता है कि वह अकाट्य लगे। जिन्हें स्वच्छ, सुव्यवस्थित, तथा एकात्मक जगत् अच्छा लगता है वे लोग इस दर्शन को पसन्द करते हैं—और वे इस बात से आश्वस्त हैं कि कारणता का नियम सभी भौतिक वस्तुओं, जानवरों की जातियों, मनुष्य के सभी आचरणों पर लागू होता है। वे स्वतन्त्रता की परिभाषा विवेकपूर्ण कार्य अथवा आत्म-निश्चय कह कर करते हैं। स्वतन्त्रता की भावना हमारे ज्ञान के द्वारा इस प्रकार समझाई जाएगी कि कुछ निश्चयकारी गुण हमारे अन्दर होते हैं अथवा हमारे भूतकाल में किए गए निर्णयों की उत्पत्ति होते हैं। इस वर्ग के लोग इस विषय के अध्ययन में बर्नार्ड बोसान्क्वेट,[1] एस० एलेक्ज़ेन्डर,[2] जे० एम० ई० मेक्टेगर्ट,[3] तथा ए० ई० टेलर[4] की विद्वत्तापूर्ण कृतियों में आनन्द लेंगे।

दूसरी ओर, वे लोग जिनमें तर्क-आवेग इतना सशक्त नहीं है और साहसपूर्ण कार्य करने की प्रवृत्ति उससे भी अधिक शक्तिशाली नहीं है, और जिन्हें प्राकृतिक तथा आनन्ददायक जगत् पसन्द है, ऐसा जगत् जो उपलब्धियों तथा विजय पाने के लिए संयोग तथा अवसर प्रदान करता है, वे और भी मौलिक स्वतन्त्रता वाले दर्शन को पसंद करेंगे। उदाहरण के लिए, ऐसा दर्शन जो अर्थक्रियावादी दार्शनिकों ने अपनी साहसपूर्ण कृतियों में, अथवा व्यक्तिवादियों ने अपने नैतिक दर्शन में अथवा फिर जेम्स, बर्गसाँ तथा वार्ड के निर्भय आपात सिद्धान्त में प्रस्तुत किया गया है।

तथापि, दार्शनिक समस्याएँ चित्त-प्रकृति के आधार पर निश्चित नहीं होनी हैं, यथा नियतत्ववाद तुम्हारे लिए सही हो सकता है और स्वतन्त्रता मेरे लिए। दर्शन का उद्देश्य है विषय-निष्ठ सत्य, हालाँकि जैसा प्रश्न अभी हमारे सामने है उसमें उसे प्राप्त करना कठिन हो सकता है। और इसलिए मैं सोचता हूँ कि स्वतन्त्रता का प्रश्न कोई चित्त-प्रकृति का प्रश्न नहीं है बल्कि एक ऐसी शब्दावली को प्राप्त करने का है जो समस्या के वास्तविक लक्षणों के लिए उपयुक्त हो।

वार्ड ने एक सुझाव दिया है जो कारगर प्रतीत होता है। वह **आत्म-निश्चय** शब्द का भी प्रयोग करता है परन्तु उसे वह उसके सामान्य अर्थ से कुछ अलग ही अर्थ देता है। यह किसी "निर्धारित" बालक अथवा "निर्धारित" मनुष्य का निश्चय होता है। यही व्यक्तित्वों का गुणावगुण बताता है। इसमें निमित्त कारण

1. *The Principle of Individuality and Value,* Lecture IX.
2. *Space, Time, and Deity,* vol. II, chap. X.
3. *Some Dogmas of Religion,* chap. V.
4. *Elements of Metaphysics,* book IV, chap. IV.

आत्म-निर्देश तथा उद्देश्य सम्मिलित होते हैं। वह जीवात्मा को एक **व्यक्तिगत कारक** और इस जीवात्मा से जो क्रिया होती है उसे आत्म-अभिव्यक्ति मानता है।[1] हमने ऐसा विश्वास करने के लिए पहले ही कुछ कारण देख रखे हैं कि जगत् के सभी कार्य, जिसके एक अंग को हम विकास भी कहते हैं, एक प्रकार की **आत्म-अभिव्यक्ति** है। ऐसा प्रतीत होता है कि परम-आत्मा अपने आपको व्यक्त करने के लिए प्रयत्न करता है और उसके लिए ऐसा करना "निश्चित" होता है।

अनिर्धार्यता का सिद्धान्त

भौतिकी में अनिर्धार्यता के सिद्धान्त अथवा हाइसनबर्ग के अनिर्धार्यता के नियम की खोज के पश्चात् से संकल्प की स्वतन्त्रता की पुरानी समस्या में एक विशेष नई रुचि जागृत हो गई है। जैसा कुछ लोगों ने अपनी व्याख्या में कहा है कि यह ऐसा दर्शाता है कि विज्ञान, जिसके प्रकृति के नियतत्ववादी सिद्धान्तों ने संकल्प की स्वतन्त्रता को स्वीकार करने में सदा ही कठिनाई उपस्थित की है, स्वयं ही पीछे की ओर मुड़ गया है और उसने अब प्राकृतिक घटनाओं में कुछ स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली है। किन्तु यह व्याख्या सब लोगों की नहीं है।

संकल्प-स्वातंत्र्य के विवादास्पद विषय पर इस नवीन सिद्धान्त का अन्तिम परिणाम क्या होगा इस विषय में इतना शीघ्र नहीं कहा जा सकता। एडिन्गटन कहता है कि "यह एक मौलिक सामान्य सिद्धान्त है जिसे महत्त्व में सापेक्षता के सिद्धान्त के वर्ग में रखा जा सकता है।"[2] पी० डब्ल्यु० ब्रिजमेन कहता है कि उसका विश्वास है कि "मानसिक अभिवृत्ति में उससे अधिक परिवर्तन की सम्भावना या भय है जो पहले कभी भी उतने ही शब्दों में निहित हो सकता था।"[3]

प्रथम दृष्टि में, यह नवीन सिद्धान्त स्वयं विज्ञान की नींव को ही हिलाता हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि प्राकृतिक प्रक्रियाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के आरम्भ से ही यह मान लिया गया है कि प्रकृति में एकरूपता है, कार्य-कारण सिद्धान्त सार्वभौमिक रूप से लागू है, वर्तमान का निर्धारण भूतकाल से होता है तथा भविष्य का निर्धारण वर्तमान से होगा। प्राकृतिक नियमों का प्रशासन विश्व में हमेशा तथा हर स्थान पर होता है, अतः पूर्वकथन सम्भव तथा विश्वसनीय हो सकता है। यदि हम किसी नक्षत्र की स्थिति तथा गति को जान लें तो हम यह पूर्वकथन कर सकते हैं कि वह भविष्य में किसी विशेष समय में किस स्थान पर होगा।

---

1. James Ward, *The Realm of Ends, or Pluralism and Theism*, pp. 277—78.
2. Sir Arthur Eddington, *The Nature of the Physical World* (The Macmillan Company), p. 220.
3. P. W. Bridgman, "The New Vision of Science", *Harper's Magazine*, March, 1929.

किन्तु इन सभी मौलिक नियमों का ध्यान रखते हुए कठिनाई प्रस्तुत हो गई है और उसकी उत्पत्ति सूक्ष्म भौतिकी जगत् से हुई है। यद्यपि परमाणु का आकार बहुत छोटा होता है, भौतिकीविद् उसके अन्दर की यांत्रिकता से सुपरिचित होता है, चाहे बाद में यह पता चले कि यह कोई यांत्रिकता नहीं है। वह केन्द्र के चारों ओर बिजली की गति से इलेक्ट्रॉन को चमकते हुए पाता है। वह उसकी स्थिति का मापन कर सकता है, तथा उसकी गति को भी वह माप सकता है। इसलिए वह ऐसा कारण नहीं देखता कि वह किसी निश्चित क्षण में उसका मार्ग तथा उसकी स्थिति का निर्धारण क्यों न करे। किन्तु अनेकानेक प्रयोगों के पश्चात् वह यह पाता है कि ऐसा नहीं किया जा सकता, और कण की स्थिति ऐसे किसी भी माप के आधार पर पहले से निर्धारित नहीं की जा सकती जिसे वह वना सकता है।[1]

किन्तु वैज्ञानिक इस असफलता से विचलित नहीं होता। वह खोजता है और इसके कारण को जान लेता है। कारण यह है कि जिन परिस्थितियों में इन सूक्ष्म कणों की स्थिति अथवा गति निर्धारित होती है वे ऐसी होती हैं कि मानव स्वयं ही उन कणों पर विघ्नकारक प्रभाव डाल देते हैं।

जब यह उत्तर सामने आता है तो एक अनभिज्ञ दर्शक कहता है, मैं स्थिति में ऐसी कोई बात नहीं देखता जो यह संकेत करती हो कि परमाणु जगत् में नियतत्व-वाद तथा कारण-कार्य का सम्बन्ध लागू न होता हो। मैं मात्र यह देखता हूँ कि भौतिकीविद् इसे बताने के लिए कोई प्रयोग नहीं कर सकता। इसमें इलेक्ट्रॉन की कोई ग़लती नहीं है कि प्रयोगकर्त्ता एक ही साथ उसकी गति तथा स्थिति को नहीं माप सकता। ऐसी कोई बात दिखाने के लिए नहीं है कि परमाणु के अन्दर कण अपनी चपल उड़ान में प्राकृतिक नियमों का उसी प्रकार पालन करते हुए नहीं घूमते जैसा कि अन्य पिण्डों में अभिव्यक्त होता है। ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं है कि कारणता के नियम की सार्वभौमता अत्यन्त सूक्ष्म के क्षेत्र में भंग हो जाती है।[2] और, वास्तव में यही स्थिति अनेक भौतिकीविदों ने अपनाई है, विशेषकर मेक्स प्लेन्क ने स्वयं इसे अपनाया है जिसे इस **विषय** पर मैंने पिछले अध्याय में उद्धृत किया है।

किन्तु, यह पता चलता है कि इस मामले को इस तरह सरलता से समाप्त नहीं किया जा सकता। जबकि कुछ वैज्ञानिक संभवतः स्पष्टतः प्रत्यक्षवादी वृत्ति को अपनाते हैं, यह बात धीरे-धीरे साफ होती जा रही है कि वाह्य जगत् के ज्ञान के लिए मनुष्य के माप अन्तिम तथ्य होने चाहिएँ। अदृष्ट इलेक्ट्रॉन के विषय में

---

1. अनिश्चितता के नियम के विषय में संक्षिप्त विवरण के लिए पीछे अध्याय 14 देखिए।

2. Cf. Hillis Kaiser, *Physical Causality in the Light of Recent Developments in Physical Theory* (doctoral dissertation, Harvard, 1934), pp. 165, 166,

हम कुछ नहीं जानते। हमारे लिए उसका अस्तित्व नहीं है, इसलिए यह कहा गया है कि किसी भी बोधगम्य अर्थ में उसका अस्तित्व नहीं है। यह बात प्रोफेसर ब्रिजमेन के कथन में स्पष्ट रूप से कही गई है जिसे मैं उद्धृत करता हूँ:

> इस तथ्य का अर्थ कि किसी भी इलेक्ट्रॉन की स्थिति और गति को ठीक-ठीक मापना असम्भव है, इस तरह विरोधाभासी ढंग से भी कहा जा सकता है कि इलेक्ट्रॉन की स्थिति अथवा गति हो ही नहीं सकती। इसका औचित्य भौतिक सम्प्रत्ययों के तार्किक विश्लेषण के अर्थ में देखा जा सकता हैं जिन्हें आइन्स्टाइन के सापेक्ष सिद्धान्त ने प्रेरणा दी है। सावधानी से परीक्षण करने पर भौतिकीविद् देखता है कि जिस अर्थ में वह भाषा का प्रयोग करता है उसमें उस भौतिक सम्प्रत्यय को कोई भी अर्थ नहीं दिया जा सकता जब तक उसे किसी न किसी प्रकार के मापन की शब्दावली में न कहा जा सकता हो। किसी भी पिंड की स्थिति तभी होती है जब वह मापा जा सकता हो; यदि सिद्धान्त रूप में उसकी स्थिति का मापन न किया जा सकता हो तो पिंड की स्थिति का अवबोध कराना व्यर्थ है, अथवा दूसरे शब्दों में पिंड की स्थिति का कोई अस्तित्व ही नहीं होता। इसलिए, यदि इलेक्ट्रॉन की स्थिति तथा गति दोनों का ही मापन न किया जा सकता हो, तो इलेक्ट्रॉन की स्थिति तथा गति दोनों ही नहीं होंगी; स्थिति तथा गति दोनों ही इलेक्ट्रॉन के गुणों के रूप में निरर्थक हैं। यह चुनाव करके कि मैं इलेक्ट्रॉन की स्थिति अथवा गति को मापूँगा, आओ इस विरोधाभास को एक कदम और आगे बढ़ाएँ और यह निर्धारित करें कि उसकी स्थिति अथवा गति है। इलेक्ट्रॉन के भौतिक गुण उसमें निरक्षेप रूप से निहित नहीं होते, किन्तु वे द्रष्टा द्वारा किए गए चुनाव को भी सम्मिलित करते हैं।[1]

अतः ऐसा प्रतीत होता है कि परमाणु जगत् में **जैसा कि यह हमें ज्ञात है,** अनिश्चयवाद का अस्तित्व है। यह कहा जाता है कि प्रत्यक्षों के परे के वास्तविकता के जगत् के विषय में विज्ञान कुछ नहीं जानता—और इसलिए, ऐसी कोई घोषणा नहीं करता कि उसमें नियतत्ववाद होता है अथवा अनिश्चयवाद। हमारे प्रत्यक्षों के जगत् में अनिश्चयवाद का अस्तित्व है और इन प्रत्यक्षों के जगत् के परे हम नहीं जानते कि उसका अस्तित्व है अथवा नहीं। यदि कान्ट से सहमत होकर हम भी यह विश्वास कर सकते कि मनुष्य की संकल्प शक्ति प्रपंचात्मक जगत् का अंग नहीं है वरन् वह वास्तविक जगत् की गहनतर सत्ता है तो स्वतन्त्रता के विरुद्ध दिया गया तर्क अशक्त हो जाता है। किन्तु संकल्प के ऐसे सिद्धान्त को आधुनिक मनोविज्ञान सम्भवतः स्वीकार नहीं करेगा।

---

1. P. W. Bridgman, "The New Vision of Science", *Harper's Magazine*, March, 1929.

अत: हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अनिर्धार्यता का सिद्धान्त, जैसा लैन्ज़न ने कहा है, व्यक्ति की अपनी दार्शनिक वृत्ति पर आधारित होता है।[1]

दृढ़ मन वाला व्यक्ति नियतत्ववाद के सार्वभौम साम्राज्य तथा कारणता के नियम के पूर्ण पालन पर बल देगा, जबकि लचीले मन वाला आदर्शवादी अथवा नव्य-प्रत्यक्षवादी भौतिकी में नवीन अध्ययन का स्वागत भौतिक सत्ताओं के जगत् में भी स्वतन्त्रता के लिए सम्भावनाओं को देखने के लिए करेगा। किन्तु मैं समझता हूँ कि विज्ञान स्वयं पहले के अनुमान की अपेक्षा अब अधिक अंशों में इस लचीली मानसिक वृत्ति की ओर झुक रहा है। सब मिला कर यह सम्भव है कि नवीन भौतिकी का कुल परिणाम यह संकेत हो कि जगत् जितना पहले समझा गया था उसकी अपेक्षा अब यांत्रिक तथा नियतवादी बेड़ियों में कम बँधा हुआ है।

किन्तु यदि हममें से अनेक लोग भौतिक सत्ता के क्षेत्र में अनिर्धार्यतावाद को स्वीकार नहीं कर सकते, तो भी सृजनात्मक विकास में हमें इस बात को सोचने की अनुमति है कि स्वतंत्रता कुछ ऐसी वस्तु है जो सीढ़ी दर सीढ़ी प्राप्त की जाती है। मैंने प्राय: "स्वतन्त्रता के लिए सृजनात्मक शक्तियों के संघर्ष" करने में आस्था की बात का उल्लेख इन अध्यायों में किया है। वैज्ञानिक नियतत्ववाद की सामान्य शब्दावली में इन शक्तियों का कोई भी विवरण पर्याप्त नहीं होगा।

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Durant Drake, *Invitation to Philosophy* (Houghton Mifflin Company), chap. XXII.

अन्य सन्दर्भ

A. S. Eddington, *The Nature of the Physical World* (The Macmillan Company), chap. XIV.

W. G. Everett, *Moral Values* (Henry Holt and Company), chap. XII.

Gertrude Carman Bussey, *Typical Recent Conceptions of Freedom* (Press of T. Morey & Son, Greenfield, Mass). Rèsumè of the views of Haeckel, James, Bergson, Ward, and Bosanquet on Freedom.

Friedrich Paulsen, *A System of Ethics* (Charles Scribner's Sons), book II, chap. IX.

W. K. Wright, *A Student's Philosophy of Religion* (The Macmillan Company), chap. XXI.

---

1. V. F. Lenzen, "Indeterminism and the Concept of Physical Reality", *Jour. Phil.*, May 25, 1933.

William James, *The Will to Believe* (Longmans, Green and Company), "The Dilemma of Determinism", pp. 145—83.

H. Bergson, *Time and Free Will* (The Macmillan Company). See also his *Creative Evolution* (Henry Holt and Company), Index.

Josiah Royce, *The Spirit of Modern Philosophy* (Houghton Mifflin Company), lectures X—XIII. An Appreciation of the Freedom discovered in the higher idealism.

Ralph Barton Perry, *The Present Conflict of Ideas* (Longmans, Green and Company). See Index.

David Hume, *Essay on Liberty and Necessity*.

Bertrand Russell, *Our Knowledge of the External World* (*Scientific Method in Philosophy*) (The Open Court Publishing Company), chap. VIII.

Henry Sturt, "The Problem of Freedom in its Relation to Psychology", in *Personal Idealism*, Edited by Henry Sturt (The Macmillan Company).

Sir James Jeans, *The New Background of Science* (The Macmillan Company), Revised edition, chap. VII.

Max Planck, *Where Is Science Going ?* (W. W. Norton and Company), chaps. IV and V.

C. D. Broad, *Determinism, Indeterminism and Libertarianism* (The Macmillan Company, 1934).

अध्याय 22

हम क्या जान सकते हैं ?

परिचयात्मक

दर्शनशास्त्र की सामान्य समस्याओं का अध्ययन करते समय अभी तक हमने कुछ-कुछ विशेष विज्ञानों की प्रणाली का ही प्रयोग किया है। यह पहले ही स्वीकार कर लिया कि इंद्रियदत्त जगत् वास्तविक है और इसके विषय में जानने, सोचने तथा तर्क करने की मनस् में योग्यता है। किन्तु अब हमें स्वयं अपने से यह प्रश्न करना चाहिए कि क्या मानव-मस्तिष्क दर्शनशास्त्र की जटिल समस्याओं का अध्ययन करने की सामर्थ्य रखता है। क्या मानव-मस्तिष्क में कोई तर्क अथवा अंत:-प्रज्ञा जैसी "शक्ति" होती है, जिसके माध्यम से हम अनुभव के तथ्यों के परे जा सकें और इस अनुभव के तथ्यों के परे यदि कोई वास्तविक महान् जगत् हो तो उसके विषय में जान सकें। क्या हमारा ज्ञान वहीं तक सीमित नहीं है जहाँ तक इंद्रियाँ हमें बताती हैं। वे जो बताती हैं क्या वह वास्तविक होता है अथवा मात्र प्रपंच अथवा प्रतीति ? क्या हम, वास्तव में विश्वस्त हैं कि कोई वाह्य जगत् है ? क्या यह सम्भव नहीं है कि जो प्रतीति हमें इंद्रियों से होती है वह प्रतीति मात्र हमारे ही मन का प्रक्षेपण हो—हमारे ही विचार हों। अधिक से अधिक, क्या हमारा ज्ञान ऐसे सापेक्ष ज्ञान के अलावा कुछ और है जो हमारे मन तथा शरीर की विशेष संरचना पर आधारित है ?

इससे अधिक अब हम इन प्रश्नों को टाल नहीं सकते और इसलिए हमारे लिए मनुष्य के ज्ञान के स्रोतों तथा उनकी प्रामाणिकता की जाँच करना आवश्यक है। चिंतन के इतिहास में ज्ञान की समस्या के विषय में बहुत कुछ कहा गया है, और इस एक अध्याय के संक्षिप्त विवरण में उसका समुचित इतिहास बता सकना असंभव होगा। इस प्रथम छोटे अध्याय में हम संक्षिप्ततम ऐतिहासिक विवरण से कुछ और अधिक न देकर कुछ उन बातों का वर्णन और संकेत संक्षेप में करेंगे जो महत्त्वपूर्ण हैं और जिन्हें मान्यता प्राप्त है। हम अगले दो अध्यायों में ज्ञान के स्रोत तथा प्रामाणिकता के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए सामान्य दिशा निश्चित करने के लिए व्यवस्थित प्रयत्न करेंगे।

ज्ञान के सिद्धांत

चिंतन के इतिहास में "ज्ञान के सिद्धांत" से तात्पर्य दर्शनशास्त्र की उस शाखा

से है जो ज्ञान के स्रोत, प्रकृति, प्रामाणिकता, सीमाओं तथा परिस्थितियों से संबंध रखती है। इन सभी समस्याओं तथा उनके विभिन्न पहलुओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—ज्ञान के स्रोत की समस्या तथा उसकी प्रामाणिकता की समस्या।

जे० एफ० फेरियर ने अपनी पुस्तक **इन्स्टीट्यूट्स ऑफ़ मेटाफ़िजिक्स** (1854) में इस सामान्य जाँच को "ज्ञानमीमांसा" (ऐपिस्टेमॉलोजी) कहा है, यह शब्द उस समय से ही व्यापक रूप से मान्य हो गया है। "ऐपिस्टेमॉलोजी" शब्द यूनानी भाषा के **ऐपिस्टेम** तथा **लोगोज़** शब्दों से मिल कर बना है जिसका अर्थ है ज्ञान का विज्ञान अथवा ज्ञान का विवेचन। इसलिए हम "ज्ञानमीमांसा" तथा "ज्ञान के सिद्धांत" जैसे शब्दों का अन्तर्बदल रूप में प्रयोग करेंगे।

ऐतिहासिक टिप्पणी

पाश्चात्य दर्शन में ज्ञानमीमांसा सर्वप्रथम उस समय दिखाई पड़ी जब यूनान के चिंतकों के आलोचनात्मक चिंतन ने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों के विचार पर संदेह व्यक्त किया। आरंभ के दार्शनिक सिद्धांतों में स्वाभाविक रूप से इस बात पर विवाद हुआ कि वास्तविक ज्ञान किसे माना जाए। तत्पश्चात् यह समस्या सम्मुख आई कि ज्ञान किसे कहते हैं ? सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू ने व्यापक रूप से ज्ञानमीमांसीय समस्याओं का विवेचन किया। इस विषय पर संभवतः सबसे सुंदर प्राचीन लेखों में प्लेटो का **थेटिटस** है।

ज्ञान के सिद्धांत की सामान्य समस्याएँ पाश्चात्य दार्शनिकों की परंपरा में संशयवादियों की आलोचना के माध्यम से भी आगे बढ़ीं, घोर संशयवादियों ने उन सभी बातों पर गंभीर प्रहार किया जिन्हें अब तक ज्ञान के रूप में स्वीकार किया गया था।

आधुनिक युग में पुनर्जागरण के पश्चात् के एक अत्यन्त प्रभावशाली दार्शनिक जॉन लॉक ने ज्ञान-मीमांसा को दार्शनिक चर्चा का आरंभिक विषय तथा केन्द्र बनाया है। अपनी कृति **एपिस्टल टु दि रीडर** में, प्रसिद्ध लेख **ऐस्से कन्सर्निन्ग ह्यूमन अन्डरस्टैंडिन्ग** में लॉक ने यह बताया है कि जब वह युवक था तब पाँच या छः मित्रों के साथ कमरे में बैठकर वह कुछ दार्शनिक समस्याओं पर चर्चा कर रहा था। वह कहता है, "मेरे विचारों में यह बात आई कि हमने ग़लत रास्ता अपना लिया है और इसके पूर्व कि हम प्रकृति की जाँच के लिए उद्यत होते, यह आवश्यक था कि हम स्वयं अपनी योग्यता की परीक्षा करते कि कौन-कौन विषय हमारे बोध के लिए उपयुक्त अथवा अनुपयुक्त थे।" संक्षेप में लॉक ने अनुभव किया कि ज्ञानमीमांसा की समस्या अन्य सभी समस्याओं के पूर्व है। इस दृष्टिकोण ने यूरोपीय विचार-धारा को बहुत गहनता से प्रभावित किया। लॉक के परवर्ती अंग्रेज दार्शनिक विशेष

कर वर्कले तथा ह्यूम ने लॉक की इस बात का अनुमोदन किया। इमेनुअल कान्ट अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य एक संतरी की भाँति है। उसने अपने सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक प्रयासों को ज्ञान के सिद्धांत में लगाया तथा इस क्षेत्र को अपने दर्शन से बहुत प्रभावित किया।

सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के यूरोप के महाद्वीप के चिंतकों ने ज्ञान-मीमांसा को किसी भी जिज्ञासा करने के पूर्व का विषय नहीं माना है। ये चिंतक (विशेषकर देकार्ते, स्पिनोज़ा, लायबनित्स तथा वोल्फ) पहले से ही तत्त्व चिंतन में व्यस्त रहे और ज्ञान-मीमांसा का विकास इन्होंने केवल संयोगवश किया है। इनकी ज्ञान-मीमांसा सामान्यतः बुद्धिवाद के नाम से प्रचलित है, जिसके विषय में हम बाद में चर्चा करेंगे।

कान्ट के दर्शन में इंग्लैंड के इन्द्रियानुभववाद की परंपरा तथा महाद्वीप के बुद्धिवाद की प्रमुख धाराएँ मिलती हैं और जैसा कि हम पहले से ही संकेत दे चुके हैं वह पुनः ज्ञान-मीमांसा के बहुत मौलिक लक्षण पर वल देता है। लॉक के ही समान उसने भी अनुभव किया कि बुद्धिमत्ता इसी में होगी कि हम आत्मा, ईश्वर तथा जगत् की उत्पत्ति जैसी समस्याओं का हल ढूंढ़ने का प्रयत्न करने के पूर्व यह पता लगाएँ कि मनुष्य का मनस् किस ज्ञान के योग्य है। ज्ञानमीमांसा द्वारा प्रस्तुत प्रश्नों को देखे विना ऐसी समस्या का हल ढूंढ़ने का प्रयत्न करना ऐसा ही होगा जैसे कोई बिना कुतुबनुमा को लिए नक्षत्रों तथा दिशाओं के ज्ञान के बिना एक विस्तृत महासागर को पार करने का प्रयत्न करे।

कान्ट के पश्चात् ज्ञान-मीमांसा का अध्ययन अनेक दार्शनिक मतावलंबियों ने विभिन्न प्रकार से किया। जर्मनी के आदर्शवादियों ने यह कहा कि ज्ञान-मीमांसा, तर्कशास्त्र तथा तत्त्वमीमांसा में ही सम्मिलित होता है और इसलिए यह कोई अलग अथवा पूर्व-स्थित मत नहीं है। दूसरी ओर अनेक लोगों ने, जिन्हें हम "नव्य-कान्टवादी" कह सकते हैं, यह दृष्टिकोण अपनाया कि ज्ञान के आलोचनात्मक परीक्षण को ही समस्त चिंतन का आधार होना चाहिए। वर्तमान समय में ज्ञान-मीमांसीय समस्याएँ चारों ओर बहुधा स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं और कई चिंतक यह देखते हैं कि वर्तमान विज्ञान की स्थिति में हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए नवीन भौतिकी में वैज्ञानिक स्वयं को ज्ञानमीमांसा के प्रश्नों में गंभीरता से लगे हुए पाते हैं।

ज्ञान-मीमांसा की व्यवस्थित जाँच आरंभ करने के पूर्व हम संक्षेप में कुछ उन महत्त्वपूर्ण स्थितियों के विषय में बताएँगे जो चिंतन के इतिहास में प्रस्तुत हुई हैं। यह आवश्यक होगा कि इन दृष्टिकोणों से कम से कम हमारा परिचय तो हो जाए।

आप्तवाद

आप्तवाद एक ऐसा असंतोषजनक ज्ञानमीमांसा का सिद्धान्त है जिस पर

शीघ्र हम विचार कर लेंगे। यह केवल दो कारणों से महत्त्वपूर्ण है। प्रथम तो इसलिए कि इतिहास के अनेक कालों में इसका प्रयोग किया गया है, विशेषकर तब, जबकि धार्मिक सत्ता का ज़ोर रहा है। द्वितीय, हम इस मानक अथवा सिद्धांत को अपने प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में लाते रहते हैं।

संक्षेप में, आप्तवाद यह प्रतिपादित करता है कि ज्ञान आप्तवचन द्वारा प्रमाणित अथवा आश्वस्त होता है। चूँकि मनुष्य स्वाभाविक रूप से सुझाव को ग्रहण कर लेता है और "ज्ञान" की सभी बातों को सिद्ध कर सकने की स्थिति में नहीं होता, इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि ऐसे सिद्धांत को प्रतिपादित किया जाए।

यह माना गया है कि दृढ़ सत्ता को निर्धारित करने के लिए कुछ कसौटियाँ हैं। उदाहरण के लिए, सम्मति का स्थानीय संबंधं एक ऐसी कसौटी है। यदि व्यक्तियों का एक बड़ा समुदाय किसी सिद्धांत को मानता है तो वह सिद्धांत सही है। उदाहरणार्थ, नैतिकता के हमारे सामान्य मान प्रायः ऐसी ही अवधारणा पर आधारित होते हैं और ऐसे ही हमारे राष्ट्रवादी पूर्वग्रह होते हैं। यह स्पष्ट है कि यह तात्त्विक रूप से महत्त्वहीन है। व्यक्तियों की आवाज़, जो यदि ईश्वर की ही आवाज़ है, तो प्रायः यह मिथ्या ईश्वर की ही आवाज़ है, जिसे इतिहास के विहगावलोकन करने मात्र से तुरन्त पता चल जाता है। प्रायः इतिहास तरंगों के प्रत्येक मोड़ पर ऐसी दुःखद त्रुटियाँ स्पष्ट हैं जिनमें बहुमत भ्रम में पड़ सकता है। प्राचीन समय में यह तथ्य सार्वभौम स्वीकार किया जाता था कि पृथ्वी समतल है, इस आधार के महत्त्वहीन होने का सरल उदाहरण है।

दूसरी कसौटी जो प्रस्तुत की गई है वह है काल-परक अवधि। वे विचार जो दीर्घकाल से मान्य चले आए हैं और अच्छी सत्ता पर आधारित हैं, ज्ञान होते हैं। इस आधार के विषय में भी वह आपत्ति लागू होती है जो ऊपर वाले में कही गई है।

तीसरी कसौटी प्रतिष्ठा है। इसका प्रयोग हम बराबर करते आ रहे हैं। हम किसी भी सफल, अनुभवी तथा विद्वान् चिकित्सक के अधिकार के आधार पर किए गए रोग-निदान को स्वीकार कर लेते हैं। हमारा अधिकांश "वैज्ञानिक ज्ञान" लेखक अथवा शिक्षक, अथवा प्रिय संत की प्रतिष्ठा पर आधारित होता है, यहाँ तक कि यह सामान्य हो गया है कि जब हम उन वैज्ञानिकों की प्रतिष्ठा के आधार पर अपने धार्मिक तथा दार्शनिक विश्वासों का निर्माण करते हैं जो वास्तव में इन विषयों में निरे बालक ही होते हैं, तो हम प्रतिष्ठा को एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भी ले जाते हैं। ऐसी कसौटी की भ्रमशीलता पर और अधिक विचार किया जाना अनावश्यक है।

आप्तवाद को हालाँकि हम ज्ञानमीमांसा का ही एक प्रकार कहते आए हैं, वास्तव में तो इसे विश्वास के मनोविज्ञान से संबंधित एक सिद्धांत माना जाना चाहिए। ज्ञान के सिद्धांत के कठोर अध्ययन के रूप में तो यह निश्चय ही कमज़ोर तथा आप्तवचनों के उन विरोधों को दूर करने में भी असमर्थ है जो सभी क्षेत्रों में

देखे जा सके हैं, जैसे विज्ञान, दर्शन, कला, राजनीति तथा धर्म के क्षेत्र में हम प्राय: आप्तवचन के आधार पर अपने को समर्पित कर देते हैं और यह बात समझने की है कि ऐसे समर्पण का आधार बालू की नींव भी हो सकता है।

संशयवाद

संशयवाद वह सिद्धांत है जो इसका खंडन करता है कि कोई वास्तविक ज्ञान होता है। यह स्थिति तो स्वयं समस्याओं को ही अस्वीकार करके ज्ञानमीमांसा की समस्याओं को "हल" करेगी। इस संशयवाद का इतिहास प्राचीन तथा साहित्य समृद्ध है। संशयवाद ऐतिहासिक दृष्टि से इतना महत्त्वपूर्ण तथा वर्तमान समय में भी इतना प्रचलित है कि इस सिद्धांत के प्रमुख तर्कों पर संक्षेप में विचार कर लेना उचित होगा। इन तर्कों को सरलता से इन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है: (1) ऐतिहासिक तर्क, (2) द्वंद्वात्मक तर्क, (3) शरीर-विज्ञान-संबंधी तर्क, तथा (4) मनोवैज्ञानिक तर्क।

ऐतिहासिक तर्क में संशयवादी दार्शनिक ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में विशेषज्ञों के निराशाजनक मतभेद का उल्लेख करता है। ज्ञान के प्राय: प्रत्येक क्षेत्र में मत-भेद देखे जा सकते हैं और विशेषज्ञ इन झगड़ों को तय करने में असमर्थ प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थिति से यह संकेत मिलता है कि किसी निश्चिय पर पहुँचना हमारे सामर्थ्य के बाहर की बात है। निश्चय ही, इस तर्क में कोई अकाटयता नहीं है। इससे केवल यह संकेत होता है कि अभी तक हमें वह ज्ञान प्राप्त नहीं है जिसकी हमें अपेक्षा है, किन्तु यह तर्क यह नहीं दर्शाता कि ऐसा ज्ञान अप्राप्य है। इससे केवल यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अभी तक मनुष्य किसी निश्चिय पर नहीं पहुँच पाया है।

जिसे हम द्वंद्वात्मक तर्क कहते हैं तथा जिसका प्रयोग प्राय: संशयवादी किया करते हैं वह संभवत: ऐतिहासिक तर्क की अपेक्षा अधिक हृदयग्राही होगा क्योंकि उसकी प्रवृत्ति यह बताने की रहती है कि अंतिम विषयों पर अध्ययन करने के लिए तर्क स्वयं अपने स्वभाव से स्वयं को कुंठाग्रस्त पाता है। संशयवादी यह युक्ति प्रस्तुत करता है कि ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया में हमें विरोधों तथा विप्रतिषेधों का सामना करना होता है जो हल प्राप्त करने में बाधक होते हैं।

द्वंद्वात्मक तर्क के उल्लेख के रूप में हम गति के सरल उदाहरण को लें। प्राचीन इलिया निवासी दार्शनिक ज़ीनो संशयवादी नहीं था किन्तु उसने अपनी बात की पुष्टि करने के लिए कुछ ऐसे प्रसिद्ध विरोधाभासों का प्रयोग किया जिनका प्रयोग बाद में बहुतायत से संशयवादियों ने किया और जो अब तक चल रहे हैं। इनमें से एक ऐसा विरोधाभास एचिलिस का दौड़ प्रतियोगिता के पथ को पार करने का है। एचिलिस दौड़ का पथ पार नहीं कर सकता क्योंकि ऐसा करने के लिए उसे पहले आधी दूरी को पार करना होगा, फिर बाकी की आधी दूरी को

और फिर बाकी की आधी दूरी को, इस प्रकार अनंत काल तक पार करते रहना चाहिए। एचिलिस का दौड़ पथ पार करना उतना ही असंभव है जितना कि हमारा इस 1/2, 1/4, 1/8, 1/16, 1/32, 1/64···की श्रेणी को लेकर शून्य तक पहुँचना। यही तर्क किसी भी गति में लागू होगा, चाहे वह कितना ही कम क्यों न हो। अतः हमारी इन्द्रियाँ गति के तथ्य को तो स्वीकार करती हैं, किन्तु जहाँ तक उसके ज्ञान का संबंध है, हम अंधकार में ही रहते हैं क्योंकि उसमें निरर्थकता सम्मिलित होती है। हम यह विचार कर सकते हैं कि काल के माध्यम से दिक् में वस्तुओं का विस्थापन ही गति है किन्तु किसी भी गति के लिए अनंत काल की आवश्यकता होगी। इसलिए जिसे हम सामान्यतः गति कहते हैं वह वास्तव में निरर्थक बात ही होती है। इस बात में ही स्वयं कोई ज्ञान यहाँ संभव नहीं है।

निश्चय ही, इस विशेष तर्क का विस्तार किया जा सकता है। हमारा जगत् का वैज्ञानिक "ज्ञान" गति के नियमों का ही ज्ञान होता है, किन्तु गति स्वयं विरोधात्मक है, इसलिए हम उस भौतिक जगत् के विषय में बुद्धिमत्ता से कैसे कह सकते हैं जिसे हम गति की अभिव्यक्ति मानते हैं। यह कहना कि ऐसे विज्ञानों ही में ज्ञान होता है, एक असंगत बात का पोषण करना होगा।

ऐसे विरोधाभास तथा विप्रतिषेध और भी हैं जो चिंतन के इतिहास में विकसित हुए हैं तथा जिनका संशयवादी ने ज्ञान के प्रति सार्वजनिक अभ्यारोपण में बड़ी योग्यता से प्रयोग किया है।

संशयवादी का शरीर-वैज्ञानिक तर्क संभवतः ज्ञान के विरुद्ध उसके समस्त तर्कों में सबसे अधिक सशक्त है, वह इस बात पर बल देता है कि हमें यथार्थ जगत् का वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता, और यदि हमें यह ज्ञान हो भी जाए, जो बहुत असामान्य है, तो भी हम यह नहीं जान सकते कि वह ज्ञान सत्य है। संशयवादी ऐसे आभकथन क्यों करता है ? उसका कहना है कि क्योंकि अनुभव करने का स्वभाव ऐसा है कि वह वास्तविक जगत्, जिसे हम समझते हैं कि हमारे प्रत्यक्षों में सही-सही प्रतिबिंबित हुआ है, ज्ञान प्राप्त करते समय विकृत जाता है। जो ध्वनि हम सुनते हैं, जो रंग देखते हैं, जो रूप तथा ठोसपन हम महसूस करते हैं, जो गंध सूँघते हैं, जो स्वतः हम अनुभव करते हैं, ये सब हमारे ही रूपांतरण हैं तथा उनका अस्तित्व वास्तविकता के बाह्य जगत् में उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कि ऑलपिन में उसके चुभने का दर्द नहीं होता। हमारा शारीरिक ढाँचा, अथवा दूसरे शब्दों में हमारे ज्ञान प्राप्त करने की परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि प्रामाणिक ज्ञान के विषय में कोई भी दावा वैसा ही होगा जैसा कि कोई भी हमारा ग़ैर-जिम्मेदारी का दावा हो सकता है। यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि हमें वास्तविक जगत् का सत्य ज्ञान प्राप्त है और इसके विपरीत भी विश्वास करने के लिए बहुत कारण हैं। इस तरह संशयवादी एक ही धक्के से हमारे समस्त इन्द्रियानुभव से प्राप्त ज्ञान को गंभीर रूप से प्रश्नात्मक बना देता है।

संशयवादी का मनोवैज्ञानिक तर्क सरल हैं तथा उसे संक्षेप में ही समझा जा सकता है। इस तर्क के अनुसार हम शाश्वत में ही रहते हैं, भविष्य हमारे वर्तमान का पूर्वानुमान है तथा भूत हमारी वर्तमान स्मृति। स्मृति ज्ञान का सबसे अनिश्चित आधार है तथा भविष्य बहुत अंशों में कल्पनात्मक है। अतः वह ज्ञान जो भूत काल से प्राप्त होता है तथा भविष्य की प्रागुक्ति करता है, केवल थोथा नाम ही है।

सामान्यतः संशयवाद की स्थिति सुरक्षित नहीं है। अपितु संतुष्ट रूढ़िवाद के लिए यह एक उत्तम औषधि है। संशयवादी ज्ञान का निषेध करता है, तथा सत्य तर्क-वाक्यों को प्राप्त करने की हमारी क्षमता को अस्वीकार करता है; तथापि वह अपने तर्कों में प्रत्येक स्थान पर अपनी स्थिति की सत्यता का प्रतिपादन करता है तथा ज्ञान का खंडन करने में उसका ही आश्रय लेता है।

इस स्थान पर हम संशयवादी के और भी आधारभूत तर्कों का अर्थात् द्वंद्वात्मक तथा शरीर-वैज्ञानिक तर्कों का उत्तर नहीं दे सकते। केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि विरोधाभास तथा विप्रतिषेध इतने आपत्तिजनक नहीं हैं जितने वे प्रथम दृष्टि में प्रतीत होते हैं। निहित समस्याओं का स्पष्टीकरण तथा उनका गहन अध्ययन प्रायः संतोषजनक हल प्रस्तुत कर देता है। उदाहरण के लिए, जीनो का गति संबंधी विरोधाभास सरलता से हल हो जाता है, यदि हम यह समझ लें कि समय शाश्वत है, इसलिए समय के किसी भी भाग में अनंतता का मुख्य लक्षण होता है जिसे जीनो द्वारा समस्या के कथन में सम्मिलित होना चाहिए। बाद में हम कुछ और विस्तार से शरीर-वैज्ञानिक तर्क पर विचार करेंगे। वर्तमान समय का अहंमात्रवाद का मनोवैज्ञानिक तर्क बहुत हानिकारक नहीं है, क्योंकि यह तर्क मुख्य रूप से गणितीय वर्तमान की अवधारणा पर बिना काल के विस्तार के आधारित है। हमारा अस्तित्व इस प्रकार के वर्तमान में नहीं है।

रहस्यवाद

रहस्यवाद का सिद्धांत ज्ञान का एक ऐसा सिद्धांत है जो संवेदन तथा विमर्शात्मक चिंतन जैसे ज्ञान के सामान्य स्रोतों अथवा मार्गों का निषेध करता है अथवा उन्हें अपेक्षाकृत रूप से महत्त्वहीन बताता है। वास्तविक ज्ञान, वास्तविक अंतर्दृष्टि तो एक विलक्षण अनुभव में ही प्राप्त होती है जिसे रहस्यपूर्ण कहा जाता है। रहस्यपूर्ण अनुभव की प्रकृति को समझने के लिए व्यक्ति को स्वयं अनुभव करना चाहिए। इसे ईश्वर अथवा विश्व के साथ एकत्व का अवर्णनीय अनुभव कह कर समझाना इसका अपूर्ण वर्णन करना है, और इसीलिए यह जीवन के साधारण बताए जा सकने वाले अनुभवों से बहुत भिन्न है।

रहस्यवाद का सिद्धांत इतिहास में अनेक रूपों में सामने आया है तथा वह कुछ ऐसी तत्त्वमीमांसीय तथा धार्मिक अवधारणाओं पर आधारित रहा है जो इस बात का खंडन करती हैं कि इन्द्रिय जगत् अंततोगत्वा सत्य है। अपने वास्तविक अर्थों

में ज्ञान, देश तथा काल अथवा संप्रत्ययों के जगत् से परिचय प्राप्त होना नहीं है, अपितु वह आत्मा, मनस्, ईश्वर, द्रव्य अथवा सत्ता का अंतर्ज्ञान है जो इस प्रपंचात्मक जगत् से परे की वस्तुएँ हैं। यह अंतर्ज्ञान जगततीत सत्ता के साथ ज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति के एक प्रकार से एकीकरण करने से प्राप्त होता है। यह अंतर्ज्ञान ही रहस्यवादी अनुभव है।

इस बात पर बिना विवाद किए कि रहस्यवाद का सिद्धांत सही है अथवा ग़लत, हम कम से कम यह कह सकते हैं कि यह सिद्धांत ज्ञान की और अधिक महत्त्वपूर्ण समस्याओं को अछूता ही छोड़ जाता है। यह जगत् भ्रम है अथवा नहीं, विज्ञान इसे जानने की खोज करता है, तथा दर्शनशास्त्र ऐसे ज्ञान का विश्लेषण तथा व्याख्या करने का प्रयत्न करता है, जो सुस्पष्ट हो सके। प्रमुख रूप से ये समस्याएँ जिनसे ज्ञानमीमांसा का संबंध होता है रहस्यवाद के बाहर की ही होती हैं।

अन्तःप्रज्ञावाद

यह रहस्यवाद के साथ प्रायः जोड़ा जाने वाला सिद्धांत है। अतः इसे प्रज्ञावाद भी कहते हैं। संभवतः इसे एक भिन्न ज्ञानमीमांसीय सिद्धांत के रूप में कहना ग़लत होगा, क्योंकि किसी भी प्रकार के ज्ञान में, अंतःप्रज्ञा निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण योगदान करती है तथा अंतःप्रज्ञा तत्त्व-ज्ञान के समस्त सिद्धांतों में विद्यमान रहती है। फिर भी, यहाँ पर हम जिस अंतःप्रज्ञावाद का उल्लेख कर रहे हैं वह मुख्य रूप से एक प्रकार की स्थिति है जिसे वर्तमान समय के फ्राँस के दार्शनिक हेनरी बर्गसाँ ने लोकप्रिय बना दिया है।

इस मत में यह कहा गया है कि ज्ञान, जो संप्रत्ययात्मक है, आवश्यक रूप से, अयथार्थ तथा अप्रामाणिक है। जिसे हम सामान्यतः ज्ञान समझते हैं वह तर्कमूलक, अमूर्त तथा ग़लत होता है। इस प्रकार ज्ञान के मुख्य साधन संप्रत्यय होते हैं जो इस परिस्थिति में स्वभावतः वास्तविकता को ग़लत कर देते हैं। वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग है अंतःप्रज्ञा, जो निरंतर परिवर्तनशील तथा नवीनता लिए हुए जीवित गत्यात्मक जगत् को स्पष्ट कर देती है। संप्रत्ययात्मक ज्ञान में जगत् का मुख्य सृजनात्मक स्वभाव पूर्णतः समाप्त हो जाता है, केवल अंतःप्रज्ञा वाला अनुभव ही उसका सही विवरण प्रस्तुत करता है।

यह समझा जाता है कि बौद्धिक ज्ञान मृत तथा जड़ संप्रत्ययों का प्रयोग करता है तथा उस जगत् के ग़लत लक्षण प्रस्तुत करता है जिसमें निरंतर प्रक्रिया होती रहती है और जो कभी भी मृत अथवा जड़ नहीं रहता। पुनः बौद्धिक ज्ञान अधिक से अधिक केवल बाह्य जगत् अथवा वस्तुओं के बाहरी रूप का ही वर्णन करता है, जबकि अंतःप्रज्ञा के द्वारा हम जगत् की आंतरिक वास्तविकता की अंतर्दृष्टि प्राप्त करते हैं। संप्रत्यय ज्ञान की एक त्रुटि उसका सापेक्ष होना भी है। बुद्धि अपनी रुचियों, अनुमान तथा क्षमता की सापेक्षता के अनुसार ही ग्रहण तथा चयन

करती है। इसलिए जो कुछ भी इससे प्राप्त होता है वह इन कारकों के सापेक्ष रहता है। अंतःप्रज्ञा में हम जगत् को वैसे ही अनुभव करते हैं तथा जानते हैं जैसा वह है—न केवल वैसा जैसा कि अपने विभिन्न संप्रत्ययों के संदर्भ में है, वरन् वैसा भी जैसा कि वह स्वयं अपने आपमें है। यह भी सोचा जाता है कि संप्रत्यय अमूर्त्त होते हैं और इसलिए वास्तविकता का अपूर्ण तथा आंशिक विवरण ही देखते हैं। हमारा वास्तविकता का अंतःप्रज्ञात्मक ज्ञान इसके विपरीत निश्चय ही अधिक ठोस है और संप्रत्यय के दोषों से मुक्त है। बौद्धिक ज्ञान में अंतिम आपत्ति यह है कि इसका लक्षण मूलतः विश्लेषणात्मक है। वास्तविक जगत् ठीक तौर से अंगों तथा टुकड़ों के विश्लेषण से नहीं समझा जा सकता। क्योंकि यह आवश्यक रूप से एक प्रक्रिया है जो हर जगह ऐसी विलक्षण पूर्णता को अभिव्यक्त करती है जिसे अंगों के माध्यम से नहीं समझा जा सकता।

इसलिए ज्ञान की स्थिति में बुद्धि का एक आवश्यक दोष है। इसके अभाव में हम अपने विचारों तथा अंतर्दृष्टियों को व्यक्त नहीं कर सकते; किन्तु जो कुछ इस से अभिव्यक्त होता है वह अधिक से अधिक, लगभग सही हो सकता है और ज्ञान का स्रोत वनने के लिए विश्वसनीय नहीं है। यह जीवन-शक्ति के द्वारा विकसित उपकरण होता है जो मनुष्य के जीवित वने रहने में सहायक होता है। यह अत्यंत उपयोगी होता है परन्तु सत्य नहीं। जव कि अंतःप्रज्ञा सत्य होती है किन्तु उपयोगी वहुत नहीं होती।

तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बौद्धिक ज्ञान जो संप्रत्ययों पर आधारित होता है वह जीवन के लिए गौण तथा उपकरणात्मक होता है। इसके विपरीत, अंतःप्रज्ञा के द्वारा हमें जगत् की प्रकृति के विषय में वास्तविक अंतर्दृष्टि मिलती है। यह अंतःप्रज्ञा एक ऐसा अवौद्धिक ज्ञान होती है जो उन वस्तुओं के साथ अपरोक्ष तथा तात्कालिक संबंध रखता है जिसमें उनका वास्तविक स्वभाव अभिव्यक्त होता है। वास्तविक ज्ञान मात्र यही है।

निःसंदेह ही बर्गसाँ के बताए हुए आधारों पर बहुत से संप्रत्ययात्मक ज्ञान की न्यायोचित आलोचना की जा सकती है, अब उसकी यह आलोचना भी उस पद्धति के विरुद्ध संशोधनात्मक ही होगी जिसे हम अतिबौद्धिक के नाम से संबोधित कर सकते हैं। इसके विपरीत अंतःप्रज्ञा की मौलिक महत्ता को स्वीकार करते हुए ऐसा प्रश्न अवश्य किया जा सकता है कि क्या बर्गसाँ संप्रत्ययात्मक पद्धति के विषय में कुछ अधिक दृढ़ नहीं है। बुद्धि आवश्यक रूप से वास्तविकता को नहीं झुठलाती। यदि हम संप्रत्ययों को उनके अर्थों की अंतःप्रज्ञा से पृथक् करें तो यह प्रतीत होगा कि बर्गसाँ की आलोचना को आवश्यकता से अधिक बताया गया है। अंतःप्रज्ञावाद आवश्यक रूप से अतर्कवाद की ओर संकेत नहीं करता, हालाँकि यह इस प्रकार का अंतःप्रज्ञावाद है जो एक ज्ञानमीमांसीय सिद्धांत के रूप में बहुत स्पष्ट है।

तर्कबुद्धिवाद

तर्कबुद्धिवाद एक बहुत व्यापक सिद्धांत है। किन्तु ज्ञानमीमांसा के सिद्धांत में यह शब्द सामान्यतः सत्रहवीं और अठारहवीं सदी के 'तर्कबुद्धिवादियों' की ज्ञान-मीमांसीय स्थिति को बताने के लिए प्रयुक्त होता है। देकार्ते, लायबनित्स, स्पिनोज़ा, और वोल्फ संभवतः इस दृष्टिकोण के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि हैं।

माना यह जाता है कि जानने का सबसे पूर्ण रूप कुछ इस प्रकार का होता है जिसे गणितीय निरूपण में देखा जा सकता है। ये निरूपण ऐसे आधारों को आरंभ करने में निहित होते हैं जो स्वयं-प्रमाणित, अंतःप्रज्ञात्मक रूप से निश्चित हैं अथवा उन्हें स्पष्ट, सत्य तथा स्वयंसिद्ध नियमों के परिणामों से प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रणाली से हम ज्ञान की निश्चितता देख-समझ सकते हैं। हमारे प्रथम आधारों का स्रोत तर्क का "स्वाभाविक प्रकाश" होता है तथा हमारे विकसित ज्ञान में सुदृढ़ तार्किक निगमन की प्रामाणिकता का लक्षण होता है। जो बात गणितीय ज्ञान के संबंध में सत्य है वैसी ही बात जगत् के ज्ञान के विषय में भी सत्य हो सकती है।

यह माना गया था कि जगत् के कुछ ऐसे मौलिक नियम हैं जो मनुष्य के विवेक के आधार पर सत्य स्वीकार किए गए हैं और जिनके द्वारा हम जगत् का सुदृढ़ निगमनात्मक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। किसी न किसी प्रकार इन प्रथम नियमों का स्रोत मनुष्य के विवेक में होता है और ये इन्द्रिय अनुभव से प्राप्त नहीं होते। और वास्तव में तो बात इसके बिल्कुल विपरीत होती है—हमारा इन्द्रिय अनुभव ही इन नियमों पर आधारित होता है।

प्रतिष्ठित तर्क-बुद्धिवाद क्रिश्चियन वोल्फ (1679–1754) ने बहुत अच्छी तरह समझाया है। उसका विचार है कि ज्ञान का क्षेत्र तीन बड़े भागों में विभक्त किया जा सकता है। ये क्षेत्र हैं तार्किक विश्व-विज्ञान; तार्किक मनोविज्ञान तथा तार्किक धर्ममीमांसा। तार्किक विश्व-विज्ञान में वोल्फ कुछ निश्चित नियमों से आरम्भ करता है जो तर्क के लिए "स्पष्ट तथा सुनिश्चित" होते हैं, वह ऐसे नियमों के परिणामों को प्राप्त करने के लिए आगे चलता है। उसके आधार-वाक्यों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं: जगत् आकाश में सीमित है, चरम अविभाज्य एककों से निर्मित है, तथा उसका आरम्भ काल में हुआ था। अपने तार्किक मनोविज्ञान में निम्नलिखित अवधारणाओं से आरम्भ करके उसने इसी पद्धति को आगे चलाया। आत्मा एक द्रव्य है जो अविभाज्य है, आध्यात्मिक है तथा सरल है। इन बातों से इसने उसकी प्राकृतिक शक्तियों तथा उसके अमरत्व के नियमों को प्राप्त किया है। अपनी तार्किक धर्म-मीमांसा में वह सबसे अधिक वास्तविक, सबसे अधिक पूर्ण सत्ता वाले ईश्वर की स्पष्ट तथा भिन्न अवधारणा से आरम्भ करता है तथा उसका अस्तित्व जगत् से सम्बन्ध तथा अन्य ऐसी ही बातें उससे प्राप्त करता है। तर्क-बुद्धिवाद की पद्धति का एक बहुत सुन्दर उदाहरण ईश्वर के अस्तित्व के सत्ता-

मूलक तर्क में देखा जा सकता है। यह स्वत:प्रमाणित है कि ईश्वर एक निरपेक्षत: पूर्ण सत्ता है इसलिए उसका अस्तित्व अवश्य होना चाहिए। क्योंकि उसके अस्तित्व की कमी होने से उसकी पूर्णता में भी कमी हो जायेगी। तब ईश्वर निरपेक्षत: पूर्ण नहीं होगा। किन्तु ईश्वर को यथार्थ में निरपेक्षत: पूर्ण माना जाता है। इसलिए उसका अस्तित्व अवश्य होना चाहिए, क्योंकि उसका अस्तित्व न होने से विरोधाभास हो जाएगा।

निश्चय ही वोल्फ एक चरम प्रकार के तर्क-बुद्धिवाद का प्रतिनिधित्व करता है जो एक असंगत रूढ़िवाद में परिवर्तित हो गया है। किन्तु सिद्धांत रूप में वह तर्कबुद्धिवादी ज्ञानमीमांसा का प्रतिनिधित्व करता है तथा वह ज्ञान के इन्द्रियानुभविक स्रोत का बहिष्कार भी प्रदर्शित करता है। इसके साथ ही वह यह निश्चयमत भी प्रदर्शित करता है कि मनुष्य स्वयं अपनी स्वायत्तता से विश्व की समस्याओं का समाधान कर सकता है।

इन्द्रियानुभववाद

इन्द्रियानुभववाद स्वयं अपने में ज्ञान का कोई सिद्धांत नहीं है किन्तु ऐसी अनेक ज्ञान की मीमांसाएँ हैं जो अपने लक्षण में आनुभविक होती हैं अत: हम इसके अनेक प्रकारों का विवरण किए बिना यहाँ इसके सामान्य प्रकार का ही वर्णन करना चाहते हैं।

सामान्यत: इन्द्रियानुभववाद यह प्रतिपादित करता है कि ज्ञान के स्रोत और प्रामाणिकता अनुभव के इन्द्रियानुभविक पहलुओं में देखे जा सकते हैं। तर्कबुद्धिवादी तार्किक सिद्धांतों से आरम्भ करने की चेष्टा में ग़लती करता है क्योंकि ये तार्किक कहलाने वाले सिद्धांत वास्तव में तो अनुभव से ही प्राप्त होते हैं। यथार्थ में तो कोई भी ज्ञान अनुभव से ही प्राप्त होता है तथा जो सत्य तथा प्रामाणिकता उसमें होती है वह सत्य तथा प्रामाणिकता भी उसके अनुभव में तथा अनुभव के लिए ही होती है।

मनुष्य की तर्कबुद्धि जन्मजात ज्ञान अथवा प्रागनुभव ज्ञान से युक्त नहीं होती। यथार्थ में तो मानव-मनस् एक स्वच्छ पट्टिका के समान होता है जिस पर अनुभव अंकित होता है। अत: मनुष्य को जो भी ज्ञान प्राप्त होता है अंतत: उसका मूल तथा आधार अनुभव में ही होता है। समस्त ज्ञान का आरम्भ संवेदन से होता है। तथा हमारे समस्त प्रत्ययों को अन्तत: इन्द्रियानुभव में घटाया जा सकता है। इस प्रकार अनुभववादी यह मान्यता रखता है कि ज्ञान अपनी प्रणाली में निगमनात्मक होने की अपेक्षा मूलत: आगमनात्मक है। निश्चित ज्ञान केवल अनुभव के सामान्यीकरण मात्र से ही प्राप्त हो सकता है।

अनुभव के संवेदन में दो प्रकार अथवा पहलू होते हैं—आंतरिक तथा बाह्य। आंतरिक "संवेदनों" का लक्षण विषयीनिष्ठ होता है, जैसे इच्छा, भावना तथा

चिंतन करना। दूसरे प्रकार के संवेदन बाह्य जगत् के होते हैं, जैसे दृष्टि, घ्राण तथा स्वाद के संवेदन।

हमने इन्द्रियानुभववाद तथा तर्कबुद्धिवाद का अध्ययन ज्ञानमीमांसा की प्रवृत्तियों अथवा उसके प्रकारों के रूप में किया है। ये अनेक खास-खास सिद्धांतों के लक्षणों को सामान्य रूप में बताते हैं और हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि ज्ञानमीमांसा के अधिकांश मौलिक विषय, विशेषकर वे विषय, जो ज्ञान की प्रामाणिकता तथा स्रोत बताते हैं, इनके माध्यम से ही उभर कर स्पष्ट हुए हैं।

ज्ञान के कुछ अन्य सिद्धान्त हैं जिनमें कुछ निश्चित रूप से इन्द्रियानुभविक हैं, जैसे आज के समय का तर्कीय प्रत्यक्षवाद तथा अर्थक्रियावाद, कुछ और सिद्धांत भी हैं जो तर्कबुद्धिवाद तथा इन्द्रियानुभववाद के बीच में पड़ते हैं जैसे वास्तववाद के कुछ प्रचलित रूप, जिनमें दोनों ही प्रकार के तत्त्व मिले हुए होते हैं। हम यहाँ इन विभिन्न स्थितियों का वर्णन नहीं करेंगे, किन्तु ज्ञान के स्रोतों और प्रामाणिकता सम्बन्धी जाँच निहित विषय को सामने रखेंगे।

दो समस्याएँ

जैसा कि अध्याय के आरम्भ में ही संकेत किया जा चुका है, ज्ञान-मीमांसा मूलतः ज्ञान के स्रोत तथा प्रामाणिकता से ही सम्बन्ध रखती है। इसकी प्रथम समस्या निश्चय ही तर्कबुद्धिवाद तथा इन्द्रियानुभववाद के बीच का बड़ा विषय उठाती है और दूसरी समस्या हमें वास्तववादियों और प्रत्ययवादियों के बीच में प्रसिद्ध द्वंद्व से परिचय करवाती है। आगे आने वाले अध्यायों में हम ज्ञानमीमांसा के इन दोनों पक्षों का अध्ययन करेंगे।

इस अध्याय से सम्बन्धित संदर्भ

Gamertsfelder and Evans, *Fundamentals of Philosophy* (Prentice-Hall, Inc.), chap. V.

अन्य संदर्भ

W. P. Montague, *The Ways of Knowing* (The Macmillan Company), chaps. II, IV.

Roy Wood Sellars, *The Principles and Problems of Philosophy*, chap. X; *The Philosophy of Physical Realism* (The Macmillan Company), chap. IV

John Locke, *An Essay Concerning Human Understanding*.

A. N. Whitehead, *The Principles of Natural Knowledge* (Cambridge University Press).

F. S. C. Northrop, *Science and First Principles* (The Macmillan Company), chap.VI, "The Foundations of Experience and Knowledge."

Durant Drake, *Invitation to Philosophy* (Houghton Mifflin Company), chaps. I, II.

W. T. Stace, *The Theory of Knowledge and Existence* (Clarendon Press, Oxford).

अध्याय 23

हम क्या जान सकते हैं ?

ज्ञान के स्रोत

जननिक उपागम

प्राचीन ज्ञानमीमांसा की समस्याओं में एक समस्या ज्ञान के स्रोतों की है। हममें से प्रत्येक के पास ज्ञान का एक निश्चित "संचय" अथवा "समूह" है, जैसे, उदाहरण के लिए हमारे चारों तरफ जगत् का ज्ञान, हमारे मनस् का ज्ञान, गणित के नियमों का ज्ञान, ग़लत और सही का ज्ञान और शुभ और सौंदर्य का ज्ञान। इसलिए प्रश्न यह उठता है कि हमें यह ज्ञान कहाँ से मिला ? उसकी वास्तविकता तथा महत्ता उसके स्रोत पर आधारित हो सकती है। हम ज्ञान के प्रत्येक अंग से उसके प्रमाणित होने की अपेक्षा करते हैं।

दर्शन के इतिहास में परंपरागत रूप से यह कहा जाता है कि हमारा समस्त ज्ञान तीन या चार तरह से प्राप्त होता है। ज्ञानमीमांसा की परंपरागत भाषा में ज्ञान को आवश्यक रूप से जन्मजात होना चाहिए, अथवा उसे तर्क से अथवा विशेष इन्द्रियों से, यथा दृष्टि, श्रवण, दबाव, स्वाद, घ्राण, ताप और तनाव जैसे संवेदनों द्वारा प्राप्त होना चाहिए, अथवा अंत में वह अपरोक्ष अंतर्दृष्टि अथवा अंतःप्रज्ञा से प्राप्त होना चाहिए। परंतु और यथार्थ मनोविज्ञान तथा आधुनिक तर्कशास्त्र के परिणामस्वरूप जहाँ तक ज्ञान के "स्रोतों" का संबंध है उसकी रुचि के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया है। ज्ञान कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो बंडल में बँध कर प्राप्त होता हो, और जिसे प्रामाणिक स्रोतों में खोजा जा सकता हो; प्रत्यय कोई ऐसी वस्तु नहीं होती जिससे ज्ञान बनाया जा सके; तर्क की कोई ऐसी शक्ति नहीं होती जो इसकी उक्तियों को दैवी मान्यता प्रदान कर सके; फिर यदि लॉक के समय से लेकर, यदि कुछ हैं भी, तो ऐसे व्यक्ति बहुत कम हैं जो जन्मजात प्रत्ययों में विश्वास करते हों। हमारे पास जन्मजात आचरण, प्रवृत्तियाँ, रुचियाँ और प्रतिक्रिया करने के तरीके तो बहुत हैं; किंतु पहले से ही तैयार कोई ज्ञान नहीं है।

ज्ञानमीमांसा के उत्तम अध्ययन का तरीका इस विषय के जननिक अध्ययन के द्वारा ही होगा, जो सरलतम जीव की उसके पर्यावरण की ओर अभिवृत्ति से आरम्भ होगा। जो सबसे प्रथम बात होती है वह किसी उद्दीपन के लिए प्रतिक्रिया

होती है और सरल ज्ञान से मुक्त होती है। यथार्थ में तो यह बात भी पहली नहीं होती। पहले तो स्वयं जीव होता है जिसमें कुछ नवीन शक्तियाँ होती हैं और कुछ ऐसी जन्मजात रुचियाँ होती हैं जो प्रेरणा देने का कार्य करती हैं। इस प्रकार हम आरम्भ से ही देखते हैं कि यह मानते हुए कि समस्त ज्ञान संवेदन अथवा इन्द्रियानुभव से प्राप्त होता है, शुद्ध अनुभववाद अथवा संवेदनवाद कितना निरर्थक सिद्ध होता है। लॉक की शब्दावली में, जन्म के समय मनस् एक कोरी स्लेट होता है, जिसमें संवेदन अपनी छाप अंकित करते हैं; यह भी इतना ही निरर्थक सिद्धान्त है जितना कि उसका प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्त है जो कि ज्ञान तर्कबुद्धि के संकाय से प्राप्त करता है।

अतः ज्ञान का सरलतम रूप आभास होगा, जैसा कि किसी वस्तु के प्रभावित करने पर जीव को हुआ करता है। किन्तु शीघ्र ही, जब जीव उद्दीपन के प्रति प्रतिक्रिया करने लगता है, तथा वर्तमान में जब वह किसी परिस्थिति में विशेष रूप से प्रतिक्रिया करने लगता है तो फिर परिस्थिति अर्थपूर्ण होने लग जाती है। यह रुचिकर विश्वसनीय सजग करने वाली, तथा टाल देने वाली स्थिति होती है। इस प्रकार एक तरह का सम्बन्ध स्थापित होता है जिसे **पहचान** कह सकते हैं। वस्तुओं, घटनाओं, अमूर्त शब्दों, वर्गों, निर्णय तथा तर्कों के नामों के रूप में भाषा का आगमन होता है।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक ढंग से विषय का अध्ययन करते हुए हम देखते हैं कि तर्क जैसी कोई शक्ति नहीं होती जो रहस्यमय रूप से ज्ञान जैसी कोई वस्तु दे सके, जैसा कि तर्कबुद्धिवाद सिखाता है; न ही चिन्तन के कोई प्रागनुभविक नियम ही ज्ञान देते हैं जैसा कि प्रागनुभववाद हमें सिखाता है। दूसरी ओर ज्ञान के एककों के रूप में संवेदन जैसी कोई वस्तु भी नहीं है जिसे मिलाकर अथवा जोड़कर ज्ञान का रूप ही दिया जा सके। बल्कि हमारे पास तो रुचियों तथा प्रवृत्तियों से पूर्ण जीव है जो प्रतिकूल और अनुकूल जगत् की छानबीन कर रहा है तथा उसके पर्यावरण के साथ परस्पर क्रिया करता जा रहा है। इसका परिणाम है अनुभव; और इस अनुभव को संचित किया जा सकता है, इसे परिस्थितियों में ढाला जा सकता है और इन परिस्थितियों को बुद्धिमत्ता के साथ नियंत्रित तथा संचालित किया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि इस **संचित अनुभव** को ही हम ज्ञान कहते हैं, जिसका बाद में वर्गीकरण होता है, भाषा में अभिव्यक्ति होती है, तथा जिसे विज्ञान की शब्दावली में संक्षिप्त रूप से संहित किया जाता है। अतः ज्ञान बुद्धिसंगत अनुभव है, अर्थात् व्यवस्थित अनुभव है। इस प्रकार अनुभववाद और तर्कवाद अपनी ऐतिहासिक प्रतिस्पर्धा को त्याग देते हैं और मित्रता का हाथ मिलाते हैं।

जॉन डिवी तथा उसके सहयोगियों ने ज्ञान का उसके आनुवंशिक स्तरों से अध्ययन करके उसके वास्तविक स्वभाव पर बहुत प्रकाश डाला है। डिवी ने जो कहा है वह इस प्रकार है:

जीव तथा पर्यावरण की परस्पर क्रिया प्राथमिक तथ्य, आधारभूत श्रेणी है, यह एक ऐसे अभियोजन को जन्म देती है जो पर्यावरण का उपयोग करता है। ज्ञान को उद्भूत स्थिति में उतार दिया गया है, जो उत्पत्ति में गौण है, हालाँकि जब उसकी स्थापना हो जाती है तो उसका महत्त्व छा जाता है। ज्ञान कोई अलग तथा स्वत:पूर्ण वस्तु नहीं है, किन्तु उस प्रक्रिया में सम्मिलित है जिससे जीवन विकसित होता है तथा विद्यमान रहता है। इन्द्रियाँ ज्ञान के द्वार के रूप में स्थान खो देती हैं ताकि वे क्रिया के उद्दीपन के रूप में अपना उचित स्थान ले लें। पशु के लिए आँख अथवा कान के प्रति आकर्षण जगत् में उपेक्षित रूप से होने वाली व्यर्थ की सूचना के रूप में नहीं होता। यह अपेक्षित रूप में कार्य करने के लिए एक आमन्त्रण होता है और एक प्रलोभन होता है। वह व्यवहार की कुंजी होता है, पर्यावरण में जीवन के अभियोजन का एक निर्देशक कारक होता है। गुण में वह अत्यावश्यक है ज्ञानात्मक नहीं है। संवेदनों के प्रज्ञात्मक मूल्य की दृष्टि से अनुभववाद तथा तर्कबुद्धिवाद का मतभेद विचित्र रूप से व्यर्थ हो गया है। संवेदनों के विषय की चर्चा तात्कालिक उद्दीपन तथा प्रतिक्रिया शीर्षक के अन्तर्गत होती है, न कि ज्ञा न के शीर्षक के अन्तर्गत···।

इस तरह तर्कबुद्धिवादियों का यह खण्डन ठीक था कि संवेदन स्वयं ज्ञान के सच्चे तत्त्व होते हैं। किन्तु इस निष्कर्ष के लिए जो तर्क उन्होंने प्रस्तुत किए और उनसे जो परिणाम निकाले वे सब ग़लत थे। संवेदन किसी ज्ञान के अच्छे अथवा बुरे, ऊँचे अथवा नीचे, अपूर्ण अथवा पूर्ण के अंग नहीं होते, अपितु वे उत्तेजनाएँ, प्रोत्साहक तथा किसी जाँच के लिए चुनौती हुआ करते हैं, जो ज्ञान में आकर समाप्त होते हैं। वे उन बातों को जानने के रास्ते नहीं हैं ज़ो विमर्शात्मक रास्तों की अपेक्षा, जिन्हें चिन्तन तथा निगमन की अपेक्षा रहती है, कम महत्त्व के हैं, क्योंकि वे तो ज्ञान के मार्ग ही नहीं होते। वे केवल विमर्श तथा निगमन करने के लिए उद्दीपन होते हैं। व्यवधान के रूप में वे इस प्रकार के प्रश्न उठाते हैं: इस ओघात का क्या अर्थ है? होने का क्या अर्थ है ? पुद्गल क्या है ? पर्यावरण के साथ मेरे सम्बन्ध में व्यवधान कैसे आता है ? उसके लिए क्या क़िया जाना चाहिए ? जो परिवर्तन इस वातावरण में हुए हैं उन्हें अपनाने के लिए मुझे कार्य-विधि में बदलाव कैसे लाना चाहिए ? प्रतिक्रिया में मैं अपने व्यवहार को पुनः किस प्रकार अनियोजित करूँगा ? इस प्रकार संवेदनवादी का यह दावा है कि संवेदन से ही ज्ञान का आरम्भ होता है, किन्तु केवल इस अर्थ में कि जाँच करने तथा तुलना करने के लिए अनुभव किया गया आघात अनिवार्य उद्दीपन का कार्य करता है, जो परिणामस्वरूप

ज्ञान उत्पन्न करता है।[1]

यह कथन बहुत स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि ज्ञान उत्पन्न कैसे होता है, और हम यह देखते हैं कि ज्ञान के स्रोतों की जाँच करने की अपेक्षा उसकी परिस्थितियों की जाँच करना बेहतर है। उसकी शर्तें ये हैं कि जीव की कुछ जन्मजात रुचियाँ हों, ऐसा वातावरण हो जिसके साथ जीव के संबंध स्थापित हों, बुद्धि हो जो कि अनुभव संचित कर सके, उसे प्रमुख स्थान पर ला सके तथा व्यवस्थित कर सके तथा जटिल और नवीन परिस्थितियों के साथ प्रभावकारी ढंग से बर्ताव कर सके। संचित अनुभव ही ज्ञान है, किन्तु इस संचय की प्रक्रिया में मानसिक शक्तियाँ तथा क्रियाएँ महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ हुआ करती हैं—स्मृति, चिंतन, प्रत्ययात्मक विश्लेषण, विमर्श, चयनात्मक संगठन, सृजनात्मक संश्लेषण। अतः ज्ञान कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो छापों के रूप में पूर्व-निश्चित जगत् से भटक कर आ जाती हो, जैसा प्राचीन संवेदनवाद का विचार था, और न ही वह चिंतन के प्रागनुभविक सार्वभौमिक नियमों की आसविक उत्पत्ति होती है, जैसा कि प्राचीन तर्कबुद्धिवाद का मत था। यह जीव तथा पर्यावरण की परस्पर क्रिया की उत्पत्ति है, जिसमें जीव की विशिष्ट शक्तियाँ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कारक होती हैं। इसलिए किन्हीं भी प्रागनुभविक तथा अतीन्द्रियानुभविक कोटियों अथवा ज्ञान के नियमों को पहले से स्वीकार कर लेना आवश्यक नहीं है। व्यक्ति के अनुभव के पूर्व, विकास की प्रक्रिया में पर्यावरण के वास्तविक संपर्क में आकर तथा उनसे व्यवहार के बाद वास्तविक सफलता प्राप्त करके कुछ जन्म-जात प्रवृत्तियाँ निश्चय ही सीखी जाती हैं। यदि प्रागनुभव का अर्थ अनुभव के साथ बर्ताव करने की ऐसी जातीय आदतें माना जाए, जो अनुभव को व्यवस्थित करती हैं, तो यथार्थ में हम ज्ञान के प्रागनुभविक तत्त्वों में विश्वास कर सकते हैं।

किन्तु ज्ञान ध्यानात्मक भी होता है

ज्ञान की उत्पत्ति का यह विवरण उसके वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए सर्वाधिक महत्त्व का है, किन्तु यह एकांगी है क्योंकि यह मन के यंत्रीय लक्षण पर आवश्यकता से अधिक बल देता है। जिस बुद्धि का वर्णन किया गया है वह मुख्यतः पशुओं की है जिसे व्यावहारिक समस्या सुलझानी होती है, सम्भवतः भोजन प्राप्त करने के लिए अथवा शत्रु को मात देने के लिए। किन्तु पशु में भी कुतूहल की मूल प्रवृत्ति होती है और मनुष्य में स्वयं ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा बहुत प्रबल होती है।

इस तरह, प्रयोगात्मक ज्ञान की अपेक्षा ज्ञान की एक और किस्म होती है। यह स्वीकार करते हुए कि संवेदन मुख्यतः कार्य के लिए उद्दीपन का कार्य करते हैं वे कुछ अन्य प्रयोजन भी सिद्ध कर सकते हैं: वे रहस्योद्घाटन करने वाले भी

1. John Dewey, *Reconstruction in Philosophy* (Henry Holt and Company), pp. 87, 89, 90.

हो सकते हैं। वे हमारे वैज्ञानिक हित भी पूरे कर सकते हैं, हमारी मात्र ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा को पूरा कर सकते हैं। यह जरूरी नहीं है कि संवेदन सदा "अत्यावश्यक" हों। वे बाह्य सत्ता का संकेत करने वाले और उस चिन्तन तथा वैज्ञानिक प्राक्कल्पना को निर्देश करने वाले भी हो सकते हैं, जो परिणामतः जगत् की वास्तविक संरचना के विषय में खोज कर सके। यथार्थ में वे स्वयं बाह्य सत्ता का रहस्योद्घाटन करने वाले भी हो सकते हैं। यह जगत् बोधगम्य तथा लचीला है; और वे अंतःप्रज्ञा में भी उपस्थित हो सकते हैं, और बोधगम्य भी हो सकते हैं; डिवी जिसे ज्ञान की संज्ञा देता है वह वास्तव में, अपनी विषय-वस्तु को परिवर्तित कर सकता है, ढाल सकता है तथा उसमें संशोधन कर सकता है, किन्तु एक ज्ञान होता है जो मात्र **ध्यानात्मक** होता है। शुद्ध ज्ञान के अर्थ में नवीन बाह्य सम्बन्ध होने के अतिरिक्त आकाश के नक्षत्रों के होने के ज्ञान से वे परिवर्तित नहीं हो जाते। लाइटन इसे बहुत अच्छी तरह से कहते हैं:

> नवीन परिस्थितियों का सामना करने तथा भविष्य के संदर्भ में व्यवहार का नियंत्रण करने से ही चेतना और तर्कनाशक्ति का कार्य समाप्त नहीं हो जाता। जब मैं प्रकृति का सौन्दर्य देखने में अथवा कला देखने में मग्न होता हूँ, जब मैं किसी मित्र के साथ का आनन्द ले रहा होता हूँ, जब मैं किसी तार्किक, वैज्ञानिक, अथवा गणितीय रचना की सुन्दरता तथा भावात्मक महत्त्व पर चिन्तन कर रहा होता हूँ, जब भूत काल के किसी विशेष काल में स्थित होता हूँ—उदाहरण के लिए, एलिज़ाबेथ के समय के इंग्लैंड में अथवा पैरिसिलीज़ के काल के एथेन्स में, जब किसी चरित्र का अनुसरण कर रहा होता हूँ, तथा किसी जाति के सांसारिक अथवा आध्यात्मिक नेता के जीवन में स्वयं को अनुभव कर रहा होता हूँ, तब मेरी उत्सुक, स्पष्ट तथा विकासशील चेतना का मेरे भविष्य के व्यवहार अथवा किसी के व्यवहार से कोई संघर्ष नहीं होता। मनुष्य की आत्मा केवल वाह्य तथा भविष्य के साथ अभियोजन के कार्य करने तक ही सीमित नहीं है। वह गहराई में शुद्ध ध्यान तथा मुक्त कल्पना में निवास करती है। करणवादी चेतन बुद्धि के एक महत्त्वपूर्ण कार्य को लेकर और उसे उसका सम्पूर्ण कार्य मानकर ग़लती करता है। निर्लिप्त ध्यान तथा सुन्दरता का आनन्द, महत्त्व, अर्थ तथा वस्तुओं के क्रम का आनन्द, कुछ व्यक्तियों के लिए स्वयं अपने लिए चेतना के मूल्यवान् कार्य हैं।[1]

यदि यह मत डिवी के अर्थ-क्रियावाद के विवरण से बिल्कुल उलटा दिखाई दे

---

1. Joseph Alexander Leighton, *The Field of Philosophy* (D. Appleton and Company), p. 360.

तो उसका समझौता इस विचार में किया जा सकता है कि पहले चिन्तन करण-वादी था, किन्तु अब अन्त में वह स्वयं अपने आपमें अपना मूल्य अथवा लक्ष्य बन गया है। जैसा मान्टेग्यु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, "मनुष्य ने इसलिए सोचना आरम्भ किया कि वह खा सके, और घूमकर वह इस स्थल पर आ गया कि वह इसलिए खाता है ताकि वह सोच सके।"[1]

इस प्रकार इन्द्रियानुभववादियों तथा तर्कबुद्धिवादियों का पुराना झगड़ा बहुत कुछ हल्का दिखाई पड़ने लगा है और उसके कारण हमें यहाँ अधिक रुकना आवश्यक नहीं है और हमें **संवेदनवाद** के सिद्धान्त पर भी और अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान एक व्यवस्थित अनुभव है और अनुभव उद्दीपन तथा प्रतिक्रिया दोनों को ही सम्मिलित किए होता है और इस व्यवस्था की प्रक्रिया में स्मृति, चिन्तन तथा तर्कना आदि सभी सम्मिलित होते हैं। किन्तु ज्ञान के सिद्धान्त **तर्कबुद्धिवाद** पर कुछ और रुकना हमारे लिए अभी ठीक हो सकता है।

नवीन तर्कबुद्धिवाद

वर्तमान काल का दर्शन जहाँ तक यह तर्कवादी है—और यह बहुत अंशों तक है—किसी भी प्राचीन रूप का अनुगामी नहीं है। मन प्रकृति की उत्पत्ति है, उसके साथ विकसित हुआ है, उससे सुपरिचित है, उसकी तर्कशक्ति का वह भागीदार है, किन्तु उसकी अनन्त समृद्धि के केवल एक हिस्से को ही वह समझता है तथा उसका मूल्यांकन कर सकता है। ज्ञान चयनात्मक प्रक्रिया है जो वास्तविकता के उन पहलुओं को ही चुनता है जिनका वह उपयोग कर सकता है, मूल्यांकन कर सकता है अथवा समझ सकता है। संभवतः वह समस्त वास्तविकता की झलक मात्र देख पाता है, किन्तु उसकी दृष्टि जहाँ तक पहुँचती है वह भ्रमात्मक नहीं होती। गणितीय तथा तार्किक सत्य कोई आकाश से प्राप्त नहीं किए जाते, जहाँ वे अनन्तता से परे कहीं एकांत में शासन करते रहे हों, अपितु वे विश्व की संरचना में ही निहित हैं। जगत् में क्रम तथा तार्किकता वस्तुनिष्ठ होती है और उन्हें देखा, अनुभव किया तथा भोगा जाता है। वास्तविक जगत् तार्किक तथा गणितीय है, और मन ठीक इस वास्तविक जगत् का ही अंग है, उसके साथ ही विकसित हुआ है तथा उसके ऐसे प्रत्येक पहलू पर उसका अधिकार होता है जिसे वह समझ सकता है और जिसका मूल्यांकन कर सकता है। हाँ, वह केवल जगत् की तार्किक तथा गणितीय वास्तविकताओं पर ही अधिकार नहीं रखता वरन् उसकी नैतिक तथा सौन्दर्यपरक वास्तविकताओं, उसकी अच्छाइओं, उसकी सुन्दरता, उसकी "विषयनिष्ठ महत्त्वपूर्ण संरचना" पर भी वह अधिकार रखता है।[2]

---

1. *Journal of Philosophy and Scientific Method*, vol IV, p. 489.

2. मैं जॉर्ज पी० एडम्स की पुस्तक "आइडियलिज़म एन्ड दि माडर्न एज" का पुनः उल्लेख करता हूँ जिसे ज्ञान के अर्थक्रियावादी सिद्धांत के एकांगीपन को दूर करने के निमित्त

अंतः ज्ञान न तो इन्द्रियों से आता है और न ही तर्कबुद्धि से। हम कह सकते हैं कि वह अनुभव से प्राप्त होता है किन्तु सन्तायना के चुने हुए शब्दों में अनुभव का अर्थ होता है "उतना ही ज्ञान तथा तत्परता जितनी कि सिखाए जा सकने वाले तथा बुद्धिमान् प्राणियों द्वारा की गई घटनाओं के संपर्क से प्राप्त होते हैं; यह उस ज्ञान का कोश होता है जो वस्तुओं की परस्पर क्रिया होने से साथ रहने पर एकत्र होता है।"

नवीन तर्कबुद्धिवाद केवल तार्किक सम्बन्धों की विषय-निष्ठ वास्तविकता पर ही बल नहीं देता, अपितु ज्ञान की प्राप्ति में मन की रचनात्मक तथा सृजनात्मक शक्ति के महत्त्व पर भी बल देता है। यह संवेदनवाद के किसी भी सिद्धांत पर वापिस आने से कोसों दूर है। उदाहरण के लिए, किसी वैज्ञानिक के अपनी प्रयोगशाला में कार्यरत होने के मामले पर विचार कीजिए। यह वास्तव में **वेधशाला** की अपेक्षा **प्रयोगशाला** है। इससे ज्ञान की जो देन होती है वह निष्क्रिय इन्द्रिय-प्रत्यक्ष न होकर बुद्धिमत्तापूर्ण परिश्रम का परिणाम होती है। वह इमारत स्वयं जिसमें ये उपकरण रखे होते हैं उस विशेष उद्देश्य से आयोजित होती है। सर्वश्रेष्ठ प्रणाली की खोज, कार्य करने के लिए प्राक्कल्पना का निर्धारण करना, प्रयोग की योजना बनाना, उपकरणों की रचना और उनकी स्थापना, उनके परिणामों का परिकलन करना—ये सब महत्त्वपूर्ण बातें हैं और ये सभी कार्य मन के हैं। और तब भी यह बात उतनी ही सत्य है कि यह सब **परिश्रम** व्यर्थ हो जाए यदि अंत में घटनाओं का, विषयनिष्ठ तथ्यों का **प्रेक्षण** ठीक-ठीक तथा तटस्थ रूप से न किया जाए और उसे सही-सही लिखा न जाए।

इसलिए निष्कर्ष में हम पाते हैं कि हमारे मन का आधुनिक संप्रत्यय किस प्रकार ज्ञान के विषय को सरल बना देता है। हम तर्कबुद्धि के संज्ञान के विषय में सब कुछ भुला सकते हैं, और उसके स्थान पर सृजनात्मक चिंतन को रख सकते हैं। इस बाद वाली बात के विषय में जेम्स हार्वे रॉबिन्सन कहता है:

> यह इसी किस्म का चिन्तन है जिसने मनुष्य को अपने प्राचीन, अर्ध-पाशविक अज्ञान तथा गंदगी से ऊपर उठाकर उस ज्ञान तथा आराम के स्तर तक ला दिया है, जो आज उसके पास है। जिस स्थिति में जगत् के अधिकतम सभ्य व्यक्ति आज पड़े हैं उससे बाहर निकलने के लिए रास्ता

पढ़ा जाना चाहिए। विशेषकर चौथा अध्याय पाँचवें अध्याय के संदर्भ में पढ़ना चाहिए। प्रोफ़ेसर एडम्स ऐसा विचार करते हुए प्रतीत होते हैं कि यह मत मन के उन्मज्जन सिद्धांत के साथ असंगत है, स्पष्टतः यह भय करते हुए कि पुद्गल से उद्भूत वस्तु अवश्य ही "पुद्गल" ही होती है। किन्तु जैसे कार्बन, ऑक्सीजन, तथा नाइट्रोजन से जीवन प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार यदि कोई सत्यता तथा सुन्दरता की मौलिक रुचि अथवा इच्छा उनकी दृष्टि आकर्षित कर रही हो तो क्या ?

ढूंढ़ने का मौका मनुष्य के इस प्रकार के चिन्तन को करते रहने तथा उसका विस्तार करने की क्षमता पर आधारित है। भूतकाल में इस प्रकार के चिन्तन को "तर्कबुद्धि" कहा गया है। किन्तु इस शब्द के चारों ओर इतने मिथ्या बोध एकत्र हो गए हैं कि हममें से कुछ लोग इसके विषय में बहुत शंकाशील हो गए हैं। इसलिए मेरा सुझाव है कि हम उसके स्थान पर तर्क बुद्धि की अपेक्षा एक हाल का नाम "सृजनात्मक चिन्तन" रख दें। **क्योंकि इस प्रकार का मनन ज्ञान की उत्पत्ति करता है और जहाँ तक ज्ञान वस्तुओं को पहले दिखाई पड़ने की अपेक्षा भिन्न रूप में देखता है उस अंश तक वस्तुतः रचनात्मक है और उनके पुनर्निर्माण के लिए वास्तव में कार्य कर सकते हैं।**[1]

यह तर्कसंगत चिन्तन ही है जिसने कि मानव जाति के इतिहास में प्रत्येक विकास को दिशा प्रदान की है, केवल विज्ञान और आविष्कार के क्षेत्र में ही नहीं अपितु नैतिकता, विधियों एवं सभ्यता के क्षेत्र में इसका विशेष महत्त्व रहा है।

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

William James, *Essays in Radical Empiricism* (Longmans, Green and Company), chaps. II, IV.

Durant Drake, *Invitation to Philosophy* (Houghton Mifflin Company), part II.

अन्य सन्दर्भ

Edward G. Spaulding, *The New Rationalism* (Henry Holt and Company), part 2.

C. D. Broad, *Scientific Thought* (Harcourt, Brace and Company), part 2.

R. F. A. Hoernle, *Studies in Contemporary Metaphysics* (Harcourt, Brace and Company), chaps. IV, V.

Bertrand Russell, *The Problems of Philosophy* (Henry Holt and Company), chaps. I--III.

R. W. Sellars, *Essentials of Philosophy* (Houghton Mifflin Company), chap. V.

John Dewey, *Essays in Experimental Logic* (University of Chicago Press).

1. James Harvey Robinson, *The Mind in the Making* (Harper and Brothers), p. 49.

अध्याय 24

हम क्या जान सकते हैं?

ज्ञान की सत्यता तथा प्रामाणिकता

ज्ञानमीमांसा की यह दूसरी समस्या है और उससे बिल्कुल भिन्न है जिस पर कि हम चर्चा करते रहे हैं। प्रश्न यह नहीं है कि ज्ञान हमें कहाँ से प्राप्त होता है किन्तु यह है कि जब हमें ज्ञान प्राप्त होता है तो क्या वह प्रामाणिक होता है। अपने सामान्य रूप में यह वास्तविकता के जगत् के साथ हमारे विचारों के संबंध की समस्या है। यह वास्तववादी तथा आदर्शवादी के बीच के सुप्रख्यात मतभेद से भी हमारा परिचय कराती है। अब **वास्तववाद** तथा **आदर्शवाद** के विकल्पनात्मक सिद्धान्त हमारे समक्ष आते हैं तथा ज्ञानमीमांसा की चर्चा में इन दोनों ही शब्दों का अर्थ सत्ता-मीमांसा के सिद्धान्तों में प्रयोग किए गए। अर्थों से भिन्न अर्थों में किया गया है। अब जिस समस्या पर हमें चर्चा करनी है उसमें प्रश्न यह है कि क्या जगत् स्वयं एक भिन्न और स्वतन्त्र सत्ता है अथवा वह मात्र हमारे मानस् का प्रतिबिंब, प्रत्यय, प्रत्यक्ष अथवा मानसिक संरचना है। उसकी वास्तविक सत्ता में विश्वास के लिए वास्तववाद[1] का प्रयोग होता है तथा बाद वाली बात के लिए **आदर्शवाद** का प्रयोग होता है।

विषयीनिष्ठवाद

विषयनिष्ठ अथवा तत्त्वमीमांसीय आदर्शवाद जो ज्ञानमीमांसा का सिद्धान्त नहीं वरन् सत्तामीमांसा का सिद्धान्त है, उससे भेद करने के लिए इस प्रकार के आदर्शवाद को कभी-कभी **विषयीनिष्ठ आदर्शवाद** अथवा **विषयीनिष्ठवाद** कहा जाता है। हमें स्मरण है कि यह तत्त्वमीमांसीय आदर्शवाद वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार जगत् प्रत्यक्ष करने वाले मनस् से हालाँकि स्वतन्त्र तथा वास्तविक है तो भी वह अपनी अंतरंग प्रकृति में परामानसिकीय, मानसिक तथा आध्यात्मिक

---

1. "वास्तववाद" तथा "आदर्शवाद" बिल्कुल अस्पष्ट शब्द हैं और उनका अर्थ वर्तमान की अपेक्षा कुछ और भी है। इस दूसरे अर्थ में यह प्रायः प्लेटो का वास्तववाद कहा जाता है और यह संकेत करता कि विश्वास सामान्य धाराएँ तथा सामान्य वास्तविक सत्ताएँ हैं, केवल नाम ही नहीं हैं। इस अर्थ में वास्तववाद नाममात्रवाद के विपरीत है।

होता है। इस भेद को ध्यान में रखना बहुत महत्त्वपूर्ण है और इस विषयीनिष्ठवाद अथवा ज्ञानमीमांसीय आदर्शवाद के तथा विषयनिष्ठ आदर्शवाद के अनेक प्रकारों के बीच दुविधा नहीं होनी चाहिए। हमें ऐसे किसी भी उतावलेपन को जिसे संभवत: हम विषयीनिष्ठवाद के लिए लागू करते हैं आदर्शवाद के और अधिक सहायक तथा भद्र रूप में यह सिखाते हुए नहीं घसीट लाना चाहिए कि वस्तु-जगत् में, जिसके विषय में हमारा विश्वास है कि उसका अस्तित्व हमारे चारों ओर तथा ऊपर होता है, आवश्यक तथा स्थायी वस्तुएँ मनस्, आत्मा तथा शाश्वत मूल्य होती हैं। यह बाद वाला मत ग़लत हो अथवा सही, उसका सत्य होना विषयीनिष्ठ आदर्शवाद के किसी भी रूप पर आधारित नहीं है।

बाह्य जगत् की स्वतन्त्र सत्ता के विषय में यह कठिनाई बर्कले के समय से ही आरम्भ हुई है। मनुष्य का साधारण विश्वास यह है कि हमारे चारों तरफ का वस्तु-जगत्, अर्थात् पेड़, पर्वत तथा सरिताओं का वास्तविक अस्तित्व वैसा ही होता है जैसा हम उसे देखते हैं और जिसका अस्तित्व प्रत्यक्ष करने वाले मनस् से स्वतन्त्र होता है। पादरी बर्कले के "विचित्र" दर्शन ने यह सिखाया कि जड़तत्त्व जैसी कोई ऐसी सत्ता नहीं होती जिसका अस्तित्व प्रत्यक्ष करने वाले मनस् से स्वतन्त्र होता हो। हममें से अधिकांश लोगों को यह बात बड़ी ही अनर्गल प्रतीत होती है और हम तब तक बर्कले की सबल स्थिति को ठीक से नहीं समझ सकते जब तक कि हम उसके तर्कों को उसकी ही लुभावनी तथा प्रभावशाली शैली में न पढ़ें। सुयोग से ये उसकी कृति **प्रिंसिपल्स ऑफ़ ह्यूमन नॉलेज** में जो 1710 में प्रकाशित हुई है, सुगमता से उपलब्ध हैं तथा इससे भी अधिक प्रचलित रूप उसके द्वारा रचित संवादों **थ्री डायलॉग्स बिट्वीन हाइलस एन्ड फाइलोनस** में देखा जा सकता है।

> विचित्र रूप से लोगों में यह मत प्रचलित है कि घर, पर्वत तथा सरिताओं अथवा एक शब्द में इन्द्रियानुभव की समस्त वस्तुओं का प्राकृतिक अथवा वास्तविक अस्तित्व होता है जो बोध द्वारा प्रत्यक्षीकरण के किए जाने से स्वतन्त्र होता है। किंतु चाहे जितने भी आश्वासन अथवा सहमति से जगत् में इन नियमों को स्वीकार किया जाए, यदि मैं ग़लती नहीं करता तो फिर जो कोई भी इसे प्रश्नात्मक दृष्टि से देखेगा वह स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त विरोधाभास को इसमें देखेगा। क्योंकि उपर्युक्त वस्तुएँ इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकृत वस्तुओं के अतिरिक्त और क्या हैं ? हम अपने विचारों अथवा संवेदनों के अतिरिक्त और क्या देखते हैं ? तथा क्या यह स्पष्ट रूप से उलटी बात नहीं है कि इनमें से कोई एक अथवा उनके संयोग का अस्तित्व प्रत्यक्ष हुए बिना रह सकता है।[1]

किन्तु चूंकि वे केवल हमारे प्रत्यय होते हैं उनका ऐसा कोई भिन्न अस्तित्व

---

1. George Berkeley, *Of the Principles of Human Knowledge* (Open Court Publishing Company), part I, sec 4.

नहीं होता। बर्कले का प्रसिद्ध अभिकथन **ऐसे एस्ट परसीपाई** (दृश्यते इति वर्तते) है।

> मनस् के समक्ष कुछ सत्य इतने स्पष्ट तथा समीप होते हैं कि व्यक्ति को उन्हें देखने के लिए केवल अपनी आँख खोलने की आवश्यकता रहती है। ऐसी ही मैं इस महत्त्वपूर्ण बात को भी समझता हूँ, अर्थात् स्वर्ग तथा पृथ्वी का सब साज-सामान अथवा संक्षेप में उन सभी वस्तुओं का जो जगत् के इस महान् ढाँचें का निर्माण किए हुए हैं, मनस् के बिना कोई और अस्तित्व नहीं है, उनकी **सत्ता** प्रत्यक्ष करने अथवा जानने में है; परिणामस्वरूप जब तक मैं उनका वास्तव में प्रत्यक्ष नहीं कर लेता हूँ अथवा जब तक कि उनका अस्तित्व मेरे मनस् में अथवा किसी शाश्वत आत्मा के मनस् में नहीं होता—वह पूर्णतः बोध के बाहर होता है तथा उनके किसी भी हिस्से को मनस् से स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करना असंगत होता है। [इस बात के लिए आश्वस्त होने के लिए पाठक को स्वयं अपने मन में संवेद्य वस्तु की **सत्ता** तथा उसके **प्रत्यक्षीकरण** में भेद करना चाहिए।][1]

यह संभव है कि वास्तववादियों तथा प्रत्ययवादियों के मतभेद की ओर आधुनिक दर्शन के इतिहास में ज़रूरत से ज़्यादा ध्यान दिया गया हो। वर्तमान समय में सभी प्रकार के विषयीनिष्ठवादों के विरुद्ध एक गहरी प्रतिक्रिया है तथा "सामान्य-बुद्धि" मत की ओर लौटने की प्रवृत्ति है। किन्तु बर्कले के प्रत्ययवाद का खंडन इस सामान्य-बुद्धि के मत के प्रचार से नहीं होता है, वैसे ही जैसे डॉ० सेम्युल जॉन्सन के तर्क से नहीं हुआ जब उसने एक पत्थर को यह कहते हुए ज़ोर से ठोकर मारी कि "मैं इसका खंडन इस प्रकार करता हूँ !"[2] ऐसा इसलिए था कि डॉ० जॉन्सन के पास जो कुछ था अनुभव था, वह केवल दृश्य मांसपेशीय संवेदन तथा संभवतः कष्ट का एक समूह था जो उसके पैर की उंगलियों में केन्द्रित हो गया था। चाहे यह वाद-विवाद निरर्थक हो अथवा सार्थक यहाँ पर उसके तर्कों की एक संक्षिप्त रूपरेखा अवश्य देनी चाहिए। यह एक प्रकार की ऐसी पहल है जिसे दर्शन के ज्ञान के प्रत्येक जिज्ञासु को अवश्य जानना चाहिए।

अहंकेंद्रिक विषमावस्था

वास्तववादी तथा प्रत्ययवादी के बीच जो कठिनाई उत्पन्न हो जाती है उसे कभी-कभी **अहंकेन्द्रिक विषमावस्था** का नाम भी दिया जाता है।[3] जब हम यह

1. George Berkeley, पूर्व उल्लिखित, Part I, Sec. 6.
2. Boswell's *Life of Johnson*, edited by Glover, London, 1901, vol. I, p. 313.
3. अंग्रेज़ी भाषा का समानार्थक शब्द (ego centric predicament) राल्फ बार्टन पेरी की देन माना जाता है।

कहते हैं कि वृक्ष का अस्तित्व होता है तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि उसका प्रत्यक्ष होता है। बर्कले ने ऐसा कहा था। क्योंकि जैसे ही आप यह विचार करते हैं कि उसका प्रत्यक्ष नहीं होता तो भी आप उसके ही विषय में सोच रहे होते हैं और यह **विचार** का विषय होता है। किसी भी ऐसे वृक्ष का अस्तित्व स्वयं अपने आपमें सोचने का प्रयत्न कीजिए जिसका प्रत्यक्ष किसी भी मनस् के द्वारा न हुआ हो। आप तब भी उसमें कुछ संवेदनशील गुणों को ही सोचेंगे, वह हरा है, कठोर है, अथवा खुरदरा है। वह एक आदर्श प्रत्यक्ष की वस्तु बन जाता है। इसलिए हम यह कभी भी नहीं जान सकते कि वस्तुएँ स्वयं अपने आपमें क्या होती हैं—केवल यही जान सकते हैं कि वे कैसी दिखाई देती हैं। संभवतः वे प्रत्यक्षों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होतीं और संभवतः प्रत्यक्ष करने वाले मनस् से स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं होती, शायद वे केवल मनस् का प्रक्षेपण मात्र होती हैं, जैसे कि स्वप्न में हम रूप देखते हैं तथा ध्वनियाँ सुनते हैं। किन्तु **यदि** मैं उन्हें वस्तुओं से स्वतन्त्र समझूँ तो भी मैं उनके विषय में वही **सोचूँगा** जैसी कि वे दिखाई देंगी। उदाहरण के लिए, मैं सोच सकता हूँ कि वे रंगदार हैं और फिर भी रंग आँख पर आधारित होता है। मैं उनके विषय में हल्ला-गुल्ला अथवा ध्वनि उत्पन्न करते हुए सोचता हूँ तो भी ध्वनि अथवा हल्ला कान पर आधारित होता है। देखने वाली आँख से परे गुलाब न तो लाल होंगे, न ही सूँघ सकने वाले नाक से परे सुगन्धित, तथा न ही प्रशंसा करने वाले मनस् से अलग होकर वे सुन्दर रह सकेंगे।

इसलिए अहंकेंद्रिक विषमता होती है। जाने जा सकने के लिए एक विषय, एक ज्ञात विषय है उसका सम्बन्ध ज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति के साथ संज्ञानात्मक होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस सम्बन्ध से परे वह क्या होगा, क्योंकि जैसे ही आप यह जानने की चेष्टा करेंगे कि वह क्या है, वह आपके साथ संज्ञानात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। वह सदा ही जानी जाने वाली वस्तु होती है, कोई अपने आपमें स्वतन्त्र वस्तु नहीं है।

जो कोई भी व्यक्ति जब प्रथम बार यह तर्क सुनता है तो उस पर पहला प्रभाव अविश्वास का तथा इसके पश्चात् उत्तेजना का होता है। वह बर्कले को यह कह कर उत्तर देने का प्रयत्न करता है कि इस बात पर ज़ोर देना असंगत है कि गुलाब का अस्तित्व तब तक नहीं है जब तक कि उसका प्रत्यक्ष न हो। मान लो कि गुलाब मेज़ पर रखा हुआ है और हम सब कमरे के बाहर चले आए। तो क्या उसका अस्तित्व समाप्त हो गया ? बर्कले इसका उत्तर बहुत धैर्य के साथ देता है— इस स्थान पर अस्तित्व से आपका क्या तात्पर्य है ? किसी ऐसे गुण का नाम लीजिए जो ऐसे अस्तित्व वाले गुलाब में हो। जब आप ऐसा करते हैं तो आप किसी लाल, सफेद, बड़े-छोटे अथवा गंधयुक्त संवेदनशील गुण को बताते हैं। गुलाब के समस्त गुण मात्र इन्द्रियदत्त होते हैं।

किंतु पाठक इस तर्क से प्रभावित नहीं होता और वह बाह्य वस्तुओं की वास्तविकता को प्रमाणित करने के लिए इस प्रकार आगे आता है: कोई भी वस्तु, जैसे गुलाब ही, एक व्यक्ति के द्वारा नहीं वरन् अनेक व्यक्तियों के द्वारा देखा गया है। निश्चय ही जहाँ तक मेरा अपना संबंध है वह मेरे लिए एक आभास हो सकता है, किन्तु यदि उसकी पुष्टि के लिए मैं किसी दूसरे व्यक्ति को बुलाऊँ और वह अन्य व्यक्ति भी गुलाब देखे तो उसका वहाँ होना आवश्यक हो जाता है। किंतु यह युक्ति असफल हो जाती है क्योंकि आपके पास यह बताने का कोई साक्ष्य नहीं होता कि उस दूसरे व्यक्ति का भी अस्तित्व है जैसे कि गुलाव का अस्तित्व है। वह अन्य व्यक्ति भी आपको इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से ही ज्ञात होता है। आप उसे देख, सुन और छू सकते हैं, किंतु अंत में वह कुछ संवेदनों के योग के अन्यथा और कुछ नहीं है। कोई संवेदी तंत्रिका उत्तेजित होती है, कोई मस्तिष्क-केन्द्र प्रभावित होता है और परिणामस्वरूप कोई प्रत्यक्षीकरण होता है।[1]

परिस्थिति और भी उग्र रूप धारण करना आरम्भ कर लेती है। मैं यह कैसे जानता हूँ कि कोई जगत् है ? मैं यह कैसे जानता हूँ कि मेरे तथा मेरे संस्कारों और विचारों के अतिरिक्त विश्व में कुछ और भी होता है ? इस प्रकार के चरम विषयी-निष्ठवादी प्रत्ययवाद को, जिसके अनुसार केवल 'मैं' का अस्तित्व होता है, **अहंमात्रवाद** कहा जाता है। इसका पर्यायवाची अंग्रेज़ी भाषा का शब्द **सालिप्सिज़्म** लेटिन भाषा के **सोलस** तथा **इप्से** शब्दों से मिलकर बना है जिसका अर्थ होता है "केवल मैं"। बर्कले का मत यह नहीं था। यह तो इस प्रकार के प्रत्ययवाद का व्याघात प्रदर्शन है।

आपत्तियाँ तथा उत्तर

इस स्थान पर पाठक कह सकता है, "ठहरो, मैं बर्कले की स्थिति से संतुष्ट नहीं हूँ, मैं तो यहाँ तक भी आश्वस्त नहीं हूँ कि उसकी युक्ति भी सुदृढ़ है। मैं उसमें दो कमियाँ देखता हूँ। पहली बात यह है कि भौतिक विज्ञान हमें वाह्य जगत् के

1. बर्कले ने यह बताने का प्रयत्न किया कि अन्य मनों तथा व्यक्तियों का ज्ञान तथा अन्य पिंडों का मौलिक वस्तुओं का ज्ञान ठीक वही वात नहीं है। उसने कहा कि हम भौतिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं किंतु अन्य मनसों की अवधारणा होती है। यह निरुत्साहपूर्ण प्रयत्न था और इनके भेद का महत्त्व बहुत कम है। हाल के लेखकों ने दूसरे तरीकों से यह बताने का प्रयत्न किया है कि हमें अन्य भौतिक वस्तुओं का सीधा तथा भिन्न प्रकार का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए यह कहा गया है कि मैं तुम्हारे संकल्प अथवा व्यक्तित्व का प्रभाव अपने को प्रभावित करते हुए अथवा अपने संकल्प के साथ विरोध करते हुए देखता हूँ। रहस्यपूर्ण प्रभाव के अलावा इस तर्क का मूल्य बहुत कम प्रतीत होता है।

विषय में बताते हैं। यदि हमारे चारों ओर भौतिक जगत् नहीं होता तो वह क्या है, विज्ञान जिसका अध्ययन करता है ? कोई भी वैज्ञानिक बर्कले के इस दावे को स्वीकार नहीं करेगा कि पुद्गल जैसी कोई चीज़ नहीं होती।" किन्तु इस आपत्ति का फिर बहुत कम वज़न है। बर्कले ने इस बात का खंडन नहीं किया कि जिन वस्तुओं का अध्ययन विज्ञान करता है उनका अस्तित्व होता है, किन्तु यह कि वह प्रत्यक्ष करने वाले मनस् से स्वतंत्र होता है। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि **अस्तित्व** शब्द का क्या अर्थ है। गुलाब, वृक्ष, मनुष्य का शरीर तथा विज्ञान के द्वारा अध्ययन की जाने वाली सभी वस्तुएँ प्रत्यक्ष अथवा अनुभव की वस्तुएँ होती हैं। इस प्रकार के सब वैज्ञानिक इस तत्त्वमीमांसीय प्रश्न से स्वयं को परेशान नहीं करते कि इन वस्तुओं का सम्बन्ध प्रत्यक्ष के परे स्थित किसी वास्तविकता से क्या होता है। निश्चय ही बहुत उत्कृष्ट वैज्ञानिकों ने अभिव्यक्त रूप से यह विचार किया कि विचार की वस्तुएँ मात्र प्रपंच होती हैं, केवल प्रत्यक्ष की वस्तुएँ संवेदनों का पुलिंदा अथवा "इन्द्रिय-दत्तों की संसृष्टियाँ हैं।"[1]

संदेह करने वाला आगे कहता है कि बर्कले की स्थिति में दूसरी कमज़ोरी यह है: "मान लीजिए कि गुलाब, वृक्ष, मकान जैसी अनुभव की वस्तुएँ इन्द्रिय-दत्तों अथवा प्रत्यक्षों की मात्र संसृष्टियाँ हैं, फिर भी प्रत्यक्षों का कारण अवश्य होना चाहिए। ये वस्तुएँ बिल्कुल मेरी इच्छा अथवा आशा के विपरीत आती-जाती हैं। कभी-कभी वे मेरे विचारों की शृंखला में अनिच्छा होते हुए भी घुस आती हैं। यदि वे मात्र विषयीनिष्ठ अथवा मनस् का पागलपन होतीं तो ऐसा कैसे कर सकती थीं। इसलिए उन प्रत्ययों का कोई न कोई वस्तुगत कारण अथवा स्रोत अवश्य होना चाहिए और फिर, जैसा बर्कले कहता है, उसे यदि हमें स्वीकार कर लेने दिया जाए तो इन प्रत्ययों का वस्तुगत स्रोत कुछ सभी मनसों को एकसमान मानने वाला, निरन्तर बने रहने वाला तथा प्रभावित करने वाला होना चाहिए।"

यह आपत्ति अन्य आपत्तियों की अपेक्षा अधिक गम्भीर है और इस पर सावधानी से विचार करना चाहिए। हमारे प्रत्यक्षों के कारण की माँग से किसी न किसी प्रकार की वस्तुनिष्ठता स्पष्ट होती है। बर्कले, कान्ट तथा समस्त विषयीनिष्ठवादी इस माँग को स्वीकार करते हैं तथा उसके लिए उपाय करते हैं। हम यह जानने में रुचि रखते हैं कि वे यह कैसे करते हैं। कान्ट का हल यदि संतुष्ट कर

---

1. तुलना कीजिए: Karl Pearson, *The Grammar of Science*; Ernst Mach, *The Analysis of Sensations*; तथा Bertrand Russell, "Our Knowledge of the External World," chap. III in his *Scientific Method in Philosophy*. हक्सले की पुस्तक Hume में भी बर्कले की स्थिति की आलोचना से भी तुलना कीजिए।

देने वाला नहीं है तो कम से कम समझने में सबसे सरल तो अवश्य है—और इसका ही परीक्षण सर्वप्रथम किया जा सकता है।

कान्ट कहता है कि यह सत्य है कि संवेदनों का कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए तथा यह कारण अवश्य ही मनस् के बाहर होना चाहिए। इसलिए हम ऐसे कारण के अस्तित्व को परम आवश्यक स्वीकार करेंगे। यह एक अज्ञात **वस्तु स्वयं अपने में** (Ding-an-sich) होती है। दिक् और काल विषयीनिष्ठ होते हैं। विज्ञान हमें इस चरम सत्ता के विषय में कुछ नहीं बता सकता क्योंकि विज्ञान का सम्बन्ध प्रपंच से होता है, अर्थात् वस्तुएँ हमारी इन्द्रियों की प्रकृति के नियंत्रण तथा मनस् के संघटन के अनुसार हमें प्रतीत होती हैं।

तो फिर कान्ट के अनुसार यह संसार, विज्ञान-जगत् तथा सुपरिचित दैनिक प्रत्यक्षों का जगत्, मनस् की रचना अथवा सृजन है। बोध से प्रकृति बनती है। निश्चय ही वह इसे शून्य से नहीं बनाता। इसका कच्चा माल संवेदनों में प्राप्त होता है, किन्तु उसका पूरा स्वरूप, ढाँचा, पूरा ताना-बाना, यहाँ तक कि उसका देशिक तथा कालिक लक्षण भी मनस् की ही देन होता है। जो हमें संवेदनों से प्राप्त होता है वह सब कुछ अस्त-व्यस्त होता है तथा जगत् को जो क्रमबद्ध, संगत, किसी स्वरूप, अर्थ, ढाँचे में ढालता है वह मनस् का एक विशेष प्रकार का संघटन ही है। चूँकि ज्ञान के सभी विषय प्रपंच हैं, हम कान्ट के सिद्धान्त को विषयीनिष्ठ प्रत्ययवाद की अपेक्षा **प्रपंचवाद** के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं।

इस आपत्ति का बर्कले द्वारा दिया गया अपना हल बिल्कुल भिन्न है और जो उसे पहली बार सुनता है उसके लिए वह विचित्र प्रतीत होता है। हमें स्मरण है कि वस्तुतः जड़ पदार्थ के अर्थ में पुद्गल जैसी कोई वस्तु नहीं होती। वस्तुएँ केवल प्रत्यक्ष होती हैं; किन्तु मेरे प्रत्यक्षों का कोई वास्तविक कारण अवश्य होना चाहिए। पुद्गल जड़ होता है, इसलिए उसका अस्तित्व होने पर भी मेरे प्रत्यक्षों का कारण नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष मानसिक स्थितियाँ होती हैं इसलिए उसे किसी आध्यात्मिक स्रोत, क्रियाशील संकल्प अथवा दैवी संकल्प से ही आरम्भ होना चाहिए। इसलिए जिसे हम प्राकृतिक वस्तुओं वाला जगत् कहते हैं वह ईश्वर अथवा असीम आत्मा का सीमित आत्माओं, अर्थात् मानवीय मनसों पर सुव्यवस्थित तथा नियमित कार्य होता है।

प्रथम दृष्टि में तो हमारे प्रत्ययों के रूप में ईश्वर का ऐसा परिचय बाह्य भौतिक सत्ता की अपेक्षा एक आधार रहित तथा जबर्दस्ती की व्याख्या प्रतीत होता है। यह एक मूर्खतापूर्ण तन्त्र की चरम सीमा प्रतीत होती है। किन्तु बर्कले में अपनी स्थिति का प्रतिपादन करने की असीम योग्यता थी और यह अन्तिम प्राक्कल्पना उतनी अनर्गल नहीं है जितनी प्रतीत होती है। यदि बर्कले को अपने दर्शन की सुरक्षा में बोलना होता और उसे पुद्गल की प्रकृति की खोज करने में हाल के विज्ञान के परिणामों का पता होता तो वह निम्नलिखित रूप में अपना

तर्क प्रस्तुत करता: "तुम कहते हो कि कोई पुद्गल जैसी वस्तु तुम्हारे संवेदनों का कारण है। ठीक है पुद्गल क्या है? उसे घटा कर घूमते हुए तथा थिरकते हुए इलेक्ट्रॉनों अथवा ऊर्जा के एककों में परिवर्तित कर दिया गया है तथा उसे ग्रहों के आकार की अपेक्षा एक-दूसरे से बहुत दूर कर दिया गया है। जहाँ तक उसके गुण का सम्बन्ध है तुम इस ऊर्जा के बारे में क्या जानते हो? कुछ नहीं; वह केवल कार्य कर सकने की क्षमता है। तो आप मान लेते हैं कि कुछ वस्तु 'क' का, जिसे पुद्गल कहते हैं, अस्तित्व होता है और सम्भवतः वह एक प्रकार की ऊर्जा के अलावा और कुछ नहीं होती। और तुम्हारी ज्ञानेन्द्रियों पर प्रभाव करके ही वह विभिन्न संवेदन उत्पन्न करती है जिसे आप गर्मी, प्रकाश, ध्वनि आदि कहते हैं और जो इसी प्रकार जगत् का निर्माण करती रहती है।"

बर्कले आगे कहना जारी रखता है कि "ठीक है अब बताइए कि क्या आपका सिद्धान्त मेरे सिद्धान्त से श्रेष्ठ है अथवा वह वास्तव में बहुत भिन्न है। आप यह कहते हैं कि प्रत्यक्ष करने वाले मनस् से बाहर केवल ऊर्जा का जगत् है जो मनस् के ऊपर कार्य करती है तथा जिसका स्वभाव अज्ञात है। मैं तो यह कहता हूँ कि मनस् के बाहर एकमात्र सत्ता ईश्वर है जो संवेदनों का कारण है। यदि यह मत आपको कुछ अजीब प्रतीत हो तो ऐसा इसलिए होगा कि आप ईश्वर के विषय में सही तरीके से नहीं सोचते। ईश्वर एक ऐसी सर्वव्यापक, सब कुछ समाविष्ट करने वाली दैवी शक्ति है जो हमारे समक्ष ऐसे अनेकानेक रूपों में आती है जिनसे हमारा यह वस्तु-जगत् निर्मित है। इन दोनों स्थितियों में अन्तर केवल इतना है कि आप इस सर्व-समावेशी शक्ति को **भौतिक** कहते हैं, जब कि मैं उसे **आध्यात्मिक** कहता हूँ; किन्तु जैसा कि मान्य है कि आपको अपनी भौतिक ऊर्जा के विषय में इसके अन्यथा और कुछ नहीं मालूम कि वह परिवर्तन लाने की क्षमता रखती है। लाभ इसी में है कि उसे आध्यात्मिक शक्ति अथवा ईश्वर कहा जाए जैसा उसे मैं कहता हूँ, क्योंकि उसी हालत में हम यह समझ सकते हैं कि उसका कार्य तर्कसंगत, क्रमबद्ध तथा प्रगति-शील किस प्रकार है। उदाहरणार्थ, आप ही अपने ढंग से प्रकृति की सुन्दरता अथवा विकास के आश्चर्यों को समझाने का प्रयत्न कीजिए।"

निश्चय ही बर्कले का दर्शन एक विचित्र ढंग से कार्य करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अंत में उसे एक वस्तुगत-जगत् प्राप्त हो गया हो, उसे वह ईश्वर कहता है, जबकि अन्य लोग उसे पुद्गल कहते हैं। क्या बर्कले का मत यहाँ तक ग़लत है कि इस पर कोई आश्चर्य ही कर सकता है। सूर्यास्त, पर्वत, बादल तथा सागर सूक्ष्म जगत् की सुन्दर पूर्णता, पशुओं की सहज क्रियाओं में अभिव्यक्त प्रकृति की आश्चर्यजनक व्यवस्था, विकास, उत्परिवर्तन, आनुवंशिकता तथा स्वयं जीवन के रहस्य की सुन्दरता—वास्तव में ये सभी बातें ऐसा कहने के लिए तर्कसंगत स्थिति बना देती हैं, कि सजीव ऊर्जा, जो हमारे सभी ओर है, और जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों के लिए उद्दीपन कार्य करती है, ईश्वर है। यदि कोई व्यक्ति इस दर्शन में आगे

यह आपत्ति करे कि यह सर्वेश्वरवाद है, क्योंकि वह जगत् को घटा कर ईश्वर में ही सीमित कर देता है तो इसके प्रत्युत्तर में बर्कले कहेगा कि यह सर्वेश्वरवाद नहीं है क्योंकि यह स्पष्टतः मनस् अथवा मानव की आत्मा की वास्तविकता, स्वतन्त्रता तथा उत्तरदायित्व को प्रतिपादित करता है। संभवतः बर्कले के दर्शन की और बड़ी भूल उसके सत्तामूलक भाग में नहीं वरन् उसकी ज्ञानमीमांसा में देखी जा सकती है।

विषयीनिष्ठवाद की आलोचना

तो इस प्रकार का है यह ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद जो यह सिखाता है कि जगत् मेरा प्रत्यय है। यह उस पर की गई आपत्तियों की सामान्य पद्धतियों से प्रभावित प्रतीत नहीं होता, किन्तु जैसा बर्कले स्वयं उसे अन्तिम निष्कर्ष तक ले गया है, वह कोई विचित्र अथवा चौंका देने वाली बात की ओर संकेत नहीं करता। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या यह दर्शन वास्तव में इतना दुर्गम है जितना वह प्रतीत होता है—क्या उसमें कुछ ऐसे पूर्वानुमान नहीं हैं जो ग़लत अथवा अनावश्यक हों।

अहंकेंद्रिकता के विषय में एक ऐसी "पकड़" है, जिसकी ओर आधुनिक लेखकों ने बार-बार संकेत किया है। इसका यह अर्थ नहीं निकलता कि चूंकि जिन वस्तुओं को हम जानते हैं उनका सम्बन्ध ज्ञानात्मक होता है, वे बिना इस सम्बन्ध के रह ही नहीं सकतीं। आपका यह कहना है कि गुलाब अथवा वृक्ष मेरा प्रत्यय है और कोई भी वस्तु जिसे मैं जानने की दृष्टि से देखता हूँ, ज्ञेय अथवा प्रत्यय बन जाती है। ठीक है, यदि यह सत्य है तो इसका यह तात्पर्य नहीं निकलता कि गुलाब अथवा वृक्ष अन्य सम्बन्धों में नहीं रह सकते। यदि यह सही है कि मैं उन वस्तुओं के विषय में नहीं जान सकता जो अनुभव न की गई हों तो इसका अर्थ यह नहीं है कि बिना अनुभव की कोई वस्तु ही नहीं है। चलिए हम यह अनुमान करें कि वास्तविकता का एक ऐसा जगत् है जो मानवीय अनुभव से बिल्कुल स्वतन्त्र है—भौतिक जगत्। यदि आप चाहें तो उसे हरे वृक्षों, भूरे पर्वतों और नीले आकाश वाला प्राकृतिक वस्तुओं का जगत् कह सकते हैं। यह अभ्युपगम सम्भव है। तो हम यह भी मान लें कि संवेदनशील जीव में प्रत्यक्ष करने वाले मनुष्य भी आने चाहिएँ। उन्हें अपनी प्रसन्नता के लिए यह सिद्ध करना चाहिए कि समस्त वृक्ष, पर्वत तथा अन्य वस्तुएँ मात्र संवेदनों के समूह इंद्रिय-दत्तों की संसृष्टियाँ हैं। किन्तु प्राक्कल्पना के द्वारा यह निष्कर्ष ग़लत होगा। अतः किसी प्रकार हम यह अभ्युपगम बना सकते हैं कि हमारे प्रत्यक्षों से स्वतन्त्र कोई वास्तविक जगत् है। विज्ञान प्रायः ऐसा अभ्यु-पगम बनाता है और जब वह बन जाता है तो देखा गया है कि उससे सन्तोषजनक परिणाम निकलते हैं। सुयोग से इससे सामान्य ज्ञान की पुष्टि भी होती है।

किन्तु इस समस्त विषयीनिष्ठवादी सिद्धान्त की तह में एक और भी गम्भीर त्रुटि है। यह ऐसी मौलिक त्रुटि हैं कि वह दर्शन के विद्यार्थी पर पीढ़ी दर पीढ़ी रोष की भावना आरोपित कर सकती है। यह जॉन लॉक की ओर संकेत करती है

जिसके अनुसार ज्ञान का प्रत्ययों में सामंजस्य अथवा असामंजस्य का प्रत्यक्ष होना है। उदाहरण के लिए, यह ज्ञान कि गुलाब लाल है, "लाल" तथा "गुलाब" के प्रत्ययों के बीच सामंजस्य का होना स्वीकार करता है। लॉक की धारणा यह प्रतीत होती है कि मनस् में कुछ बातें अथवा सत्ताएँ होती हैं जिन्हें प्रत्यय कहते हैं और फिर मनस् इन प्रत्ययों का सर्वेक्षण करता है और उनमें स्थित सामंजस्य अथवा विरोधों को स्वीकार करता है, यह स्वीकार करना ही ज्ञान होता है। यह कूट मनोविज्ञान ही है जिसने ज्ञानमीमांसा में इतनी गड़बड़ी कर रखी है। आधुनिक मनोविज्ञान में भी **संवेदन, मनस् की स्थिति, चिंतन की स्थितियाँ** आदि शब्दों के प्रयोग से जो ग़लतफ़हमी आरम्भ होती है उससे यह त्रुटि पल रही है और उसमें केवल आत्मनिष्ठ रुचि की ये बातें वस्तुओं के संवेग गुणों के साथ मिल जाती हैं। अतः गुलाब की लालिमा, आकाश की नीलिमा तथा पर्वत के भूरेपन को संवेदन अथवा मानसिक या चेतना की स्थिति कहा जाता है, न कि वस्तुओं के गुण, जैसा कि उन्हें कहा जाना चाहिए।

इसी अध्याय में जब हम ज्ञान के स्रोतों पर चर्चा कर रहे थे उस स्थान पर दिया हुआ ज्ञान का विवरण अनेक कठिनाइयों को दूर कर देता है तथा वह एक प्रकार के सामान्य-वास्तववाद की ओर ले जाने का संकेत करता है। ज्ञान प्रत्ययों में सामंजस्य अथवा विरोध को स्वीकार करना नहीं, वरन् वस्तुओं का अपरोक्ष अनुभव है। वह प्रत्यक्ष करने वाले जीव तथा प्रत्यक्ष की जाने वाली वस्तु के बीच होने वाली परस्पर क्रिया होता है। ज्ञान अपने सरलतम रूप में वस्तु की चेतना मात्र होता है। उदाहरण के लिए, अमीबा किसी ऐसी वस्तु के सम्पर्क में आता है, जो भोजन के लिए प्राप्त हो सके अथवा न हो सके। वह उसके प्रति सचेत हो जाता है। बारंबार सम्पर्क होने से साधारण स्मृति भी अभिज्ञान की ओर ले जाती है। वस्तु को या तो निर्दिष्ट स्थान पर लगा दिया जाता है अथवा उसे टाल दिया जाता है। अमीबा को अनुभव, ज्ञान हो चुका होता है। जब हम उसे इस प्रकार से देखते हैं, तब निश्चय ही ज्ञान के सम्बन्ध में कोई रहस्यपूर्ण बात नहीं रह जाती और निश्चय ही वह केवल प्रत्यक्ष की जाने वाली वस्तु को ही नहीं वरन् प्रत्यक्ष करने वाले व्यक्ति को भी सम्मिलित करता है। वह प्रत्यक्ष किए जाने वाले जीव से पृथक् एक जगत् का पूर्वानुमान करता है, अर्थात् वास्तविक गुणों से युक्त वास्तविक जगत् जो उसके ज्ञान होने के पूर्व ही अपने गुणों के साथ अस्तित्व में रहता है और जब उसका ज्ञान हो जाता है तो वह एक नवीन सम्बन्ध में आता है, एक ज्ञान करने वाले मनस् के सम्बन्ध में।

मनुष्य के ज्ञान के मामले में, इस जटिल जीव के साथ हमारा पर्यावरण भी जटिल है तथा ज्ञान का लक्षण भी दोनों के स्वभाव से ही निर्धारित होता है। चूँकि प्रत्यक्ष करने वाला जीव स्वयं ही बहुत जटिल होता है, जिसमें कुछ विशेष ज्ञानेन्द्रियाँ, कुछ विशिष्ट उद्दीपनों को ही स्वीकार करती हैं; तथा मुख्यतः इन

उद्दीपनों का प्रयोग ज्ञान की खिड़कियों के समान नहीं वरन् क्रिया करने के लिए प्रोत्साहन के रूप में करती हैं; तथा वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने वाला प्राणी स्मरण शक्ति से युक्त होता है और इन्द्रियों से होने वाले प्रत्यक्ष में जो दत्त सामग्री होती है उसमें साहचर्य से प्राप्त तत्त्वों को जोड़ देता है; तब यह प्रश्न बार-बार सामने आता है कि जीव को जो ज्ञान अपने पर्यावरण में प्राप्त होता है क्या वह "यथार्थ" होता है। इसी कारण वह सारा विवाद उठा है जिससे ज्ञानमीमांसा का साहित्य लदा हुआ है; उदाहरणार्थ, भ्रमात्मक अनुभव, सत्य तथा असत्य एवं मूल तथा गौण गुणों के बीच में भेद। हम सीधी लकड़ी के जल में टेढ़ी दिखाई देने को वहुत सुना करते हैं तथा समानान्तर रेल की पटरियों के आगे चलकर आपस में मिलते दिखाई देने और गौण गुणों का वस्तुओं में न होकर मनस् में होने की बात वहुत सुना करते हैं।[1] किन्तु प्रकाश के नियम स्पष्ट करेंगे कि पानी में सीधी छड़ी झुकी हुई क्यों दिखाई देती है; और समानान्तर रेल की पटरियाँ आपस में मिलती हुई क्यों दिखाई देती हैं तथा अव अनेक लोग ऐसे हैं जो रंग अथवा ध्वनि जैसे गुणों को विषयीनिष्ठ मानना आवश्यक नहीं समझते, वरन् वस्तुओं के विभिन्न गुण विभिन्न परिस्थितियों में सामने आते हैं।[2] संभवत: इस प्राचीन समस्या का सरलतम समाधान ही सर्वश्रेष्ठ है। हम अभी भी यह विश्वास कर सकते हैं कि हम जिस जगत् को जानते हैं—दिक् और काल में स्थित वस्तुओं का जगत्, कारण सम्बन्धों का जगत्, रंग तथा ध्वनि का जगत्, अनुपात तथा सौन्दर्य का जगत्, यह जगत् ऐसा नहीं है जिसे हम जानते हुए निर्माण करते हों अथवा जो जान लेने से परिवर्तित हो जाता है, वरन् यह ऐसा जगत् है जो हमेशा से अस्तित्व में रहा है और जिसने हम जानने वालों का ही सृजन किया है। अत: यह वस्तुनिष्ठ जगत् वास्तविक है और उसके विषय में हमारा ज्ञान आंशिक है, फिर भी सत्य है और जगत् का यह सत्य ज्ञान खोज की वैज्ञानिक प्रणालियों के द्वारा निरन्तर बढ़ रहा है।

वास्तववाद के प्रकार

इस वास्तववाद तथा आदर्शवाद की चर्चा को बिना हाल के वास्तववादी मतों का उल्लेख किए समाप्त नहीं करना चाहिए। इसकी भूमिका कुछ पुराने प्रकार के वास्तववादों पर ध्यान देने से हो सकती है। वास्तववादी जगत्-मत स्वाभाविक है और साधारण व्यक्ति को यह पहले से ही स्वीकार होता है किन्तु

1. यह लॉक ने कहा था, और लॉक के पहले गैलिलियो तथा प्राचीन ग्रीस में डिमॉक्रीटस ने भी, कि जब कि कुछ गुण जैसे ठोसपन, गति तथा विस्तार (मूलगुण) वास्तव में वस्तु में ही होते हैं, कुछ अन्य गुण जैसे रंग, ध्वनि, स्वाद तथा गन्ध (गौण गुण) वास्तव में वस्तुओं में नहीं होते, वरन् ये विषयीनिष्ठ होते हैं और उनका अस्तित्व मनस् में ही होता है।

2. तुलना काजिए: A.N. Whitehead, *The Concept of Nature* chaps. I and II.

जब तक उसे शरीर-विज्ञान तथा मनोविज्ञान का ज्ञान न हो वह उसे बहुत सरल रूप में ही मानता है।

सहज वास्तववाद उस असावधानी से स्थिर किए गए मत को कहा जाता है जिसे विचार-रहित व्यक्ति मानता है, जो संभवतः यह विश्वास करता है कि आँखें ही ऐसी खिड़कियाँ होती हैं जिनके द्वारा कोई आंतरिक आँख जगत् को ठीक वैसा ही देखती है जैसा वह है; अथवा मनस् एक प्रकार की ऐसी टिकिया के समान है जिस पर इंद्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा बाह्य जगत् की **छवि** अथवा **तस्वीर** अंकित होती है। जब हम मस्तिष्क, ज्ञानेन्द्रियों तथा संवेदी तंत्रिकाओं की संरचना का अध्ययन करते हैं तब हम इन प्रथम विचारों की सरलता समझते हैं और तब और अधिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण से देखना आरंभ करते हैं कि ज्ञान कैसे शुरू होता है। यह हमें एक प्रकार के **आलोचनात्मक वास्तववाद** की ओर ले जाता है जो अपने व्यापक अर्थ में और भी यथार्थ शरीर-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के आधार पर पुनर्गठित करने का प्रयास है।

इस प्रकार का एक प्रयास आरंभ में लॉक ने किया था जिसके मत को **प्रतिनिध्यात्मक वास्तववाद** कहा जाता है। इस मत के अनुसार बाह्य जगत् केवल गतिमान् पुद्गल के कणों से होता है तथा पुद्गल के गुण-विषयक हमारे विचार इन गुणों का मात्र **प्रतिनिधित्व** करते हैं, और वास्तव में तब भी वे केवल गति तथा प्रकार जैसे **मूल गुणों** का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, जबकि रंग तथा ध्वनि जैसे **गौण गुणों** का अस्तित्व केवल मनस् में ही होता है और उनका स्रोत कोई गतिमान जड़तत्त्व ही होता है। ऐसे वास्तववाद का झुकाव, जैसा हमने देखा है, किसी प्रकार के संवृत्तिवाद अथवा विषयीनिष्ठ आदर्शवाद की ओर होता है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने एक और प्रकार के वास्तववाद का प्रतिपादन किया जिसे वह **रूपांतरित वास्तववाद** कहता है। बाह्य जगत् पुद्गल, गति, तथा शक्ति का जगत् है, किन्तु जब वह प्रत्यक्षीकरण के बाद हमारे समक्ष आता है तो रूपांतरित हो चुका होता है, उसी प्रकार जैसे कि कोई घनाकार टुकड़े की आकृति दर्पण में रूपांतरित हो गई होती है।

नवीन वास्तववाद

अभी हाल में अमरीका तथा इंग्लैंड में एक नये प्रकार का वास्तववाद सामने आया है जिसे **नवीन वास्तववाद** अथवा **नव्य-वास्तववाद** कहा जाता है, और जिसका प्रचंड लेखक संप्रदाय ने स्वागत किया है।[1] यह मत प्रत्यक्ष से प्राप्त वस्तु-

1. यह आन्दोलन सर्वप्रथम 1912 में सामने आया जब ऐडविन बी० होल्ट, वाल्टर टी० मारविन, विलियम पेपरेल मान्टेग्यु, राल्फ बार्टन पेरी, वाल्टर बी० पिटकिन, तथा एडवर्ड ग्लीसन स्पॉलडिंग द्वारा लिखित पुस्तक "दि न्यू रियलिज़म" प्रकाशित हुई। इंग्लैंड में जी० ई० मूर (उसके 'फिलासिफिकल एस्सेज़' देखिए) तथा एस० एलेग्जेन्डर इस आन्दोलन के प्रतिनिधि हैं।

गत जगत् के सामान्य वास्तववाद सिद्धांत की ओर पुनः वापस आने का प्रतिनिधि है। ज्ञान किसी भी मानसिक स्थिति, प्रत्यय अथवा संवेदन की मध्यस्थता से नहीं होता। ज्ञान में वास्तविक चीज़ें सीधी ही प्रस्तुत होती हैं। जानने की क्रिया में ज्ञान की वस्तु कोई प्रत्यय अथवा संवेदन नहीं हुआ करती जिसे बाह्य वस्तु की छवि अथवा प्रतिनिधि समझा गया है, वरन् यह बाह्य वस्तु स्वयं ही हमारे समक्ष स्वतंत्र बाह्य सत्ता के रूप में आती है। जब हम किसी वस्तु से अवगत होते हैं, जैसे वृक्ष से, तो यह स्वयं वृक्ष ही होता है जिससे कि हम अवगत होते हैं; न कि उसे हम दृश्य, श्रव्य अथवा स्पर्श्य संवेदनों से जानते हैं। इसलिए नवीन वास्तववाद सभी प्रकार के विषयीनिष्ठवादों को रद्द कर देता है। वह इसका खंडन करता है कि ज्ञान प्राप्त करने वाला मनस् वस्तुओं का सृजन अथवा उनमें परिवर्तन करता है और इस प्रकार दर्शन को ज्ञानमीमांसा के चंगुल से छुटकारा देता है जिसने बहुत समय तक उस पर अत्याचार किए हैं। विषयीनिष्ठवाद के आतंक का विरोध करने से आरंभ होकर नवीन वास्तववाद एक ऐसा विलक्षण तथा कुछ प्रचंड-सा संप्रदाय विकसित हुआ है जो विषयीनिष्ठवाद तथा निरपेक्षवाद दोनों का ही विरोध करता है। यह ऐसा विश्वास नहीं करता कि जगत् ऐसी प्रकृति की कार्बनिक पूर्णता अथवा एकता है जिसकी वास्तविकता विश्लेषण करने से समाप्त हो जाएगी, वरन् वह विशेष विज्ञानों से सुपरिचित विश्लेषणात्मक प्रणाली के धुआंधार प्रयोग को प्रोत्साहन देता है और यह विश्वास करता है कि ऐसे विश्लेषण से ही वास्तविकता स्पष्ट होती है। इस तरह नवीन वास्तववाद सभी ऐसे रहस्यवादी दर्शनों तथा सभी प्रकार के अबौद्धिक रूपों का परित्याग करता है जो अंतःप्रज्ञा अथवा अकथनीय अंतर्दृष्टि पर आधारित होते हैं। यह इस सिद्धांत का खंडन करता है कि सारे संबंध आंतरिक होते हैं तथा संबंधों की बाह्यता को स्वीकार करता है, जैसे कि वस्तुओं की प्रवृत्ति निश्चित रूप से उन परिस्थितियों से निर्धारित नहीं होती जिनमें वे रहती हैं, वह अनेक वस्तुओं के साथ अनेक प्रकार के संबंध, उनको परिवर्तित किए बिना अथवा स्वयं उनसे परिवर्तित हुए बिना, रख सकती है। यदि कोई जानने वाला मनस् आ जाए तो जानी भी जा सकती है और इस ज्ञानात्मक संबंध से वह अप्रभावित रहती है।

पुनः नवीन वास्तववादियों के अनुसार संबंध न केवल बाह्य होते हैं, वरन् वे वस्तुगत भी होते हैं। वस्तुएँ उस मनस् द्वारा संबंधित नहीं होतीं जो उन्हें जानता है, वरन् जिन संबंधों में वे स्थित होती हैं वे वास्तविक होते हैं, ठीक उसी प्रकार वास्तविक तथा वस्तुगत जैसी कि स्वयं वस्तुएँ होती हैं। यदि जॉन जेम्स से अधिक लम्बा है तो न केवल जॉन वास्तविक है अपितु अधिक लम्बा शब्दों में जो संबंध व्यक्त होता है वह भी वास्तविक है। इसलिए एकतत्त्ववादी तथा द्वितत्त्ववादी सिद्धांतों की तुलना में बहुतत्त्ववादी जगत्-मत ही अधिक पसंद किया जाता है। अपने विभिन्न रूपों में वास्तविकता बहुत समृद्ध तथा बहुमुखी

होती है। हम सरलता से इसका प्रतिपादन नहीं कर सकते कि विश्व एक महान् व्यवस्थित एकता है और न ही दूसरी ओर यह प्रतिपादन कर सकते हैं कि वह मनस् अथवा पुद्गल के अन्यथा कुछ और नहीं है, क्योंकि अन्य कई वस्तुएँ भी वास्तविक हो सकती हैं--दिक् तथा काल के संबंध, तार्किक नियम तथा संभवत: नैतिक आदर्श भी। अत: अंत में यह विश्लेषणात्मक वास्तववाद एक प्रकार से प्लेटो के वास्तववाद के समीप आ जाता है जिसमें केवल भौतिक तथा मानसिक वास्तविकता का जगत् तात्त्विक सत्ताओं के जगत् के आधार पर और व्यापक हो जाता है। न्याय तथा सौंदर्य जैसे आदर्श संप्रत्यय भी इस संप्रदाय के कुछ सदस्यों के अनुसार पुन: वास्तविक सत्ताओं का स्थान ले लेते हैं।[1] इस प्रकार नवीन वास्तववाद, भौतिकवाद तथा द्वैतवाद दोनों से ही संगति नहीं रखता है और इस अध्यात्मवाद के चरम रूप से भी संगति नहीं रखता है जिसके अनुसार मनस् के अतिरिक्त किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता है।[2]

नवीन आलोचनात्मक वास्तववाद

वर्तमान समय की शक्तिशाली वास्तववादी प्रवृत्तियाँ एक और हाल के सम्प्रदाय **आलोचनात्मक वास्तववाद** के उद्भव में देखी जाती हैं। हम पहले बताए हुए पुराने रूप से भेद करने के लिए इसे **नवीन आलोचनात्मक वास्तववाद** कह सकते हैं।[3] इस आन्दोलन के प्रतिनिधियों ने बड़ी उत्सुकता से ज्ञान की स्थिति का विश्लेषण किया है और उन्होंने न केवल प्राचीन आदर्शवादी सिद्धन्तों के साथ वरन् नवीन वास्तववाद के परिणामों के साथ भी कठिनाई देखी। वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण इतना व्यवधान-रहित नहीं है जितना नवीन वास्तववादी उसे

---

1. सभी नवीन वास्तववादी वास्तविक सत्ताओं में नैतिक तथा सामाजिक आदर्शों को सम्मिलित नहीं करना चाहेंगे। उनका पद ठीक वैसा ही नहीं है जैसा तार्किक तथा समाज के क्षेत्र में उनकी वास्तविकता से भली प्रकार से प्रतिपादित किया जा सकता है। प्लेटो के दर्शन के इस भाग में निश्चय ही नवीन वास्तववाद से असंगत कोई भी बात प्रतीत नहीं होती। इस विषय पर चर्चा के लिए देखिए: *The New Rationalism, pp*. 344—521.

2. नवीन वास्तववाद के नियमों का संक्षिप्त विवरण प्राप्त करने के लिए देखिए:
   The New Realism, esp. Introduction, pp. 2—42,
   Perry, *Present Philosophical Tendencies*, chap. XII.
   Rogers, *English and American Philosophy Since 1800*, chap. VIII.
   Alexander, *Space, Time, and Deity*, vol. II, chap. IV.
   G. E. Moore, *Philosophical Studies*, chaps. I, II, V.

3. इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की सर्वश्रेष्ठ समीक्षा के लिए देखिए *Essays in Critical Realism* जो कई लेखकों द्वारा सम्मिलित रूप से तैयार हुई है। विभिन्न अध्याय ड्यूरेन्ट ड्रेक, आर्थर ओ० लवज्वाय, जेम्स बिसेट प्रेट, आर्थर के० रॉजर्स, जार्ज सान्तायना, राय वुड सेलर्स, तथा सी० ए० स्ट्रॉन्ग द्वारा लिखित हैं।

समझते हैं। अनुमान के अतिरिक्त हम इन्द्रिय-दत्तों के परे नहीं जा सकते हैं। जब हम किसी सिक्के को मेज पर पड़ा हुआ देखते हैं अथवा तीन फुट व्यास वाले चक्के को अपने नज़दीक से चलते हुए देखते हैं तब जो कुछ प्रत्यक्ष करने में हमें यथार्थ में प्राप्त होता है उस पर यदि हम सावधानी से ध्यान दें तो हम तुरन्त ही यह देखेंगे कि सिक्के अथवा चक्के का घूमना हम तत्काल ही नहीं देख पाते हैं और न ही वे अनेक अंग देख पाते हैं जिन्हें हम सिक्के अथवा चक्के में आरोपित करते हैं। अग्नि की गर्मी का प्रत्यक्षीकरण निश्चय ही अपरोक्ष रूप से नहीं होता क्योंकि अग्नि की दूरी के अनुसार गर्मी अलग-अलग होती है। सभी तरह के भ्रम तथा विभ्रम भी ऐसी कठिनाइयाँ प्रस्तुत करते हैं जिन्हें कोई सहज वास्तववाद हल नहीं कर सकता।

फिर भी आलोचनात्मक वास्तववादी एक **यथार्थ** वास्तववादी होता है क्योंकि वह दृढ़ता के साथ विषयीनिष्ठवाद तथा निरपेक्ष आदर्शवाद का खण्डन करता है। वह चीज़ों के वस्तुगत अस्तित्व को स्वीकार करता है, क्योंकि यह मत देखने में उचित तथा सामान्य बुद्धि के अनुरूप है और व्यवहार में कार्यगत होता है। किन्तु ऐसा वह ज्ञान की अपेक्षा "आस्था" के आधार पर स्वीकार करता है और इस दृष्टि से यह नवीन वास्तववादी से भिन्न है जो भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व स्वीकार करता है, क्योंकि ज्ञान ऐसी वस्तु तथा ज्ञान प्राप्त करने वाले मनस् के बीच का सम्बन्ध ही होता है।

वह क्या वस्तु है जो प्रत्यक्षीकरण में प्राप्त होती है यह प्रश्न बहुत दिनों तक विवाद का विषय रहा है और आलोचनात्मक वास्तववादी यथार्थ में बहुत दिनों तक इसमें व्यस्त रहा है। वह विषयीनिष्ठवादी से सन्तुष्ट नहीं रहा, ताकि वह रंग तथा ध्वनि जैसी चीज़ों को मनस् के संवेदन कह सके और न ही वह नवीन वास्तववादी तक जाने की इच्छा करता है जो उन्हें यथार्थ वस्तुओं के गुण मानता है। वह यह विश्वास नहीं करता कि बाह्य वस्तु यथार्थ में तथा तत्काल ही समझ में आ जाती है। बाह्य वस्तु अपने नग्न तथा क्रूर वास्तविकता के रूप में अनुभव में नहीं आती, अनुभव में केवल इन्द्रिय-दत्त ही विद्यमान होते हैं, और वे संसृष्टियाँ होती हैं जो यथार्थ में वस्तु के लक्षणों को स्पष्ट करती हैं, किन्तु उनमें अन्य अनेक तत्त्व सम्मिलित होते हैं, अर्थात् वे प्रत्यक्ष करने वाले मनस् तथा प्रत्यक्ष की जाने वाली वस्तु की प्रकृति भी परिलक्षित करते हैं।[1]

बाह्य वस्तु का अस्तित्व प्रत्यक्ष करने वाले मनस् से वास्तव में बिल्कुल स्वतन्त्र होता है, किन्तु यह "प्रत्यक्ष की दत्त सामग्री" से बहुत भिन्न "लक्षण-संसृष्टि प्रत्यक्ष" है, जिसकी ऐसी विशेषताएँ हैं जो बाह्य वस्तु में नहीं रहतीं। वह बाह्य वस्तु

---

1. तुलना कीजिए: Durant Drake. "The Approach to Critical Realism" in *Essay in Critical Realism.*

ही होती है जो प्रत्यक्ष करने वाले मनस् को वास्तव में यथार्थ वस्तु के गुणों, प्राथमिक गुणों को परिलक्षित करती हुई प्रतीत होती है, किन्तु उनमें अनेक गौण गुण भी सम्मिलित होते हैं जो प्रत्यक्ष करने वाले प्राणी के लक्षणों को भी परिलक्षित करते हैं। इसलिए आलोचनात्मक वास्तववादी इन्द्रियदत्तों अथवा प्रदत्त सामग्री को प्रत्यक्ष करने वाले मनस् तथा वस्तु के भौतिक अस्तित्व के बीच की चीज़ समझता है। इसलिए हम **दत्त सामग्री** अथवा **लक्षण-संसृष्टि** अथवा **तत्त्व** के विषय में बहुत कुछ सुनते हैं। मनस् स्वयं वस्तु के आधार के पास नहीं पहुँच सकता वह केवल **तत्त्व** अथवा **इन्द्रिय-दत्त** तक ही पहुँचता है।

अतः यह प्रतीत होता है कि जानने की स्थिति में तीन सत्ताएँ होती हैं: प्रथम प्रत्यक्ष करने वाला मनस् अथवा चेतन प्राणी; द्वितीय बाह्यवस्तु अथवा वह नग्न वास्तविकता, जिनमें वे प्राथमिक गुण होते हैं जिन्हें तत्काल नहीं समझा जा सकता, तथा तृतीय प्रत्यक्षीकरण के इन्द्रिय-दत्त, अर्थात् वह जो तत्काल ही इन्द्रियों को प्राप्त होता है जिसे **लक्षण-संसृष्टि** अथवा **तत्त्व** भी कहा जाता है। यह बाद वाली चीजें मानसिक नहीं हैं, और न ही वे प्रत्यक्ष करने वाले मनस् का कोई अंग हैं, और न बाह्य वस्तु का ही कोई अंग अथवा पहलू हैं, यह एक मध्यमवर्ती "तार्किक सत्ता" है।

ज्ञान की समस्या का यह विशेष हिस्सा निश्चय ही कठिनाइयों से भरा हुआ है तथा निःसंदेह किसी भी अन्तिम वास्तववाद को आवश्यक रूप से "आलोचनात्मक" प्रकार का होना चाहिए, किन्तु सम्भवतः कठिनाइयाँ अंततः इस मत की अपेक्षा कुछ "कम आलोचनात्मक" तथा और सरल वास्तववाद से भी हल हो सकती हैं, किन्तु यदि ऐसा है तो आलोचनात्मक वास्तववादियों द्वारा किया हुआ शोध कार्य अन्तिम परिणामों के लिए योगप्रद होगा।

उदाहरण के लिए, सन्तायना ने अपनी पुस्तकों **स्केप्टिसिज्म एन्ड एनिमल फेथ** तथा **दि रेल्म आफ़ एसेन्स** में "तत्त्वों" के विषय में बड़े रुचिकर रूप में बहुत कुछ लिखा है। किन्तु एक साधारण सीधे-साधे व्यक्ति को यह समझने में कठिनाई होती है कि वे क्या हैं। कोई यह व्यर्थ ही विश्वास करेगा कि सन्तायना का तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष करने वाला प्राणी भौतिक वस्तुओं से केवल उतना ही ग्रहण करता है जितना उसके लिए महत्त्वपूर्ण होता है—उसके लिए इसका तत्त्व एक इच्छुक प्रेक्षक है। किन्तु इन "तत्त्वों" में विद्वत्ता का एक रंग है तथा हम केवल इस पर आश्चर्य ही कर सकते हैं कि क्या हमें उनकी आवश्यकता है। यदि भौतिक वस्तुएँ वास्तविक हैं, तो वे किस रूप में दिखाई पड़ती हैं। इसकी कोई आवश्यकता नहीं, "तार्किक सत्ताओं" के रूप में उनका रूप जीव तथा वस्तु के मध्य तैरती हुई स्थिति के समान है। यह बात बिल्कुल स्वाभाविक प्रतीत होगी कि विभिन्न परिस्थितियों में—वे तथा यथार्थ वस्तुएँ विभिन्न प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करें। आलोचनात्मक वास्तववादियों के "तत्त्व" नवीन वास्तववादियों की 'तटस्थ सत्ताओं'—संभवतः उन

वस्तुओं का, जिनके विना हम कार्य कर सकते हैं—स्मरण कराती हैं।

यह बात निश्चय ही सत्य है कि, अग्नि की गर्मी का अनुभव, अनुभवकर्त्ता की अग्नि से दूरी के अनुरूप विभिन्न प्रकार का होता है; किन्तु अंतःप्रज्ञा के विषय की भाँति, यहाँ किसी रहस्यमय तत्त्व की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यहाँ पर वास्तविक बाह्य वस्तु दूरी के कारण परिवर्तित-गर्मी है। भूरे पत्तों का एक भाग रीछ की तरह देखा जा सकता है। किन्तु संवेदन करने वाला प्राणी किसी "तत्त्व" का सहज ज्ञान नहीं करता। वह भूरे पत्तों के भाग का अंतर्ज्ञान प्राप्त करता है तथा उसकी अपनी यान्त्रिक बनावट के कारण वह वैसी ही प्रतिक्रिया करता है जैसी वह रीछ के सामने करता है।

संभवतः कुछ इसी प्रकार से समस्या को हल किया जा सकता है। किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृति की उन्नत अवस्था में ही प्राणी ज्ञानात्मक अर्थों में सत्ता की समस्याओं में रुचि लेना आरम्भ करता है। अधिकांशतः प्राणी की रुचि उद्दीपन के प्रति उचित प्रतिक्रिया तक ही सीमित होती है। उसका प्रश्न होता है कि "यह अनुभव मुझे तथा मेरे हितों को किस प्रकार प्रभावित करता है ? उस का अर्थ क्या है ?" किन्तु मनुष्य के मामले में जब पाशविक जिज्ञासा वैज्ञानिक रुचि में विकसित हो जाती है तब प्रेक्षक मनस् वस्तुगत "सत्ता" के विषय में जाँच करता है और तब प्रेक्षक यह जानने की इच्छा करता है कि वस्तुगत जगत् वास्तव में कैसा है—अर्थात् आत्मगत रुचियों के बिना अंतर्ज्ञान करने पर वह प्रेक्षक को कैसा लगेगा–और वह ऐसा कहे जाने का विरोध करता है कि "आस्था" के अध्यक्ष जीवित सत्ता तक पहुँचने का मार्ग नहीं है, अथवा यह कि वह प्रपंच, "तत्त्वों" अथवा स्वयं अपने संवेदनों के ज्ञान में बहुत अधिक सीमित है। वह ऐसा अनुभव करता है कि वस्तुओं से उसका सीधा सम्पर्क है, अथवा कम से कम वस्तुओं के कुछ पहलुओं अथवा पक्षों के साथ है, और इस प्रत्यक्ष से न केवल यह स्पष्ट होता है कि उनका क्या अर्थ होता है, अपितु यह भी कि वस्तुएँ अपने हिस्सों में क्या हैं। हमारे समय का वास्तविकवादी आन्दोलन अपना बहुत-सा ज़ोर समाप्त करता हुआ प्रतीत होगा, यदि हम अन्त में बाह्य स्थित वस्तुओं तक अपनी पहुँच इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में न देखें। यह बाद वाली बात पुनः कान्ट की रहस्यमयी वस्तु स्वयं अपने आपमें *Ding an Sich* की भाँति खिसकती जाती है तथा उसे पकड़ने के सभी प्रयत्न विफल होते जाते हैं। अब यदि नवीन वास्तववादी की अपेक्षा आलोचनात्मक वास्तववादी की तार्किक स्थिति बेहतर हो तो यह उसके बहुत बड़े त्याग करने पर होगी क्योंकि वह अपने को वापस प्रत्ययवादी गुट में ही पाएगा।[1]

---

1. तुलना कीजिए: Bosanquet's, *Contemporary Philosophy*, chap. VII.

निष्कर्ष

सत्य तथा ज्ञान की प्रामाणिकता की सामान्य समस्या का अध्ययन करते हुए हमने वास्तववाद बनाम प्रत्ययवाद के मामले में प्रायः द्वन्द्वात्मक युक्ति का प्रयोग किया है। यहाँ निश्चय ही हमारा ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण हमें तत्त्वमीमांसा की ओर ले जाता है, किन्तु इस चर्चा में हमारी प्राथमिक रुचि ज्ञान के स्रोत तथा प्रामाणिकता में है। ऐसे अनेक प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण हैं जिन्हें हम छोड़ कर आए हैं, उदाहरण के लिए, अर्नस्ट केसिरर की कृति[1] को हमने छोड़ दिया है जो ध्यान देने की बात है। अपनी ज्ञानमीमांसा में उसने कान्ट की परम्परा का पालन किया है तथा उसे अनेक रूपों में आलोचनात्मक वास्तववाद की स्थितियों का पोषण करने वाला कहा जा सकता है। उसके सिद्धान्तों का परिचयात्मक दर्शनशास्त्र की इस पुस्तक में वर्णन करना इसके क्षेत्र के बाहर की बात होगी। लेकिन सरसरी तौर पर यह कहना आवश्यक होगा कि ज्ञानमीमांसा, विज्ञान का दर्शन, तथा अन्य क्षेत्रों में भी उसका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अभूतपूर्व है। इसमें रुचि रखने वाले छात्रों को उसे देख लेना चाहिए। अन्य छोड़ी हुई कृति **वीनर क्राइस** की पुस्तक **लॉजिकल पॉजीटिविज्म** है। इस संप्रदाय का संभवतः सबसे उत्कृष्ट प्रतिनिधि रुडोल्फ कारनेप[2] है, जो यह मानता है कि ज्ञान का क्षेत्र अनुभव में है, तथा अर्थपूर्ण महत्त्वपूर्ण प्रश्न वे होते हैं जो संभावित अनुभव के क्षेत्र में परिवर्तनशील उत्तरों को मान्यता देते हैं। यह निश्चय ही पारम्परिक तत्त्वमीमांसा को चुनौती देता है। ज्ञानमीमांसा का एक और बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त जिसकी यह मान्यता है कि समस्त वैज्ञानिक प्रश्न एक ही स्थान पर समाप्त होते हैं अतः भाषा का दार्शनिक विश्लेषण हमें ज्ञान को एक ही तार्किक व्यवस्था में घटाने में सहायक होगा। इस स्थिति का संपूर्ण विवरण हमारे वर्तमान क्षेत्र के बाहर है किन्तु विद्यार्थी हर्बट फीगल द्वारा रचित "लॉजिकल एनालिसिस ऑफ़ दि सायको फ़िजिकल प्राब्लेम"[3] को लाभार्थ पढ़ सकते हैं। इसमें इस दृष्टि के कुछ पूर्वानुमानों की प्रणालियों का विवरण दिया गया है। यह निर्धारण करना कठिन है कि क्या तर्कीय प्रत्यक्षवाद वास्तव में एक ज्ञानमीमांसात्मक स्थिति है। यह ज्ञानमीमांसा अथवा तत्त्वमीमांसा की अपेक्षा एक **प्रणाली** ही प्रतीत होता है जिसमें संप्रत्ययों के कठिन विश्लेषण पर बल दिया जाता है।

अब ज्ञानमीमांसा में एक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विषय बाकी रह जाता है, अर्थात् "अर्थक्रियावाद" जिसकी चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे।

---

1. देखिए उसकी पुस्तकें: *Substance and Function*, तथा *Philosophie der symbolischen Formen.*

2. उसकी पुस्तक देखिए: *The Unity of Science.*

3. *Philosophy of Science*, Vol. I, No. 4, Oct. 1934.

इस अध्याय से संबंधित संदर्भ

Gamertsfelder and Evans, *Fundamentals of Philosophy* (Prentice-Hall, Inc.), chap. VII.

Ralph Barton Perry, *Present Philosophical Tendencies* (Longmans, Green and Company), chap. XIII, "A Realistic Theory of Knowledge."

अन्य संदर्भ

G. P. Conger, *A Course in Philosophy* (Harcourt, Brace and Company), part 3.

J. A. Leighton, *The Field of Philosophy* (D. Appleton and Company), chaps. XII, XXI.

Bertrand Russell, *Our Knowledge of the External World (Scientific Method in Philosophy)* (Open Court Publishing Company), chap. III.

G. E. Moore, *Philosophical Studies* (Harcourt, Brace and Company), chap. I, "The Refutation of Idealism"; also chaps. II, V, VI, VII.

Durant Drake and others, *Essays in Critical Realism* (The Macmillan Company).

Edwin B. Holt and others, *The New Realism* (The Macmillan Company).

Sir James Jeans, *The New Background of Science* (The Macmillan Company), Revised edition, chap. I.

Durant Drake, *Mind and Its place in Nature* (The Macmillan Company), chaps. I, II.

Roy Wood Sellars, *The Philosophy of Physical Realism* (The Macmillan Company), chap. VII.

C. I. Lewis, *Mind and the World Order* (Charles Scribner's Sons).

अध्याय 25

अर्थक्रियावाद

वास्तविक जीवन का दर्शन

अर्थक्रियावाद एक नवीन दर्शन है और इसकी उत्पत्ति बीसवीं शताब्दी में हुई है। यह कोई नवीन दर्शन न होकर दार्शनिक समस्याओं तक पहुँचने की एक नवीन अभिवृत्ति अथवा प्रणाली है। अंग्रेज़ी भाषा का शब्द "प्रेगमेटिज़्म" यूनानी भाषा का है जिसका अर्थ **क्रियात्मक** अथवा **दक्षता** से कुछ मिलता-जुलता है। यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि यह सदा ही उस पर बल देता है जो कुछ व्यावहारिक, दक्ष, उपयोगी, फलित अथवा सन्तोषजनक है तो हम अर्थक्रियावाद की भावना को एकदम समझ सकते हैं।

इसलिए जब पाठक अर्थक्रियावाद के इस अध्याय पर पहुँचता है तो सम्भवतः वह कहेगा, "यह दर्शन मेरे लिए है! एक त्रुटि है जो मैं दर्शन में पाता हूँ, अर्थात् वह बहुत सैद्धान्तिक है, व्यावहारिकता से बहुत दूर है और बहुत तत्त्वमीमांसीय तथा विद्वत्तापूर्ण है। जो मुझे चाहिए वह है जीवन का दर्शन—व्यावहारिक जीवन का दर्शन।"

तो, अर्थक्रियावाद यही है। यह विशिष्ट रूप से जीवन का दर्शन है। जीवन वास्तविक है तथा वास्तविकता ही जीवन है। यह निश्चय ही मानव का दर्शन है और इसीलिए कभी-कभी इसे **मानवतावाद** भी कहते हैं। इसलिए जब दर्शन-शास्त्र मनुष्य के हितों का विज्ञान बन जाता है तथा वे वस्तुएँ जो मनुष्य के लिए महत्त्वपूर्ण हैं दार्शनिक अध्ययन का विषय बन जाती हैं, तो अनेक लोग कहेंगे कि अब दर्शनशास्त्र का पुनरुत्थान हो रहा है जिसकी बहुत दिनों से आवश्यकता थी।

अर्थक्रियावाद आधुनिक दृष्टिकोण वाला एक विशिष्ट दर्शन है। प्राचीन यूनानवासी, अपनी सौन्दर्यपरक विमर्शात्मक आदतों, अपनी गणितीय तथा खगोलीय रुचियों से सुसज्जित पूर्ण जगत् को समझाने की जिज्ञासा के साथ अर्थक्रियावाद की बहुत कम परवाह करते, जो एक कार्य करने, प्रयोग करने, प्राप्त करने तथा कठिनाइयों को पार करने का दर्शन है। अर्थक्रियावादी जगत् को पहले से ही बना-बनाया, पूर्ण, सुन्दर, योग्य, उसका ध्यान करने योग्य अथवा पूजनीय नहीं मानता, वह उसे बनाया जाने वाला अथवा बनाया हुआ जगत्

मानता है जो इसकी इच्छाओं अथवा अभिलाषाओं के आधार पर बनता है। परिणामस्वरूप जिस खगोलीय विश्व अथवा ब्रह्मांड के अन्तर में मौलिक विज्ञान घुसने का प्रयत्न करता है, उसमें अर्थक्रियावादी की रुचि नहीं रहती, उसका ध्यान तो मानव-जगत्, सामाजिक जगत् औद्योगिक जगत् तथा मानवीय क्रियाओं का जगत् आकर्षित करता है। जगत् का निर्माण हो रहा है और वह यह जानना चाहता है कि उसे और अच्छा कैसे बनाया जाए ताकि वह उसके हितों की रक्षा तथा भलाई के लिए उपयोगी बन सके।

प्रत्यय करणों के रूप में

इसके परिणामस्वरूप अर्थक्रियावादी के पास मनस्, प्रत्ययों तथा बुद्धि के विषय में नवीन तथा मौलिक अवधारणाएँ हैं। वह इन्हें कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अथवा कठिनाइयों तथा उलझनों को दूर करने के लिए **करण** मानता है। इसलिए अर्थक्रियावाद को प्रायः **करणवाद** भी कहा जाता है। आधुनिक मनुष्य करणों अथवा साधनों में बहुत रुचि रखता है; यह रुचि उसी समय से बराबर बढ़ रही है जब से आर्किमिडिज़ ने लीवर का आविष्कार किया है और जिसके द्वारा उसने शेखी बघारी थी कि वह विश्व को भी हिला देता यदि कहीं उसे अलग खड़े होने का स्थान मिल जाए। निश्चय ही आर्किमिडिज़ यूनानवासी था, परन्तु उस प्राचीन काल के यूनानवासी उसे समझ नहीं सके। वे जगत् को हिलाना नहीं चाहते थे, उसे स्थिर करना चाहते थे, पूरा करना चाहते थे तथा भोग करना चाहते थे।

परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के बाद से हम जगत् को हिलाना चाहते हैं और उसे हिलाने के लिए नए-नए औज़ारों का आविष्कार कर रहे हैं और स्वयं उसके चारों ओर जल्दी से जल्दी चक्कर लगाने के प्रयत्न कर रहे हैं। आधुनिक मानव उपकरण-निर्माता है और अर्थक्रियावादी ने इस आशय से लाभ उठाकर यह सोचा कि प्रकृति उपकरण-निर्माता है तथा विकास स्वयं प्रयोग की एक ऐसी प्रक्रिया है जो हमें ऐसे नवीन उपकरणों की खोज करने का संकेत करती है, जिनसे प्राणी अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर सके। बुद्धि स्वयं एक ऐसा ही उपकरण अथवा साधन है जो प्रकृति के विकास के प्रयोगों का परिणाम है। यहाँ तक कि दर्शनशास्त्र स्वयं ही अपने आपमें अब अन्त अथवा अन्तरंग महत्त्व और प्रतिष्ठा का नहीं माना जाता वरन् उसे भी सामाजिक हित के लिए एक उपकरण माना जाता है।[1]

एक कठिनाई

यह सब बहुत आनन्ददायक प्रतीत होता है। यह दर्शनशास्त्र का ताज़ा व नवीन मत है जिसमें विलक्षण व्यावहारिक संभावनाएँ हैं। किन्तु यह सम्भव है कि

1. तुलना कीजिए, Dewey, *Reconstruction in Philosophy*, p. 124.

हमारे पहले दावे को संदेह की परछाईं में देखा जाए। यह बात कुछ उलझन पैदा करने वाली है। इसका कारण यह है कि अब तक हम दर्शनशास्त्र को बिल्कुल ही भिन्न ढंग से देखते रहे हैं। हम उसे ज्ञान तथा सत्य की खोज और जगत् को समझने का प्रयत्न करने वाला विज्ञान ही समझते रहे। हम उसे ज़्यादातर विज्ञान ही समझते रहे जो बिल्कुल उदासीन भाव से चीजों का आलोचनात्मक परीक्षण तथा उनकी व्याख्या करता है। उनकी व्याख्या करने से हमारा तात्पर्य उनका मूल्यांकन करना, किसी **उद्देश्य** से नहीं, वरन् आपस में एक का दूसरे से तथा उनका पूर्ण से सम्बन्ध देखना था। अत: इन "हितों", "व्यावहारिक उपयोगिताओं", "सन्तोषों" और "फलों" के बलात् प्रवेश हो जाने से उलझन पैदा हो गई है। निश्चय ही, मनुष्य के हितों, मूल्यों तथा सन्तोषों का अध्ययन एक बहुत आकर्षक विषय है, ठीक वैसा ही आकर्षक जैसा कि **व्यावहारिक विज्ञान**, जो कि व्यावहारिक मानवीय समस्याओं पर सैद्धान्तिक विज्ञान का प्रयोग करता है, तथा जिसने धन-वैभव, पद और सुख के पीछे भागने वाले एक विशाल जनसमूह का ध्यान आकर्षित किया है, किन्तु हमने दर्शन को कभी इस रूप में नहीं देखा।

यदि यहाँ वास्तव में कोई कठिनाई हो तो भी हमें इस समय नज़रअंदाज़ कर देनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि क्या हम इस नवीन आन्दोलन की अंतरात्मा को पकड़ सकते हैं। यह दर्शन निश्चय ही बहुत प्रसिद्ध हो गया है और हम चारों तरफ जेम्स डिवी तथा उनके शिष्यों के नाम सुना करते हैं। अर्थक्रियावाद चाहे सच्चा दर्शन हो अथवा न हो किन्तु वह महत्त्वपूर्ण अवश्य है और एक अर्थक्रियावादी के लिए उसका महत्त्वपूर्ण रहना ही उसके सत्य होने का प्रमाण है, चाहे अन्त में हम उसके मूल्य के विषय में कुछ भी निष्कर्ष निकालें। हमें इस तथ्य को स्वीकार करना चाहिए कि दर्शनशास्त्र के ऊपर सामान्यत: इसका बहुत अच्छा प्रभाव रहा है और यह दर्शन को अनेक शाब्दिक सूक्ष्मताओं तथा रहस्यपूर्ण अपकर्षणों से छुटकारा दिलाता है और व्यावहारिक ज्ञान को सुदृढ़ तथ्यों के संकुचित मार्ग की ओर आगे खिसकाता है।

उपागम का मार्ग

पाठक के लिए जेम्स की पुस्तिका **प्रेगमेटिज्म** अध्ययन आरम्भ करने के लिए अच्छी होगी। इस समस्त आन्दोलन की तीव्र प्रगति अधिकांशत: जेम्स द्वारा उसकी सशक्त रूप से सुरक्षा करने से हुई है।[1] इसने वास्तविक मनुष्य को वास्तविक भाषा में भाषण दिया जिसे सभी लोग समझ सकते थे। वे कहते थे कि

1. जिस मूल सिद्धान्त पर अर्थक्रियावाद आधारित है उसका "श्रेय" चार्लस पियर्स को दिया जाता है, जिसने "पापुलर साइंस मंथली' नामक पत्रिका में एक लेख "हाउ टु मेक अवर आइडियाज क्लियर" लिखा था।

यह तत्त्वमीमांसा नहीं है। यह आनन्ददायक तथा दुःखदायक दोनों ही के विषयों में स्पष्ट तथा नग्न सत्य है। यह एक अच्छे लोकतंत्रीय दर्शन के समान प्रतीत होता है।

यदि अर्थक्रियावाद का सफलतापूर्वक आरम्भ जेम्स के चटपटे प्रभावशाली भाषणों तथा लेखों, जिनके लिए उसमें सहज-प्रवृत्ति थी तथा उसके धार्मिक और रहस्यपूर्ण रुचियों को समाप्त करने के कारण था, तो अमरीका में इस आन्दोलन को निरन्तर शक्ति डिवी की द्वन्द्वात्मक बुद्धि से प्राप्त हुई है, जो उसके शैक्षिक सुधारों तथा सामाजिक सुधारों से व्यापक रूप से सम्बन्धित है और उसका श्रेय डिवी को ही है। डिवी के साथ ही अर्थक्रियावाद **तार्किक सिद्धान्त के अध्ययन** का रूप ले लेता है जो ज्ञान तथा सत्य के करण-सिद्धान्त की ओर ले जाता है जिसे **करणवाद** भी कहा जाता है। इंग्लैंड में इसका सबल प्रतिपादन एफ० सी० एस० शिलर ने किया जिसके साथ यह **मानवतावाद** का रूप ग्रहण कर लेता है।

एक पुस्तक **क्रियेटिव इन्टेलिजन्स** नामक उत्तेजक शीर्षक से 1917 में प्रकाशित हुई और उसने अर्थक्रियावाद के सिद्धान्तों को दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र, गणित, भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, कला तथा धर्म के क्षेत्रों में प्रयोग किया। यह पुस्तक डिवी, मूर, ब्राउन, मीड, बोडे, स्टुअर्ट, टफ्ट्स, तथा कैलन ने मिल-जुलकर लिखी है।

अर्थक्रियावाद तथा धर्ममीमांसा

हालाँकि धर्म की अभिरुचियाँ सामान्यतः "सख्त मिज़ाज" वाले इन्द्रियानुभववाद, जो अर्थक्रियावाद का जनक है, की अपेक्षा "नाजुक मिज़ाज" वाले तर्कबुद्धिवाद के साथ ही जोड़ी जाती हैं, फिर भी यह देखा गया है कि अर्थक्रियावाद का धर्म से बहुत सामीप्य है और वह धार्मिक कार्यकर्त्ताओं तथा विचारकों द्वारा व्यापक रूप से अपनाया गया है। इसका कारण यह है कि वह जीवन के साहसपूर्ण तथा प्रयत्नशील पक्ष पर, आस्था को स्वीकार करने, तथा विश्वास करने के संकल्प पर बल देता है। इसके साथ ही धर्म के मनोविज्ञान की प्रचलित रुचि में उसका हिस्सा रहना भी एक कारण है। अभी तक धार्मिक विश्वासों का सैद्धान्तिक सत्य ही हमारा ध्यान आकर्षित किए हुए था। अर्थक्रियावाद कहता है कि व्यवहार में धर्म कार्य करता है, और जो कार्य करता है वह ही सत्य होता है। जैसा शिलर संकेत करता है, विज्ञान भी विचित्र प्राक्कल्पनाओं तथा सिद्धान्तों को प्रयोग द्वारा सिद्ध करने के लिए सामने रखकर आस्था के लिए साहसिक प्रयत्न करता है।[1] जेम्स कहता है, "जगत् को धार्मिक

1. देखिए: F. C. S. Schiller, *Studies in Humanism*, p. 361.

रूप में देखने पर पता लगता है कि हमारी भावावेशात्मक आवश्यकता इस साहस को न्यायोचित बताती है। इस आशा के सामने झुक जाना बेहतर है कि धर्म सत्य हो सकता है, बनिस्बत इस भय के कि धर्म असत्य है, क्योंकि हमें किसी भी एक के सामने झुकना ही होगा।"[1]

अतः अर्थक्रियावाद बहुतत्त्ववादी तथा संकल्पात्मक है। वह अनिश्चयवाद, नाममात्रवाद तथा उपयोगितावाद की ओर झुका होता है। वह विकासवादी तथा प्रकृतिवादी है। प्रत्यक्षवाद तथा इन्द्रियानुभववाद के साथ इसकी बहुत घनिष्ठ समानता है। यह तर्क-बुद्धिवाद विरोधी, तथा प्रभावयुक्त बौद्धिकतावाद विरोधी है और इसलिए मूलतः इन्द्रियानुभाविक है, जेम्स ने रंगीन भाषा में इसे "सख्त मिज़ाज" भी कहा है। अंततः यह वृत्ति धर्म के साथ सरलता से मेल खाती है।

अर्थक्रियावाद एक प्रणाली के रूप में

अर्थक्रियावाद एक दर्शन की अपेक्षा एक अभिवृत्ति तथा आन्दोलन है। यथार्थ में वह दार्शनिक तंत्रों को बहुत गहन संशय से लेता है। यह एक प्रकार की "ड्योढ़ी" के रूप में है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति दार्शनिक अध्ययनों तक पहुँच सकता है। यह चिंतन करने की एक अभिवृत्ति तथा आदत है—एक ऐसी आदत जो प्रथम सिद्धान्तों की अपेक्षा आगे के परिणामों की ओर दृष्टि रखती है। प्रत्येक बात को उसके फलों अथवा परिणामों से आंका जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ऐसा कोई भी प्रत्यय, सिद्धान्त अथवा विवाद जो हमारे लिए व्यावहारिक परिणामों **में अन्तर नहीं लाता** उसका महत्त्व हमारे लिए तुरन्त ही समाप्त हो जाता है। उन्हें मात्र समाप्त कर दिया जाता है, उनका परीक्षण नहीं किया जा सकता। इसलिए अनेक प्राचीन विवाद, सिद्धान्त, प्राक्कल्पनाएँ तथा तंत्र नष्ट हो जाते हैं; वे इस दृढ़ अर्थक्रियावादी परीक्षण के समक्ष लुप्त हो जाते हैं। **वे कोई अन्तर नहीं लाते।**

> अर्थक्रियावादी व्यावसायिक दार्शनिकों की बहुत सी पुरानी तथा प्रिय आदतों की ओर दृढ़ता से मुख फेर लेता है। वह विविक्त विचारण तथा अपर्याप्तता से, शाब्दिक समाधानों से, अशुभ प्रागनुभविक तर्कों से, निश्चित नियमों से, संकीर्ण तन्त्रों से, तथा कृत्रिम निरपेक्षों तथा मूल वस्तुओं से दूर रहता है। वह सत्यता तथा पर्याप्तता की ओर, तथ्यों की ओर, तथा क्रिया तथा शक्ति की ओर उन्मुख होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि इन्द्रियानुभववादी ने शासक स्वभाव तथा तर्कबुद्धिवादी स्वभाव को गम्भीरता से त्याग दिया है। इसका अर्थ है कि खुली हवा, पूर्वग्रह,

1. *The Will to Believe*, [illegible] अध्याय में।

कृत्रिमता तथा सत्य में अन्तिमता की बनावट की अपेक्षा प्रकृति की सम्भावनाओं की ओर जाना।[1]

प्रत्येक वस्तु गतिमान तथा परिवर्तनशील है

प्राचीन दर्शनशास्त्र में कुछ प्रत्ययों के विषय में बहुत चर्चा है, जैसे ईश्वर, पुद्गल, तर्क, परम तत्त्व तथा आत्मा। ये प्रत्यय अन्तिम थे और हमने यह अनुभव किया कि हम उनमें ही आश्रय ले सकते थे। किन्तु अर्थक्रियावादी उनके विषय में ऐसी वृत्ति नहीं रखता, वह आश्रय नहीं लेना चाहता। वह उनके नकद मूल्य के विषय में जाँच करता है। वह उन्हें कार्य में लगाएगा और देखेगा कि उनसे क्या परिणाम निकल सकते हैं। यदि वे कार्य नहीं कर पाते तो वे सत्य नहीं हैं। "अर्थक्रियावाद हमारे समस्त सिद्धान्तों में ढील छोड़ देता है, उन्हें अलग कर देता है तथा उनमें से प्रत्येक को कार्य में लगा देता है।" यथार्थ जीवन में हमें कुछ निश्चित ठोस स्थितियों से सामना करना होता है और उन स्थितियों का सामना और हल उनमें अपने गुणों पर ही आधारित होता है न कि अमूर्त्त परम्परागत नियमों पर। जीवन एक ऐसी भूलभुलैयाँ है, जिसमें हम अच्छी से अच्छी तरह बढ़ने का प्रयत्न करते हैं और जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाते हैं, रास्ता खोजते जाते हैं। जिन उत्तरों से पहले परिस्थितियों को हल कर दिया जाता था वे इसको हल नहीं करेंगे। प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है, बढ़ती है, और विकसित होती है; कुछ भी निश्चित, स्थिर, तथा अन्तिम नहीं है।

यहाँ तक कि नैतिक नियमों में भी परिवर्तन होता है, उनका विकास होता है, और पूर्णता आती है। कोई भी नैतिक नियम नियत तथा अन्तिम नहीं होते, वास्तविकता का निर्माण हा रहा है, हम और आप उसका निर्माण कर रहे हैं। भविष्य का मार्ग खुला हुआ रास्ता है वह किसी विधि से वांछित अथवा नियमित से सीमित नहीं तथा किसी भी प्रागनुभविक विचार के नियमों से निर्धारित नहीं होता। वास्तविकता अनुभव के प्रवाह में होती है। जगत् किसी पूर्व-निश्चित लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ रहा है, जैसे-जैसे चोटियाँ सामने दिखाई पड़ती जाती हैं, वैसे उन्हें पार किया जाता है। आगे क्या होता है यह निश्चित नहीं है वरन् जो हो चुका है उसके अनुसार ही होता है। जीवन समस्याओं की शृंखला है जिसे सुलझाना है वह वास्तविक कठिनाइयों के साथ वास्तविक संघर्षों का ताँता है। **चिन्तन** करने का तात्पर्य है इन समस्याओं का प्रभावकारी रूप से सामना करना—तथा प्रत्यय हल करने में सहायक उपकरण होते हैं।

वास्तविकता अस्थिर, परिवर्तनशील, तथा विकासशील है। ईश्वरकृत, पूर्ण जगत्, जो न्याय के शाश्वत सिद्धान्तों अथवा शाश्वत गणितीय नियमों द्वारा

---

1. William James, *Pragmatism* (Longmans, Green and Company), p. 51.

संचालित हो, मात्र कल्पना अथवा मानसिक चित्र है। लायबनित्स का यह सिद्धान्त कि यह जगत् समस्त सम्भावित जगतों से श्रेष्ठ है, ग़लत है। वास्तविक जगत् वास्तविक अनुभव का जगत् है। जेम्स इसकी पुष्टि में एक ऐसे मनुष्य का दृष्टान्त देता है जिसे कि पत्नी तथा छः बच्चों का भरण-पोषण करना हो। वह मनुष्य बेरोज़गार था, रोज़गार के लिए व्यर्थ में इधर-उधर भटक कर वापिस लौट आया। घर आने पर उसने अपने परिवार को भूख से पीड़ित पाया और साथ ही दरवाज़े पर मकान को खाली करने की चेतावनी भी चिपकी हुई देखी। उसने कार्बोलिक अम्ल खाकर आत्महत्या कर ली। यह वास्तविकता का ही रूप है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वास्तविकता खराब है, वास्तविकता मात्र अनुभव है और यह अनुभव का ही एक भाग है।

अर्थक्रियावाद की अन्तरात्मा यौवन, साहस तथा प्रयोग करने की अन्तरात्मा है। भाग्य तथा प्रारब्ध के विषय में सुस्त बातों के लिए उसके पास धैर्य नहीं है, कोई भी ऐसे दार्शनिक विचार सत्य नहीं होते जो किसी न किसी व्यावहारिक उपयोग में नहीं लाए जा सकते। इन शब्दों को लीजिए, जैसे **ईश्वर, स्वतन्त्र, संकल्प** अथवा **रचना**। जेम्स कहता है कि व्यावहारिक महत्त्व के अलावा उनके पास कुछ नहीं है। "हालाँकि स्वयं अपने आपमें अथवा बौद्धिक दृष्टि से वे काले हो सकते हैं तो भी जब हम उन्हें अपने साथ जीवन की झुरमुटों में रखते हैं तब हमारे चारों ओर कालापन हलका होता जाता है। यदि आप ऐसे शब्दों के साथ यह विचार करते हुए व्यवहार करना स्थगित कर दें कि यह बौद्धिकता की चरम सीमा है तो आप कहाँ हैं? किसी इन्द्रजाल को मूर्खतापूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं। केवल अर्थक्रियावाद ही उन्हें समृद्ध अर्थ प्रदान कर सकता है। ईश्वर स्वर्ग में है और जगत् में सब ठीक है।"

अतः अर्थक्रियावाद आशा तथा आश्वासन देने वाला, आगे देखने वाला दर्शन है। जेम्स पुनः कहता है कि जड़वाद तथा आदर्शवाद के प्राचीन द्वन्द्व को ही उदाहरण के लिए ले लीजिए। स्वयं अपने आपमें इन विरोधी सिद्धान्तों का कोई महत्त्व नहीं है। मान लीजिए इस जगत् का कोई भविष्य नहीं है, और यह अभी समाप्त हो रहा है। इससे इसमें क्या अन्तर पड़ने की सम्भावना है कि वह अंधी यान्त्रिक ऊर्जाओं की उत्पत्ति है अथवा सजीव दैविक आत्मा की? कुछ भी नहीं; प्राचीन द्वन्द्व समाप्त हो चुका है। किन्तु अर्थक्रियावादी के लिए, मान लीजिए कि जगत् का भविष्य अनिश्चित है। तब वास्तव में, इसमें आवश्यक अन्तर पड़ जाएगा कि हम जड़वादी हैं अथवा आदर्शवादी। क्योंकि जड़वाद के अनुसार वे अंधी शक्तियाँ, निश्चय ही उस जगत् को नष्ट कर देंगी जिसका वे निर्माण करती हैं। हमें यदा-कदा उस मृत जगत् की ओर भी देखना चाहिए जिसमें से सभी आशाओं का लोप हो चुका है, तथा जिसके सभी आदर्श नष्ट हो चुके हैं। किन्तु यदि आदर्शवाद सही है और यदि स्वर्ग में ईश्वर का अस्तित्व

है, तो किसी न किसी तरह शुभ का अस्तित्व बना रहेगा, हमें एक आदर्श व्यवस्था का आश्वासन प्राप्त है जो स्थायी रूप से बना रहेगा।

यहाँ तक तो अर्थक्रियावाद अत्यन्त उत्साहवर्धक दिखाई पड़ता है, वह जीवन को एक दर्शन तथा गति प्रदान करता है अन्य दर्शनों में जिसकी कमी पाई जाती है। जब दर्शन को इस व्यावहारिक जगत् पर लाया जाता है और उसे कार्य में लगा दिया जाता है तो इसे देखकर प्रसन्नता होती है। यह जानकर संतोष होता है कि हमारे समस्त अनुभव वास्तविकता के विभिन्न अंग हैं। किन्तु यह सब तो केवल दर्शन तक **पहुँचने** का तरीका है—मात्र एक प्रणाली है। हम यह जानने के लिए उत्सुक हैं कि सामान्यतः दर्शन में अध्ययन की जाने वाली बातों, अर्थात् सत्ता, ईश्वर, आत्मा, प्रयोजन, कारणता, ज्ञान, विकास तथा आचरण के विषय में अर्थक्रियावादी वास्तव में क्या विश्वास करता है।

मुझे भय है कि इन प्रश्नों का जो उत्तर अर्थक्रियावादी देता है उससे हमें कुछ निराशा होगी। उसका प्रयोजन ही यह है कि इनमें से कुछ समस्याओं से रुचि हटाकर कुछ अन्य व्यावहारिक महत्त्व की बातों की ओर लगाई जाए। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि अर्थक्रियावाद एक प्रणाली का सिद्धान्त है—विश्व की उत्पत्ति का नहीं; और अर्थक्रियावादियों ने जहाँ भी तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में घुसने का साहस किया है उन्होंने ऐसा प्रायः इसीलिए किया है कि वे अपनी प्रणाली को समझाने के लिए दृष्टान्त ढूँढ़ सकें। उनसे जगत् के सामान्य दर्शन की माँग करना उनके द्वारा दिए गए आश्वासन से अधिक की माँग करने के बराबर है, किन्तु कम से कम प्रथम दृष्टि में तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनके उत्कट अनुभववाद के सिद्धान्त में उन्होंने तत्त्वमीमांसा में प्रवेश कर वास्तविकता क्या है यह बताने का प्रयास किया है। हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए।

उत्कट इन्द्रियानुभववाद

यह विचार कि दर्शनशास्त्र केवल यथार्थ अनुभव तक ही सीमित है, जेम्स के **उत्कट इन्द्रियानुभववाद** का तथा डिवी के **अव्यवहित इन्द्रियानुभववाद** का रूप लेते हुए हमें अर्थक्रियावाद के प्रमुख सिद्धान्त की ओर ले जाता है। जो विकृतियाँ कालान्तर में एकत्र हो गई हैं यदि दर्शन को उनसे रहित होना है, यदि उसे ठोस, महत्त्वपूर्ण तथा वास्तविक बनना है तो उसे कुछ **यथार्थ** वस्तु से आरम्भ करना चाहिए, और अव्यवहित इन्द्रियानुभव ही एक मात्र यथार्थ वास्तविकता है। जड़ और चेतन, शरीर और आत्मा, विषय और विषयी, चिन्तन अथवा आचरण के प्रागनुभविक नियम—सभी बहुत दूर, बहुत अमूर्त्त तथा बहुत अवास्तविक हैं। दर्शनशास्त्र का आरम्भ इनसे नहीं किया जा सकता। सम्भवतः इनसे कोई सम्बन्ध ही नहीं हो सकता। उसका ताल्लुक केवल अनुभव से है, यह जगत् शुद्ध अनुभव का जगत् है। इस प्रकार की अभिव्यक्तियों ने निश्चय ही इस आरोप के लिए

स्थान कर दिया है कि अन्तोगत्वा अर्थक्रियावाद ने तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में प्रवेश कर ही लिया और वास्तविकता का सिद्धान्त भी घोषित किया। हालाँकि उन पर विषयीनिष्ठ होने का आरोप भी कई बार लगाया गया है और उनकी रचनाओं में कई स्थानों पर इसके अलावा कोई और व्याख्या नहीं होती फिर भी वे बर्कले की किस्म के विषयीनिष्ठवाद का घोर खंडन करते हैं और मनुष्य के अनुभववाद के परे जगत् की वास्तविकता के विषय में बराबर ही वास्तविकतावादी तथा साधारण रूप में चर्चा करते हैं।[1]

मैं यह समझता हूँ कि जहाँ तक जेम्स का सवाल है उसका यह तात्पर्य नहीं था कि समस्त वास्तविकता अनुभव ही है किन्तु यह कि "दार्शनिक जिन बातों की चर्चा करेंगे वे ऐसी बाते होंगी जिनकी व्याख्या अनुभव की शब्दावली में की जा सकेगी।" उसका संबंध अनुभव के विश्लेषण करने की समस्या के साथ यह दर्शाने के लिए था कि वह प्रागनुभविक कोटि द्रव्य-आत्मा अथवा सत्ता के रूप में चेतना को सम्मलित नहीं करता। वह प्राचीन विषय तथा विषयी, और मनस् तथा शरीर द्वन्द्व से बच निकलने के लिए बहुत व्यग्र था। इन सभी विरोधों को हल करने के लिए आध्यात्मिक क्षेत्र अथवा शुद्ध तर्क के क्षेत्र से किसी मिलाने वाले उच्चतर कारक को नहीं लाना है। यदि हम इन विभिन्न विरोधों को मात्र उन वास्तविक सम्बन्धों के विभिन्न प्रकार मानें जिनका अस्तित्व अनुभव की शब्दावली में यथार्थ में होता है तो ये कठिनाइयाँ लुप्त हो जाती हैं। इस उत्कट इन्द्रियानुभविक दृष्टिकोण से तो मानसिक तथा भौतिक का प्राचीन द्वन्द्व भी समाप्त होता है क्योंकि वह उस संदर्भ पर आश्रित होता है जिसमें शुद्ध अनुभव का तटस्थ उपादान होता है चाहे उसे मानसिक कहें अथवा भौतिक।

अंत में यह दुर्भाग्यपूर्ण प्रतीत होता है कि अर्थक्रियावादी इस बात पर बल देते हैं कि समस्त अनुभव ही वास्तविकता है। इससे बहुत ग़लतफ़हमी उत्पन्न हो गयी है। उसकी समस्या तत्त्वमीमांसीय होने की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक तथा ज्ञानमीमांसीय है। वे शुद्ध अनुभव के विश्लेषण के द्वारा यह दर्शाना चाहते हैं कि ज्ञान में क्या निहित होता है तथा क्या निहित नहीं होता। किन्तु व्यक्ति इन क्षेत्रों के बिल्कुल बाहर भी वास्तविकता के क्षेत्रों में रुचि रख सकता है और वह यह भी मानने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं कि इस शब्द के किसी भी अर्थ

---

1. अर्थक्रियावाद आदर्शवादी तथा विषयीनिष्ठवादी है अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में एक लम्बा निरर्थक विवाद दार्शनिक पत्रों में होता रहा है। इसका परिणाम यह प्रतीत होता है कि मूल अर्थक्रियावाद में ऐसा कुछ भी नहीं है जो जगत् के वास्तववादी मत के प्रतिकूल हो। इसके तर्कों का संक्षिप्त तथा स्पष्ट विवरण डब्ल्यु० पी० मान्टेग्यु द्वारा लिखित चार लेखों में देखा जा सकता है जो 'जर्नल ऑफ़ फिलासफी, साइकोलॉजी, एन्ड साइंटिफिक मेथड' में प्रकाशित हुए। किन्तु मान्टेग्यु के विचार से अर्थक्रियावाद का "सत्य सिद्धांत" वास्तववाद के साथ संगत नहीं है।

में अनुभव ही वास्तविकता है।

करणवाद

अर्थक्रियावाद के एक और प्रकार **करणवाद** पर एक बार पुन: दृष्टिपात करने से हमें यह समझने में सहायता मिलेगी कि अनुभव पर इतना बल क्यों दिया जाता है। करणवादी जीव-विज्ञानविद् तथा विकासवादी होता है। उसे यह दर्शाने में रुचि होती है कि विकासात्मक आन्दोलन में ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है और यह संकेत करने में भी कि बुद्धि का कार्य क्या होता है। इसलिए वह पहले से ही प्राणी की उपस्थिति, अपनी आवश्यक रुचियों तथा जीने के संकल्प के साथ स्वीकार कर लेता और वह प्राकृतिक शक्तियों के साथ वास्तविक पर्यावरण की उपस्थिति भी पहले से ही मान लेता है। इसलिए प्राणी का भौतिक तथा सामाजिक पर्यावरण के साथ सम्पर्क होना ही अनुभव है।[1] ये प्रश्न कि प्राणियों का अस्तित्व क्यों है, वे किस वस्तु से निर्मित हैं, वे प्राणी क्यों हैं, वे क्यों स्वयं अपने जीवन के लिए तथा अपनी सन्तति के प्रसार के लिए संघर्ष तथा इच्छा करते हैं और उनके अपने ही क्षेत्र के ये प्रश्न हैं; और चूंकि अर्थक्रियावादी अपनी ही ज्ञानमीमांसा के सिद्धान्त में जैविक आवश्यकताओं पर इतना बल देते हैं, अत: व्यक्ति इन जैविक आवश्यकताओं के और अधिक गहन रूप से स्थापित न होने के कारण अधीरता का अनुभव करता है।

तब करणवादी प्राणी तथा उसकी आवश्यकताओं को पहले से ही स्वीकार करते हुए अनुभव के विश्लेषण द्वारा यह दर्शाता है कि चिन्तन, विमर्शात्मक चिन्तन, बुद्धि, प्रत्यय तथा संप्रत्यय जैसी वस्तुएँ कैसे समझाई जा सकती हैं। वह यह दर्शाता है कि पर्यावरण की शक्तियाँ व्यक्ति के हित के लिए कभी सहायक तथा कभी विरोधी होती हैं। इसलिए इस विरोध को नियन्त्रित करने तथा पर्यावरण को उसके अपने हित के लिए ढालने में लगाया जाता है, उसे शुभ को प्राप्त करना चाहिए और अशुभ को टालना चाहिए। ऐसे साहसिक कार्य में स्मृति, कल्पना, मनन तथा चिन्तन अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करने में बहुत अमूल्य उपयोग के सिद्ध होंगे तथा डार्विन के नियम के अनुसार उन्हें बढ़ावा दिया जाएगा और उनकी रक्षा की जायगी। चिन्तन करना निश्चित वस्तुगत जगत् का द्विगुणन करना अथवा उसका प्रतिरूप बनाना नहीं है, वरन् उसके साथ प्रयोग करने की, उसे परिवर्तित करने की तथा व्यक्ति की महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं के अनुसार उसे ढालने की प्रक्रिया है।

हमें अनुभव को किसी मनोवैज्ञानिक सत्ता अथवा आत्मा या अंतरात्मा अथवा चेतना जैसा विषय नहीं समझना है। बल्कि वह जीव की पर्यावरण के

---

1. देखिए: *Creative Intelligence*, pp. 7 ff.

साथ अन्योन्य क्रिया है। प्रत्यय मनोवैज्ञानिक सत्ताएँ अथवा वस्तुगत वास्तविकता के विषयीनिष्ठ प्रतिनिधि नहीं हैं, वे जीव की झुर्रियों तथा उनके संताप के सन्दर्भ में भविष्य के परिणामों का ध्यान रखते हुए कार्यों की योजना हैं। भविष्य के परिणामों के साथ सतत प्रतिक्रियाओं को संगठित करने की क्षमता मात्र ही बुद्धि का अर्थ है।

> बुद्धि की प्रक्रिया कुछ ऐसी होती है जो निरन्तर चलती रहती है, हमारे मनों में नहीं, वरन् वस्तुओं में; यह सृजनात्मक होती है, तस्वीरी नहीं। सरलतम प्रत्यक्ष से लेकर सबसे आदर्श महत्त्वाकांक्षा अथवा विभ्रम तक हमारा अनुभव वास्तविक होता है और निर्देशन अथवा बर्ताव के नियन्त्रण में व्यस्त होता है। अनुभवगत होने पर वस्तुओ में परिवर्तन आता है किन्तु यह परिवर्तन किसी कार्य को करने, कर्त्तव्य पालन करने में निहित होता है; इसलिए अनुभवशील वस्तु प्रतिक्रिया के साथ परिवर्तित होती है, परिस्थिति तथा प्रेरक क्रिया टूटे हुए कटोरे के हिस्सों की भाँति जमकर बैठती है।
>
> मनोविज्ञान की व्याख्या पर इस दृष्टिकोण का आधार तत्काल स्पष्ट है। यदि यह मान लिया जाए कि चेतना केवल ऐसे व्यवहार का नाम है जो ऐसे कार्यों के परिणामों द्वारा निर्देशित होता है जो अभी तक किए नहीं गए हैं किन्तु अनुभव की वस्तु में पहले ही परिलक्षित हो गए हैं, तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह व्यवहार मनोविज्ञान की विशेष विषयवस्तु है।[1]

उद्देश्य तथा द्वन्द्व

अर्थक्रियावादी मनोविज्ञान में दो बातें प्रमुख रूप से सामने आती हैं; पहली है चिन्तन का उद्देश्यात्मक लक्षण तथा दूसरी है द्वन्द्व का महत्त्व। समस्त चिन्तन प्रयोजनात्मक होता है। अर्थक्रियावाद की परिभाषा करते हुए शिलर ने कहा—"यह पूर्ण मान्यता है कि मानसिक जीवन का प्रयोगात्मक लक्षण हमारी समस्त संज्ञानात्मक क्रियाओं को प्रभावित तथा ओत-प्रोत अवश्य करे।" इस प्रकार अर्थक्रियावाद पूर्णतः प्रयोजनात्मक है, अपने व्यापक ब्रह्मांडीय प्रयोजनात्मकता के अर्थ में नहीं किन्तु मानसिक जीवन के क्षेत्र में। इसे हम प्रयोजनात्मक संकल्पवाद भी कह सकते हैं।[2]

द्वन्द्व की अवधारणा भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। हमारे समस्त चेतन जीवन की उत्पत्ति द्वन्द्व में होती है, जहाँ एक जटिल परिस्थिति का सामना करना होता है और जहाँ अभियोजन की समस्या को हल करना होता है। हम यह विचार कर सकते हैं कि चेतना स्वयं तब उत्पन्न हुई जब कोई पशु खोज से जागरूक हो

1. Bode, "Consciousness and Psychology" in *Creative Intelligence* (Henry Holt and Company), p. 255.
2. तुलना करो: F. C. S. Schiller, *Humanism*, p. 8.

गया कि पुरानी आदतें, प्रतिक्रियाएँ, नई कठिन परिस्थितियों के लिए पर्याप्त नहीं हैं। महत्त्वपूर्ण कार्यों के सामान्य प्रवाह में अचानक व्यवधान पड़ जाने से पहली बार पशु को अपने जीवन में अथवा अपनी जाति के ज़ीवन में कुछ विचार करना—चेतना के प्रति जागरूक होना—उठकर बैठना तथा ध्यान देना आवश्यक हो गया। इस प्रकार अर्थक्रियावाद इस पुराने विश्वास को उलट देता है कि पहले आत्मा आती है और उसके पश्चात् आत्मा चिन्तन करती है। इसके बिल्कुल विपरीत आत्मा चिन्तन में जन्म लेती है और चिन्तन संघर्ष और तनाव से उत्पन्न होता है। किन्तु यह महत्त्वपूर्ण तथा आनन्ददायी तथ्य रह जाता है कि कठिनाई पार हो गई है और समस्या हल हो गई है। इसलिए अर्थक्रियावाद आगे देखने वाला आश्वासन तथा पूर्णकारी दर्शन है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बुद्धि सृजनात्मक है। वह वास्तविकता का निरन्तर ही निर्माण कर रही है तथा उसे साँचे में ढाल रही है। किन्तु यह सृजनात्मक शक्ति सदा प्रयोग की ही प्रक्रिया होती है। यह कलाकार के उस सृजनात्मक कार्य से भिन्न होती है, जो किसी संरचना अथवा आदर्श को प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहा होता है।

सत्य क्या है ?

हमने अर्थक्रियावाद के विशिष्ट सिद्धान्तों में सबसे विशिष्ट सिद्धान्त सत्य के सिद्धान्त का उल्लेख आखिर तक उठा रखा है। यही वह सिद्धान्त है जिसने अर्थ-क्रियावाद को प्रसिद्धि, अथवा कुछ लोगों के अनुसार कुप्रसिद्धि, दी है। इस सिद्धान्त का यही महत्त्वपूर्ण तथा विरोधाभासी लक्षण है जिसके कारण वह इतना सामने आया है।

सत्य के इस सिद्धान्त को समझने के लिए पाठक के लिए यह योजना उचित होगी कि वह पुस्तक को नीचे रख दे और स्वयं से यह प्रश्न करे कि सत्य क्या है ? सत्य शब्द का क्या अर्थ है ? ऐसा कहने का क्या तात्पर्य होता है कि कोई तर्कवाक्य सत्य है अथवा असत्य। यह कथन कि नवीन इंग्लैंड के किनारे प्रशान्त महासागर के जल से धुलते हैं असत्य बताया जाता है। क्यों ? यह कि वे अटलांटिक महासागर के जल से धुलते हैं सत्य है। क्यों ?

संवादिता सिद्धान्त

इसका उत्तर सम्भवतः कुछ इस प्रकार होगा: सत्य वह है जो यथार्थ से मेल खाए; जो वास्तविकता के अनुकूल हो, जो वास्तविक स्थिति का **संवादी** हो। इसे **सत्य का संवादी सिद्धान्त** कहा जाता है। यह ऐसे सामान्य व्यक्ति का दृष्टिकोण होता है जो यथार्थ का भेद यथार्थ के कथन से करता है और जब कथन का संवाद तथ्य से हो तो उसे वह सत्य मानता है। इसलिए यह कथन नवीन इंग्लैंड के

किनारे अटलांटिक के जल से धुलते हैं सत्य है, क्योंकि यह कथन तथ्य का संवादी है। किसी भी व्यक्ति के इस **निर्णय** को बताने के पूर्व ही वास्तव में अटलांटिक के जल से नवीन इंग्लैंड के किनारे धुलते थे।

अब सत्य की इस परिभाषा में अनेक प्रकार की आपत्तियाँ की जा सकती हैं। सत्य की परिभाषाओं का प्रयोग करने से बहुत पूर्व से ही सत्य की परिभाषा करने की कठिनाइयाँ मालूम थीं। उदाहरण के लिए, यह कहा जाता है कि बाह्य सत्ता से किसी भी कथन अथवा निर्णय की तुलना करना असम्भव है। आप अपने प्रामाणिक माप को एक तख्ते के बराबर में रखकर देख सकते हैं कि उनमें संवादिता है अथवा नहीं, किन्तु आप किसी निर्णय को तथ्य की बराबरी में यह देखने के लिए नहीं रख सकते कि उसमें संवादिता है या नहीं। क्या यह कहने का कोई अर्थ है कि निर्णय तथ्य का "संवादी" होता है, अथवा यह बाह्य सत्ता की "प्रतिलिपि" होती है।

फिर आगे चलकर शिकायत की जाती है कि यह कहना मात्र पुनरुक्ति है, कि गुलाब लाल है, तथ्य के साथ संवाद रखता है, क्योंकि तथ्य स्वयं ज्ञात विषयों में हुआ करते हैं। तथ्य तथा सत्य एक ही बात होती है, इसलिए यह कहना व्यर्थ है कि सत्य का संवाद तथ्य से होता है।

अभी हाल के कुछ वर्षों में अर्थक्रियावाद के परिणामस्वरूप **सत्य** शब्द के अर्थों से सम्बन्धित एक बिल्कुल नवीन साहित्य की उत्पत्ति हो गई है। यह चर्चा समग्र रूप से देखने पर इस छोटे अध्याय में रुचिकर बनने के बजाय बहुत जटिल बन गई है। यहाँ पर सत्य के केवल कुछ अन्य सिद्धान्तों का उल्लेख करना ही सम्भव होगा, विशेषकर अर्थक्रियावादी सिद्धान्त का उल्लेख जो एक बुद्धिमान् पाठक को इस बात का संकेत कराता है कि किन्हीं भी परस्पर विरोधी मतों में निश्चय पर पहुँचने के पूर्व समस्त बातों का अध्ययन करना आवश्यक होगा। इस बीच यदि कोई व्यक्ति सत्य **कहना** चाहे तो यह जान लेना बहुत कठिन नहीं होना चाहिए कि यह सत्य क्या है।

किन्तु सत्य के संवादी सिद्धान्त के सम्बन्ध में इतना कह देने में कोई हानि नहीं होगी कि अपनी सभी कठिनाइयों के बावजूद यह सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा उन दार्शनिकों द्वारा अधिक व्यापक रूप में मान्य हुआ है, जिन्होंने इस विषय में अधिक विचार किया है। सम्भवतः **ईमानदारी** शब्द को **संवादी** की अपेक्षा अधिक पसंद किया जा सकता है। अतः सत्य की परिभाषा करते हुए उसे वस्तुनिष्ठ सत्ता के साथ ईमानदारी कहा जा सकता है, और इस परिभाषा में कोई कठिनाई उत्पन्न होगी ऐसा मैं नहीं समझता।

चलिए हम एक अहानिकारक अभ्युपगम बनाएँ कि कुछ वास्तविक तथा स्वतन्त्र सत्ताएँ होती हैं, जैसे महासागर तथा उनके किनारे, सूर्य तथा ग्रह, गुलाब तथा गुलाब के गुण। हम यह मान लें कि ये वस्तुएँ अपने सम्बन्धों तथा गुणों के

सहित इनके देखने वालों के भी पहले से वास्तव में विद्यमान थीं, अथवा तर्क करने वाले व्यक्ति आएँ और इन वस्तुओं को देखें और इनके सम्बन्धों तथा गुणों का वर्णन करने के लिए भाषा का आविष्कार करें और फिर मान लीजिए यह कहें कि पृथ्वी की अपेक्षा सूर्य बड़ा है। ऐसा निर्णय विश्वसनीय होगा, और इस ईमानदारी को सत्य कहा जा सकता है। सत्य के ईमानदारी सिद्धान्त के विषय में यह अवलोकन किया जाना चाहिए कि सामान्य प्रयोग से **सत्य** शब्द का अर्थ यह अथवा इसके समान है; ताकि यदि कोई **सत्य** शब्द का अर्थ नितान्त भिन्न अर्थ में करे तो यह बात बिल्कुल स्पष्ट की जा सके।

सत्य का संसक्तता सिद्धान्त

संवादी सिद्धान्त में कठिनाइयाँ होने के कारण एक और मत का प्रतिपादन किया गया है कि **संगति** ही सत्य है। जब हम कहते हैं कि ज्यामिति में प्रमेय सत्य होता है तो इसका अर्थ क्या होता है? यहाँ मूलतः हमारा तात्पर्य यह नहीं होता कि वह वस्तुगत वास्तविकता का संवादी होता है, वरन् यह कि वह अन्य प्रमेयों, तर्कवाक्यों, स्वयंसिद्धों तथा परिभाषाओं के कुछ निश्चित तन्त्रों के साथ बिल्कुल ठीक बैठता है। उनमें पूर्ण संसक्तता होती है और यह पूर्ण संसक्तता ही सत्य कहलाती है।

निःसंदेह **सत्य** शब्द का इस संकीर्ण अर्थ में ही प्रयोग हुआ है। यदि हम आधारवाक्यों से आरम्भ करें, जो सत्य शब्द के अन्य अर्थों में सत्य हैं, और यदि हमारे निष्कर्ष तार्किक रूप से प्राप्त किए गए हैं तो हम अपने निष्कर्षों को सत्य मानते हैं। ज्यामिति में हम कुछ स्वयंसिद्धों, तथा परिभाषाओं से आरम्भ करते हैं और तर्कसंगत रूप से आगे बढ़ें तो समस्त तन्त्र सत्य होगा अथवा उतना ही सत्य होगा जितनी कि आरम्भ की अवधारणा है। किन्तु स्पष्टतः जब यह शब्द तथ्यों के सम्बन्ध में निर्णय देने में प्रयुक्त होता है, तब साधारण व्यवहार में **सत्य** से हमारा यह तात्पर्य नहीं होता। वास्तव में, असत्यों का सम्पूर्ण तन्त्र बना लेना सम्भव प्रतीत होगा। उदाहरण के लिए, यदि जॉनी की माँ अपने बालक को तैरने से मना करती है, परन्तु जॉनी तैरने के लिए जाता है और अपनी माँ से कह देता है कि वह नहीं गया और इस कथन की पुष्टि वह अनेक प्रमाणों से कर देता है ताकि उसकी माँ को उसकी सभी बातें स्थिति में संसक्त तथा समुचित प्रतीत हों, यद्यपि इस व्यवस्था के सभी अंग संसक्त हैं और तब भी हम यह नहीं कह सकते कि ये विभिन्न कथन सत्य थे। यदि हम यह कहें कि सभी अंग उस मूल क्रिया के साथ संसक्त नहीं हैं तो हम वापिस उसी संवादी सिद्धान्त की ओर चले जाएँगे। किन्तु निश्चय ही सत्य के कुछ प्रकारों में संगति होना एक तत्त्व होता है। तर्कवाक्यों का एक समूह सत्य के आदर्श के बराबर नहीं आएगा, यदि ये तर्कवाक्य

आन्तरिक रूप से संगठित न रहते हों, संगति का सिद्धान्त तथा संवादिता का सिद्धान्त परस्पर-विरोधी रहने की अपेक्षा एक-दूसरे के अनुपूरक हैं। सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ तथा सरलतम मत यह होगा कि सत्य वास्तविकता के साथ ईमानदारी रखता है; किन्तु अनेक मामलों में हम वास्तविकता के साथ अपने विचारों तथा निर्णयों की तुलना नहीं कर सकते, हम अधिक से अधिक यही कर सकते हैं कि विचारों तथा निर्णयों के साथ **संगति** रखते हैं, जिन्हें हमने सत्य मान लिया है।

सत्य का अर्थक्रियावादी सिद्धान्त

अर्थक्रियावादी, जो अनुभव की अस्थिरता से आरम्भ करता है और यह पाता है कि वास्तविकता इस अस्थिरता में ही है, के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि सत्य के दोनों पुराने सिद्धान्तों की अब कोई प्रयुक्ति नहीं है। सम्भवतः अर्थ-क्रियावादी भी सत्य के नवीन सिद्धान्त के निर्माण में **निरपेक्ष सत्य** जैसी किसी वस्तु के आदर्शवादी विश्वास से प्रभावित हुआ है, अर्थात् यह अवधारणा कि सत्य जैसी कोई पवित्र तथा स्थिर वस्तु है जो कहीं अलग स्थित है। अब अर्थक्रियावादी निरपेक्ष के किसी भी रूप के साथ मित्रता का भाव नहीं रखता। इस स्थान पर उसके मन में यह बात नहीं आती कि **सत्य** शब्द को हटा दूँ क्योंकि जिस अर्थ में वह सामान्यतः प्रयुक्त होता है, उस अर्थ में उसके लिए इस व्यवस्था में कोई स्थान नहीं। किन्तु वह इसे एक सर्वथा नवीन एवं अप्रत्याशित अर्थ देकर इसकी पुनः परिभाषा करना चाहता है।[1]

अर्थक्रियावाद को स्पष्ट करने के लिए हम पहले सत्य के **स्वरूप** की नहीं अपितु उसकी कसौटी की जाँच करें। प्रश्न यह नहीं है कि सत्य क्या है वरन् यह कि हम उसे कैसे जानते हैं और उसकी परीक्षा कैसे होती है। जगत् सिद्धान्तों, प्राक्कल्पनाओं, सामान्य विचारों, तथा अनुमानों से भरा हुआ है, जहाँ दृश्य तथ्यों के आधार पर उनकी पुष्टि करना सम्भव नहीं है। प्राचीन तथा आधुनिक काल में सत्य की अनेक कसौटियों का वर्णन किया गया है, उदाहरणार्थ "अडिग आस्था", "विपरीत की अकल्पनीयता", "मनस् के समक्ष इतनी स्वच्छता तथा स्पष्टता से प्रस्तुत करना कि सन्देह न किया जा सके।" अब अर्थक्रियावादी एक और कसौटी का प्रस्ताव रखता है जो बहुत व्यावहारिक है—कोई भी सिद्धान्त, प्राक्कल्पना अथवा विचार सत्य है, **यदि वह सन्तोषजनक परिणामों की ओर ले जाने वाला हो,** यदि वह व्यावहारिक हो, और यदि उसका व्यावहारिक मूल्य हो। सत्य की अभिव्यक्ति उसकी उपयोगिता, उसके फल तथा उसके व्यावहारिक परिणामों में होती है। मूल्य ही सत्य का माप बन जाता है। सत्य अन्ततः कार्यगत

---

1. अपने आलोचकों से परेशान होकर जेम्स ने अन्त में "सत्य" *(true)* विशेषण को पुरानी अवधारणा के लिए छोड़कर अर्थक्रियावाद के लिए "सच्चा" *(truthful)* शब्द का उपयोग करना आरम्भ किया। (देखो *The Meaning of Truth*, p. 225.)

होता है, और यदि कोई विचार अथवा सिद्धान्त कार्यगत होता है तो हम उसे सत्य मान लेते हैं। सन्तोषप्रद कार्य, कर्त्तव्य का पालन, सफलता की ओर निर्देश होना ही सत्य के चिह्न हैं।

अब यहाँ ऐसी कोई विप्लवकारी अथवा विभिन्न बात दिखाई नहीं पड़ती। यह अनुमान करना तर्कसंगत होगा कि सत्य कालान्तर में शुभ तथा सन्तोषप्रद परिणामों की ओर ले जाएगा; और उपयोगिता चाहे उसकी एकमात्र अथवा अचूक कसौटी न हो, तो भी एक अच्छा व्यावहारिक परीक्षण है।

किन्तु दुर्भाग्य से अर्थक्रियावादी इस स्वस्थ सिद्धान्त पर ही रुक नहीं जाता। वह आगे यह भी कहता है कि कार्यगत होना सत्य की केवल **कसौटी** नहीं है वह सत्य का **स्वरूप** है। हम और आप सम्भवतः यह माने हुए थे कि वास्तविकता के साथ सहमति ही सत्य का स्वरूप है और जो वास्तविकता से सहमति रखेगा, व्यवहार में सन्तोषजनक परिणामों की ओर ले जाता है तो वह सम्भवतः सत्य है। किन्तु एक अर्थक्रियावादी अर्थात् एक अति-अर्थक्रियावादी का कहना है कि सत्य की उपयोगिता ही उसकी एकमात्र निधि है। सत्य वही है जो कार्यगत हो। जेम्स कहता है, "वास्तविक विचार वे होते हैं जिन्हें हम समझ सकते हैं, लागू कर सकते हैं, जिनकी पुष्टि की जा सकती है, और जिन्हें प्रमाणित किया जा सकता है। झूठे विचार वे होते हैं जिनके साथ ऐसा नहीं हो सकता है।" "किसी विचार का सत्य उसमें निहित कोई स्थिर सम्पत्ति नहीं होती। विचार में सत्य **हो जाता** है। यह सत्य **बन** जाता है इसे, घटनाओं द्वारा सत्य **बना** दिया जाता है। उसकी सत्यता यथार्थ में एक घटना, एक प्रक्रिया होती है, अर्थात् यह प्रक्रिया उसकी आत्म-पुष्टि की **प्रामाणिकता** होती है।"[1] अतः इससे यह मतलब निकलता है कि विचार तथा निर्णय तब तक सत्य नहीं होते जब तक उनकी पुष्टि न हो जाए तथा उनकी पुष्टि सन्तोषजनक परिणामों की ओर ले जाने में ही निहित होती है। यदि यह कहा जाए कि बुध ग्रह की कक्षा में एक और ग्रह है तो यह कथन न सत्य होगा न असत्य किन्तु उसकी पुष्टि अथवा अपुष्टि की प्रक्रिया में वह ऐसा हो जाता है।

अर्थक्रियावादी द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त, कि सत्य वह है जो व्यावहारिक हो, सत्य एक प्रकार की उपयुक्तता है, भयंकर आलोचना तथा अस्वीकृति का शिकार बना। इसके प्रतिपादकों का यह विशेष लक्षण ही था जिसने इस सिद्धान्त को इतना व्यापक बनाया। अभी तक सत्य को कुछ वांछनीय वस्तु, कुछ पवित्र, निश्चित और स्थिर सी वस्तु, कम से कम इतनी स्थिर जितनी कि वे वस्तुएँ हैं, जिनके सत्य होने का यह प्रतिपादन करता है, समझा जाता था। यह कथन की बुध ग्रह की कक्षा में कोई अन्य ग्रह भी है तब यह सौर-मंडल के गठन के आधार पर सत्य अथवा झूठ माना गया था। इस प्रकार निर्णय के

1. William James, *Pragmatism*, p. 201.

पुष्टीकरण के दौरान में अर्थक्रियावादी अवधारणा का जो कुछ होता है वह दर्शन के विद्यार्थियों के लिए एक प्रकार के आघात के रूप में आया। इस सिद्धान्त के इस आशय की सुरक्षा करना कठिन है और इस मत के मानने वालों ने बाद में इसमें परिवर्तन कर दिए हैं।[1] इसे बनाए रखना विषयीनिष्ठवादी दर्शन के आधार पर ही सम्भव प्रतीत होता है। फिर भी यह जब बना हुआ है, तो यह स्पष्ट है कि **सत्य** शब्द सामान्य अर्थ में प्रयुक्त शब्दार्थ से भिन्न है।

अर्थक्रियावादी विषयों की अपेक्षा विचारों की सत्यता के विषय में बोलने में बहुत रुचि रखते हैं, और चूंकि अर्थक्रियावादी दर्शन में विचार केवल "कार्य की योजना" हुआ करते हैं, जब वे कहते हैं कि विचार सत्य है तो इसका अर्थ क्या होता है ? कार्य करने वाले की अच्छी अथवा बुरी योजना हो सकती है, किन्तु हमें यह नहीं कहना चाहिए कि सत्य है या झूठ। यदि किसी नगर को बाढ़ का खतरा हो और किसी ने कार्य करने की योजना प्रस्तावित की हो तो उस नगर के अन्य निवासी यह नहीं पूछेंगे कि क्या योजना **सत्य** है, अपितु यह पूछेंगे कि क्या वह **अच्छी** तथा **व्यवहार्य** है।

तो इन सब बातों से यह प्रतीत होता है कि यदि अर्थक्रियावादियों का तात्पर्य यह है कि सन्तोषजनक कार्यगत होना ही सत्य की परीक्षा अथवा कसौटी है तो यह उतना ही पूर्ण है जितना वह पुराना तथा सरल है।[2] यदि उनका तात्पर्य यह

---

1. अर्थक्रियावाद के सत्य सिद्धांत की एक उपयोगी आलोचना तथा उसका विवरण डी० सी० मेसिन्तोश की पुस्तक 'दि प्रॉब्लेम ऑफ़ नॉलेज', पृष्ठ 401—37 में देखा जा सकता है। जो भी व्यक्ति इस चर्चा में रुचि रखता हो उसे 'व्हाट इज़ प्रेगमेटिज्म ?' नामक पुस्तक अवश्य ही पढ़नी चाहिए। यह पुस्तक, विशेषकर उसके द्वितीय तथा तृतीय अध्याय, जेम्स बिसेट प्राट द्वारा रचित है। जेम्स के सत्य सिद्धांत की आलोचना की जी० ई० मूर की पुस्तक 'फिलासफिकल स्टडीज़' के अध्याय तृतीय से पढ़कर तुलना कीजिए।

2. निश्चय ही सन्तोषप्रद कार्य भी कोई अचूक परीक्षण नहीं है। जॉनी तथा उसकी माँ की बात को पुनः लीजिए। जॉनी तैरने जाता है और इस साहसी कार्य से बहुत "सन्तोष" प्राप्त करता है। जॉनी के घर वापिस आने पर, उसकी मां के यह पूछने पर कि क्या वह तैरने गया था, उसका यह उत्तर था "नहीं", और उसने अपनी इस अनुपस्थिति का पूर्णतः सम्भव तथा "सन्तोषजनक" उत्तर दिया। जॉनी की माँ बिना किसी कपट के इस उत्तर को स्वीकार कर लेती है और अपने बच्चे की अनुमानित सत्यता से बहुत सन्तोष प्राप्त करती है। इस साहसी कार्य में जॉनी के साथी, जो समस्त परिस्थिति को जानते थे, इन सब बातों से बहुत "सन्तोष" प्राप्त करते हैं। जॉनी के स्नान के परिणामस्वरूप बहुत "सन्तोषजनक" स्वस्थ स्थिति उत्पन्न हो गई, और शनिवार की रात को जॉनी के पैरों तथा बाहों का परीक्षण करने के पश्चात् जॉनी की उत्तरोत्तर सफाई की बढ़ती हुई आदतों से उसकी माँ और अधिक संतोष प्राप्त करती है। इस प्रकार यदि सत्य वह है जो सन्तोषजनक परिणामों की ओर ले जाए तो जॉनी का यह कथन कि वह तैरने नहीं गया सत्य होना चाहिए। और यदि इस आपत्ति से बचने के लिए अर्थक्रियावादी कहे कि वह "उस अंश तक" सत्य है तो इसका यह स्वयं-सिद्ध परिणाम यह निकलता है कि कार्यगत होना सत्य की खोज के लिए सहायक होता है।

है कि कार्य की योजना के रूप में विचार अथवा निर्णय सत्य है, क्योंकि वे सन्तोष-जनक परिणामों की ओर ले जाते हैं—अर्थात् वे संतोषजनक परिणामों में ही सत्य को देखते हैं—तो वे **सत्य** शब्द का प्रयोग वहाँ करते हैं जहाँ अन्य लोग **शुभ** शब्द का प्रयोग करेंगे; यदि अर्थक्रियावादी **शुभ** शब्द का प्रयोग कर लेते, अथवा उसी मूल्य का कोई दूसरा शब्द ढूँढ़ लेते तो बहुत-सी भ्रान्ति और कठिनाई दूर की जा सकती थी। सत्य की **कसौटी** होना एक बात है, और सत्य की **संरचना** अथवा **स्वरूप** होना बिल्कुल दूसरी।

यह समस्त विरोध अब केवल ऐतिहासिक महत्त्व तक ही पहुँच रहा है, क्योंकि बाद के अर्थक्रियावादी लेखक, हालाँकि क्रमशः, कम से कम कुछ निश्चित सीमा में, संवादिता सिद्धान्त की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं।[1] जिस बात से अर्थक्रियावादी सतर्क थे वह थी स्थिर सत्य का निरपेक्षवादी सिद्धान्त जिसका निवास यों कहना चाहिए कि स्वर्ग में होता है। सम्भवतः अर्थ-क्रियावादी तथा अन्य व्यक्ति अब इस बात पर सहमत होते कि जब व्यष्टिपरक प्रत्यक्ष तथा निर्णय अपने पर्यावरण के तथ्यों[2] के साथ अभियोजित होते हैं तब सत्य होते हैं। ये इस बात पर बल देते हैं, जैसा शिलर ने भी किया है, कि जिस वास्तविकता की खोज दर्शन करता है वह **चयनात्मक** वास्तविकता होती है। ईश्वर, पुद्गल, प्रयोजन तथा इसी के समकक्ष संप्रत्यय ही वास्तविकता के चुने हुए अंग होते हैं, जिन्हें दर्शन में जानने के योग्य समझा जाता है।[3]

अर्थक्रियावाद का स्थायी योगदान

इस नवीन आन्दोलन के वास्तविक योगदानों को आँकना अभी तक कुछ कठिन ही है। दर्शनशास्त्र को स्वर्ग से उतार कर मनुष्य के जीवन तथा घर तक ले जाने में इसकी सेवा बहुत सराहनीय रही। दर्शनशास्त्र अभी तक उन कतिपय "विद्वान् व्यक्तियों" का ही धन्धा था, जो कॉलेज और यूनिवर्सिटी की कक्षाओं में होते थे, और जो सामान्य व्यक्ति की व्यावहारिक रुचियों से दूर हुआ करते थे। दर्शनशास्त्र में रुचि का व्यापक रूप से पुनः जागृत होना कुछ अंशों तक अर्थक्रिया-वाद के कार्य के ही कारण हुआ है। वे ही लोग जो दर्शन को हीगल के द्वन्द्व तथा रॉयस के निरपेक्ष के साथ उलझा कर दर्शन के नाममात्र से काँपते थे, अब

इस प्रकार का उदाहरण सत्य के अर्थक्रियावादी सिद्धांत के लिए निश्चय ही व्यंग्य है, और यह केवल उन्हें शान्त करने के लिए है जो सत्य की कसौटी के तार्किक सन्तोष की अपेक्षा "संवेगात्मक" संतोष ही प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

1. तुलना कीजिए: Murray's *Pragmatism*, pp. 45, 46.

2. *Jour. of phil. psych., and Sci. Meth.*, vol. VI, पृष्ठ 233—38 पर मान्टेग्यु के लेख से तुलना कीजिए।

3. तुलना कीजिए, F. C. S. Schiller, *Humanism*, chap. III.

अर्थक्रियावाद का अध्ययन करने लगे हैं, और इस मार्ग से प्रवेश कर उन्होंने दर्शनशास्त्र को बहुत सहायक और रुचिकर पाया है। यदि अर्थक्रियावाद की लापरवाही और विरोधाभासों से हमें कोई आघात पहुँचा है तो यह बात ध्यान में रखने की है कि ऐसे आघात के अलावा कुछ और दर्शनशास्त्र को पृथ्वी पर उतार कर नहीं ला सकता था।

विशेषकर ज्ञानमीमांसा का क्षेत्र कुछ चुने लोगों को छोड़कर अन्धकारमय तथा वर्जित था। **ज्ञानमीमांसा** शब्द स्वयं ही कुछ बिल्कुल भयानक होने का संकेत देता था। डिवी ने यह दर्शाकर कि संप्रत्यय, प्रत्यय, न्यायवाक्य, विचार तथा कल्पना जैसी विभिन्न तथा कठिन बातें जीवन की समस्याओं तथा पहेलियों को हल करने के व्यावहारिक साधन मात्र हैं, और जब नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं तो स्वभावतः उनमें नवीन शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, इस समस्त विषय को व्यावहारिक पुरुषों के समक्ष रख दिया। दर्शनशास्त्र के इस कठिन अध्ययन पर ज्ञान के आनुवंशिक अध्ययन ने बहुत प्रकाश डाला है। मनोवैज्ञानिक शब्दों की लम्बी सूची में से बहुत-सी अस्पष्टता समाप्त हो गई है, उदाहरणार्थ विचार, बुद्धि, विमर्श कल्पना, मन, तथा चेतना और इन्हें सामान्य विकासवादी योजना में बैठा दिया गया है। अर्थक्रियावाद अब दर्शनशास्त्र की जीवित शाखा बन चुका है, क्योंकि यह उन बातों पर बल देता है जिनमें आजकल लोग रुचि रखते हैं, अर्थात् विकास, समृद्धि, संकल्प, उद्देश्य, पहल लेना, व्यावहारिक परिणाम, मानवीय अभिलाषाएँ, और इच्छाएँ तथा मनुष्य की प्रगति। यह पूर्ववर्ती अति-प्रजावादी सिद्धान्तों के विरुद्ध प्रतिक्रिया करने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त था और अर्थक्रियावाद इस प्रतिक्रियावाद के चरम रूप का प्रतिनिधित्व करता है।

दूसरी अच्छी बात जो अर्थक्रियावाद ने की है वह यह है कि उसने मनुष्य के मन की सृजनात्मक शक्ति अथवा सृजनात्मक बुद्धि की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर दिया है। अनेक व्यक्तियों के लिए यह बात एक रहस्योद्घाटन रही है कि जो दार्शनिक सिद्धान्त उग्र विकासवादी तथा प्रकृतिवादी हो वह सृजनात्मक मन और नवीन नैतिक तथा सामाजिक आदर्श तथा नैतिक और सामाजिक प्रगति की चर्चा भी करे। लोगों ने प्रकृतिवाद तथा विकासवाद को जड़वाद, नियतत्ववाद तथा नियतवाद के साथ सम्बद्ध समझा था, जैसे कोई मनुष्य इन यांत्रिक शक्तियों के सामने असहाय हो या वह विश्व की भौतिक शक्तियों के हाथों अपने प्रारब्ध को जानने के लिए कठपुतली बनकर प्रतीक्षा कर रहा हो। अर्थक्रियावाद यह सिखाता है कि जगत् का निर्माण हो रहा है और हम और आप इसका निर्माण कर रहे हैं तथा हमारे प्रभावकारी कारकों की कोई सीमा नहीं है। यहाँ तक कि नैतिक नियम भी परिवर्तित हो सकते हैं और उनमें सुधार हो सकते हैं।

जो **तात्त्विक अर्थक्रियावाद** के नाम से जाना जाता है वही मुझे जीवन का वास्तविक दर्शन प्रतीत होता है। किन्तु प्रारम्भिक उत्साह में वह अतिशय

अवस्थाओं में भटक गया[1] और हमें ऐसी बाल की खाल निकालने जैसी द्वन्द्व की स्थिति में छोड़ गया, जिसमें पुराने मतावलंबियों को लज्जा का अनुभव हो। ऐसी अवस्थाओं के उदाहरणों का उल्लेख किया जा सकता है, प्रथम है सत्य का अतिशय अर्थक्रियावादी सिद्धान्त, जो पश्चात् आने वाले द्वन्द्व से युक्त है तथा द्वितीय है वास्तविकता के साथ अनुभव का एकीकरण होना।

किन्तु किसी बात की कमी है

अर्थक्रियावाद में जिस बात की कमी का अनुभव होता है वह है उच्च आदर्शवाद। इसमें संघर्ष पर बहुत अधिक बल दिया गया है, किन्तु इतना बल उद्देश्य पर नहीं दिया गया है। अर्थक्रियावाद का जगत् सम्बन्धी विचार वास्तविकता के उस भाग तक ही सीमित प्रतीत होता है, जो अस्पष्ट रुचियों तथा इच्छाओं वाले जीव के साथ आरम्भ होता है और यह इन इच्छाओं को पूरा करने के साधनों तक ही सीमित रहता है। विचार, बिना पूर्ण रूप से माँगों की परीक्षा किए हुए ही, हमारी महत्त्वपूर्ण माँगों को पूरा करने के साधन मात्र हो जाते हैं। अर्थक्रियावादियों ने बार-बार इस पर विरोध प्रदर्शित किया है, और जो सम्भवतः न्यायसंगत भी है कि वे जीवन का संकीर्ण उपयोगितावादी विचार रखते हैं। डिवी भी "चिन्तन तथा विज्ञान के आन्तरिक, सौंदर्यपरक तथा तात्कालिक मूल्य के" और जीवन के उस सुख तथा प्रतिष्ठा के महत्त्व जो बुद्धि द्वारा प्राप्त होते हैं, चर्चा करता है।[2] किन्तु बुद्धि स्वयं केवल निर्देशक ही मानी जाती है, लक्ष्य अभी भी नहीं मानी जाती। यह कोई भी अर्थक्रियावादी नहीं जानता है कि वह किसकी निर्देशक होती है। मनुष्य की रक्षक के रूप में बुद्धि में आस्था रखने के लिए कहा जाता है किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया जाता कि किससे हमारी रक्षा करनी है अथवा किस लिए हमारी रक्षा करनी है।

अतः क्या अर्थक्रियावाद का अनुभववाद पर्याप्त रूप से गहन है ? क्या मनुष्य सहज रूप से अपने सन्तोष को बढ़ाने के लिए साधन खोजने की अपेक्षा किसी उद्देश्य के लिए प्रयत्न नहीं करते हैं ? अर्थक्रियावाद मौलिक रूप से प्रयोजनवादी होने का दावा करता है और सदा भविष्य की ओर उन्मुख रहता है और तब भी उद्देश्य कभी भी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं होता।

प्राचीन प्रज्ञावाद प्रज्ञा को दिव्य वाणी समझता था, उसका प्रतिवाद करते हुए अर्थक्रियावादी उसे एक साधन अथवा आविष्कार मानता है, जिसमें जीने

---

1. जेम्स, जो अर्थक्रियावाद के प्राण माने जाते हैं, इस विषय में, स्वयं सर्वाधिक दोषी थे।

2. उसके लेख : "Development of American Pragmatism" in the *Revue de Mètaphysique et de Morale*, October, 1922 में देखिए। पाण्डुलिपि का अनुवाद हर्बर्ट डब्ल्यु० श्नाइदर ने किया है।

की इच्छा के अतिरिक्त संकल्प और कुछ नहीं होता। यह किसी उच्च आदर्श अथवा उत्कृष्ट उद्देश्य से नहीं अपितु कुछ मार्ग खोजने के लिए आपने वातावरण में परिवर्तन करते हुए कुछ **सन्तोषजनक प्राप्य हो सके** इससे प्रयोगों द्वारा अथक प्रयत्न करते हुए और यदि महत्त्वपूर्ण आवश्यकताएँ न बढ़ें तो सदा वापिस लौटता हुआ होता है। यह सब बात सही हो सकती है किन्तु **निश्चय ही यह ऐसा मार्ग नहीं है जिससे वह मनुष्य होना अनुभव कर सके।** और निःसन्देह ही यह उस मानव की धारणा नहीं है जो हमारे पूर्वजों ने हमें दी है, यहाँ तक कि इस उपयोगितावादी अमरीका में भी। निश्चय ही डिवी भी समाज-कल्याण को दर्शन का लक्ष्य तथा उद्देश्य बताता है, किन्तु कुछ अस्पष्ट रूप से। इससे लोगों को यह धारणा मिलती है कि मात्र जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति ही होती है जिससे समाज-कल्याण का निर्माण हुआ है और यथार्थ में मुझे तो ऐसा प्रतीत नहीं होता कि दर्शन का अस्तित्व समाज-कल्याण के लिए है। किसी भी पूर्ण समाज में दर्शन तथा विज्ञान धर्म तथा कला स्वयं अपने आपमें ही उद्देश्य प्राप्त करते हैं।

विन्डलवैंड द्वारा की हुई अर्थक्रियावाद की उग्र आलोचना निश्चय ही कुछ न्यायोचित है, विशेषकर उस समय जब वह उसे "साधनों तथा साध्यों की विषम गुत्थी" बतलाता है। "यह उस मानसिक व्यष्टिवाद की विजय का प्रतिनिधित्व करता है जो हमारी प्रज्ञात्मक संस्कृति के पतन में संकल्प की प्राथमिक शक्ति को ढीला करेगा, उसे विशुद्ध चिन्तन के क्षेत्र में गिरने देगा। वह सभ्यता की एक महानतम उपलब्धि, सत्य के लिए संकल्प, की विशुद्धता को ही संदेहात्मक बना देता है।"[1]

जगत् में महान् कार्य उन व्यक्तियों द्वारा किए गए हैं जो न्याय, औचित्य सौंदर्य तथा सत्यता के महान् आदर्शों से अनुप्राणित हुए हैं। ये उत्कृष्ट आदर्श कुछ ऐसी वस्तुएं नहीं हैं जिनका पहले निर्माण किया जाए और पश्चात् उनके सन्तोष देने की क्षमता के आधार पर परीक्षण किया जाए; ये कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं जिन्हें प्राप्त करना होता है। सौंदर्य, जो केवल सराहना किए जाने के लिए होता है, सत्य जिसका अस्तित्व मात्र **चिन्तन** के लिए होता है, प्रकृति के नियम, जिन्हें केवल **खोजना** होता है और जिन पर **आश्चर्य** होता है, आदर्श जिनकी केवल **कामना** करनी होती है—इन सभी महान् बातों का स्थान अर्थ-क्रियावादी दर्शन में नहीं है जो बहुत विषयीनिष्ठ है। **किसी अन्य शाश्वत बात को हमें आगे ले चलना चाहिए।**

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

William James, *Pragmatism* (Longmans, Green and Company).

1. Wilhelm Windelband, *An Introduction to Philosophy*. Translated by Joseph McCabe (T. Fisher Unwin), p. 175.

Arthur Kenyon Rogers, *English and American Philosophy Since 1800* (The Macmillan Company), chap. VII, "Pragmatism."

अन्य सन्दर्भ

James Bissett Pratt, *What Is Pragmatism ?* (The Macmillan Company).

A. W. Moore, *Pragmatism and Its Critics* (The University of Chicago Press).

John Dewey and others, *Creative Intelligence* (Henry Holt and Company).

F. C. S. Schiller, *Studies in Humanism* (The Macmillan Company).

David Leslie Murray, *Pragmatism* (Constable and Company).

A. O. Lovejoy, "The Thirteen Pragmatisms," *Jour. of Phil., Psych., and Sci. Meth.*, vol. V, p. 5.

John Dewey, *The Influence of Darwin on Philosophy* (Henry Holt and Company); *Essays in Experimental Logic* (The University of Chicago Press); *Human Nature and Conduct* (Henry Holt and Company).

Josiah Royce, "The Problem of Truth in the Light of Recent Discussion," in *William James and Other Essays* (The Macmillan Company).

Bertrand Russell, *The Analysis of Mind* (George Allen and Unwin, Limited), lecture XIII, "Truth and Falsehood."

Eric Temple Bell, *The Search for Truth* (Williams and Wilkin Company).

C. W. Morris, "Pragmatism and Metaphysics," *Phil. Rev.*, vol. XLIII, p. 6.

पाँचवाँ भाग

जीवन के उच्चतर मूल्य

अध्याय 26

ईश्वर का प्रत्यय

प्रत्येक लेखक, ईश्वर की समस्या को निश्चय ही कुछ सन्देह तथा सकुचाहट के साथ प्रस्तुत करता है। समस्या की विशुद्ध दार्शनिक कठिनाइयों के अतिरिक्त ईश्वर शब्द के अर्थ में इतनी मत-विषमता तथा उलझन है कि वह इस सन्देह तथा सकुचाहट से भली प्रकार समझा जा सकता है। इस समस्या पर विचार करते समय अथवा ईश्वर क्या है इसे न्यायोचित रूप से निश्चित करने के प्रयत्नों में तथा उसके अस्तित्व में आस्था होने के कारणों को निश्चित करते समय हम सैद्धान्तिकता तथा आप्तवचनों के आश्रय से बचने की चेष्टा करेंगे। चूँकि दर्शनशास्त्र एक बौद्धिक उद्यम है, हम स्वयं को संवेगात्मक अथवा अभिलाषा-कल्पित चिन्तन पर ही नहीं छोड़ सकते, चाहे हम दीर्घकाल से मान्य तथा उत्कृष्ट विषय पर ही क्यों न विचार कर रहे हों।

ईश्वर के प्रत्यय का विकास आदिम मानव की स्थूलतम अवधारणा से लेकर वर्तमान समय के व्यापक तथा और अधिक वास्तविक संप्रत्यय तक धीरे-धीरे तथा क्रमशः हुआ है। एक बात जो इस विषय को बहुत जटिल बना देती है वह कुछ इस प्रकार है कि ईश्वर के प्रत्यय का कुछ ऐसा ही विकास व्यक्ति के मन में होता है जो मानव के इतिहास में हुआ है। जैसे-जैसे हम बचपन की धारणाओं से ऊपर उठते हैं, पुनर्-अभियोजन के लिए कुछ समय आवश्यक हो जाता है, जो प्रायः उलझनों तथा संशयों का भी समय होता है। इन कठिनाइयों के अतिरिक्त इस अध्याय में कुछ बातें भी कहनी हैं जो दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी को कुछ आराम और आश्वासन दे सकें। हमें फ्रांसिस बेकन का कहना याद आता है कि यह लघु दर्शन ही निरीश्वरवाद की ओर ले जाता है।

अध्ययन की प्रणालियाँ

ईश्वर की समस्या के अध्ययन करने की अनेक प्रणालियाँ हैं, जिनमें बहुत-सी तो दर्शनशास्त्र की परिचयात्मक पुस्तक के क्षेत्र के परे हैं। इस विषय को व्यक्ति के अपने व्यक्तिगत धार्मिक अनुभव के दृष्टिकोण से भी अध्ययन किया जा सकता है। इसका अध्ययन चर्च के उपदेशों अथवा धार्मिक आप्तवचनों में धार्मिक

आस्था के दृष्टिकोण से भी किया जा सकता है तथा गहन दार्शनिक चिन्तन के दृष्टिकोण से भी इसका अध्ययन किया जा सकता है।

इस प्रकार के संक्षिप्त परिचयात्मक अध्याय में ईश्वर-समस्या का उपर्युक्त किन्हीं भी महत्त्वाकांक्षात्मक तरीकों से अध्ययन नहीं किया जा सकता; किन्तु उसे बताया जा सकता है, शब्दों की परिभाषा की जा सकती है, और कुछ प्राचीन तथा कुछ नवीन मत दिए जा सकते हैं। प्रायः हम इसमें अधिक रुचि लेते हैं कि जगत् के महापुरुषों, दार्शनिकों, तथा कवियों और वैज्ञानिकों ने ईश्वर के विषय में क्या चिन्तन किया एवं कहा है, अपेक्षा इस बात की है कि हम ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अथवा उसके अस्तित्व का खंडन करने के लिए सूक्ष्म तर्कों को खोजें। और हम सभी यह जानने को उत्सुक हैं कि क्या उन विज्ञान की प्रणालियों और परिणामों का, जिन पर हमारा अटूट विश्वास है, इस विषय पर कोई अधिकार है, और यदि है तो यह अधिकार क्या है। संभवतः सबसे महत्त्वपूर्ण बात सिर्फ यह मालूम करना है कि **ईश्वर** शब्द से हमारा तात्पर्य क्या है, अथवा क्या तात्पर्य होना चाहिए।

आप्तवचन की निन्दा धर्म के इतिहास में इतनी अधिक की गई है कि हम इस प्रणाली के विरोध में विद्रोह करने आ बैठे हैं; तब भी हमसे अधिकांश लोगों के लिए आप्तवचन का महत्त्व युक्ति से अधिक है, विशेषकर तब जबकि वे आप्त-वचन हमारे विशेष संतों के हों, चाहे वे धर्म-शिक्षक, दार्शनिक, कवि, वैज्ञानिक अथवा सामाजिक व्यक्ति ही क्यों न हों। उदाहरण के लिए, यह मालूम होना अनेक लोगों के लिए सम्भवतः आश्वस्त करने वाला तथा रुचिकर हो सकता है कि इंग्लैंड के भूतपूर्व प्रधानमंत्री, लार्ड आर्थर जे० बेलफोर ने अपनी अन्य दार्शनिक कृतियों में से एक **थीइज्म एन्ड ह्यूमनिज्म** में ईश्वर की आवश्यकता मनुष्य के विचारों और कार्यों के तीन क्षेत्रों पर आधारित की है, अर्थात् नीति-शास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र तथा ज्ञान के नियमों पर। अन्य लोग ईश्वर में आस्था को तब सशक्त पाते हैं जब वे ब्राउनिन्ग की आरम्भ में रचित लम्बी कविता को याद करते हैं जिसे उसनें इक्कीस वर्ष की आयु में लिखा था। उसने आश्चर्यपूर्वक कहा था—''सूर्य-वाहक, मैं ईश्वर, सत्य तथा प्रेम पर आस्था रखता हूँ,'' और तब मानवीय अनुभव से समृद्ध दीर्घ जीवन के पश्चात् उसने अपनी ''फ्राँसिस फूरिनी'' में लिखा:

यद्यपि मालिक है विरक्त,
किन्तु उसके अस्तित्व के संकेत
समूचे ब्रह्मांड में
प्रकट सर्वत्र !

पुनः कुछ अन्य व्यक्ति ईश्वर का प्रत्यय आदिम जातियों के आरम्भिक इतिहास से लेकर वर्तमान सभ्य समाज तक देखना पसन्द करते हैं, अथवा उसे

दर्शन के इतिहास में प्लेटो और अरस्तू से लेकर जोसिया रॉयस और विलियम जेम्स तक देखते हैं। प्राचीन अथवा आधुनिक प्रायः प्रत्येक दर्शन में ईश्वर के प्रत्यय का विप्लव, और जिसे कहना चाहिए कि इस प्रचलित एवं धार्मिक विचार से उकताहट ही हमें ईश्वर के साथ इस विषय में रुचि और जिज्ञासा उत्पन्न करती है। हम उसे और अधिक स्पष्ट करने की आकांक्षा रखते हैं, और उसकी ओर आधुनिक वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों, चिन्तकों का दृष्टिकोण जानने की इच्छा रखते हैं।

शब्दों की परिभाषा

चिन्तन के इतिहास में ईश्वर के प्रत्यय का महत्त्व उसकी शब्दावली की समृद्धि से अभिव्यक्त होता है। हमें कुछ शब्दों के वास्तविक अर्थों से परिचित हो जाना चाहिए। यूनानी भाषा का शब्द **थीइज्म** व्यष्टिगत, और आध्यात्मिक सत्ता के रूप में ईश्वर के लिए प्रचलित है जिसके साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करना सम्भव है। अंग्रेज़ी का शब्द **डीइज्म** लैटिन भाषा के शब्द **डायस** से आया है, यह शब्द अठारहवीं शताब्दी के चिन्तकों की आस्थाओं के लिए लागू होता है, जिन्होंने ईश्वर को सृजनकर्त्ता तथा नियामक के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु जिन्होंने व्यष्टिगत सम्बन्धों पर विश्वास नहीं किया और अनहोनी का खण्डन किया है। अंग्रेज़ी का शब्द **पैन्थीइज्म** यूनानी भाषा के दो शब्दों से मिल कर बना है, जिनका अर्थ है सर्व तथा ईश्वर। इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर ही सर्वस्व है और सर्वस्व ईश्वर है; ईश्वर का प्रकृति अथवा जगत् के साथ तादात्म्य है। अंग्रेज़ी के शब्द **पॉलीथीइज्म** का अर्थ है धर्म का कोई तन्त्र अथवा सिद्धान्त जो अनेक अथवा बहुत ईश्वरों में आस्था रखता हो, अंग्रेज़ी का शब्द **मोनोथीइज्म** वह सिद्धान्त है जो ईश्वर के एक होने में बल देता है। **एथिइज्म** शब्द निरन्तर ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करने का प्रयत्न करता है। आधुनिक चिन्तन में इस निरीश्वरवाद ने अधिकांशतः **अज्ञेयवाद** के सिद्धान्त को स्थान दिया है। **अज्ञेयवाद** यह बताता है कि स्वभावतः मनुष्य का ज्ञान सीमित होता है, और इस सीमा को वह ज्ञान का लक्षण समझकर ही उसका वर्णन करता है। जो कुछ भी हो वह चरम सत्ता के ज्ञान को असम्भव मानता है, और इसी कारण वस्तुतः ईश्वर के ज्ञान को भी असम्भव मानता है।

किन्तु दर्शनशास्त्र को इस प्रयत्न से हाथ नहीं खींच लेना चाहिए, चाहे वह ईश्वर के रहस्य में बहुत गहराई तक न घुस पाए। वह कम से कम मनुष्य के अनुभव में ईश्वर के अर्थों की जाँच तो कर ही सकता है, और यह प्रश्न कर सकता है कि क्या ऐसी सत्ता में विश्वास वर्तमान विज्ञान और दर्शन की दृष्टि से तर्कसंगत है, और क्या यह हमारे अनुभव की किसी यथार्थ कमी को पूरा करता है?

अपनी प्रसिद्ध कृति **क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न** में कान्ट ने ईश्वर के अनेक प्रमाणों को घटाकर तीन प्रमाणों में विभक्त कर दिया है—विश्व-कारण युक्ति, प्रयोजनात्मक युक्ति तथा प्रत्यय-सत्ता युक्ति। विश्व-कारण युक्ति इस अवधारणा पर आधारित होती है कि कोई प्रथम कारण अवश्य होना चाहिए। इस जगत् के अस्तित्व के लिए एक अन्तिम आधार होता है। किन्तु यह युक्ति व्यर्थ है, क्योंकि यह समस्या "प्रथम" कारण के लिए भी होती है। इसे अस्तित्व में कौन लाया? यदि इसे अस्तित्व में कोई नहीं लाया, तो यह सदा से था, किन्तु इस प्राक्कल्पना से कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि हम उसी तरह यह भी अनुमान कर सकते थे कि जगत् का अस्तित्व भी सदा से है और तब हमें प्रथम कारण अथवा ईश्वर की कल्पना उसके लिए करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रयोजनात्मक युक्ति भी बहुत कुछ विश्व-कारण युक्ति के समान ही है। जगत् में हर स्थान पर तर्कसंगत व्यवस्था तथा हितकारी रचना दिखाई पड़ती है, जो इस बात का संकेत करती है कि इस जगत् का एक दैवी वास्तु-शिल्पी अथवा रचनाकार अवश्य होना चाहिए। इस युक्ति पर प्रायः इस आधार पर आपत्ति की जाती है कि यह विश्व हितकारी नहीं है, और यदि यह युक्ति सारगर्भित है तो ईश्वर अनिष्टकर राजा है। किन्तु ये दोनों प्रत्यय-सत्ता युक्ति पर आश्रित हैं जो इस बात पर बल देती है कि ईश्वर एक सत्ता है, जिसमें स्वभावतः उसका अस्तित्व निहित होता है। ईश्वर को सबसे अधिक पूर्ण और सबसे अधिक वास्तविक बताया जाता है, अतः उसका अस्तित्व अवश्य होना चाहिए, अन्यथा वह इन दोनों में से कुछ भी नहीं होगा। इस युक्ति पर अनेक आपत्तियाँ हैं, जिनमें सबसे स्पष्ट यह तथ्य है कि ईश्वर को सबसे अधिक वास्तविक और पूर्ण बताकर हमने उसके अस्तित्व की घोषणा मात्र की है, उसे सिद्ध नहीं किया है। प्रयोजनात्मक तथा विश्व-कारण युक्तियाँ इस मान्यता पर आश्रित होती हैं कि एक सत्ता है जो स्वयं अपनी आवश्यकता अथवा स्वभाव के कारण अस्तित्व रखती है, किन्तु कान्ट का मत है कि यह मान्यता आपत्तिजनक है और ईश्वर के अस्तित्व का तर्कसंगत प्रदर्शन असम्भव बना देती है। इसलिए जब कि कान्ट ईश्वर के अस्तित्व की इन "तर्कसंगत" युक्तियों की प्रामाणिकता को अस्वीकृत कर देता है वह उन्हें पुनः अपनी व्यावहारिक बुद्धि में नैतिक आधारों पर स्थापित करता है।

किन्तु प्रणाली का यह रूप कुछ पुराना है। कुछ अधिक आशाजनक कार्य ईश्वर के प्रत्यय के अर्थ को निश्चित करना और यह करना है कि क्या विज्ञान के बाह्य जगत् में अथवा अनुभव के आन्तरिक जगत् में कोई ऐसी वस्तु है जो इस अर्थ का उत्तर प्रदान कर सके। प्रस्तुत अध्याय में यही हमारा कार्य होगा।

ईश्वर—मनुष्य के अनुभव में

तब, हमारे लिए ईश्वर शब्द का अर्थ क्या होता है। जैसे ही हम सावधानी

से इस विषय पर चिंतन करना प्रारम्भ करते हैं, पहले ही हम देखते हैं कि हमें इसमें भेद अवश्य कर लेना चाहिए कि हम ईश्वर को किस रूप में समझते हैं अथवा अपने दैनिक विचारों में उसे कैसे सोचते हैं, और जब हम गम्भीरता से उस पर चिंतन करते हैं तो इस शब्द से हम क्या अर्थबोध करते हैं। जिन चित्रों को हमने बचपन में देखा है, उनसे प्रभावित होकर अथवा मिल्टन की **पैराडाइज लॉस्ट** की कल्पना-चित्रण से हम ईश्वर को मनुष्य के रूप में व्यापक और सम्भवतः गौरवान्वित देखते हैं और शरीर और मन दोनों में ही मनुष्य के गुण आरोपित करते हैं। ईश्वर को मनुष्य के रूप में देखने की इस सामान्य प्रवृत्ति को तकनीकी शब्दावली में **मानवत्वारोपण** कहते हैं। आरम्भिक काल के एक यूनानी दार्शनिक-कवि जैनोफेन्स ने यह कटु शिकायत की है कि मनुष्य ईश्वर को मानव-रूप में सोचते हैं। आधुनिक आलोचकों ने भी इस मानवत्वारोपी आदत का उपहास किया है, सम्भवतः वे इस बात का अनुभव नहीं करते कि जो लोग इसका अभ्यास करते हैं वे हमेशा उसे गम्भीरता से नहीं लेते, क्योंकि जब पहले उनसे पूछा जाता है कि **ईश्वर** शब्द से उनका क्या तात्पर्य है, और दूसरे वे उसके विषय में क्या सोचते हैं तो दोनों ही मामलों में परिणाम बिल्कुल भिन्नं होते हैं। यह भी आलोचना की गई है कि ईश्वर का उल्लेख करते समय हम **वह** और **उसका** सर्वनामों का प्रयोग करते हैं, जिनमें ईश्वर को पुल्लिग समझ लिया गया होता है। स्पष्ट है कि इस बात को भी बहुत गम्भीरता से नहीं लेना चाहिए। हमारे पास कोई सर्वनाम नहीं है जिसका किसी ऐसे **व्यक्ति** के लिए प्रयोग हो सकता हो जो न पुल्लिग हो न स्त्रीलिंग और इस विषय में वह और उसे निश्चय ही सामान्यतः प्रयुक्त होते हैं। ईसाई वैज्ञानिक ईश्वर माता-पिता की चर्चा बड़े गौरव से करते हैं।

अधिकांश लोग जब **ईश्वर** शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनका **तात्पर्य** किसी दैवी सत्ता से होता है, जिसे अन्तरात्मा भी कहा जाता है, और जो सत्य और सर्वशक्तिमान् है, जिसका कुछ आधिपत्य हमारे प्रारब्ध पर होता है, और यदि हमारा अपना चरित्र और प्रवृत्ति ठीक है, तो हम सखाभाव का सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। सम्भवतः वे उसे जगत् का निर्माणकर्त्ता, नीति-नियामक तथा निर्णायक भी मानते हैं, और यह विश्वास करते हैं कि अन्तर्यामी रूप से वह जगत् में सर्वत्र स्थित है।

इस सम्प्रत्यय अथवा किसी भी प्रचलित सम्प्रत्यय का विश्लेषण यह दर्शाता है कि ईश्वर प्रत्यय स्वयं को कुछ निश्चित प्रकार के मौलिक तथा लाक्षणिक मूल्यों के आदर्शवाद में ढाल लेता है, जिन्होंने मनुष्यों के अनुभव में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया है, विशेषकर **शक्ति, सत्य, प्रेम, न्याय** तथा **व्यक्ति** के प्रत्यय। यही वे वस्तुएं हैं जो हमारे लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं और ईश्वर इन आदर्शों का मूर्तिमान् रूप अथवा इनकी अभिव्यक्ति है। हमारे अपने जीवन में, हम

आरम्भ से ही मिलनसार हैं, और हमने जब शक्ति का प्रयोग स्वयं किया है तो उसका आनन्द उठाया है, और जब अन्य लोगों ने उसका प्रयोग किया है तब हम डरते रहे हैं। जहाँ तक सत्यता का सम्बन्ध है, यह हमारे समस्त सामाजिक जीवन की पहली शर्त है, केवल इसके अभ्यास से ही मनुष्य सामाजिक समुदायों में एक साथ रह सकते हैं। मनुष्य के परस्पर सम्बन्धों में केवल परिवार में ही नहीं, अपितु समुदाय में सहयोग के रूप में भी प्रेम उतना ही मौलिक होता है; जब कि न्याय जो आचरण के पुरस्कार तथा दण्डों का निर्णय करता है, हृदय की आन्तरिक गहन इच्छाओं को पूरा करता है।

किन्तु हम केवल सामाजिक जगत् में ही निवास नहीं करते। हम वस्तुगत प्रकृति की उपस्थिति में वास करते हैं। हम उसी की उत्पत्ति, बच्चे अथवा सम्भवत: कठपुतली हैं। अत: ईश्वर एक ऐसी अज्ञात तथा रहस्यपूर्ण शक्ति है, जो भयानक होते हुए भी मित्रतापूर्ण है, और जो स्वयं को प्रकृति की उत्पादक शक्ति में, जीवन तथा मृत्यु में, उठते तूफान में, विस्तृत महासागर में, बिजली की गड़गड़ाहट में, लाभदायक जीवन-प्रद सूर्य के प्रकाश में, और समयानुकूल वर्षा में अभिव्यक्त करती है। ईश्वर भयानक होते हुए भी मित्रतापूर्ण है। उसने हमें व जगत् को बनाया है। उसकी माँग है सत्य और न्याय, तब भी अन्तत: वह मनुष्य के लिए उसकी प्रार्थना की प्रतिक्रिया में दया का भाव रखता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हमारे इन उत्कृष्ट आदर्शों को अभिव्यक्त करने के प्रयत्नों के कारण ही हम ईश्वर को निरपेक्ष, शाश्वत, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक आदि गुणों से आभूषित करते हैं। ये शब्द, जो पहले बहुत प्रयोग हुए हैं, अब केवल अनेक उपाधियाँ मानी जा सकती हैं जिन्हें हम ईश्वर की शक्ति, ज्ञान तथा **अत्यन्त** महान् उपस्थिति बताने में प्रयोग करते हैं।

जब कि ईश्वर के ये दो प्रत्यय, समस्त उत्कृष्ट आदर्शों के मूर्तिकरण तथा प्राकृतिक शक्तियों के समाहित रूप में धार्मिक विचार में प्रमुख रहे हैं, ये पूरी बात को बिल्कुल नहीं बता पाते। सम्भवत: इमर्सन जैसी अनेक उच्च आत्माओं के लिए, ईश्वर अति-आत्मा "बुद्धिमत्तापूर्ण शान्ति, सार्वभौम सौन्दर्य, तथा शाश्वत" होता है। जबकि वर्ड्सवर्थ के लिए वह एक ऐसी सत्ता होती है "जो उच्च विचारों से मुझे व्याकुल करती है, एक ऐसी उन्नत वस्तु का अनुभव होता है जो बहुत गहराई से मिली हुई होती है, जिसके निवास-स्थल हैं डूबता सूर्य, गोलाकार महासागर, तथा सजीव समीर एवं नील-गगन तथा मानव-मस्तिष्क; जो एक गति और एक ऐसी शक्ति है जो समस्त चिंतनशील वस्तुओं को प्रेरित करती है; चिंतन करने के समस्त विषयों में और सभी वस्तुओं में विहार करती है।" अत: वर्ड्सवर्थ को ईश्वर के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसे **अनुभूति** होती है, और **उपस्थिति** के रूप में अनुभूति होती है। एक व्याकुल करने वाली उपस्थिति, तो भी उच्च विचारों के आनंद के साथ व्याकुल करती है।

इसी प्रकार सभी युगों के रहस्यवादियों ने ईश्वर के विषय में चिंतन अथवा तर्क करने की अपेक्षा उसकी अनुभूति की है अथवा उसे अनुभव किया है, और उसकी अनुभूति **जीवन** या **प्रेम** अथवा **अनंत** के रूप में की है।

विलियम जेम्स तथा अतिदैवी

तो अभी तक हमने इस अध्याय में निश्चित रूप से किंचित् मात्र भी नहीं सीखा कि ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं। हमने केवल मानव-चिंतन के इतिहास में इस समस्या के महत्त्व को देखा है, और हमने सामान्य रूप से देखा है कि सामान्य व्यक्ति, कवि तथा रहस्यवादी के लिए ईश्वर प्रत्यय का क्या अर्थ होता है। इस विषय पर विज्ञान का तथा वर्तमान समय के दार्शनिकों का क्या दृष्टि-कोण है इसे अब हमें देखना चाहिए। इस विषय पर जेम्स की प्रणाली द्वारा अध्ययन हमारा प्रथम लक्ष्य होना चाहिए। उसकी उल्लेखनीय पुस्तक **दि वेराइटीज़ ऑफ़ रिलिजस एक्सपीरियन्स** के अन्तिम अध्याय में तथा उसके लेख "इज़ लाइफ वर्थ लिविन्ग ?" तथा "रिफ्लैक्स एक्शन एन्ड थीइज़्म" में, जिनमें पिछले दो उसकी पुस्तक **दि विल टु बिलीव** में देखे जा सकते हैं, जेम्स ने ईश्वर तथा चरम आध्यात्मिक सत्ता के विषय में अपने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विचार दिए हैं।

जेम्स किसी की आस्था के लिए तर्कों का प्रदर्शन करने की पुरानी पद्धति से आरम्भ नहीं करता। अपितु वह हममें से प्रत्येक को ईश्वर के विषय में स्वयं अपने अनुभवों का स्मरण कराता है। डॉ० केबट अपनी कृति **व्हाट मैन लिव बाई** में कहता है कि हम जिन चार बातों पर जीवित रहते हैं वे हैं कार्य और खेल एवं प्रेम तथा पूजा। इस प्रकार जेम्स अर्थक्रियावादी पद्धति के द्वारा दर्शाता है कि ईश्वर वह है जिसके आधार पर हम जीवित रहते हैं। हमारे अनेक अनुभवों में हम मात्र संवेदनात्मक तथा "ग्राह्य" जगत् की अपेक्षा अस्तित्व की अन्य दिशा को स्पर्श करते हुए प्रतीत होते हैं। उसे, जैसा हम चाहें, चाहे रहस्यपूर्ण, अतिप्राकृतिक अथवा अदृश्य जगत् कहें, अथवा उसे अपने अवचेतन मन का एक विस्तार कहें, फिर भी हम उसके साथ एक तरह का वास्तविक सम्बन्ध अनुभव करते हैं, हम उससे यथार्थ शक्ति प्राप्त करते हैं और उसमें ही अपने आदर्श आवेगों के स्रोत को पाते हैं। यह शक्तिशाली अनुभूति अथवा दृढ़ विश्वास, जो हममें से अनेकों में है कि यह प्राकृतिक जगत्, यह वायु तथा जल वाला जगत् ही पूर्ण सत्ता नहीं है; किन्तु कहना यों चाहिए कि यह एक अन्य प्रकार की वास्तविकता में भीगा अथवा नहाया हुआ है, जिसे हम **आध्यात्मिक** अथवा **आदर्श** की संज्ञा दे सकते हैं, जेम्स का विचार है कि उसे उसके परिणामों से अर्थक्रियावाद पद्धति से पुष्ट होना चाहिए।

यह अवधारणा कि वायु और जल वाला भौतिक जगत्, जहाँ सूर्योदय और चन्द्रास्त होता है, निरपेक्ष तथा अन्तिम रूप से दैवी रूप से लक्षित

तथा स्थापित है, और जिसे हम बहुत प्राचीन आदिम यहूदी धर्मों में पाते हैं। यह वह प्राकृतिक धर्म है (जो इस तथ्य के बावजूद भी आदिम है कि कवि तथा वैज्ञानिक, जिनकी क्षमता अपनी दृष्टि की सूक्ष्मता को पार कर चुकी है, उसे नवीन संस्करणों में प्रकाशित करते जाते हैं और हमारे कानों को प्रिय लगने वाले बनाए जाते हैं, जिसके विषय में जैसा मैंने कुछ समय पूर्व कहा है, इस धर्म में निश्चित रूप से एक समुदाय के लोगों के विचार से, जिसमें मैं स्वयं को भी सम्मिलित मानता हूँ, और जिनकी संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है, ह्रास हुआ है। ऐसे व्यक्तियों के लिए, प्रकृति की भौतिक व्यवस्था को, यदि जैसा उसे विज्ञान समझता है, लिया जाए तो वह किसी भी सामंजस्यपूर्ण आध्यात्मिक तत्त्व को बताती हुई नहीं कही जा सकती। जैसा चॉन्से राइट उसे बताता है कि वह मात्र **मौसम** है, निष्प्रोजन कार्य करता और उसे मिटाता रहता है।

कुछ और बात चाहे निश्चित हो अथवा न हो, कम से कम यह अवश्य निश्चित है कि हमारा वर्तमान प्राकृतिक ज्ञान का जगत् किसी अन्य वृहत्तर जगत् से आच्छादित है जिनके अन्तरंग गुणों का पता अभी हम नहीं लगा सके हैं।

यह कि भौतिक जगत् निरपेक्ष नहीं है, ऐसा समस्त युक्तियाँ मिलकर आदर्शवाद के पक्ष में सिद्ध करने को प्रवृत्त होती हैं, और यह कि हमारा समस्त भौतिक जीवन आध्यात्मिक वातावरण से ओतप्रोत होता है, जो एक ऐसी दिशा है जिसे समझने के लिए हमारे पास कोई अंग नहीं होता, यह बात हमें पालतू जानवरों के जीवन के दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाती है।[1]

यदि आप चाहें तो इसे "आदर्श प्रवृत्ति का प्रवाह" कह सकते हैं, किन्तु जब तक ऐसा प्रवाह न हो,उन सभी आदर्शों के स्रोतों का विवरण देना कठिन है जो जीवन को रहने योग्य बनाते हैं। यह दृढ़ सत्य है कि हम इन आदर्शों पर ही रहते हैं। हम अपने अनुभवों में अपने निम्न तथा उच्च भाग में भेद करते हैं और यह अनुभव करते हैं कि यह उच्च भाग उन्हीं गुणों से आगे **अतिदैवी** होता है। यह अतिदैवी हमारे बाहर होता है, तो भी हम किसी न किसी प्रकार उससे सम्बन्धित होते हैं, उससे सामंजस्य रखते हैं, और इसी सामंजस्य पर हमारी शान्ति एवं सुरक्षा आधारित होती है। "यह दृश्य जगत् बड़े आध्यात्मिक जगत् का अंग है, जिससे उसे अपना प्रमुख महत्त्व प्राप्त होता है", और इस आध्यात्मिक जगत् को ही हम ईश्वर की संज्ञा देते हैं।

अब यदि, यह उत्तर दिया जाए कि ये सब बातें रहस्ययूर्ण हैं तथा केवल

---

1. William James, *The Will to Believe* (Longmans, Green and Company), pp. 52, 54, 57 in the essay "Is Life Worth Living ?"

व्यक्तियों के विषयीनिष्ठ और असामान्य अनुभवों की ओर ही मात्र संकेत करती हैं, अतः विज्ञान की कसौटी का सामना नहीं कर सकतीं तो जेम्स इसके लिए एक ध्यान देने योग्य परीक्षण का सुझाव देता है: "जहाँ तक हम ब्रह्मांडीय तथा सामान्य बातों के साथ व्यवहार करते हैं, हम केवल वास्तविकता के प्रतीकों के साथ ही व्यवहार कर रहे होते हैं, किन्तु ज्यों ही हम निजी तथा व्यक्तिगत घटनाओं के साथ व्यवहार करना आरम्भ करते हैं हम सही तथा पूर्णतम रूप में वास्तविकता के साथ व्यवहार कर रहे होते हैं।" यदि यह बात हममें से किसी को सही क्रम को उलट देने वाली लगे तो हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जिन सम्प्रत्ययों का प्रयोग विज्ञान करता है—जो बहुत वास्तविक प्रतीत होते हैं, उदाहरण के लिए जैसे, पुद्गल, ऊर्जा, ईथर, परमाणु—ये केवल वास्तविकता के प्रतीक हैं और अनुभव के तथ्यों को बताने के लिए उपयोगी होते हैं।

वर्तमान विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र में ईश्वर

अब, जेम्स ने आध्यात्मिक सत्ता जगत् का जो चित्र इस भौतिक व्यवस्था के अन्तर्गत अथवा परे प्रस्तुत किया है, जो वास्तव में इस भौतिक जगत् को उसका महत्त्व और मूल्य प्रदान करता है, वह निश्चय ही हमें बहुत सुन्दर तथा सत्य प्रतीत होता है। किन्तु हममें से अनेक लोगों को वह काव्यमय अथवा सम्भवतः अत्यन्त धार्मिक प्रतीत हो सकता है, जो विज्ञान के सहयोग से रहित हो। इसलिए हम सम्भवतः ईश्वर में अपनी आस्था के लिए और अधिक सुदृढ़ तथा निश्चित आधार चाहते हैं। ईश्वर प्रत्यय के विषय में हम वर्तमान समय के विज्ञान तथा दूसरों की बात न सुनने वाले और "अपनी बात पर दृढ़ रहने वाले" आधुनिक वास्तववादी दार्शनिकों का दृष्टिकोण जानना चाहेंगे। निश्चय ही, हम जानते हैं कि आदर्शवादी, नैतिक तथा धर्म-मीमांसा के दार्शनिकों को ईश्वर की समस्या में कम कठिनाई होती है। हमें ज्ञात है कि प्लेटो अपने **शुभ के प्रत्यय** के साथ; अरस्तू अपने **आद्य चालक** के साथ; स्टोइक अपने **परमेश्वर** के साथ; नव्य-प्लेटोवादी अपने **अनिर्वचनीय एक** के साथ, हिब्रू अपने **जेहवा, सत्यवादी नियमदाता** के साथ; ईसाई अपने **प्रिय कष्ट-निवारक** ईसा के साथ; पादरी अपने **प्रभु, स्रष्टा** के साथ; स्पिनोज़ा अपने **एक द्रव्य, ईश्वर तथा दो गुणों, मनस् तथा पुद्गल** के साथ; बर्कले अपनी **आत्माओं के पिता** के साथ; कान्ट अपने **नैतिक नियम तथा ईश्वर की अपनी अनुशास्ति** के साथ; हीगल अपने **निरपेक्ष प्रत्यय** के साथ; यूकेन अपने **आध्यात्मिक जीवन** के साथ; हर्बर्ट स्पेन्सर अपनी **अनन्त तथा शाश्वत ऊर्जा** के साथ[1]; ब्रेडले तथा रॉयस अपने **निरपेक्ष अनुभव** के साथ ईश्वर को जगत् का

---

1. "किंतु एक सत्य सदा स्पष्ट होता जाना चाहिए—यह सत्य कि सर्वत्र अभिव्यक्त एक अगाध सत्ता है, जिसका वह (विज्ञान का व्यक्ति) आरम्भ अथवा अंत न तो देख सकता है, और न समझ सकता है। उन रहस्यों में जो चिंतन करने पर और अधिक रहस्यात्मक हो

आधार व द्रव्य के रूप में देखते हैं। किन्तु हम विल्कुल निश्चित नहीं हैं कि इन व्यक्तियों पर हम कहाँ तक भरोसा कर सकते हैं। हमें उनमें महान् आस्था है, किन्तु यदि हम यह अविश्वास कर लें कि उनके विचार वर्तमान विज्ञान के विचारों के साथ सहमत नहीं हैं, क्योंकि हमारा विश्वास विज्ञान में और अधिक है तो हमारी आस्था उनमें कम हो जाती है।

कुछ पृष्ठ पूर्व हमने वताया था कि मनुष्य के अनुभव में ईश्वर का क्या तात्पर्य है—हमारी समस्त उत्कृष्ट विशेषताओं का मानवीकरण प्रकृति की शक्तियों का अहं-निषेध जो औचित्य का निर्माण करता है, अति आत्मा, तथा दैवी आधिक्य है। यहाँ हमारा आधार सुदृढ़ है, वास्तव में हमारे लिए ईश्वर का यही अर्थ है, किन्तु हम जानना यह चाहते हैं कि क्या ऐसे ईश्वर का अस्तित्व है।

खैर! जेम्स के ध्यान देने वाले परीक्षण में हमने ईश्वर के अस्तित्व में आस्था रखने के लिए एक आधार पा लिया है। वह दर्शाता है कि भौतिक विज्ञान में जब हम पुद्गल, गति, तथा ऊर्जा को व्यवहार में लाते हैं तो हम उन प्रतीकों के साथ व्यवहार कर रहे होते हैं जो बाह्य अनुभव के तथ्यों की व्याख्या करने में उपयोगी होते हैं, जब कि हम निजी तथा व्यक्तिगत घटनाओं के मामलों में संकीर्णतम अर्थों में वास्तविकताओं के साथ व्यवहार कर रहे होते हैं।

किन्तु क्या ईश्वर का कोई ऐसा संप्रत्यय निर्धारित कर सकना सम्भव होगा, जो वर्तमान समय के विज्ञान तथा दर्शन से सामंजस्य रखता हो, और उसके साथ ही यह भी बता सकता हो कि मनुष्य के अनुभव में ईश्वर का क्या अर्थ होता है ? अध्यक्ष इलियट ने इसे सूत्र में बाँधने का निम्नलिखित प्रयोग किया है: ईश्वर एक "सर्वव्यापक, शाश्वत शक्ति है, जो समस्त रचना को काल के प्रतिक्षण में और अनन्त दिक् में ज्ञान देती है तथा प्रोत्साहित करती है।" "ऊर्जा" शब्द ईश्वर की शक्ति प्रदान के लिए हमारी इच्छा की पूर्ति करता है, "ज्ञान देने वाला" उसका अपने को ढालने वाली तथा रचना करने वाली क्रिया बताता है, जब कि "प्रोत्साहित करने वाला" ईश्वर को मूल्यों का स्रोत वताने की ओर संकेत करता है।

क्या निम्नलिखित सूत्र में इन विचारों को और अधिक व्यापक तथा स्पष्ट किया जा सकेगा ?

ईश्वर जगत् की आत्मा है, एक अन्तर्यामी आध्यात्मिक सत्ता, एक सृजनात्मक, व्यवस्थापक तथा पूर्ण करने वाली शक्ति है, तथा वह हमारे नैतिक, धार्मिक और सौंदर्यप्रेरक आदर्शों का स्रोत भी है।

सम्भवत:, ईश्वर का अर्थ हमारे लिए लगभग यही होता है—एक

जाते हैं एक बात निरपेक्षतः निश्चित रहेगी कि वह अनंत तथा शाश्वत ऊर्जा की उपस्थिति में होता है, जहाँ से समस्त वस्तुएँ आती हैं।"—Herbert Spencer, *Principles of Sociology* (D. Appleton and Company), vol. III, p. 175.

आध्यात्मिक सत्ता, एक सृजनात्मक शक्ति, सत्यता, सुन्दरता तथा प्रेम का प्रतिपादक। क्या दर्शन तथा विज्ञान इस आशा से हमारी पुष्टि करते हैं कि ऐसी सत्ता का अस्तित्व वास्तव में होता है ?

पिछले अध्यायों में हम जीवन के स्वभाव तथा उसके विकास का अध्ययन करते आ रहे हैं, हमने देखा है कि विकासात्मक गति के प्रत्येक स्तर पर किसी न किसी सृजनात्मक कारक का अनुमान कर लेना आवश्यक होता है, ऐसा न केवल परमाणुओं से अणुओं में, तथा अणुओं से जीवित कोशों में परिवर्तित होने की मौलिक व्यवस्था में आवश्यक है, अपितु यह जीवित कोशों के जीवन के उच्चतर रूपों में—मनुष्य के स्तर तक परिवर्तित होने में भी आवश्यक होता है। विकास एक सृजनात्मक प्रतिक्रिया है तथा इसमें कुछ व्यवस्थापक, संघटक तथा पूर्ण करने वाले कारक पहले से ही सम्मिलित रहते हैं। संकेत यह किया गया है कि सरलतर तत्त्वों से पुद्गल की रचना वर्तमान काल की सृष्टि है और जीवन की निरन्तर रचना जैविक स्तर पर होती है।

यदि हम तात्त्विक वस्तुओं की बात करें तो ऐसा प्रतीत होगा कि ऊर्जाओं की दिशा तथा समन्वय उतना ही तात्त्विक होता है जितनी कि स्वयं ऊजाएँ हैं। आज के वैज्ञानिक चिन्तन में ऊर्जा का संप्रत्यय बहुत मौलिक है। स्वयं पुद्गल को भी ऊर्जा में घटाया जा सकता है। किन्तु ऊर्जा का संप्रत्यय स्वयं ही अनिश्चितताओं तथा कठिनाइयों से पूर्ण है। यह एक प्रतीक होता है, जो विज्ञान में उपयोगी है और उन सभी बातों के लिए प्रयुक्त होता है जो परिवर्तन लाते हैं और कारगर होते हैं। उसकी अभिव्यंजना गुणात्मक होने की अपेक्षा परिमाणात्मक होती है, और यदि हम यह प्रश्न करें कि ऊर्जा वास्तव में है **क्या**, तो भौतिक विज्ञान हमें कुछ नहीं बताता। यह प्राक्कल्पना कि वह रहस्यपूर्ण वस्तु जिसे हम ऊर्जा कहते हैं, कुछ-कुछ चित्तीय तथा मन के समान है, और जैसा हमने पिछले अध्याय में देखा है वह दर्शनशास्त्र की अनुकम्पा का पात्र रहा है, और प्रायः भौतिकीविदों द्वारा स्वयं ही प्रस्तावित हुआ है। ऐसी प्राक्कल्पना हमारे समक्ष जगत् का प्रत्ययवादी विचार प्रस्तुत करती है, तथा समस्त ''भौतिकी'' जगत् को ''मनस् ऊर्जा'' में घटा देती है—और यह मनस्-ऊर्जा ईश्वर होगी। यह मत विज्ञान तथा धर्म में सामंजस्य स्थपित करता हुआ प्रतीत होता है, और दर्शन के हमारे महान् बहुत तंत्रों द्वारा अपनाया हुआ है।

जगत् विषयक यह मत, यद्यपि उत्कृष्ट तथा उत्साहजनक है, तथापि अब प्रवृत्ति इससे कुछ भिन्न है। हमारी वास्तविक मानुषिक बोलचाल में ईश्वर का यह अर्थ नहीं है। जेम्स कहता है कि, ''सामान्य मनुष्य के धार्मिक जीवन में ईश्वर वस्तुओं की सम्पूर्णता का नाम नहीं है, किन्तु वह वस्तुओं के केवल आदर्श पहलू का नाम है। ईश्वर एक अतिमानव माना जाता है जो हमें उसके उद्देश्यों में सहयोग करने के लिए आमंत्रित करता है, और यदि हमारे उद्देश्य उपयुक्त हैं तो

उन्हें वह आगे बढ़ाता है।"[1] ऊर्जा संप्रत्यय हमें चाहे जितना भी मौलिक प्रतीत हो, अन्य संप्रत्यय भी हैं—जो उतने ही गहन हैं। सम्भवत: विश्व में कुछ और वस्तु है जो ऊर्जा अथवा पुद्गल से भी अधिक तात्त्विक है, जैसे ऊर्जा की दिशा। मनोविज्ञान में जिस प्रकार हमने देखा है कि संवेदना प्रत्यक्षीकरण और विचार से भी कुछ वस्तुएँ और अधिक तात्त्विक हैं, जैसे आवेग, ज्ञानात्मक प्रवृत्तियाँ, बुभक्षा, तथा उत्कंठा; और जैसे जीव-विज्ञान में हमने यह आशंका की है कि स्वयं कार्बनिक जीवन से कहीं अधिक गहन, जीवन के लिए कोई तात्त्विक संघर्ष होता है, उसी प्रकार समस्त जगत् में किसी मौलिक संवेग को होना चाहिए जो व्यवस्था, संरचना, जीवन तथा मन के लिए अथवा सम्भवत: सत्य के लिए हो। ये ही शाश्वत मूल्य हैं। इसलिए ईश्वर ऊर्जा नहीं है, अपितु सृजनात्मक क्रिया है; और केवल सृजनात्मक क्रिया ही नहीं वरन् "आदर्श प्रवृत्ति" है।

मनुष्य का मन इस प्रकार बना हुआ है कि वह प्रगति में विश्वास अवश्य करता है। यदि और अधिक जटिलता तथा उच्चतर संगठन की ओर व्यवस्थित परिवर्तन दिखाई पड़ें, जिन्हें हम विकास की संज्ञा देते हैं, तो किसी न किसी की प्रगति अवश्य होनी चाहिए। किन्तु इस बात का प्रमाण है कि व्यापक अर्थों में विकास इससे भी कुछ अधिक होता है। एडविन ग्रान्ट कोन्कलिन[2] के अनुसार यह केवल क्रमिक तथा उत्तरोत्तर परिवर्तन ही नहीं, अपितु बढ़े हुए सहयोग तथा विशेषज्ञता की ओर प्रगति भी है। विलियम पैटन[3] के अनुसार इसका अर्थ यह है कि एक सामान्य सृजनात्मक कारक होता है, एक ऐसी अग्रगामी, सृजनात्मक प्रक्रिया होती है जो सदा सहयोग तथा परस्पर सेवा की ओर ध्यान रखती है। अस्तित्व के लिए अथक संघर्ष की अपेक्षा विकासात्मक आन्दोलन की गहरी जड़ में एक अन्य शक्ति कार्य कर रही होती है, जिसका उद्देश्य रचनात्मक, सर्वहितवादी तथा परहितेच्छावादी होता है।

इसलिए हमारा यह कहना न्यायोचित प्रतीत होता है कि जगत् में कोई मौलिक कारक होता है, जिसका कार्य समाकलित करने वाली, व्यवस्था करने वाली तथा पूर्ण करने वाली शक्ति होता है—वह ऐसी शक्ति होती है, जो पूर्णता, एकता, वैयक्तिकता और सम्भवत: सहयोग तथा सत्यता के लिए कार्य करती है। हमारी समस्त अति-आस्थाओं के नीचे "यह तथ्य आधारभूत होता है कि ईश्वर का अस्तित्व है—यह कि एक आदर्श होता है जो ऐतिहासिक प्रक्रिया से स्वयं ही ऊपर उभरता है—एक ऐसी शक्ति होती है, जो हमें अबाध रूप से किसी दूर के अज्ञात लक्ष्य की ओर खींच रही होती है, और हमसे पूर्ण निष्ठा की माँग करती है।"[4]

1. William James, *A Pluralistic Universe*, p. 124.
2. देखिए उसकी पुस्तक: *The Direction of Human Evolution.*
3. देखिए उसकी पुस्तक: *The Grand Strategy of Evolution.*
4. Durant Drake, *Problems of Religion*, p. 147.

ईश्वर, आदर्शों के स्रोत के रूप में

अन्त में क्या हमारे पास यह विश्वास करने के लिए कोई आधार है कि ईश्वर हमारे नैतिक, धार्मिक तथा सौंदर्यपरक आदर्शों का स्रोत है ? ठीक है, ये आदर्श मनुष्य में होते हैं, और मनुष्य जगत् का ही एक अंग है। इन आदर्शों का कोई स्रोत अवश्य होना चाहिए। इतिहास आदर्शों को प्राप्त करने की प्रक्रिया प्रतीत होता है। हालाँकि वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ सम्भवतः इतनी अच्छी हैं जितनी पहले कभी नहीं थीं, वे हमें अपूर्ण प्रतीत होती हैं, और हम उनसे असन्तुष्ट हैं। हमारे आदर्श अभ्यास के स्तर से सदा ऊपर रहते हैं। हम अपनी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के सामाजिक अन्याय के बारे में शिकायत करते हैं और उसे सुधारने के लिए बड़े और सफल प्रयत्न कर रहें हैं। तो भी जब हम पीछे मुड़ कर देखते हैं, तो इस मामले में किसी भी काल को इतना बढ़ा हुआ नहीं पाते जितना हमारा यह काल है। अपनी दासता के दिनों में हमने स्वाधीनता का कार्य-क्रम बनाया और उसे प्राप्त किया। आर्थिक दासता के दिनों में हमने आर्थिक स्वतन्त्रता का कार्यक्रम बनाया और हम उस पर विजय पा रहे हैं। आदर्शों तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए संघर्षों की इस दृष्टि से हमने अपने महिला वर्ग को असमानता की अनुचित स्थिति से मुक्त कर दिया है, हमने अपने बच्चों के लिए श्रम से मुक्ति तथा शिक्षा की सुविधा के अधिकारों पर जोर दिया है। हमने एकतन्त्र के विरुद्ध आन्दोलन किया और लोकतन्त्र के सिद्धान्तों की पुष्टि की। अब हम युद्ध को समाप्त करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के किसी तन्त्र की स्थापना करने की आशा कर रहे हैं। कोई भी पाठक आदर्शों की उपलब्धि में मानवता की प्रगति के उदाहरण अपनी इच्छा से जोड़ सकता है।

किन्तु ये आदर्श कहाँ से आते हैं ? क्या, हम जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं, उन्हें बनाते चलते हैं ? यदि ऐसा है, तो विकास सृजनात्मक है, और वह, जिससे उच्चतर की हम कल्पना नहीं कर सकते उसकी अपेक्षा अधिक मूल्यों, नैतिक नियमों तथा सौंदर्य का रचनाकार है। यदि विज्ञान जगत्-प्रक्रिया की इस व्याख्या की अनुमति देता है, तो धर्मशस्त्र को निश्चय ही सन्तुष्ट रहना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार की सृजनात्मक शक्ति हमारी दैवत्व की अवधारणा को पूरा करती है।

किन्तु, इसके विपरीत, जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे क्या मूल्यों की रचना नहीं होती, अपितु शाश्वत प्ररूपों, रचनाओं, भिन्नताओं, वास्तविकताओं और तत्त्वों की होती है ? क्या आदर्श मूल्यों का कोई तन्त्र है, जिसमें हाल के लेखकों की भाषा का प्रयोग करते हुए हमारे आदर्श "जीवित" रहते हैं ? प्लेटो के प्राचीन उपदेशों में चिरस्थायी अपील है। हम इन आदर्श मूल्यों को न केवल वास्तविक मान सकते हैं, अपितु कोई ऐसा कारक अथवा दक्षता रखते हुए मान सकते हैं, "जो इस तथ्य के आधार पर यह पुष्टि कर दे कि मनुष्य उन आदर्शों

से प्रभावित होते हैं जो अभी तक कभी भी यथार्थ अस्तित्व का रूप ग्रहण नहीं कर सके हैं। उदाहरण के लिए, ऐसा कहने के लिए कौन जल्दबाज़ी करेगा कि किसी भी मनुष्यों के समाज ने संगठन के ऐसे आदर्श प्राप्त कर लिए हैं जिनमें पूर्ण न्याय किया जाता है ? तो भी यह आदर्श संघर्ष करने और उसके लिए प्रयत्न करने योग्य है, विचारशील व्यक्तियों में कौन इस बात का निषेध करता है ? और किस पर इस आदर्श की दक्षता विवश कर देने वाली ताकत के साथ नहीं पड़ती ?"[1]

अतः यह प्रतीत होगा कि जगत् की आत्मा, एक अन्तर्वर्ती आध्यात्मिक शक्ति, एक सृजनात्मक तथा पूर्ण करने वाले कारक, तथा आदर्श मूल्यों के स्रोत के रूप में ईश्वर का संप्रत्यय, हमें ईश्वर के विषय में सहायतापूर्ण अवधारण प्रदान कर सकता है, जो विज्ञान तथा दर्शन दोनों के साथ तथा सामान्य बोल-चाल में ईश्वर शब्द के अर्थ के साथ भी संगठित रहेगा।

"यदि हम किसी वस्तु में विश्वास रखते हैं, किसी भी ऐसी वस्तु में जो मानव-जीवन को बहुत महत्त्व देती है, हमारी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं तथा भावावेगों से ऊँची है, और कुछ इस प्रकार की है, जो हमें अपने अहं से ऊपर उठा सके और हमारे क्षुद्र जीवन को गहन अर्थ तथा मूल्य प्रदान कर सके तो व्यापकतम अर्थों में यह कहा जा सकता है कि हमारे पास ईश्वर है।"[2]

निषेधक शक्ति

हमारे आधुनिक जगत् ने ऊर्जा के सम्प्रत्यय पर बहुत बल दिया है। इस समय हम जैविक काल में निवास कर रहे हैं और क्रिया, वृद्धि, संघर्ष, विकास, तथा उपलब्धि के विचारों से चिंतत या ग्रसित हैं। हम प्रत्येक वस्तु को नियंत्रित करना चाहते हैं और उस पर शासन रखना चाहते हैं। हम सदा कुछ नवीन वस्तु की रचना करना चाहते हैं, हम किसी भी वस्तु के महत्त्व का निर्णय इस आधार पर करते हैं कि वह वस्तु क्या सिद्धि कर सकती है। दक्षता इस समय की प्रतिमा है, और ईश्वर जिसमें हम विश्वास करते हैं वह ईश्वर दक्ष है। प्राचीन यूनान-वासियों ने इन सभी बातों को भिन्न दृष्टि से देखा था। उनका यह मत था कि उच्चतर सत्ताओं का जगत् बनाए जाने वाली अथवा प्राप्त करने वाली वस्तु नहीं है, अपितु उपभोग करने, निर्दिष्ट कार्य के लिए लगाने तथा ध्यान लगाने वाली वस्तु है। उन्होंने उन वस्तुओं की ओर ताका, जिन्हें बनाना था, और उन्होंने आश्चर्य, प्रशंसा, यहाँ तक कि अर्चना तक को जीतने के लिए नहीं, वरन् समझने

---

1. E. G. Spaulding, *The New Rationalism* (Henry Holt and Company), pp. 516—17.

2. Durant Drake, *Invitation to Philosophy* (Houghton Mifflin Company), p. 511.

तथा भोग करने के लिए देखा।[1] सीमाओं की प्राचीन ग्रीक अवधारणाओं के विषय में भी कुछ ऐसा है जो हमारे पास अपनी सिफारिश स्वयं करता है। अपने परिणामों से दक्षता का हमारा आधुनिक शुभ सन्देश बहुत निराशाजनक रहा है। हमें परेशान करने के लिए बीसवीं शताब्दी में सन्देह के बादल उमड़कर डराते हुए प्रतीत हो रहे हैं। एक दक्ष ईश्वर का हमारा सिद्धान्त अब पर्याप्त नहीं प्रतीत होता। हम अन्य दैवी गुणों पर बल देने की आवश्यकता का अनुभव करते हैं—ईश्वर की अनंतता, सर्वज्ञता, तथा सर्वशक्तिमत्ता नहीं, जो प्राचीन काल में समझे जाते थे, अपितु वे आदर्श मूल्य जो ईश्वर का मुख्य अर्थ निर्धारित करते हैं और हम यह देखने लगे हैं कि आदर्श मूल्य दक्षता के रूप की शक्ति नहीं हैं, अपितु समाकलन करने वाली, सामंजस्य, संतुलन, एकता तथा अनुपात रखने वाली शक्ति हैं। ईश्वर सत्यता है—ईश्वर प्रेम है। हाँ, संभवतः ईश्वर "वह अत्मा भी है जो निषेध करती है।"

डार्विन तथा उसके उत्परिवर्तन, संघर्ष और योग्यतम की अतिजीविता सिद्धान्त से प्रभावित होकर हमने सकारात्मक, स्वग्राहिता, तथा आत्माभिव्यक्ति पर आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना आरम्भ कर दिया है और निग्रह, आत्म-संयम, संतुलन तथा त्याग जैसे गुणों का मूल्य कम कर दिया है। विलियम ब्लेक ने एक सौ पचास वर्ष पूर्व सकारात्मकता तथा प्राणशक्ति का जो नवीन शुभ-सन्देश दिया था वह अतिदमित काल के विरोध में एक प्रकार की प्रतिक्रिया थी। वह ईश्वर नहीं, शैतान है जो कहता है "तुम नहीं होगे।" तभी से बहुत से लेखकों ने विधि, परिपाटी तथा प्राधिकार तथा परम्परा के विरोध में और हमारी गहनतम मूल प्रवृत्तियों और इच्छाओं के दमन के विरोध में आन्दोलन का झंडा ऊँचा किया है। जिस निरपेक्ष की वे अर्चना करते हैं, "वह ऊर्जा की सकारात्मकता" होती है, जिसने महायुद्ध के अन्त तक जगत् को प्रभावित रक्खा है। रूसो, और नीत्शे, इब्सन और बर्नार्ड शॉ, बर्गसाँ और ब्राउनिंग ऊर्जा तथा सकारात्मकता की दार्शनिक विचारधारा के नाते रहे हैं। नीत्शे में "हाँ कर्त्ता" अपने चरम रूप में दिखलाई पड़ता है। चलिए हम अपनी इच्छाओं, अपनी मूल प्रवृत्तियों, अपने प्राकृतिक भावावेशों तथा अपनी आन्तरिक आवश्यकताओं के लिए "हाँ" कहें। चलिए हम अपने साम्राज्य की लालसाओं, और संस्कृति के लिए भी "हाँ" कहें। हम अपनी राजनीतिक, आर्थिक तथा वाणिज्य की महत्त्वाकांक्षाओं के लिए "हाँ" कहें। हम अपने व्यक्तिगत लक्षणों, खिलती हुई प्रतिभा, अपने व्यक्तित्व तथा आत्म-अभिव्यंजना की आवश्यकता के लिए भी "हाँ" कहें।

---

1. जॉर्ज पी० एडम्स ने अपनी प्रशंसनीय पुस्तक "आइडियलिज्म एन्ड दि माडर्न एज" में सशक्त रूप में इस विचार का विकास किया है।

हर हताश प्रयास मेरा पाप का संकेत केवल,
अप्रकाशित दीप जैसा—या कि बंधन मुक्त कटि सा।

किन्तु विस्तार तथा सकारात्मकता का दर्शन व्यवहार में उतना अच्छा सिद्ध नहीं हुआ जितनी हमने आशा की थी। महायुद्ध उसका फल था, तथा युद्ध के पश्चात् की घटनाओं ने उसके दोषों को और भी स्पष्ट कर दिया है। इसलिए हम दक्षता तथा ऊर्जा की अवधारणाओं को कुछ कम महत्त्व तथा मापन तथा तर्क-बुद्धि को कुछ अधिक महत्त्व देने लगे हैं। और मैं सोचता हूँ कि हम लोगों ने यह समझना आरम्भ कर दिया है कि ईश्वर एक गतिमान कारण अथवा एक विकास-वादी अंत:प्रेरणा के अर्थ में सृजनकर्त्ता नहीं है, अपितु वह रचनात्मक, समाकलन तथा उस पूर्ण करने वाली शक्ति के अर्थ में सृजनकर्त्ता है, जो पूर्णता, सौंदर्य, सत्य तथा सत्यता के लिए होती है—और सहनशीलता, सामंजस्य, आज्ञाकारिता, प्रेम तथा सहयोग के लिए भी होती है। जगत् में ऐसी शक्ति की उपस्थिति हमें न केवल वस्तुओं में आदर्श वृत्ति समझने में और मनुष्य की आत्मा में आदर्शों का रूप समझने में सहायक होती है, अपितु वह प्रकृति में जीवन की उत्पत्ति और प्रगति तथा उसके उच्चतर रूपों के विकास को बहुत स्पष्ट कर देती है। प्रकृति में यह कारण प्रभावकारी कैसे हो जाता है, सम्भवत: यह हम अभी तक निश्चित नहीं कर सकते, किन्तु यदि हम उसे वाहक शक्ति न मानकर आकर्षक शक्ति मान लें तो कम से कम कुछ कठिनाइयाँ दूर की जा सकती हैं।

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Irwin Edman, *Human Traits and Their Social Significance* (Houghton Mifflin Company), chap. XII.

James B. Pratt, *The Religious Consciousness* (The Macmillan Company), chap X.

अन्य सन्दर्भ

Has Science Discovered God? A Symposium of Modern Scientific Opinion. Edward H. Cotton, Editor (Thomas Y. Crowell Company).

William E. Hocking, *The Meaning of God in Human Experience* (Yale University Press).

W. K. Wright, *A Student's Philosophy of Religion* (The Macmillan Company), chaps. XIX, XX.

John Elof Boodin, *God* (The Macmillan Company).

Joseph Fort Newton, Editor, *My Idea of God* (Little, Brown and Company, Boston).

Josiah Royce, *The Conception of God* (The Macmillan Company).

Fr..ncis J. McConnell, *The Diviner Immanence* (Eaton and Maine).

Grant Allen, *The Evolution of the Idea of God* (Henry Holt and Company).

G. A. Coe, *Religion of a Mature Mind* (Revell, Chicago), chap XIII.

Richard La Rue Swain, *What and Where Is God?* (The Mac-. millan Company).

E. Westermarck, *Early Beliefs and Their Social Influence* (The Macmillan Company).

Fries and Schneider, *Religion in Various Cultures* (Henry Holt and Company).

George Santayana, *Some Turns of Thought in Modern Philosophy* (University Press, Cambridge, England), chap. V.

Robert A. Millikan, *Time Matter and Values* (University of North Carolina Press, 1932), chap. III.

अध्याय 27

शुभ और अशुभ

नवीन निराशावाद

अशुभ भी उत्पत्ति की प्राचीन समस्या तथा आशावादी और निराशावादी के पुराने मत-विरोध ने हमारे समय में एक नवीन तथा भिन्न रूप ले लिया है। आजकल अनेक कठिनाइयाँ हैं और बहुत बुराइयाँ हैं, किन्तु इनके कारण हम ईश्वर अथवा प्रकृति को दोषी नहीं ठहराते; अपितु मनुष्यों और संस्थाओं को दोषी ठहराते हैं। हमारी बुराइयाँ अब आर्थिक अवनमन, राजनीतिक भ्रष्टाचार, सामाजिक अन्याय, अतिराष्ट्रीयतावादों, युद्धों और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धाओं, तथा सामाजिक एवं वैयक्तिक असुरक्षा का रूप ले रही हैं। इन कष्टों का कारण ढूँढ़ने के लिए किसी भी समाचार-पत्र का मुखपृष्ठ देख लेना ही पर्याप्त होगा। अधिकांशतः वे ऐसी चीजें होती हैं जैसे मनुष्य की लोलुप्ता, अन्याय, अज्ञान, मूर्खता, संदिग्धता, भय, तटस्थता, विश्वासघात, आदि मनुष्य की अनेक कमियाँ।

वर्तमान चर्चा में हम शुभ और अशुभ के विषय में तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों के सम्बन्ध में तथा उसकी धर्ममीमांसीय संरचना में, उसके स्थान के सम्बन्ध में बहुत कम परेशानी मोल लेंगे। हमारा झुकाव कुछ विशेष प्रकार की बुराइयों की ओर हो गया है, अधिकतर सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक बुराइयों की ओर। अब हम यह नहीं पूछते कि ईश्वर ने इतनी बुराइयों से युक्त जगत् क्यों बनाया, बल्कि यह पूछते हैं कि अब "समय" क्यों अच्छा नहीं आ रहा है। आर्थिक अवनमन, राजनैतिक भ्रष्टाचार, सामाजिक पतन आदि ऐसी बातें हमें चिन्तित करती हैं। अब हम दोष ईश्वर में नहीं, जिसने जगत् बनाया, अपितु आर्थिक व्यवस्थाओं, सामाजिक परिस्थितियों, राजनीतिक संस्थाओं और मानवीय कमज़ोरियों तथा अक्षमताओं में देखते हैं। साधारणतः हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि ये व्यवस्थाएँ और परिस्थितियाँ पहले की अपेक्षा बहुत अच्छी हैं—किन्तु उन्हें जैसी होना चाहिए उसके मुकाबले में अत्यन्त बुरी हैं।

प्राचीन तथा नवीन निराशावाद के भेद को निम्नांकित उदाहरण से बताया जा सकता है: जब गोरे लोगों द्वारा अमरीका की खोज हुई, तो इसने एक प्रकार से मानव के लिए स्वर्ग का द्वार खोल दिया। उपजाऊ भूमि, इमारती लकड़ी के

विस्तृत जंगल, कोयले, तेल, सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा तथा अन्य धातु की खानें, यातायात के लिए उपयुक्त झीलें, नदियाँ, विपुल मत्स्य-क्षेत्र, सुविधाजनक बन्दरगाहें, विभिन्न तथा सम-जलवायु, सुन्दर दृश्य, तथा विस्तृत महासागरों द्वारा बाह्य आक्रमण से रक्षा उन्हें प्राप्त हुई। उनके नेताओं ने लोकतंत्रीय सरकार दी, जिसमें स्वतन्त्रता तथा समान अवसर दोनों ही ऐसी बातें मिलीं जिनका पहले ध्यान भी नहीं था। प्रकृति की देन की अत्युदारता में आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य के उपयोग के लिए प्राकृतिक उत्पादन में एक अद्भुत तरीका जोड़ दिया है, जो हमें हर प्रकार की सुविधा और आराम दे रहा है, तीव्र और विलासिता-पूर्ण परिवहन, तात्कालिक संचार-व्यवस्था, शुद्ध प्रवाहित जल, गैस तथा विजली, स्वच्छता के लिए कूड़े को दूर करने की व्यवस्था पुस्तकों तथा समाचार पत्रों की विभिन्नता, आदि लाभदायक वस्तुओं की लम्बी सूची इसमें वताई जा सकती है।

ऐसे पर्यावरण में मनुष्य का सुखी होना निश्चित प्रतीत होता है। किन्तु, ऐसा अनुभव नहीं हुआ है, और सम्भवतः निराशावादी दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा हमें अब अधिक घेरे हुए है, जब कि आत्महत्याओं की संख्या प्रति वर्ष सापेक्षतः उन देशों से अमरीका में अधिक है जहाँ से उनके पूर्वज अवसर तथा स्वतन्त्रता की खोज करते हुए आए थे। इसका कारण यह है कि मनुष्य का सुख उसके भौतिक पर्यावरण पर कम और स्वयं अपने पर तथा अपने व्यवहार पर अधिक निर्भर करता है। उसके लिए यह सम्भव है कि वह अपने जंगलों का उन्मूलन कर दे, भू-क्षरण होने दे, कोयले तथा तेल को बरबाद करे, संतति के नियमों के उल्लंघन के द्वारा अपनी जैविक आनुवंशिकता नष्ट कर दे, मतदान के अधिकार की उपेक्षा करके अपनी सरकार की सत्यनिष्ठा की रक्षा करने में असमर्थ रहे, प्रकृति की उदार देन से प्रचुर धन एकत्र कर ले और उसके न्यायोचित विवरण करने में असमर्थ हो जाए।

किन्तु मनुष्य पर हमारा अविश्वास उतना ही अधिक हो सकता है जितना पहले के समय में ईश्वर पर था। सम्भवतः जिस चीज़ की हमें आवश्यकता है वह है हमारी अच्छाइयों का उचित मूल्यांकन तथा हमारे अन्दर की बुराइयों को दूर करने की चेतना। किन्तु दर्शनशास्त्र की पुस्तक के क्षेत्र में आज की सामाजिक बुराइयों पर चर्चा सम्मिलत नहीं होती। हमें उन दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक समस्याओं की ओर मुड़ना चाहिए जो उनमें निहित हैं।

अशुभ की समस्या

जो भी व्यक्ति शुभ और अशुभ दर्शन पर कुछ लिखता है उसे कुछ विशेष प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना होता है। ऐसा इसलिए है कि पाठक की सहानुभूति प्रायः उसी के साथ होती है जो आनन्द की अपेक्षा जगत् के दुःखों की चर्चा करता है। आशावादी अथवा यहाँ तक कि सुधारवादी को भी आरम्भ में

बाधा रहती है। यह कहा जाना कोई पसन्द नहीं करता कि यह जगत् कितना अच्छा है। निराशावादी की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि वह ऐसा मनुष्य होता है जिसे आशावादी व्यक्ति के साथ रहना पड़ता है। अनेक व्यक्तियों के मन में यह दृढ़ **विश्वास** है कि यह **एक** तथ्य है कि जगत् में कुछ गड़बड़ी है जिसे स्वीकार करना चाहिए, चाहे इसके लिए हम इच्छुक हों अथवा नहीं। इसलिए मैं अगले कुछ पृष्ठों में इस जगत् में अशुभ के विद्यमान होने के कुछ आधारों की चर्चा करूँगा—उनमें से बहुत से प्रकृति अथवा ईश्वर पर दोषारोपण को न्यायोचित नहीं बताते। किन्तु मैं आशा करता हूँ कि मैं बिना हल हुए तथ्यों तथा कुछ बिना हल हुई मनोवैज्ञानिक समस्याओं की उपस्थिति की मान्यता को अन्य अनुच्छेदों के लिए सुरक्षित रखते हुए, इन तर्कों को बिना किसी हठ धर्म के प्रस्तुत कर सकता हूँ। सम्भवतः निराशावादी यहाँ तक मुझसे सहमत होगा कि वह कुछ उज्ज्वल जगत् के विचारों की कुछ तर्कों की शक्ति को देखे। इस बीच में यह प्रश्न उठ सकता है कि हमारा जगत् में बुराइयों के बारे में दृढ़ विश्वास जीवन से बहुत अधिक **माँग** करने से उत्पन्न नहीं होता। उदाहरण के लिए, जब सरकार से हमारी सदा बढ़ती हुई माँगें, बढ़े हुए करों के साथ सामंजस्य नहीं रख पातीं तो हम समझते हैं कि सरकार खराब है।

अशुभ का अस्तित्व प्राचीन कठिनाइयों में एक ऐसी कठिनाई है जिसने दर्शन-शास्त्र के विद्यार्थियों को आरम्भिक काल से ही सभी शताब्दियों में उलझन में डाले रखा है। "बुक आफ जोब" नामक प्रसिद्ध प्राचीन नाटकीय पुस्तक के लेखक का कार्य इस समस्या पर सम्भवतः सबसे पहला था। सोफोक्लीज—जिसने "जीवन को क्रमशः तथा पूर्ण रूप में देखा"—आश्चर्य करता रहा कि इतने कष्टों और दुःखों को देवता आत्मसंतुष्टि के साथ कैसे देखते रहे, और बाद में फारस में ओमर ने मनुष्य के कष्टों को बताने की पहेली को त्यागकर "अंगूर के रस" में डुबो देने का सरल तरीका प्रस्तुत किया है।

कठिनाई को बतलाने का सामान्य तरीका यह है: यदि ईश्वर ने जगत् का सृजन किया है, अथवा यदि वह पालन करता है, व्यवस्था अथवा नियन्त्रण करता है, अथवा यदि ईश्वर अत्यन्त शुभ है, तो हम समस्त कष्टों एवं बुराइयों को कैसे समझाएँगे। समस्त पाप, दुःख तथा कष्ट, अस्त-व्यस्त योजनाएँ, तथा विफल आशाएँ, जो सर्वत्र दिखाई पड़ती हैं उनका विवरण कैसे देंगे ? यदि वह इन्हें रोक नहीं सकता तो वह ईश्वर नहीं है, यदि वह इन्हें कर सकता है, किन्तु करता नहीं है तो वह अच्छा नहीं है।

यह समस्त तर्क इस मानवत्वारोपी युक्ति पर आधारित है, मानो कि ईश्वर स्वर्ग में बैठ कर जगत् की रचना करने को ध्यान में रख कर यह विचार करता है कि किस प्रकार के जगत् का निर्माण करना है, और तब समस्त पाप, अशुभ,

पीड़ा, दुःख तथा कष्ट को पहले से विचार कर दुर्भावना से जगत् का निर्माण करता है।

किन्तु जगत् का निर्माण कुछ इस ढंग से नहीं हुआ है। जैसे ही हम उसे "योजना" के रूप में समझना बन्द कर देते हैं और उसे एक क्रमिक वृद्धि, विकास और **मूल्यों की उपलब्धि** के रूप में सोचना आरम्भ कर देते हैं तो हमारी कठिनाइयाँ समाप्त होने लगती हैं। सभी बातें भिन्न दिखाई पड़ने लगती हैं, जब हम ईश्वर को किसी शासक की अपेक्षा सत्य के लिए कार्य करने वाली शक्ति तथा हमारे शुभ में बाधाओं को दूर करके सम्भवतः हमारे साथ कार्य करने वाली शक्ति समझने लगते हैं। जैसे-जैसे क्रमशः शुभ के उच्चतर स्तर प्राप्त होते जाते हैं निचले स्तर अशुभ हो जाते हैं। भू-गर्भीय काल में, जब पृथ्वी पर सरल पशु जीवन ही प्राप्य था, तब उन बुराइयों का अस्तित्व नहीं था जिनकी हम बहुत कटु आलोचना करते हैं। जब मनुष्य अपनी तर्कना-शक्ति से युक्त हुआ, तब ईश्वर ने अशुभ का सृजन नहीं किया, और न ही मनुष्यों ने उसका सृजन किया और न ही उन्हें खोजा। उसने कार्य करने के बेहतर तरीके निकाले, जिनके कारण पुराने तरीके "अशुभ" हो गए। उदाहरण के लिए सामाजिक संगठन तथा सहयोग एक बेहतर तरीके का और नवीन मूल्य का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनके कारण अहंवाद और संकीर्ण व्यष्टिवाद अशुभ बन गए। हमारे व्यापक सामाजिक तथा आर्थिक हितों के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीयता एक नवीन मूल्य का प्रतिनिधित्व करती है, जिसके फलस्वरूप एक स्वार्थी राष्ट्रीयता अशुभ हो जाती है। आरम्भिक काल में युद्ध सामाजिक समुदायों को मज़बूत और सबल बनाने का कार्य करता था, अब परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं। और अब युद्ध अध्ययन के अन्तर्गत है और उसे समाप्त होना होगा। प्रेम तथा सहानुभूति उच्चतम स्तर के मूल्य हैं, उसी प्रकार जैसे व्यक्तित्व, तार्किक तथा ऐच्छिक चयन, तथा अन्तर्विवेक हैं। प्रतीत ऐसा होता है कि जैसे प्रकृति ने इन्हें आगे लाने के लिए प्रयत्न किया है; जब ये उत्पन्न हुए तब प्राचीन तरीके अशुभ हो गए।

जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते हैं, एक समय के सद्गुण दूसरे समय के दुर्गुण बन जाते हैं। जैसे ही नवीन आदर्श अपने को अभिव्यक्त करते हैं, हम अत्यन्त संवेदनशील, आलोचनात्मक तथा अन्तर्विवेकशील हो जाते हैं। कुछ वर्ष पूर्व प्रोफेसर रॉस ने **सिन एन्ड सोसाइटी** नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उन्होंने अनेक पाप-पुंजों का वर्णन किया है जो परिवर्तनशील सामाजिक परिस्थितियों के कारण सम्मुख आए हैं, उनमें से अनेक अभी तक मात्र रीति-रिवाजों में ही सम्मिलित हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि शुभ और अशुभ मात्र सापेक्ष शब्द हैं। अपितु प्रतीत यह होता है कि कुछ आदर्श हैं जिन्हें प्राप्त करना है, और उन्हें प्राप्त करने के लिए संघर्ष करने में कठिनाइयों का सामना करना होता है। ये कठिनाइयाँ

वास्तविक होती हैं और शुभ के रास्ते में वास्तविक बाधाओं का कार्य करती हैं; उन्हें अवश्य पार किया जाना चाहिए।

आधुनिक मत प्राचीन मत से भिन्न है। प्राचीन व्यक्ति ने प्रकृति के विषय में अपनी चिन्तनशील प्रवृत्ति से मात्र अशुभ को **देखा, आश्चर्य प्रकट किया** और उसे **समझाने** का प्रयत्न किया; हमने अपने और अधिक अर्थक्रियावादी मन के साथ, यह स्वीकार करते हुए कि अब भी बहुत बुराइयाँ हमारे इर्द-गिर्द हैं, यह प्रस्ताव किया कि हम समझाएँ नहीं, उन्हें दूर करें। एक लेखक कहता है:

> आधुनिक चिन्तन अशुभ को, किसी प्रदत्त तथ्य के रूप में नहीं, अपितु कुछ ऐसी वस्तु के रूप में लेता है, जिसे बदला जा सकता है और वह जगत् को अच्छा अथवा बुरा नहीं देखता। वह जगत् को शुभ बनाने का कार्य आरम्भ करता है। और वह ऐसा कर सकने में समर्थ है क्योंकि उसकी आत्मा में शुभ का एक स्रोत है जो घटनाओं पर आधिपत्य रख सकता है।[1]

नैतिक अशुभ

जगत् की बुराइयों को कभी-कभी तीन वर्गों में विभाजित करने की प्रचलित शैली बन गई है। प्रथम, तत्त्वीमांसीय बुराइयाँ अथवा प्रकृति की अपूर्णताएँ, जैसे भूकम्प, प्रचंड आंधी, अवृष्टि, तथा बाढ़; द्वितीय, शारीरिक तथा मानसिक बुराइयाँ, जैसे कष्ट, दु:ख तथा मृत्यु; और तृतीय, नैतिक बुराइयाँ जैसे पाप और दुष्टता। इनकी गणना करके तथा सामने लाकर प्रकृति अथवा ईश्वर पर एक सृजनकर्त्ता के रूप में बहुत बड़ा आरोप लगाया जा सकता है।[2]

इन तीनों वर्गों में स्पष्ट है कि नैतिक अशुभ सबसे निकृष्ट है। कभी-कभी हम जगत् के प्रत्येक भाग में अनैतिकता का रहस्योद्घाटन देखकर दंग रह जाते हैं। अन्याय तथा क्रूरता, लालच और घृणा, दुर्गुण तथा अपराध, कौटुम्बिक तनाव तथा सम्बन्ध-विच्छेद, श्रमिकों का शोषण तथा दुर्बल पर अत्याचार, हत्या तथा चोरी, चुंगी-चोरी तथा अवैध शराब बनाना, असंयम तथा मदपान, जुआ तथा वेश्यावृत्ति, घूसखोरी तथा मिलावट, तृष्णा तथा अपव्यय और निर्लज्जता से रंगरेलियाँ तथा ओछापन दिखाना आदि इसके उदाहरण हैं। क्या ऐसे जगत् को सर्वश्रेष्ठ जगत्, अथवा अच्छा या सुन्दर जगत् कहा जा सकता है।

---

1. Arthur Kenyon Rogers, *The Religious Conception of the World*, p. 256.

2. उदाहरण के लिए ऐसा आरोप जॉन स्टुअर्ट मिल की कृति "थ्री एस्सेज ऑन रिलीजन" पृष्ठ 28, अथवा ए० जे० बैलफोर की कृति "फाउंडेशन्स ऑफ़ बिलीफ़", पृष्ठ 33, 34 में देखा जा सकता है। बर्ट्रेन्ड रसल की कृति "ए फ्री मेन्स वर्शिप" में उसकी तत्त्वमीमांसा तथा तर्कमीमांसा, अध्याय III में "पिटिलेस" तथा "होस्टाइल" जगत् पर हाल के दावे को देखा जा सकता है।

कोई भी दार्शनिक सम्भवतः अब यह बताने में रुचि नहीं दिखाएगा कि यह सर्वश्रेष्ठ जगत् है, किन्तु ऊपर दी हुई पापों तथा बुराइयों को सूची में गिना देना कोई इस बात का प्रमाण नहीं है कि यह जगत् अच्छा नहीं है, अथवा यहाँ तक कि यह जगत् सर्वश्रेष्ठ नहीं है। सद्‌गुणों की तालिका बता देना और भी सरल होगा, ये इतने स्पष्ट हैं कि वे किसी को रुचिकर नहीं होंगे। अपराधों की सूची हमेशा बेहतर पाठ्य सामग्री होती है, क्योंकि वे किसी विशेष समय के दैनिक जीवन के ध्यान देने योग्य अपवाद होते हैं। विकास के उस स्तर पर "पाप" आरम्भ होते हैं, जहाँ पर मनुष्य एक नैतिक प्राणी के रूप में उभरता है। यदि विकासात्मक प्रक्रिया उसी स्तर पर समाप्त हो गई होती, तो जगत् में कोई भी नैतिक बुराई न हुई होती, किन्तु वह जगत् उतना ही "अच्छा" न होता जितना यह जगत् अच्छा है। निश्चय ही, पाप कुछ नहीं होता; केवल पाशविक व्यवहार तथा मूल-प्रवृत्त्यात्मक क्रिया होती है। चेतना, स्वतन्त्रता, तार्किक चयन तथा विकास को लिए हुए नैतिक व्यवस्था श्रेष्ठतर प्रतीत होती है।

यदि आपके अथवा मेरे पास जगत् को आयोजित करने का कार्य होता तो, विचार करने के पश्चात् हम बिना दुःख तथा अशुभ के उसे बनाने में हिचकिचाते। वह "उदासीन, स्थिर, सपाट तथा निरर्थक सिद्ध होगा।" यह सब हमारे आधुनिक शक्तियुक्त, गत्यात्मक, तथा जैविक दृष्टिकोण से बहुत भिन्न दिखाई पड़ता है। हम निश्चित नहीं हैं कि हमारे लिए सदा सुखी रहना ठीक होगा अथवा नहीं। हम परस्पर-विरोध के द्वारा हुए विकास को अधिक महत्त्व देते हैं। यदि अशुभ और लालच का अस्तित्व न होता तो अशुभ पर विजय न होती और **चरित्र** भी न होता। अब हम सुख की अपेक्षा चरित्र पर अधिक बल देते हैं। पाप-रहित प्राणियों की जाति पूर्णतायुक्त प्राणियों की जाति नहीं होगी—वह निर्दोष व्यक्तियों की जाति होगी; जब कि बालकों में हम सरलता की प्रसंशा करते हैं, तो प्रौढ़ मनुष्यों में चरित्र-बल—लालच को दृढ़ता से रोकने और बुराई को जीतने और दूर करने की योग्यता—का आदर करते हैं। सुखवादी नैतिकता, जिसके अनुसार सुख अथवा आनन्द ही जीवन का उद्देश्य है, के चले जाने के पश्चात् अशुभ की समस्या में परिवर्तन आ गया है। आज का मानव भोग करने की अपेक्षा प्राप्त करना चाहता है। यदि महान् वस्तुओं पर कदाचित् विजय प्राप्त हो सके तो मनुष्य कभी-कभी साहसिक कार्य एवं खतरा और सम्भवतः कष्ट भी पसन्द करता है। इस प्रकार मृत्यु पर भी विचार किया जा सकता है। चार्ल्स फ्रॉमेन नाटक के प्रबन्ध लूसीटानिया के साथ गए। जहाज़ के टारपीडो से टकराने पर उन्होंने कहा, "हमें मृत्यु से भय क्यों होना चाहिए ? जीवन का यह सबसे सुन्दर साहसिक कार्य है।" यही स्थायीभाव ब्राउनिन्ग ने भी अनुभव क्रिया:

और तब मैं लूंगा,
विश्राम, पूर्व इसके कि पुनः
साहसपूर्ण तथा नवीन यात्रा पर चलूं।

ल्यूक्रेटियस ने अपनी द्वितीय पुस्तक डें **रेरम नेचुरा** के आरम्भ में लिखा है:

> जब महासागर में हवाएँ उसके जल को उछाल देती हैं, ताकि किनारे पर किसी के गहन दुःख को रोक सकें तो बहुत सुन्दर होता है, बात यह सुख तथा आनन्द की नहीं है कि किसी को दुःख हो वरन् इसका कारण यह है कि आप बुराइयों से स्वयं कैसे मुक्त होते हैं। और जो युद्ध मैदानों में होते हैं, उनके महान् संघर्ष को देखना भी बहुत सुन्दर होता है, किन्तु जिनमें आप स्वयं खतरे से बाहर हों।[1]

यह "रक्षा प्रथम" का ध्येय किसी इन्द्रिय सुखवादी कवि के लिए व्यस्त राजधानी के चौराहे पर सावधान करने के किए समुचित हो सकता है, किन्तु जीवन के नियम के रूप में यह हमें प्रभावित नहीं करता। हम जेम्स के मनोभावों के साथ अधिक सहानुभूति रखते हैं जो उन्होंने अपने भाषण **इज़ लाइफ़ वर्थ लिविन्ग ?** के अन्त में अभिव्यक्त किये हैं।

> किन्तु इस समय के निष्ठावान् योद्धा अथवा प्राणी जो उसी समय उनका प्रतिनिधित्व करेंगे, और उन दुर्बल-हृदय लोगों की ओर मुड़ेंगे जिन्होंने आगे बढ़ना, उन शब्दों को सुनने के साथ ही अस्वीकार कर दिया था जिन्हें हेनरी चतुर्थ ने महान् विजय प्राप्त करने के बाद कहा था: "बहादुर क्रिलन ! स्वयं को फाँसी लगा लो ! हमने आक्यूस में युद्ध किया और तुम वहाँ नहीं थे।"

मनुष्य एक संघर्षशील प्राणी है। सुख आराम अथवा कष्टों से मुक्ति में नहीं, अपितु अपनी शक्तियों की क्रिया, विशेषकर तर्कना, चिन्तन, आविष्कार, कलात्मक सृजन तथा जन-सेवी कार्यों में प्राप्त होता है। हम कहानियों वाले उस व्यक्ति की प्रवृत्ति से प्रभावित नहीं होते जो किसी बीमारी से उठकर अपने डॉक्टर से कहता है, "मैं पहले की अपेक्षा और ठीक से सोता हूँ, पहले से अधिक अच्छी भूख लगती है और सामान्य रूप से मैं पहले से और अधिक प्रसन्न हूँ। निश्चय ही, मैंने अपना मन खो दिया है, किन्तु मैं उसका अभाव अनुभव नहीं करता।" अवकाश-प्राप्त कृषक शहर के उस नवीन मकान में, जिसमें गुसलखाना, पुस्तकागार तथा अन्य आधुनिक सुविधाएँ होती हैं विरले ही उतना प्रसन्न होता है जितना उसने विचार किया होता है। स्वप्नों में बनाया हुआ सुख उतना वांछनीय नहीं होता जितना वह दूर से दिखाई पड़ता है। खेत के पुराने दिन, उनकी समस्याओं का हल करना, जुते हुए खेत का और कटे हुए अन्न का आनन्द

---

1. मुनरो का अनुवाद।

लेने की आराम के जीवन से कोई तुलना नहीं हो सकती। यह बहुत पुरानी कहावत है कि यदि आप वह सब कुछ कर लेते हैं जो आपने पहले से तय किया है, तो फिर आपने काफी काम करना तय नहीं किया था।

अतएव, अन्त में, हालाँकि हम "बिना अशुभ का जगत्" का, मुहावरा बना सकते हैं किन्तु इन शब्दों का कोई विशेष अर्थ नहीं होगा। ऐसे पूर्ण तथा सुखी जगत् में जहाँ पर अशुभ, कष्ट तथा दुःख नहीं है, मैं समझता हूँ कि हम कुछ बातों का अभाव अनुभव करेंगे। हम ब्राउनिन्ग की "संघर्ष और कलह की विषम शब्दावली" से अपने दान्ते के नरक, परिशोधक तथा उद्धार करने वाले प्रेम से, गेटे के समृद्ध अनुभव द्वारा दिए गए मुक्ति के उद्देश्यों से, लिन्कन की उलझी भौंहों तथा सहानुभूतिपूर्ण चेहरे से, अपने रेफेल की कृति "सिस्टाइन मेडोना" से, शेक्सपियर की मैकबेथ तथा लियर की कहानियों से, ऐचिलस के प्रचंड प्रारब्ध वाले नाटकों से, तथा अपने जीसस के मोक्ष दिला देने वाले उपदेशों से वंचित रह जाते।

निराशावाद

निराशावाद दर्शन का यह सिद्धान्त है कि जीवन मूल रूप में अशुभ है, और जगत् में आनन्द की अपेक्षा कष्ट अधिक, शुभ की अपेक्ष अशुभ अधिक है। हममें से अनेक लोगों को यह विश्वास दिलाना कठिन नहीं है, क्योंकि कष्ट और अशुभ सामान्य नियम न होकर अपवाद हैं और हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। कष्ट **अपसामान्य** कार्य का संकेत करता है, इसलिए यह सामान्य जीवन में अपवाद के रूप में होता है। नैतिक अशुभ आचरण के उन नियमों से अलगाव का सकेत करते हैं जिन्हें सामाजिक कल्याण के लिए अनुभव आवश्यक समझता है। चूंकि सामान्य समुदाय सामान्यतः बने रहते हैं और उन्नति करते हैं, नैतिक अशुभ को नियम की अपेक्षा अपवाद ही होना चाहिए।

उन्नीसवीं शताब्दी का प्रतिभाशाली जर्मन दार्शनिक आर्थर शॉपेनहावर निराशावादियों का राजा माना जाता है। उसने इस बात का तार्किक प्रमाण देने का प्रयत्न किया है कि यह जगत् निकृष्टतम है। संकल्प मौलिक सत्ता है। हमारी "जिजीविषा" आँख मूंद कर ऐसे संतोष को खोजते हुए, जो कभी प्राप्त नहीं होता और यदि वह प्राप्त भी हो जाए तो नवीन इच्छा उत्पन्न हो जाती है, हमें प्रभावित करती रहती है। निरन्तर संघर्ष करते रहना—अप्राप्त वस्तु की इच्छा करना ही जीवन है। इसलिए जीवन असन्तुष्ट इच्छाओं तथा दुःखों और संतोषों से परिपूर्ण है। यह निष्कृटतम जगत् है, क्योंकि वे अशुभ शक्तियाँ, जो हमें अपना शिकार बनाती हैं, यदि और अधिक अशुभ होतीं तो हम जीवित

नहीं रह सकते थे ।[1]

शॉपेनहावर के तर्कों में हेत्वाभास का पता लगा लेना कोई कठिन काम नहीं है । उसका कहना है कि समस्त जीवन दुःखमय है क्योंकि वह पूर्णतः संघर्षमय है और संघर्ष ही दुःख है । जीवन किसी भी रूप में केवल संघर्ष ही नहीं है, हालाँकि संघर्ष जीवन के साथ रहता है । किन्तु यह सत्य नहीं है कि संघर्ष दुःख है; यह सामान्यतः इसके बिल्कुल विपरीत ही हो सकता है या होता है । सफलतापूर्ण संघर्ष को जीवन का सबसे बड़ा आनन्द कहा जा सकता है, और जो संघर्ष सफलतापूर्ण न हो वह भी सुखदायी होता है । वांछित लक्ष्य की झलक भी बहुत आनन्ददायक होती है, और उससे भी अधिक आनन्ददायक उसे प्राप्त करने का प्रयत्न होता है, और फिर उसे प्राप्त कर लेने का आनन्द भी महान् होता है । यदि हम असफल हो जाते हैं तो भी प्रयत्न करने में सुख होता है, और हमें यह मान लेने का क्या अधिकार है कि असफलता सामान्य होती है ? हम असफल होने की अपेक्षा प्रायः सफल अधिक होते हैं । हम सफल होने की आशा करते हैं, और इसलिए असफलताओं से अधिक प्रभावित होते हैं । निराशावादी अथवा आशावादी प्रवृत्ति का सारा मामला बहुत कुछ व्यक्ति की आवेगात्मक प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है, तथा जीवन के कुछ दुःखों अथवा आनन्दों को बढ़ा-चढ़ा कर और उन पर बल देकर निराशा अथवा आनन्द के दर्शन को पुष्ट किया जा सकता है । शॉपेनहावर स्वयं एक प्रतिभाशाली व्यक्ति था, और प्रतिभाशाली व्यक्ति प्रायः मनोविकृतिमय विशेषकों से ग्रस्त होता है । वास्तव में ऐसे विशेपक उसके पारिवारिक इतिहास में अनेक हैं और कभी-कभी अपने चरम रूप में दिखाई पड़े हैं ।

शॉपेनहावर का दूसरा तर्क—जो यह प्रमाणित करने के लिए दिया गया है कि यह जगत् निकृष्टतम है, जो इसी तथ्य से सिद्ध है कि यदि इसमें विद्यमान बुराइयाँ और भी बुरी होतीं तो हम जीवित नहीं रह सकते थे—भी भ्रामक है । सैद्धान्तिक रूप से यह सत्य है कि जिस पर्यावरण में प्राणियों की जातियाँ रहती हैं, यदि वह वर्तमान से भिन्न होता तो ये जातियाँ भी भिन्न होतीं । प्रत्येक जाति अपने पर्यावरण से अभियोजित होती है । इसलिए एक प्रकार से यह कहना सत्य है कि जगत् जैसा है उससे यदि अधिक अच्छा अथवा अधिक बुरा होता तो हम जीवित न रहते; हम उन नवीन परिस्थितियों के अनुरूप बदले हुए होते । व्यावहारिक रूप से, निश्चय ही, हमें विनाश की ओर अग्रसर किए बिना हमारा

1. आर्थर शॉपेनहावर का जन्म 1788 में तथा मृत्यु 1860 में हुई । उसकी प्रमुख कृति का नाम है "दि वर्ल्ड ऐज़ विल एन्ड आइडिया" । यह कृति उच्च साहित्यिक तथा दार्शनिक गुणों से परिपूर्ण है तथा दर्शन के क्षेत्र में प्रतिष्ठित है । शॉपेनहावर के निराशावाद के लिए पाठक को "ऑन दि वेनिटी एन्ड सफरिंग ऑफ़ लाइफ़" का तीसरा खंड, सत्रहवाँ अध्याय पढ़ना चाहिए ।

पर्यावरण कुछ अधिक अच्छा अथवा बुरा हो सकता था।

निराशावाद के कारण

निराशावाद को एक बीमारी समझा जा सकता है, उसके कारणों का पता लगाया जा सकता है तथा उसका उपचार बताया जा सकता है। पहले इसका कारण जिगर में दोष होना बताया जाता था, किन्तु अब नलिका-विहीन ग्रंथियों का कार्य-भंग हो जाना इसका कारण बताया जाता है। वह दीर्घस्थायी हो जाता है तब उसका उपचार कठिन हो जाता है। सम्भवतः कार्लायल कुछ ऐसी ही बीमारी से ग्रस्त था। यह कहा जाता है कि एक बार वह लाय हन्ट के साथ घूम रहा था, जिसने उसका ध्यान सितारों की सुन्दरता तथा आकाश के वैभव की ओर आकर्षित किया, किन्तु कार्लायल ने कहा, "ओह—यह एक अवसादकारी दृश्य है!"

जब विकृत तंत्रिकीय स्थितियों के कारण **प्रत्येक वस्तु**, यहाँ तक कि वसन्त में चिड़ियों का चहकना भी अवर्णनीय उदासी से रंजित होता है तब वह विषाद के मानसिक रोग का उग्रतम रूप होता है। प्रायः वह छोटा रूप भी ले लेता है, और तब वह कभी-कभी स्नायु व तंत्र के ज्ञानवाहक तथा कार्य-वाहक कार्यों के ठीक सन्तुलन में न होने के कारण होता है। मनुष्य प्राकृतिक तथा शारीरिक रूप से एक **अभिनेता** है, **कर्त्ता** है। सामान्य रूप से उद्दीपन का अनुगमन प्रतिक्रिया से होता है, और यदि किसी कारण वह उचित कर्मवाही क्रिया सम्भव नहीं होती तब विकृत्यात्मक स्थिति उत्पन्न होती है जो कुछ अंश तक विषाद के मानसिक रोग की ओर अग्रसर कर देती है।

कॉलेज और विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को कभी-कभी ऐसी निष्क्रियता का समय व्यतीत करना होता है। चार वर्षों तक सामग्री को **ग्रहण करना** और पचाना, किन्तु अपने काम और उपलब्धि के लिए अच्छे मौके के लिए बाध्य रहना पड़ता है। खेलकूद तथा सभी प्रकार की पाठ्यचर्यातिरिक्त क्रियाएँ एक प्रकार से मन को दुर्व्यवस्था से मुक्त कर भाव-विरेचन (**केथार्सिस**) का कार्य करती हैं, किन्तु कभी-कभी इसकी कीमत वहुत अधिक होती है, क्योंकि अध्ययन करने का अमूल्य अवसर निकल जाता है, अथवा स्वास्थ्य खराब हो जाता है। उन विद्यार्थियों को निराशावाद से दूर होने के लिए अधिक पाठ्यचर्यातिरिक्त क्रियाएँ अवश्य करनी होती हैं, निश्चय ही उनके भविष्य के जीवन में कुछ बाधा रहती है। जो अपने मस्तिष्क से प्रपंच को अलग कर सकते हैं, हालाँकि वे प्रपंच को उपयोगी ज्ञान तथा अनुशासनात्मक चिन्तन के भंडार में पड़े रहने देते हैं, यदि उनका स्वास्थ्य खराब नहीं हुआ है तो वे ही अन्त में प्रगति करते हैं।

युवक प्रायः निराशावादी क्यों होते हैं इसके अन्य कारण भी हैं। किशोरावस्था में जब प्रथम बार जीवन में वास्तविकता से संपर्क होता है तो प्रायः

विस्तृत उत्साह तथा आदर्शवाद शीतल तथा धुँधला पड़ जाता है। भ्रांति से मुक्ति तथा निराशा इसके परिणामस्वरूप आती है और कभी-कभी आत्महत्या के विचार भी साथ होते हैं।

डेविड स्टार जॉर्डन उसे इन शब्दों में कहता है:

> हमारे पास तक पहुँचने के पूर्व जीवन के आनन्द एक हज़ार बार अनुभव किए जा चुके हैं। हम उन कार्यों को करते हुए तथा उन भाषाओं को देते हुए संक्षिप्त कार्यक्रमों के एक अंग को पूरा कर रहे हैं जो हमारे जन्म लेने के भी शताब्दी पूर्व हमारे लिए बना दिए गए थे। पुरुषों तथा स्त्रियों को वे नवीन शक्तियाँ, जो इतनी अद्भुत दिखाई पड़ती थीं, अब बाधाएँ मालूम पड़ती हैं। विश्व में जैसे ही हम अपना स्थान लेते हैं, हम यह देखते हैं कि वहाँ हमारा हिस्सा कम प्रतीत होने लगता है, इसी प्रकार विश्व भी हमारे लिए संकुचित, कठिन तथा सहानुभूतिहीन होता हुआ प्रतीत होता है। बहुत कम शक्तिशाली युवक तथा युवतियाँ निराशावाद के इस दौर से बच पाते हैं। कुछ लोगों को यह संक्रामक रोग विनाशकारी सस्ते साहित्य से लग जाता है। तब वह अनुकरण करने में अपनी अभिव्यक्ति पाता है, जैसा कि कुछ वर्ष पूर्व एक दुःखित-हृदय युवक ने अपने "स्पष्ट एकाकीपन" की सहानुभूति में अपने कालर नीचे कर दिए थे, क्योंकि बायरन के कालरों का भी कलफ़ उतरा हुआ था। ज़ंगविल कहता है, "युवक जीवन के विषय में इतनी कड़वी बातें कहते हैं कि यदि उसमें (जीवन में) जान होती तो वह सुनकर काँप जाता।" अन्य व्यक्तियों के साथ निराशावाद की जड़ें और अधिक गहन होती हैं और वह अपनी अभिव्यक्ति वास्तविक निराशायुक्त काव्य अथवा दर्शन में करता है।[1]

सम्भवतः सबसे बड़ा आशावादी भी यह नहीं दर्शायेगा कि अब तक के पिछले पाँच लाख वर्षों के मानव-इतिहास में ऐसे अवसर नहीं आए हैं जब कि मानव जाति रहन-सहन के तरीकों में बहक नहीं गई है। यह कि कोयले, लोहे तथा तेल की खोज होने से समाज में आन्दोलन हो जाने के समय से क्या हम अपने रहन-सहन के मामले में बहक गए हैं, हमारी वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था वरदान है अथवा शाप, क्या इस व्यवस्था में सुधार होना चाहिए, ताकि शुष्कता को सृजनात्मक क्रम में बदला जा सके, अथवा क्या श्रम के घंटे इस प्रकार कम किए जा सकते हैं, कि सभी मनुष्य जीवन का वास्तविक आनन्द उन आठ या दस घंटों में उठा सकें, जो उन्हें उपलब्ध कराए जा सकें, ये सब ऐसे प्रश्न हैं जो इस क्षेत्र में नहीं आते।

किन्तु मैं तो यह कहूँगा कि यदि चिंतन की उस अद्भुत अन्वेषणात्मक

1. David Starr Jordan, *The Philosophy of Despair*, pp. 13, 14.

शक्ति का जिसने वायुयान की तथा बेतार के दूरभाष का आविष्कार किया है, एक भाग भी सामाजिक तथा औद्योगिक हित की ओर मोड़ दिया जाए तो यह समस्या भी हल की जा सकती है। यदि केवल उस महान् बौद्धिक शक्ति का एक अंश मात्र भी, जो वैज्ञानिक अनुसंधान तथा अन्वेषण में दर्शायी जाती है, मोड़कर हमारी औद्योगिक तथा सामाजिक कठिनाइयों को तथा बेरोज़गारी तथा अनुत्पादक और अरुचिकर श्रम की कठिनाइयों को हल करने में लगा दिया जाए तो कोई कारण नहीं है कि हमारे समृद्ध देश के धन एवं आश्वासन के अनुरूप सुख प्राप्त न किया जा सके।

आशावाद

छिछला तथा लापरवाही से युक्त आशावाद भी प्रायः निराशावाद की ही भाँति बुरा है। इसी आधार पर ब्राउनिन्ग के आशावाद की आलोचना हुई है। उसकी पिप्पा अपने अल्पवास में गा-गा कर यह कह रही है, "स्वर्ग में भगवान् है—जगत् में सब कुछ ठीक है।" किन्तु यह सभी को विदित है कि जगत् में सब कुछ ठीक नहीं है। किन्तु ब्राउनिन्ग का आशावाद केवल इस एक पंक्ति से ही आँका जा सकता। सामान्य रूप में वह सुदृढ़ तथा पूर्ण है तथा उसका ईश्वर सत्य तथा प्रेम की आस्था पर और उसके प्रयत्न एवं प्रगति के दर्शन पर आधारित है। दूसरा प्रसिद्ध आशावादी दार्शनिक लायबनित्स था जिसने अपनी कृति **थ्योडिसी** में अपनी तर्क-संगत युक्तियों से यह प्रमाणित कर दिया कि यह सर्वश्रेष्ठ जगत् है। सर जॉन ल्यूबक अपनी पुस्तक **दि प्लेजर्स ऑफ़ लाइफ** में इसके विपरीत आगमनात्मक प्रणाली से आरम्भ करके जीवन के आशावादी दृष्टिकोण पर पहुँचा है।

हमारा प्रत्ययवाद

किन्तु अन्त में आशावाद अथवा निराशावाद का कोई विशेष अर्थ नहीं है। ये विशेषताएँ भ्रामक हैं। आगे की ओर देखते हुए तथा अपने आदर्शों के माप से जगत् को तौलते हुए हम उसे बुरा पाते हैं, किन्तु पीछे देखते हुए और वर्तमान को भूतकाल के माप से तौलते हुए हम उसे अच्छा पाते हैं। अतः वस्तुतः महत्त्वपूर्ण बात जगत् की अच्छाई अथवा बुराई नहीं, अपितु उसकी प्रगति है, और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण मानव-मनस् में स्थित वह प्रत्ययवाद है, जो वर्तमान की अच्छाई को हमारी कल्पना से सोची हुई उच्चतर अच्छाई के प्रकाश में अपूर्ण बताता है। वर्तमान दर्शन में न तो आशावाद और न ही निराशावाद की स्थिति अच्छी है। इसका स्थान उन्नयनवाद ने ले लिया है, और वह यह बताता है कि यह जगत न तो निकृष्टतम है और न ही सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु वह उत्तरोत्तर बेहतर हो रहा है, और हममें से प्रत्येक का यह कर्त्तव्य है कि उसे बनाने में अपना योग दे।

"प्लेटो के संवाद में सॉक्रेटीज़ कहता है 'ओ ग्लाउकन, पृथ्वी से बुराई नहीं हटेगी।' यदि वह उस अपूर्णता का ही नाम है जिसकी पराजय होने से पूर्णता अपना मूल्य प्राप्त करती है तो वह क्यों हटे।"[1]

निराशावाद का प्रलोभन

निराशावाद का साहित्य सदा जो एक जिज्ञासु भाव उत्पन्न करता है वह स्वयं में एक "समस्या" होती है—मनोवैज्ञानिक समस्या। मनुष्य जीवन के सन्तापों के विषय में लिखना व पढ़ना पसन्द करता है। यदि यह पढ़ना आंशिक रूप से निराशावादी कृतियों के श्रेष्ठ साहित्यिक लक्षणों से बताया जा सके तो यह श्रेष्ठता स्वयं एक समस्या उपस्थित करती है। एक धार्मिक पुस्तक का सुन्दर, किन्तु गम्भीर उद्धरण हेब्रू की बाइबिल के कथन से कम मेल खाता है, तो भी पिछली बीस शताब्दियों के लालायित पाठक लेखक की संजीदा भावनाओं के साथ सहानुभूति दिखाते आ रहे हैं।

> निस्सारताओं की निःसारता, निस्सारताओं की निस्सारता, सभी कुछ निस्सार है। वहाँ पर मनुष्य के परिश्रम का क्या लाभ होगा जहाँ धूप में वह कार्य कर रहा है?
>
> सभी वस्तुएँ परिश्रांतिकर हैं; मनुष्य उसे कह नहीं सकता कि आँख उसे देखकर सन्तुष्ट नहीं होती और कान सुनकर भरते नहीं।

बौद्ध दर्शन विशेषकर निराशावादी मत प्रस्तुत करता है, तो भी असंख्य व्यक्ति उसके उपासक हैं। एडविन एर्नाल्ड देव गीत में से निम्नांकित पंक्तियाँ उद्धृत करता है:

> भ्रान्त समीर के प्रवाह की हैं हम ध्वनि,
> शांति की जो चाह में—पर शांति जो पाता नहीं,
> लो—है समीर जैसा—वैसा ही नश्वर है जीवन,
> चाह, सिसक, सुबकी, संघर्ष और प्रभंजन।

फित्सगेराल्ड द्वारा अनूदित ओमर खय्याम की **रूबाइयात** की बिक्री सदा बहुत होती रही है। इसके निराशापूर्ण दर्शन के कारण इन छन्दों का कितना प्रभाव रहा और कितना प्रभाव अनुवादक के सुन्दर प्रस्तुतीकरण का है?

> अपनी युवावस्था में सोत्सुक मैं जाता अनेकशः
> डाक्टरों एवं सन्तों के पास,
> और सुनता दर्शन के विषय में उनके महान् तर्क
> किन्तु सदा ही उसी द्वार से बाहर आया
> जिससे किया था प्रवेश।

1. S. Alexander, *Space, Time, and Deity*, vol. II, p. 420.

उनकी संगति में मैंने बीज वपन किया ज्ञान का
तथा स्वयं अपने ही हाथों किया इसका पोषण संवर्धन,
यह मेरा मात्र कृषि फल था जिसे मैंने पाया
मैं आया जल की भाँति और पवनवत् जा रहा ।।

अथवा बाइरन्:

याद करो वे सुख के क्षण जो तुमने देखे
याद करो वे वेदनाहीन दिवस जो तुमने भोगे,
तुम क्या कुछ थे इसको पहचानो
कुछ न होने से तो यह कुछ अच्छा ही है ।।

या दि सिटि ऑफ ड्रेडफुल नाइट में जेम्स टॉम्सन:

जहाँ आराम नहीं, आराम की बात न करो ।
बिल्कुल न करो; क्या शब्द अनुचित को उचित कर सकते हैं ?
हमारा जीवन एक ढंग है, और मृत्यु एक अन्तहीन गहन अंधकार,
शान्त ! निराशा का नाम भी ज़बान पर न लाओ ।

या मैथ्यू आर्नोल्ड:

दो विश्वों के बीच भटकता,
एक मृत और दूसरा जन्म ग्रहण की शक्ति रहित,
विश्राम स्थल के सर्वथा अभाव में,
धरणी के जीवों की भाँति प्रतीक्षा करता हूँ मैं परित्यक्त ।

मैं नहीं जानता कि हम क्यों इन शोकाकुल रचनाओं को पढ़ना पसन्द करते हैं, किन्तु वे एक करुण राग प्रतिध्वनित करती हुई प्रतीत होती हैं । यह संभवतः इसलिए है कि विषय को रुचिकर बनाने के लिए जगत् में अनेक विपदाएँ हैं, उसे समतल बनाने के लिए नहीं । प्रत्येक जीवन की कुछ काली परछाइयाँ होती हैं और हमें उनके विषय में चुप ही रहना चाहिए । जब हम किसी कवि, दार्शनिक अथवा उपन्यास के सम्पर्क में आते हैं और उसके विषय में बोलते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि हमें कोई सहानुभूति रखने वाला मिल गया है । अधिकांश समय हमें मुस्कराते रहना होता है चाहे हम मुस्कराना चाहें अथवा न चाहें । इसलिए हम प्रायः अपये पुराने सहानुभूतिपूर्ण टॉमस हार्डी के पास पहुँच जाते हैं जो झूठे रूप में भी नहीं कहता कि यह जगत् शुभ, ईमानदार तथा सही है और हमें यों ही आगे जाने देता है । यह एक प्रकार की ढील तथा शुद्धीकरण है । इसी सिलसिले में मुझे यह भी आश्चर्य है कि आजकल के उपन्यासों में जो वास्तववाद कहा जाता है क्या वास्तववाद वही है, अथवा उसका तात्पर्य मात्र यह है कि

जीवन की बुराइयों को सत्यनिष्ठा तथा स्पष्टता से प्रस्तुत किया गया है, जबकि अच्छी बातें चूंकि रुचि के ध्यान से बहुत सामान्य होती हैं वे छोड़ दी जाती हैं।

किन्तु, हममें से अनेक लोगों को नैराश्य की कविता प्रभावित करती है, इसका संभवतः कोई दूसरा अधिक गहन कारण है। जीवन के आशापूर्ण दर्शन के लिए आधारों को ढूंढ़ लेना सरल है। किन्तु मुझे संदेह नहीं है कि अनेक पाठक यह कहेंगे कि "तुम्हारी युक्तियाँ संभवतः अकाट्य हैं, किन्तु तथ्य तुम्हारे विरुद्ध हैं। हमारे जीवन में जो बातें स्पष्टतः अलग दिखाई देती हैं, वे भ्रम-निवृत्ति, पराजय, कुंठित महत्त्वाकांक्षाएँ, तथा विफल आशाएँ हैं। जीवन के आश्वासन पूरे नहीं हुए, न्याय प्राप्त नहीं हुआ, इतनी सरलता से भाग्य की स्पष्ट असमानताओं को दोषमुक्त नहीं माना जा सकता। जो अध्ययन में लगा हुआ है उस सन्तुष्ट सिद्धान्तवादी के लिए यह दर्शाना सरल है कि यह जगत् शुभ है तथा उत्तरोत्तर अच्छा होता जा रहा है—किन्तु जीवन की कठोर वास्तविकताएँ आशा के इस दर्शन को बल नहीं प्रदान करतीं।" जो इस प्रकार लिखता है उसने बेरोज़गार लोगों की कतार के भग्नाश चेहरे नहीं देख रखे हैं, और न ही उन लोगों के हृदय देखे होते हैं जो जनता के कोश से आवश्यक परन्तु शुभ दान प्राप्त करते हैं। यदि हमारे लोगों में बहुत अधिक निराशावाद हो, तो ऐसा अधिकतर धन, सामाजिक स्तर तथा राजनीतिक सत्ता की असमानता के कारण होता है। अन्य हेतुओं से कटु न होने वाला जीवन भी ऐसे आनन्द की कल्पना से कटु हो सकता है जो कि अन्य लोगों को उपलब्ध हो किन्तु स्वयं को अनुपलब्ध हो। किन्तु संभवतः ये असमानताएँ शीघ्र ही भंग हो जाएँगी। अर्थशास्त्र शीघ्र वैसा ही विज्ञान बन सकता है जैसे हमारे भौतिकी अथवा रसायन हैं। जैसे भी हो परन्तु यह निश्चित है कि पृथ्वी के लोगों को यह सहयोग तथा शांति का पाठ सीखना है। अभी तक हम यह नहीं जानते कि क्या हम अपनी सभ्यता की रक्षा करने के लिए इस पाठ को समय रहते सीख सकते हैं; किन्तु शीघ्र ही यह सीख लिया जाएगा, और हम उससे नवीन बेहतर तथा अधिक सुन्दर सभ्यता की आशा कर सकते हैं जो अभी तक नहीं थी। यद्यपि मैं ऐसी सम्भावना नहीं देखता हूँ, तो भी यह हो सकता है कि सामाजिक अराजकता का अन्तराल उसे समय से अलग कर दे। अनेक व्यक्तियों के मन में श्रेष्ठ मार्ग की रूपरेखा स्पष्ट देखी जा सकती है, और हम एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था में सन्देह नहीं कर सकते जिसमें प्रतिस्पर्धा तथा अविश्वास का स्थान सहयोग ले लेगा।

हालाँकि, संभवतः वर्तमान संकट की जड़ें, शांति तथा युद्ध के विकल्पों से अधिक गहरी हैं। जब ईश्वर मनुष्य के समान उत्कृष्ट रचना करता है ताकि वह अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्रता से चल सके तब हमेशा यह खतरा रहता है कि कहीं वह ग़लत मार्ग पर न चला जाए चाहे कुछ देर के लिए ही सही। कुछ ऐसे संकेत हैं कि वह अब ग़लत मार्ग पर जा रहा है। ऐसे भी लोग हैं जो यह विचार

करते हैं कि मनुष्य की प्रगति अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी है, और हम लोग अब पतन की ओर बढ़ रहे हैं।

जिस प्रकार स्वास्थ्य के नियमों के भंग होने पर व्यक्ति को रोग, दु:ख तथा कष्ट हो सकता है, उसी प्रकार सामाजिक समुदाय द्वारा सामाजिक नियमों के भंग करने पर पतन हो सकता है। यद्यपि यह बहुत सन्देहास्पद है कि हमारा आज का समाज पतनोन्मुख है अथवा पतन की ओर आगे बढ़ रहा है, तथापि यह तत्काल आवश्यक है कि कुछ बुराइयों को सरसरी तौर से समाप्त कर दिया जाए। व्यवस्थित बुद्धि उन्हें समाप्त कर सकती है।

बुराइयों की जो सूची मैंने बताई है उसमें, और हमारे भीड़-भाड़ वाले शहरों तथा औद्योगिक केन्द्रों के दु:खों की भी सही-सही स्थिति का पता लगाना बहुत कठिन है। जहाँ तक जगत् में बुराई के परिणाम का सम्बन्ध है, निश्चय ही वह बहुत है, किन्तु हम प्राय: इस बात से गुमराह हो जाते हैं कि जैसे-जैसे हमारे नैतिक आदर्श प्रगति करते हैं हम उस बुराई से अधिक प्रभावित होते हैं, जिसे हम देखते हैं। रेल-यात्रा तथा मोटर कार-यात्रा अब इतनी सुरक्षित हो गई है कि दुर्घटनाएँ अब मुख शीर्षक में प्रदर्शित की जाती हैं। हमारे नैतिक नियमों तथा तौर-तरीकों में इतनी प्रगति हुई है कि कोई भी ग़लत कार्य अब "समाचार" बन गया है तथा हमारे दैनिक पत्र के मुख पृष्ठ के लिए यह प्रचुर सामग्री प्रदान करता है। अपराध संवेदनशील होते हैं, तथा हमारे "सनसनी-ख़ेज़" पत्र इस कारण इनका उपयोग करते हैं। ऐसा कहा जाता है कि डायोगनीज़ एक लालटेन लेकर सारे संसार में एक मनुष्य को खोजता रहा। आज हमारे संवाददाता सारे संसार में सौ केन्डिल शक्ति की रोशनी लेकर, अपराध, भीषण दुर्घटना, दुर्योग अथवा आत्महत्या के समाचार खोजते रहते हैं और अपनी कहानियों से हमारे बड़े-बड़े शहरों को गर्म किए रहते हैं। जब मैं इन शब्दों को लिख रहा हूँ एक दैनिक पत्र मेरी बग़ल में पड़ा हुआ है। प्रथम पृष्ठ में दो अकेले और तीन दुहरे कालम हैं और सभी मे अपराध तथा भीषण दुर्घटना का हवाला देते हुए उग्र शीर्षक दिए हुए हैं। हम ऐसे समाचार-पत्र को दु:ख के साथ यह कहते हुए रख देते हैं कि "जगत् अपराध और दु:खों से पूर्ण है।" किन्तु वास्तव में संपूर्ण जगत् दूर-संचार के माध्यम से हमारे समाचार-पत्रों के सम्पर्क में आता है और समाचार के लिए हम उसकी छान-बीन पैनी दृष्टि से करते हैं, तब यह देखते हैं कि बातें उतनी बुरी नहीं हैं जितनी वे प्रतीत होती हैं। इस बात पर बल देने के लिए उस सनसनी-ख़ेज़ समाचार-पत्र पर से दृष्टि हटाकर अपने मित्रों तथा पड़ोसियों पर विचार करना ही आवश्यक है। अधिकांशत: वे ईमानदार व सभ्य व्यक्ति होते हैं जिन्हें आप अपनी बन्दूक अथवा कन्या भी विश्वास-पूर्वक सम्भाल सकते हैं।

जब सभी कुछ कहा जा चुका है तो कुछ शताब्दियों से वस्तुओं में जो

प्रगति हुई है और जिन्हें हम महत्त्व देते हैं वे हैं—स्वतन्त्रता, अवसर, सुरक्षा, भौतिक आराम, चिकित्सा, शल्य तथा दंत-चिकित्सा, संक्रामक रोगों की रोकथाम, गृहकार्य की सुविधाएँ, यात्रा तथा संचार की सुविधाएँ, विश्व-व्यापी समाचार सेवा, भय तथा अंधविश्वास का पार होना, हमारे बालकों के लिए शिक्षा की सुविधाएँ, महिलाओं के अधिकारों व सुविधाओं का निरन्तर बढ़ना आदि अनेक बातें। अब हमें भूख, सर्दी तथा निरन्तर होने वाले भय का सामना करने की चिन्ता भी नहीं करनी चाहिए, और न ही उस सुरक्षा को बलिदान करने के लिए उद्यत रहना चाहिए जो शांति के लम्बे मध्यांतरों के बाद हमारी महिलाओं, बच्चों, तथा हमारे जीवन व सम्पत्ति के लिए प्राप्त हुई है। जब मौलिक समाज-सुधारक वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को उखाड़ फेंकने की माँग करते हैं, और उसे गुलामी, दरिद्रता तथा निष्ठुर अन्याय का तन्त्र बताते हैं तब यह स्पष्ट है कि वे इन सब शब्दों का सापेक्ष रूप से प्रयोग करते हैं। उनके मन में किसी आदर्श सामाजिक व्यवस्था का रूप होता है जिसमें हमारी वर्तमान स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा और हमारे आराम, सुविधाएँ विद्यमान रहती हैं और इसके साथ ही सामने दीखने वाली कमियाँ नहीं होतीं।[1]

श्री एच० जी० वेल्स, अपनी पुस्तक **न्यू वर्ल्डस् फॉर ओल्ड** में आजकल के पापों तथा बुराइयों को बहुत गहरे रंगों से चित्रित करते हैं, फिर भी उसी पुस्तक में यह कहने से नहीं हिचकिचाते:

> जीवन की उलझनों तथा विरोधों, अवरोधों, और मानसिक अथवा शारीरिक तनावों, और भाग्य के थपेड़ों के बावजूद यह स्पष्ट है कि कालांतर में मानव-जीवन पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक, अधिक सभ्य अधिक सुन्दर तथा अधिक गहन हो गया है। समग्र रूप से—और आजकल प्रायः क्रमिक रूप से चीज़ें **बेहतर हो रही हैं**। जीवन का सुधार धर्म-निरपेक्षता से हुआ है और यह मनुष्यों के प्रयत्नों तथा सद्भावनापूर्ण कार्य करने से हुआ है...।
>
> सामान्य व्यक्ति के लिए पहले किसी भी समय की अपेक्षा यह जगत् अब अधिक सुविधाजनक स्थान है, तथा वह और अधिक समृद्ध तथा गहनतर है और आशा तथा विश्वास से युक्त है। सार्वभौमिक वस्तुओं के विषय में उपेक्षा करना कितना सरल है, उदाहरण के लिए, महान् तथा बढ़ती हुई उन लोगों की संख्या को, जो जगत् में स्वतन्त्रता से यात्रा कर सकें, स्वतंत्रता से पठन कर सकें, स्वतन्त्रता से विचार कर सकें तथा स्वतन्त्रता से बोल

---

1. लेखक की पुस्तक : *The Psychology of Social Reconstruction* (Houghton Mifflin Company) से उद्धृत।

सकें ! अभूतपूर्व रूप में सुव्यवस्थित एवं समुचित रूप से देख-भाल किए जाने वाले घरों तथा जिज्ञासु तथा सम्पूर्ण विकसित बालकों की संख्या का विचार कीजिए ! और यह केवल इतनी ही बात नहीं है कि हमारे पास ऐसे मामूली दर्जे के लोगों का उमड़ता समुद्र है जिनमें भविष्य की सत्ताएँ जन्म ले रही हैं, अपितु उपलब्धियों के मामले में मैं केवल अपने ही समय में विश्वास करता हूँ। जिस समय से आलोचना आरम्भ हुई है तभी से ग़ैर-ज़िम्मेदार व्यक्ति की यह शिकायत रही है कि उसकी अपनी पीढ़ी में कुछ नहीं हुआ, मैं इस शिकायत का विरोध करता हूँ और इससे मुझे घृणा है। जब यह कूड़ा साफ हो जाएगा और तुलना सम्भव होगी तब, मुझे विश्वास है, कि यह बात मान ली जाएगी कि सब मिलाकर, दर्शनशास्त्र में, और महत्त्वपूर्ण साहित्य में, वास्तुशिल्प, चित्रकला तथा वैज्ञानिक अनुसंधान में, इंजीनियरी तथा औद्योगिक आविष्कारों में, शासन-कला, मानवता तथा साहसी कार्यों में पिछले तीस बर्ष के मनुष्य के प्रयत्न इतिहास के किसी भी काल के तीस वर्ष के काल की तुलना में रखे जा सकते हैं।

और यह प्रयत्न का ही फल है, वस्तुएँ बेहतर होती हैं क्योंकि मनुष्य उनका बेहतर होना पसंद करते हैं और इस बेहतरी के लिए प्रयत्न करते हैं। यह प्रगति होती जाती है क्योंकि मनुष्य अपने स्वभाव, गहरी भूल एवं झूठे अभिमान और आलस्य तथा वासनाओं के बावजूद शुभ संकल्प की ओर भी अनुराग रखता है और उसे अभिव्यक्त भी करता है। आप यह घोषणा तो कर सकते हैं कि जीवन की समस्त अच्छी बातें ऐसे कारणों का परिणाम होती हैं, जिन पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं होता और यह भी कि अपने "प्रबुद्ध स्वार्थ" में अनजाने में ही वह वस्तुओं को बेहतर कर देता है। किन्तु आप किसी भी अच्छी वस्तु के विषय में सोचिए ! क्या वह इसी प्रकार आयी थी ?[1]

1, H. G. Wells, *New Worlds for Old* (copyrighted by The Macmillan Company) (सानुमति पुनः मुद्रित) pp. 5, 10, 11 । यह महायुद्ध के पूर्व लिखा गया था। सामाजिक प्रगति के इतने ही अच्छे विवरण के लिए रॉबर्ट ब्रिफाल्ट की पुस्तक "दि मेकिंग ऑफ़ ह्यूमेनिटी" देखिए। "अच्छे जगत्" का विवरण 'दबाव' के समय के बाद से अनेक पत्र-पत्रिकाओं के लेखों तथा संपादकीय टिप्पणियों में देखा जा सकता है।

प्राचीन अच्छे समय की असत्य धारणा अब हम लोगों में से कम लोगों को धोखा दे सकती है। कान्सटेन्टिनोपल के एक अजायब घर में लेखक को एक ई० पू० 3800 वर्ष की प्राचीन शिला दिखाई गई जिसका अनुवाद यों है : "हम बुरे समय में आ पड़े हैं और जगत् अत्यंत प्राचीन तथा दुष्ट हो गया है। राजनीति भ्रष्ट है। अब बालक अपने माता-पिता का आदर नहीं करते।" "जून 1924 के हार्पर्स मैगज़ीन" में डेविड एफ० हाउसटन के एक लेख "एन आन्सर टु पेस्सिमिस्ट्स" में कांग्रेस की कटु आलोचना देखने को मिलती है जहाँ देश का कार्य छोड़ दिया गया है अथवा खराब किया गया है। जब पाठक ने इसे पढ़ लिया

क्या आपने कभी इसके विषय में सोचा है कि जिस "सुधार" की चर्चा मि० वेल्स ने की है वह हो रहा है पिछले पाँच लाख वर्षों से, जब प्रथम मानव सीधा खड़ा हुआ। जब उसने पत्थर को पैना किया, भाले के लिए छड़ी को तेज़ किया, तीर-कमान का आविष्कार किया अथवा जब उसने अग्नि का पता लगाया तो उसने अपनी स्थिति में **सुधार** किया। अब बेहतर तरीके, नवीन शक्तियाँ, जीवन की अधिक सुखमय स्थितियाँ, तथा सृजनात्मक कार्य और खोज के आनन्द भी प्राप्त थे। इसी को आगे ले चलकर हम अपने समय के श्रम बचाने की युक्तियों, भोजन, वस्त्र, अथवा गृह-निर्माण, अथवा फिर आधुनिकतम कृषि अथवा संचार के संशोधित उत्तम उपकरणों के सम्बन्ध में खोज को भी देख सकते हैं। निरन्तर **सुधार** हुआ है। अब यह कल्पना नहीं कर सकते कि प्रथम मानव दुःखी था। निश्चय ही उसकी स्थिति उन लगूँरों से अच्छी थी जो उसके पूर्व थे और हम उन्हें अथवा उससे भी नीचे चलकर किसी भी जानवर को दुःखी नहीं मान सकते, वे सभी जीवित रहने को उत्सुक हैं और रहने में, निस्सन्देह, सुखी होते हैं। चीज़ों को इस दृष्टि से देखने पर निराशावादी दर्शन के लिए बहुत आधार दिखाई नहीं पड़ता।

जी० लावेस डिकिन्सन ने एक पुस्तक **ए मार्डन सिम्पोजियम** नाम से लिखी है। प्लेटो के सिम्पोज़ियम के समान ही तेरह वक्ता विभिन्न दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करते हुए भाषण करते हैं। उनमें से दो व्यक्ति "अशुभ" पर वार्ता करते हैं। यह वह अंश है जिसे कवि आउब्रे कोर्याट ने कुछ अंश में कहा है:

> जिस पर कोर्याट ने कुछ हास्यपूर्ण टिप्पणी इस प्रकार की, "ओह अच्छा! हाँ, तो फिर मेरी कविता कोई बहुत अच्छी नहीं है। किन्तु शेक्सपियर और मिल्टन हैं—और जब तक महान् कविता के तत्त्व विद्यमान हैं मुझे इसकी चिन्ता नहीं है कि वह कौन है, क्योंकि वही चीज़ों के महत्त्व का बोध कराते हैं। इससे मेरा तात्पर्य सुख से नहीं है वरन् असामान्य महत्त्व से है, जिसके ये सब शुभ और अशुभ विषयक अव्याख्यात प्रश्न स्वयं ही अंश हैं। मुझे विश्वास है कि किसी ने भी महान् दुःखान्त नाटक नहीं लिखा है—चाहे "लियर" को ही ले लीजिए—बिना जीवन के अत्यन्त महत्त्व के, जैसा जीवन है—दयाहीन तथा रुष्ट जीवन, सभी असमानताओं, दुःखों, तथा उलझनों के साथ, वह जीने के बजाय मर जाना पसन्द करता। किन्तु दुःखान्त नाटक का एक चरम मामला होता है। प्रत्येक सरल तथा और सामान्य मामलों में कवि हमारे लिए भी वही करता है। वह दर्शाता है कि जिन जीवनों को वह स्पर्श करता है उनका महत्त्व होता है, आनन्द,

---

हो और उसका समर्थन कर दिया हो तब लेखक चुपचाप यह सूचना देता है कि यह मेसचुसेट के निवासी मि० जस्टिस स्टोरी द्वार 1818 में लिखा गया था।

आमोद, धैर्य, कठिनाई से प्राप्त की हुई बुद्धिमत्ता, निरन्तरता, और आशा के आनन्द का। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि असफलता तथा नैराश्य के आनन्द का भी महत्त्व होता है। वह पलक भी नहीं झपकता, वह सीधे उसकी ओर देखता है किन्तु वह उसे यथार्थ परिप्रेक्ष्य में देखता है – स्वच्छ प्रकाश में—और समस्त बुराई को देखता है--फिर भी ईश्वर के साथ उसका भी कथन है—रुको—यह बहुत अच्छा है।"[1]

किन्तु वर्तमान जगत् की स्थिति के खतरों से यह सुधारवाद हमें अन्धा बना दे यह हम स्वीकार नहीं कर सकते। हम कितने ही आशावान् क्यों न हों, सभ्यता के संभावित पतन के डर से स्वयं को छिपा नहीं सकते; ऐसा प्रथम, तो इसलिए है कि अधिक बुद्धिमान् और गुणवान् लोगों की प्रतिशत जन्म दर कम हो रही है, द्वितीय वह आर्थिक व्यवस्था का फूहड़पन है जो हमारे धन को कुछ इने-गिने व्यक्तियों में ही केंद्रित कर देता है, तीसरा अमरीका का वह राजनीतिक संगठन है, जो शिक्षित तथा अपने कार्य में दक्ष व्यक्तियों को ज़िम्मेदार पदों पर रखनें से इन्कार कर देता है, चतुर्थ सामाजिक स्थायित्व के स्रोत के रूप में घर की रुग्ण शक्ति है, और पाँचवें काम भाव का नैतिकता और विवाह में स्थायित्व जो मानव जाति के शारीरिक समाकलन को धमकी दे रहा है—निश्चय ही ये सब स्पेन्गलर की किस्म[2] के निराशावाद को प्रोत्साहन दे रहे हैं। किन्तु अमरीका की स्थिति में ऐसा नहीं है जिसे यूरोप तथा अमरीका के लोग, यदि चाहें, तो ठीक न कर सकें। यदि वे असफल रहते हैं तो जिस सामाजिक व्यवस्था का चित्र अनेक लोगों ने देखा है और जिसमें, शांति सद्भावना तथा सहयोग व्याप्त होगा, उसके आने में विलम्ब होगा—शायद पाँच सौ वर्षों की देर होगी—किन्तु वह समय अवश्य आएगा।

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Josiah Royce, *The Spirit of Modern Philosophy* (Houghton Mifflin Company), lecture XIII.

Arthur Schopenhauer, "The Assertion and Denial of the Will," selection from *The World as Will Idea in Rand's Modern Philosophers* (Houghton Mifflin Company), pp. 658—71.

William James, "Is Life Worth Living?" in *The Will to Believe* (Longmans, Green and Company).

---

1. From *A Modern Symposium* by G. Lowes Dickinson, copyright, 1905, by Doubleday, Doran and Company, Inc.

2. देखिए: Oswald Spengler, *The Hour of Decision*, Translated by C. F. Atkinson (Knopf).

अन्य सन्दर्भ

John Stuart Mill, *Three Essays on Religion* (Henry Holt and Company), pp. 3—69.

James Ward, *The Realm of Ends* (G. P. Putnam's Sons), lectures XV, XVI, XVII.

W. K. Wright, *A Student's Philosophy of Religion* (The Macmillan Company), chap. XX.

R. M. Wenley, *Aspects of Pessimism* (William Blackwood and Sons).

Josiah Royce, *Fugitive Essays* (Harvard University Press), "The Practical Significance of Pessimism," p. 133; "Pessimism and Modern Thought," p. 155.

Friedrich Paulsen, *A System of Ethics*. Translated by Frank Thilly (Charles Scribner's Sons), book II, chaps. III, IV.

J. Arthur Thomson, *The System of Animate Nature* (Henry Holt and Company), vol. II, lecture XVIII, "Disharmonies and Other Shadows."

James Sully, *Pessimism, a History and a Criticism* (D. Appleton and Company).

H. Rashdall, *The Theory of Good and Evil* (Oxford University Press), vol. II.

Arthur Schopenhauer, *The World as Will and Idea* (Ticknor and Company), vol. III, chap. XLVI, "On the Vanity and Suffering of Life."

Oswald Spengler, *The Hour of Decision*. Translated by C. F. Atkinson (Knopf).

अध्याय 28

हमें क्या करना चाहिए ?

नैतिकता का सिद्धान्त

सबसे प्राचीन दार्शनिक समस्याओं में से एक समस्या सर्वोच्च शुभ की है। जीवन तथा आचरण पर इसे लागू किये जाने पर यह अच्छे जीवन की समस्या बन जाती है। यह समस्या मूल्य के सिद्धान्त से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। मूल्य विषयनिष्ठ होते हैं अथवा विषयीनिष्ठ ? क्या उनका अस्तित्व मानवीय क्रिया के क्षेत्र के परे होता है ? क्या हम वस्तुओं की कामना इसलिए करते हैं कि वे मूल्यवान् होती हैं, अथवा फिर क्या वे इसलिए मूल्यवान् होती हैं, क्योंकि हम उनकी कामना करते हैं ? इस प्रकार हमारा परिचय नीतिशास्त्र से होता है, और उसके साथ ही उसके ग़लत व सही तथा कर्त्तव्य, अंतर्विवेक और नैतिक नियम विषयक उलझन पैदा करने वाले प्रश्नों से भी होता है।

जिन समस्याओं पर हम विचार करते रहे हैं उनसे हम इस समस्या को तुरन्त ही भिन्न देखते हैं। अभी तक हम सत्ता के विषय में तथा जगत् तथा मन के संघटन के विषय में ही आश्चर्य से विचार करते रहें हैं। हम वस्तुओं की प्रकृति तथा वास्तविकता की बुनावट का भेद लेते रहे हैं। अब, जबकि हम नैतिक सिद्धान्तों का अध्ययन आरम्भ कर रहें हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि हम व्यावहारिक प्रश्न के अध्ययन में व्यस्त हैं—मूल्यों के प्रश्न पर—जीवन के उच्चतर मूल्यों पर। अब हम वस्तुओं की सत्यता के विषय में जाँच करते हुए प्रतीत नहीं होते, अपितु उनका मूल्य तथा अच्छाई और विशेषकर कुछ निश्चित वर्ग की वस्तुओं के मूल्य तथा अच्छाइयों की, अर्थात् मानवीय क्रिया की जाँच करते हुए प्रतीत होते हैं। मनोविज्ञान में हम मनुष्य के व्यवहार का वैसा अध्ययन करते हैं, जैसा वह होता है। नीतिशास्त्र में हम मनुष्य के व्यवहार का भी अध्ययन करते हैं किन्तु नितान्त ही भिन्न दृष्टिकोण से, अर्थात् उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करने की दृष्टि से।

आरम्भ में हम इस नवीन प्रकार के प्रश्न से उलझन में पड़ जाते हैं। क्या नीतिशास्त्र विज्ञान है अथवा कला, अथवा वह दर्शनशास्त्र की एक शाखा है ? सिवा केवल यह तीनों ही है। यदि उसकी अनसुलझी समस्याएँ ही उसे दर्शन का

एक अध्याय बनाती हैं। यदि हम मनुष्य के आचरण को इच्छित उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यावहारिक नियमों में बदल सकते, तो यह कला होती। और यदि हम व्यक्ति तथा समाज के संदर्भ में मनुष्य के आचरण के नियमों का ठीक ज्ञान कर सकते तो यह विज्ञान होता।

किन्तु व्यावहारिक विज्ञान के रूप में नीतिशास्त्र अन्य व्यावहारिक विज्ञानों की अपेक्षा बहुत पीछे दिखाई पड़ता है—उदाहरण के लिए कृषि विज्ञान मधुमक्खी पालन अथवा धातु विज्ञान से उनके विकास के स्तरों की दृष्टि से। हमारी सभ्यता की यह विचित्र विडम्बना है कि हम इस्पात के उत्पादन अथवा मधु के उत्पादन की अपेक्षा मनुष्य के व्यवहार तथा मनुष्य के सुख के सम्बन्ध के विषय में कम जानते हैं।

सर्वाधिक व्यावहारिक विज्ञानों में, उदाहरण के लिए, जैसे चिकित्सा विज्ञान में, एक पूर्ण निश्चित लक्ष्य प्राप्त करना होता है—अर्थात् स्वास्थ्य की सुरक्षा। और ऐसे विज्ञानों में लक्ष्य तथा उसको प्राप्त करने के नियम दोनों ही बातें ठीक प्रकार से समझी जाती हैं। किन्तु नीतिशास्त्र नामक व्यावहारिक विज्ञान में लक्ष्य तथा उसे प्राप्त करने के नियम दोनों ही बातें विवाद-मुक्त नहीं हैं। इसीलिए यह दर्शनशास्त्र में एक समस्या प्रस्तुत करता है। क्या यह बात विचित्र प्रतीत नहीं होती कि, जब कि सभी कम व्यावहारिक विज्ञानों में, जो ऊपर बताए जा चुके हैं, हम ठीक वह बात जानते हैं जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु नीतिशास्त्र जैसे व्यावहारिक विज्ञान में सामान्यतः हम ठीक-ठीक यही नहीं जानते कि हम किस लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि जिस वस्तु को सभी लोग प्राप्त करना चाहते हैं, वह है **आनन्द** जब कि अन्य लोगों का मत है कि, वह आनन्द नहीं अपितु **ज्ञान** है, कुछ अन्य लोगों का विचार है कि **आत्म-साक्षात्कार** अथवा शान्ति अथवा **कर्त्तव्य की पुकार** अन्तर्विवेक अथवा **ईश्वर के आदेश** का पालन करना है।

यह स्पष्ट है कि हम यहाँ उस **व्यवहार** का अध्ययन करने नहीं, जैसा मनोविज्ञान में होता है, अपितु शुभ अथवा अशुभ व्यवहार का, अर्थात् आचरण का, अध्ययन करने को बैठे हैं। मेथ्यु आर्नोल्ड का कथन है कि आचरण जीवन का तीन-चौथाई भाग है, मैं समझता हूँ कि इसका तात्पर्य यह हुआ कि हमारे व्यवहार का तीन-चौथाई भाग या तो शुभ है अथवा अशुभ। अतः हमें यह अवश्य पता लगा लेना चाहिए कि शुभ अथवा अशुभ व्यवहार कैसे बनता है।

जब हम बच्चे थे तब हमारे माता-पिता ने कहा था कि कुछ बातें **सही** हैं और कुछ बातें **ग़लत** हैं। हमें ग़लत बातें नहीं करनी चाहिएँ और सही बातें "अवश्य" करनी चाहिएँ। किन्तु हमने यह पाया कि यदि हम चाहें तो ग़लत कार्य करने के लिए हम स्वतन्त्र हैं, और हमने प्रायः उसे किया भी, और फिर किसी प्रकार का **दण्ड** तो परिणामस्वरूप मिलना ही था। हमने अपने आरम्भिक

दार्शनिक मनोभावों में स्वयं से यह प्रश्न सम्भवतः किया था कि क्यों कुछ कार्य सही अथवा शुभ कहे जाते हैं, जब कि कुछ अन्य ग़लत अथवा अशुभ कहे जाते हैं, और सम्भवतः हमसे यह कहा गया था कि ग़लत वह है जिसे ईश्वर ने मना किया है और सही वह है जिसकी ईश्वर ने आज्ञा दी है। और इस उत्तर ने सम्भवतः हमें कुछ समय के लिए सन्तुष्ट कर दिया, किन्तु पश्चात् हमने यह जिज्ञासा आरम्भ कर दी कि क्यों ईश्वर ने कुछ बातों को मना और कुछ को करने का आदेश दिया है।

फिर **कर्त्तव्य** का भी प्रश्न है-- आभार का एक जिज्ञासा-भाव, "चाहिए" की भावना। यह स्वीकार करते हुए कि कुछ कार्य सही होते हैं और कुछ अन्य ग़लत, मुझे क्यों सही ही करना **चाहिए** और यह कर्त्तव्य की अनोखी भावना कहाँ से आती है? वे मुझसे कहा करते थे कि यह अन्तर्विवेक की आवाज़ है। किन्तु अन्तर्विवेक क्या है? क्या यह त्रुटि-हीन मार्गदर्शक है जिसका मुझे अनुसरण करना चाहिए, यदि ऐसा है तो अन्तर्विवेक को यह अधिकार कहाँ से प्राप्त होता है?

इस विषय का अध्ययन कैसे न किया जाए।

दर्शनशास्त्र में सम्भवतः इस आचरण के सिद्धान्त के अध्याय से कोई अन्य अध्याय अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसमें ज्ञान की पिपासा को सन्तुष्ट करने के कारण सैद्धान्तिक रोचकता से भी अधिक कुछ है; इसका प्रभाव सीधे ही हमारे तौर-तरीकों तथा नैतिकताओं पर होता है। और तो भी विद्यार्थी के लिए इसको केवल विद्वत्ता के रूप में पढ़ना और उसके व्यावहारिक पक्ष से वंचित रह जाना सरल होता है। वह प्राचार्य के इस निष्कर्ष को प्रसन्नता से स्वीकार कर लेगा कि सेवा, प्रेम, सत्यता अथवा आत्मसाक्षात्कार अथवा कर्त्तव्य ही परम-शुभ है, और सीधे बाहर जाकर किसी अन्य परम शुभ के लिए लग जाएगा और उसे लेशमात्र भी यह भाव नहीं आएगा कि उसके अनुरूप किसी मानसिक अभियोजन की आवश्यकता है।

किन्तु इस प्रकार के लापरवाही के अध्ययन से बचा जा सकता है, और इसका तरीका यह है कि पाठक अथवा विद्यार्थी को किसी भी उपदेश के सुनने अथवा उस विषय पर किसी पुस्तक को पढ़ने के पूर्व समस्या पर गहन विचार स्वयं करना चाहिए। परम शुभ के प्रश्न का ध्यान नहीं रखना चाहिए—बस अपने आपसे यह पूछिए, "मेरे अपने वर्तमान **व्यक्तिगत** अथवा उन्नतिशील जीवन में उचित उच्चतर मूल्य क्या हैं?"

इस विषय के व्यावहारिक आधार को देखने का दूसरा उपाय यह कल्पना करना होगा कि दूर किसी द्वीप में एक नवीन समाज की स्थापना होनी है और मुझे और आपको उसका संविधान तैयार करने के लिए, संस्थाओं को संस्थापित

करने के लिए तथा शिक्षा की व्यवस्था करने लिए नियुक्त किया गया है। जब तक हम बहुत स्पष्ट रूप से अपने मन में निश्चित न हों कि हमें क्या प्राप्त करना है, हम यह सब नहीं कर सकेंगे। अन्य रूप में हमें यह सम्भवतः कहना चाहिए जो हम प्राप्त करना चाहते हैं वह है लोगों का सुख। जब तक हम सावधानी से विचार न कर सकें तब तक हमें इस सामान्य कथन से सम्भवतः संतोष रहे। तब हमें यह पता लगाना चाहिए कि यह पर्याप्त रूप से निश्चित नहीं है। सभी व्यक्तियों का सभी समय सुखी रखना केवल एक आदर्श है जो सम्भवतः किसी भी समाज-सुधारक को प्रभावित नहीं करेगा।

सार्वजनिक शिक्षा के राज्य अधीक्षक ने एक दिन कक्ष में रोककर मुझसे कहा कि वे चाहते हैं कि कोई शिक्षा के दर्शन पर एक निबन्ध लिखे। कुछ प्रश्नों को पूछने के पश्चात् मैंने यह पाया कि अपने उच्च पद पर कुछ वर्ष कार्य करने के बाद वे इस अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचे थे, कि तब तक अध्ययन के पाठ्यक्रम तथा शिक्षा की प्रणालियों पर कार्य करना व्यर्थ है जब तक यह स्पष्ट रूप से निश्चित न हो कि नवयुवकों को क्या प्राप्त होना चाहिए। शिक्षा का दर्शन ही वास्तव में जीवन का दर्शन है। इस दृष्टि से देखने पर परम शुभ की प्राचीन समस्या एक बहुत ही व्यावहारिक पक्ष ग्रहण कर लेती है।

क्या चींटियों तथा मधुमक्खियों के कर्त्तव्य होते हैं ?

मानवीय आचरण जैसे कठिन विषय का अध्ययन हम कैसे आरम्भ करेंगे ? नैतिक सिद्धान्त के अनेक सम्प्रदाय हैं और उनके भिन्न-भिन्न मत हैं। इन विरोधी मतों के बीच से अपना मार्ग कैसे निकालेंगे ?

इस विषय को उस रूप में सरल बनाना हितकर होगा जिस रूप में वह सरल जातियों वाले आदिम व्यक्तियों के समक्ष प्रस्तुत किया गया था। यहाँ तक कि निम्नतर पशुओं, विशेषकर जो सामाजिक समुदाय बनाकर रहते हैं, जैसे चींटियों तथा मधुमक्खियों तक के जीवन का अध्ययन करना बेहतर हो सकता है। क्या उनके भी "कर्त्तव्य", "नैतिक दायित्व", तथा "नैतिक नियम" होते हैं ? क्या वे "सही" और "ग़लत" रूप से कार्य करती हैं ? क्या उनके पास भी "परमशुभ" होता है ? चाहे ये पद उनके लिए लागू होते हों अथवा नहीं, किन्तु वे अपनी सहज क्रियाओं में, निश्चय ही, किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उच्च कोटि के **सहयोग** का प्रदर्शन करती हैं और वह उद्देश्य है अपनी बस्ती समुदाय का हित; और यह हित अपनी जाति के चलन तथा उसकी उन्नति में निहित होता है। अन्य जानवरों की भाँति ये भी तीन बातों से प्रयोजन रखते हुए प्रतीत होती हैं— भोजन, सुरक्षा तथा प्रजनन – एक शब्द में **जीवन से**; किसी व्यक्तिगत जीवन से नहीं—उसका तो प्रायः निर्मम हनन होता है—अपितु समुदाय के जीवन से; और केवल तात्कालिक समुदाय से ही नहीं वरन् वर्तमान तथा आगे आने

वाली पीढ़ियों से। अब, यदि चींटियों तथा मधुमक्खियों में नैतिक नियम तथा अपराधियों के लिए दण्ड होते हैं और उनमें ग़लत और सही की समझ होती है, तो यह स्पष्ट है कि वे सभी इस एक उद्देश्य अथवा परमशुभ अर्थात् जाति के जीवन के लिए लगा दिए जाते।

मनुष्य के दृष्टिकोण से विशिष्ट चींटियों तथा मधुमक्खियों का आचरण **अच्छा आचरण** कहा जाएगा, क्योंकि वह बिल्कुल भूल-रहित होकर समुदाय के हित के लिए लगी रहती हैं; और उनका आचरण बहुत कम बुरा होने के कारण यह है कि पशु का आचरण अनन्त काल से प्राकृतिक चुनाव अथवा अन्य तरीकों से यन्त्रित रहा है। इस यंत्रित आचरण को हम सहज-क्रिया कहते हैं, और इसका कार्य इतना पक्का होता है कि समुदाय का हित नियमों, नियम देने वालों, अपराधों तथा दण्डों की उपस्थिति के बिना भी प्राप्त हो जाता है, किन्तु निश्चय ही यह उन उच्चतर मूल्यों के बलिदान से होता है जो स्वतन्त्र व्यक्तियों के समाज में उत्पन्न होते हैं।

मधुमक्खियों तथा चींटियों की तुलना में इस बात के अलावा कुछ नहीं है जो हमें नैतिकता के सिद्धान्त में योगप्रद हो सके कि इन सामान्य जानवरों में समुदाय अथवा जाति का **हित** अथवा **सुख** ही उनके कार्यों का उद्देश्य अथवा लक्ष्य होता है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है और यह शुभ आचरण (सहज प्रवृत्ति) ही इस हित की एक आवश्यक शर्त है। यदि इस बात को हम मानव-समाज पर लागू कर सकते कि सामाजिक हित ही परम शुभ है, और "अच्छा" अथवा "सही" आचरण वह है जो इस हित को समायोजित करता है, और यह कि वे सारे **नैतिक नियम** जो हमें बचपन से सिखाए गए हैं, क्रिया के मात्र वे नियम हैं जिन्हें सामाजिक हित के लिए आवश्यक समझा गया है तो फिर नीतिशास्त्र का समस्त विषय बहुत सरल बन जाएगा।

जीवन परम शुभ के रूप में

तो, सम्भवतः जीवन ही वह सर्वोच्च शुभ अथवा **परम शुभ** है, जिसके प्रति दार्शनिक सदैव से जिज्ञासु रहे हैं। जो भी हो किसी मूल्य पर जीवन **शुभ** होता है, इस बात पर हम बाद में विचार करेंगे कि क्या यह परम शुभ भी है। समस्त प्रकृति जीवन के लिए संघर्ष करती हुई प्रतीत होती है। ज्ञानात्मक आवेग, जीवन की इच्छा, जीवन-शक्ति, अस्तित्व के लिए संघर्ष, आदि शब्द हमारे समक्ष प्रायः आते हैं, चाहे हम जीवन की उत्पत्ति तथा उसकी प्रकृति का अध्ययन कर रहे हों, अथवा मन या विकास के दर्शन का अध्ययन कर रहे हों, ये हमें आचरण के दर्शन का आधार प्रदान करते हुए प्रतीत होते हैं। इसलिए नीतिशास्त्र वह व्यावहारिक विज्ञान माना जाएगा जो **सफल जीवन** के मार्गों पर ठीक उसी प्रकार विचार करता है; जैसा कृषि-विज्ञान सफल खेती के मार्गों पर विचार करता है। ऐसे

मामले में नैतिक नियम सफल जीवन के नियम होंगे; और सम्भवत: वास्तव में जो प्रचलीत नैतिक नियम हैं उन्हें सामाजिक समुदायों के अनुभव ने सफल जीवन के लिए आवश्यक पाया है।

वास्तव में यह निष्कर्ष मनुष्यों के लिए नैतिक सिद्धान्त प्रदान करने के लिए बहुत सरल होगा, किन्तु यह मामले को हमारे समक्ष प्रस्तुत करने के लिए एक परिचय-पत्र के रूप में उपयोगी हो सकता है। मधुमक्खियों तथा चींटियों के हित की व्याख्या बहुत सरलता से की जा सकती है किन्तु मनुष्यों का हित बहुत कठिनाई उपस्थित कर देता है, हम और आप इस बात पर सहमत नहीं हो सकते कि सफल जीवन क्या है।

आदिम जातीय लोगों का आचरण

इस समस्या पर अध्ययन आरम्भ करने के पूर्व आदिम जाति के समुदायों पर विचार कर लेना हमारे लिए हितकर हो सकता है। चींटियों तथा मधुमक्खियों में नैतिक नियम, कर्त्तव्य, अन्तर्विवेक, अथवा कोई नैतिकता का ज्ञान तहीं होता। और न ही यह किसी जानवर में होता है, यद्यपि कुछ सामाजिक ढंग के जानवरों में सामान्य हित विरोधी किसी जानवर को या तो जान से मार डाला जाता है अथवा उसे समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है। केवल मनुष्य ही नैतिक प्राणी है जो निरन्तर सही और ग़लत आचरण का विचार स्वीकार अथवा अस्वीकार करने और स्वेच्छा से चुनाव करने पर विचार करता रहता है तथा अपनी ग़लतियों पर पछतावे का कष्ट भोगता रहता है। मनुष्य में आकर ही आचरण तर्कपूर्ण हो जाता है और इस तर्कपूर्ण व्यवहार अथवा आचरण के साथ ही नैतिकता, अन्तर्विवेक तथा नैतिक निर्णय उत्पन्न होते हैं।

इन सभी बातों का अस्तित्व आदि मानव-समाज में होता है, जो उपमानवीय आनुवंशिकता से प्राप्त अनेक सामाजिक मूल-प्रवृत्तियों से मिली हुई होती हैं। किन्तु मानव-समाज में व्यक्ति के कार्य पूर्णत: मूल-प्रवृत्तियों से ही निर्धारित नहीं होते, यद्यपि सामाजिक मूल-प्रवृत्तियाँ उस समय भी विद्यमान रहती हैं, जैसे कि जब माँ सहज ही अपने बच्चे की रक्षा करती है तब अथवा जब कोई लड़ाकू व्यक्ति अपनी ही जाति में झगड़ता है। माननीय क्रियाएँ रीतियों तथा अधिकारों द्वारा निर्धारित होकर ऐच्छिक क्रियाएँ बन जाती हैं। उसके पश्चात् नैतिकता अब सामाजिक परम्पराओं अथवा **रीतियों** के स्तर से संक्रमण करती हुई गुज़रती है, जो जनता की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के आधार पर, जाति के देवताओं की प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता के आधार पर और जातीय अधिकारियों के द्वारा दंड के रूप में होती है। जनता की राय नाम की कोई वस्तु कुछ कार्यों के लिए स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के रूप में होती है। उन कुछ कार्यों को करने अथवा न करने के लिए व्यक्ति पर दबाव डाला जाता है जिन्हें सामान्य हित के लिए उपयुक्त अथवा

अनुपयुक्त माना जाता है। इस प्रकार **अन्तर्विवेक** उत्पन्न होता है, जो किसी समुदाय के द्वारा किसी विशेष प्रकार के आचरण की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के लिए एक प्रकार का अंतर्नाद करता है। स्वयं अपने अथवा किसी अन्य के आचरण के सम्बन्ध में निर्णय लिया जाता है, क्योंकि वह सामान्य हित को प्रभावित करता है। इस प्रकार **नैतिक निर्णय** उत्पन्न होता है।

जब किसी आदिम जाति में ये सब बातें होती हैं तो उसमें **नैतिकता** आ चुकी होती है। सभी प्रकार के कार्य **नैतिक** कार्य नहीं होते, किन्तु बुद्धिमान् प्राणियों के केवल ऐच्छिक आचरण यदि किसी **उद्देश्य की प्राप्ति** के लिए अपने **मूल्य** के विचार से देखे जाएँ तो वे नैतिक कार्य होते हैं।

जब मनुष्य समुदायों में रहते हैं तो उन्हें सामान्य हित के लिए अनेक अहंवादी आवेगों का दमन भी करना होता है। शिविर पर नियुक्त पहरेदार को युद्धकाल में सामान्य हित के लिए अपनी निद्रा की इच्छा का बलिदान अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार **कर्त्तव्य** की उत्पत्ति होती है, यह सामान्य हित के लिए इच्छा के विपरीत क्रिया की प्रतिबन्ध की भावना होती है। अब इस स्थिति में एक प्रकार के **दायित्व की भावना** का अनुभव होता है जो मानवीय अथवा दैवी दंड के भय के साथ जनता की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति से अथवा किसी पुरस्कार की आशा से उत्पन्न होती है। नियमों अथवा सत्ता की स्वीकृति पाकर मनुष्य कहता है कि "मुझे अवश्य करना चाहिए", परन्तु यह "मुझे अवश्य करना चाहिए" तुरन्त ही तब "मेरे लिए करना उचित है" में बदल जाता है जब मानव के मूल स्वभाव का प्रेम तथा सहानुभूति बाह्य नियमों तथा जनता की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति की चेतना में जुड़ जाते हैं। इस दायित्व की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह जनता की स्वीकृति के रूप में एक ऐसा दबाव है जिसमें मैं स्वयं अपने स्वार्थ के विरुद्ध, जब मैं स्वयं को करने अथवा न करने के लिए स्वतन्त्र पाता हूँ, भाग लेता हूँ। अन्त में **चरित्र** का प्रादुर्भाव होता है, जिसका अर्थ हम सामान्यतः यह लगाते हैं कि अपने कर्त्तव्य को पूरा करने में अथवा सही समझे जाने वाले कार्यों को करने और ग़लत समझे जाने वाले कार्यों को न करने के लिए व्यक्ति उत्तरदायी है।

इस प्रकार मनुष्य एक स्वतन्त्र नैतिक कर्त्ता बन गया है। जब नैतिक आचरण ने सामाजिक मूल-प्रवृत्तियों का स्थान लिया तब उसने विकास में ऊपर उठने वाले शक्तिशाली कदम का प्रतिनिधित्व किया। जब बुद्धिमान् प्राणियों ने कार्यों के महत्त्व पर विचार करना आरम्भ किया और स्वतन्त्रता से उच्चतर मूल्यों का चयन आरम्भ किया तब पृथ्वी माँ पर नवीन मूल्य आए। और कर्त्तव्य तथा अधिकारों के साथ मूल्यों में भेद को देखते हुए तथा स्वतन्त्र रूप से चयन करते हुए स्वतन्त्र व्यक्तित्व उत्पन्न हुए। तभी सर्वप्रथम चरित्र सम्भव हुआ, जो समस्त शब्दों से बड़ा शब्द है। कान्ट ने कहा है कि "सद्भावना अथवा जिसे हमें चरित्र

कहना चाहिए से श्रेयस्कर विश्व में कुछ नहीं है।

नैतिकता का विकास

किन्तु पाठक यह पूछ सकता है, "यह सब कैसे हुआ ? सामाजिक प्राणियों की सामाजिक मूल-प्रवृत्तियाँ बुद्धिमान् व्यक्तियों के नैतिक निर्णयों में कैसे परिवर्तित हो गईं ?" जब डार्विनवाद नामक प्रतिभाशाली विचार सर्वप्रथम विश्व में आया तब यह सोचा गया था कि उसके सिद्धान्त नीतिशास्त्र पर भी लागू किए जा सकते हैं जो मनुष्य की नैतिक प्रकृति की उत्पत्ति की पहेली को हल कर देंगे। केवल इतना ही मान लेना आवश्यक था कि नैतिक कार्यों के जीवित रहने का ही महत्त्व है, और तब यदि अवसरवश ऐसे कार्य उत्परिवर्तन के परिणामस्वरूप दिखाई दिए तो ऐसे समुदाय अथवा व्यक्ति जीवन के संघर्ष में लाभ में रहेंगे तथा ये नैतिक विशेषक स्थायी बन जाएँगे। अब सम्भवतः नीतिशास्त्र के थोड़े ही लेखक, प्राकृतिक चुनाव के छोटे परिवर्तनों के आधार पर नैतिकता के आगमन को समझाने का प्रयत्न करेंगे, क्योंकि विकास, यद्यपि वास्तव में बहुत धीमा हुआ है, फिर भी उसके लिए बहुत तेज़ है। हमें उत्परिवर्तनों को परिवर्तनों में बदल देना चाहिए, तथा उत्परिवर्तन को नैतिकता के निर्देश में समझाना कठिन होगा; अथवा कम से कम विकास के अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक कठिन होगा।

निश्चय ही मनुष्य की नैतिक प्रकृति का विकास हुआ है, किन्तु उसकी इस नैतिक प्रकृति का विकास निम्नतर प्राणियों की सामाजिक सहज-प्रवृत्ति से नहीं हुआ है, क्योंकि सामाजिक सहज-प्रवृत्तियों की अपेक्षा नैतिक चरित्र में और भी बहुत कुछ होता है। यह एक प्रकार से ऐसी बुद्धि है जिसमें नवीन गुण तथा उच्चतर मूल्य क्रमशः प्राप्त हुए हैं: यह विकास की अपेक्षा, "पश्चजनन" एक प्रकार की नवीन उत्पत्ति—उच्चतर स्तरों की प्राप्ति, अधिक प्रतीत होता है। निर्नैतिकता से नैतिकता को समझने का शायद एक यही उपाय सम्भव लगता है कि किसी ऐसी प्रेरक शक्ति, अथवा तीव्र इच्छा अथवा विश्वव्यापी रुचि में विश्वास किया जाए जो इन उच्चतर मूल्यों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रही है।

वर्तमान काल में नैतिकता का विकास पहले की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से हो रहा है—और यह विकास सृजनात्मक बुद्धि की प्रणाली से होता है। जब मनुष्य विचार करता है तो वह हमेशा श्रेष्ठ ढंग का विचार करता है। रीति-रिवाजों तथा नैतिक नियमों का सुधार निरन्तर हो रहा है। जब हमने मानवीय दासता से मुक्ति प्राप्त की तब हमने यह देखा कि यहाँ पर अन्य प्रकार की भी दासताएँ हैं, वे भी ग़लत हैं, जैसे कारखाने में बाल श्रमिक का होना अथवा श्रमिकों पर पूंजी का अत्याचार। दूसरे की सम्पत्ति को लेना तथा मानव-जीवन का हनन ग़लत कार्य हैं; किन्तु यदि दूसरा व्यक्ति किसी अन्य कबीले या जाति का होता था तो

आदिम मानव द्वारा ऐसा करना ग़लत नहीं माना जाता था। परन्तु एक समय ऐसा आया जब चोरी तथा हत्या को किसी भी परिस्थिति में ग़लत माना जाने लगा। किसी के अंतर्विवेक ने उसे बताया कि एक उच्चतर नियम भी होता है। सोफोक्लीज़ नाटक में एन्टीगोन ने राजाज्ञा पालन करने से इन्कार कर दिया, क्योंकि उसके अंतर्विवेक ने उसे यह बताया कि एक उच्चतर नियम भी है। ईसा, सेवोनारोला, लूथर, तथा हमारे सभी उपदेशकों तथा सुधारकों ने रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं के विरुद्ध आवाज़ें उठाई हैं और उससे बेहतर मार्ग का दावा किया है। यही कारण है कि नैतिकतावादियों के अन्त:प्रज्ञावादी संप्रदाय ने यह बताया है कि अंतर्विवेक एक प्रकार का ईश्वर प्रदत्त संकाय है, और उसमें तत्काल ही ग़लत और सही देखने की क्षमता है। दूसरी ओर इन्द्रियानुभववादियों ने कहा है कि ऐसा कोई संकाय नहीं होता, और हमें उच्चतर ज्ञान अनुभव से ही प्राप्त होता है। किन्तु वस्तुस्थिति सम्भवत: किसी भी संप्रदाय द्वारा ठीक से नहीं बताई गई। हमारे पास जो अब प्रतीत होता है वह है श्रेष्ठ प्रणालियों का व्यापक ज्ञान होना, और अधिक तेज़ दृष्टि होना, तथा मूल्यों का बेहतर निर्णय होना। मनुष्य में हम इसे तार्किक विचार कह सकते हैं; आरम्भ में सम्भवत: हम उसे ऐसी शक्ति कह सकते हैं जो "सत्यता के लिए मार्ग बनाती है।"

आंशिक संक्षिप्त विवरण

अत:, ऐसा प्रतीत होता है, कि अभी तक हमने अपने कुछ नैतिक संप्रत्ययों की उत्पत्ति तथा उनकी प्रवृत्ति को समझने में कुछ प्रगति कर ली है। उचित कार्य वे हैं जो सामाजिक हित से मेल खाते हैं। निम्न प्राणियों में सामाजिक मूल प्रवृत्तियाँ इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मार्ग-निर्देश करती हैं। मनुष्य में सामाजिक मूल-प्रवृत्तियों का स्थान स्वतन्त्र निर्देशित ऐच्छिक क्रियाएँ ले लेती हैं, जो कि सामाजिक रिवाजों, नैतिक नियमों तथा विधि सम्बन्धी, सामाजिक तथा दैनिक नियमों से बाध्य होकर निर्देशित तो होती हैं पर त्रुटि-रहित रूप से नहीं। ऐसी स्थिति में विमर्शात्मक नैतिक निर्णय, अंतर्विवेक तथा कर्त्तव्य आवश्यक रूप से उत्पन्न हो जाते हैं। धीरे-धीरे सामाजिक रिवाज तथा नैतिक नियम अनुभव होने से तथा विमर्शात्मक चिन्तन और अन्तर्दृष्टि वाले नेताओं के कार्यों से स्वयं ही सँवरते रहते हैं और हम यह विश्वास करते हैं कि मूल-प्रवृत्तियों से लेकर नैतिकता तक की समस्त गति विकास के एक अंग के रूप में होती है जिसे हम **सृजनात्मक** अथवा **उद्गामी विकास** कहते हैं।

इस प्रकार हम यह समझ सकते हैं कि नैतिक नियम क्या होते हैं, और उनकी उत्पत्ति कैसे हुई है, तथा कर्त्तव्य और अंतर्विवेक का अभिप्राय क्या होता है, पर एक संप्रत्यय ऐसा है जिसका प्रयोग प्राय: हम अपनी चर्चाओं में करते हैं किन्तु जिसकी व्याख्या कभी भी हमने सावधानी से नहीं की—यह सामाजिक

हित का संप्रत्यय है। उचित कार्य वह है जो सामाजिक हित से मेल खाता हो, किन्तु सामाजिक हित क्या है ? जहाँ तक हम मधुमक्खियों अथवा चींटियों के जत्थों अथवा पक्षियों और पशुओं के झुण्डों की चर्चा कर रहे होते हैं वहाँ तक तो हित की परिभाषा करने में अधिक कठिनाई नहीं होती। यह किसी समूह अथवा जाति की भौतिक सत्ता बनाए रखना होता है।

किन्तु जब हम मानव-समाज की ओर मुड़ते हैं तब हित की यह परिभाषा पर्याप्त नहीं बैठती। मनुष्यों के लक्ष्य भौतिक जीवन से उच्चतर होते हैं। यहीं पर नीतिशास्त्र के अनेक सम्प्रदायों में मतभेद उत्पन्न हो गया है। यही परम शुभ की प्राचीन समस्या है।

परम शुभ

तो फिर वे कौनसे उच्चतर मूल्य हैं, जो मनुष्य के प्रयत्नों के लिए लक्ष्य बने होते हैं ? यदि, जैसा ऊपर कहा गया है, सफल जीवन के लिए ही नैतिक नियम होते हैं तो फिर किस प्रकार जीवन सफल जीवन माना जाएगा ? यदि मुझे या आपको किसी नवीन सामाजिक व्यवस्था का संविधान तैयार करना हो अथवा उसकी शिक्षा का दर्शन लिखना हो तो हम किन उद्देश्यों को स्थापित करेंगे जिन्हें प्राप्त करने के लिए हम अपने प्रयत्न कर सकें ? केवल संयताचार, साहस, ज्ञान, न्याय, प्रेम तथा सहयोग जैसे सद्‌गुणों का उल्लेख कर देना, अथवा स्वतंत्रता, समानता, तथा अवसर जैसे आदर्शों का उल्लेख कर देना ही पर्याप्त नहीं है; यदि सम्भव हो, तो हमें किसी ऐसे सामान्य नियम का पता लगाना चाहिए जो सामाजिक हित के लिए कसौटी का कार्य कर सके। हमने देखा है कि नीतिशास्त्र के इतिहास में ऐसे अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं, जैसे सुख, आनन्द, आत्म-साक्षात्कार, हमारी उच्चतम शक्तियों के कार्यों अथवा मात्र कर्त्तव्य-पालन के सिद्धान्त। **नैतिक उद्देश्य** अथवा **परम शुभ** के लिए इन्हें तीन सामान्य सिद्धान्तों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम, सुखवादी सिद्धान्त, सुख अथवा आनन्द को ही उद्देश्य मानते हैं। द्वितीय, कार्य-परक सिद्धान्त, आत्म साक्षात्कार अथवा कार्य को उद्देश्य मानते हैं। तृतीय, अंतःप्रज्ञा के सिद्धान्त, बिना शर्त कर्त्तव्य-पालन को ही उद्देश्य मानते है। इन सभी सिद्धान्तों का महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक विकास हुआ है; प्रत्येक सिद्धान्त में प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही तरह के प्रख्यात विद्वान् हैं।

सुखवाद

अंग्रेज़ी का शब्द "हिडोनिज़्म" एक यूनानी शब्द से आया है जिसका अर्थ होता है—**सुख**। अपने सरलतम रूप में इस सिद्धान्त के अनुसार सुख ही परम-शुभ है। अपने और अधिक सावधानीपूर्ण विकसित रूप में यह सिद्धान्त यह

सिखाता है कि यही सुख है, विशेषकर अधिकतम संख्यकों का सुख है। इस तरह इसे **उपयोगितावाद** भी कहते हैं। अरेस्टीपस नामक प्राचीन यूनानी दार्शनिक, जो सॉक्रेटीज़ का शिष्य था, ने सर्वप्रथम यह कहा कि सुख ही सर्वोच्च शुभ है और वह सामाजिक हित में रुचि न दिखलाते हुए केवल व्यष्टि के सुख का ही उल्लेख करता है। जहाँ तक सुख का सम्बन्ध है उसने केवल भौतिक अथवा शारीरिक सुख को ही सर्वोच्च माना है।

दर्शनशास्त्र के सुखवादी सम्प्रदाय के संस्थापक इपीक्यूरस ने इस सिद्धान्त में संशोधन किया है। उसने सुख को सर्वोच्च मानते हुए भी शारीरिक सुख के स्थान पर मानसिक सुख पर बल दिया है, और यह विचार किया है कि अंत में भय और चिंता से मुक्ति प्राप्त करने पर और कष्ट से प्रयत्न करके छुटकारा प्राप्त करने पर सर्वोच्च सुख प्राप्त हो सकता है। इपीक्यूरस ने स्वयं एक बहुत ही सरलतापूर्ण तथा अल्पाहार करके जीवन बिताया और उसने अपने शिष्यों को भी सद्गुण तथा सरलता सिखाई।

सुख के आधार पर नीतिशास्त्र के दर्शन की रचना करने का एक और भी अधिक गम्भीर प्रयत्न आधुनिक काल में प्रमुख अंग्रेज़ी चिंतकों, हाब्स, बेन्थम, तथा मिल ने किया है। आधुनिक उपयोगितावाद की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति जेरेमी बेन्थम (1748—1832) के सिद्धान्त में देखी जा सकती है। बेन्थम के अनुसार सुख, अब भी, सर्वोच्च शुभ है, किन्तु किसी भी क्षण का सुख नहीं, अपितु जीवन का सुख, और किसी व्यक्ति का सुख नहीं, वरन् अधिकतम संख्यकों का सुख सर्वोच्च शुभ है। यह बाद वाला लक्षण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, जो नैतिक सिद्धान्त में सामाजिक तत्त्व के आगमन का द्योतक है। बेन्थम किसी सार्वभौम सिद्धान्त की खोज में था जो समस्त विधि-नियमों के लिए एक सार्वभौम नियम का आधार बन सके और उसने यह **अधिकतम संख्यकों के लिए अधिकतम सुख के नियम** में पाया, और इसे उसने उपयोगिता का सिद्धान्त बताया। यही उचित और अनुचित का मापदण्ड है।

इससे भी आगे चलकर सुखवाद का संशोधन जॉन स्टुअर्ट मिल (1806—73) ने किया है। उसके विचारों का स्पष्ट तथा संक्षिप्त विवरण उसकी अपनी पुस्तिका **युटिलिटेरियनिज़्म** में पढ़ा जा सकता है। वह बेन्थम के इस अधिकतम संख्यकों के लिए अधिकतम सुख सिद्धान्त को स्वीकार करता है, किन्तु इसमें वह एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह करता है कि वह सुख के विभिन्न **गुणों** में भेद करता है—कुछ सुख अन्य प्रकार के सुखों से बेहतर होते हैं। यह सत्य है कि इस प्रकार का भेद सुख में होता है, किन्तु इससे मूल सुखवादी नैतिकता छूट जाती है। बेन्थम ने इस प्रकार के गुणात्मक भेद का बराबर खंडन किया है क्योंकि सुख परिमाणात्मक ढंग से ही मापा जा सकता है। यदि परिणाम बराबर हो तो कला, काव्य अथवा परोपकार इन्द्रिय सुख से बेहतर नहीं होते। मिल ने इसका

खंडन किया है। उसने कहा, "मनुष्य होकर असंतुष्ट होना सुअर बनकर संतुष्ट होने की अपेक्षा अच्छा है, मूर्ख होकर संतुष्ट होने से सॉक्रेटीज़ बनकर असंतुष्ट होना श्रेयस्कर है।"[1] निःसन्देह ऐसा है, किन्तु क्यों ? यदि हम इस पर विचार कर सकें तो निश्चय ही हमारी नैतिक समस्या का समाधान हो जाय। स्वयं मिल ने इस प्रश्न का संतोषप्रद उत्तर नहीं दिया है। उसका विचार यह प्रतीत होता है कि इस बात का निर्णय उन लोगों द्वारा होना चाहिए जो निर्णय करने के लिए सर्वाधिक योग्य हों—अर्थात् उन व्यक्तियों के द्वारा जो दोनों प्रकार के सुखों का अनुभव रखते हों। किन्तु इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है, क्योंकि सुख का गुणात्मक भेद सुखवाद की तार्किक स्थिति को कमज़ोर करता हुआ प्रतीत होता है। यह स्वयं सुख की अपेक्षा उचित आचरण के लिए किसी दूसरे स्तर से परिचय करवाता है।

मानवीय क्रियाओं के मनोवैज्ञानिक उद्देश्यों के बेहतर ज्ञान के द्वारा भी सुखवाद कमज़ोर हो गया है। सुख की इच्छा ही क्रिया का प्राथमिक उद्देश्य नहीं है। हम अभिप्रेरणा के ही प्राणी हैं। मूल-प्रवृत्तियों, आदतों, अथवा रिवाजों द्वारा हम सुख अथवा आनन्द की नहीं, वरन् विशेष वस्तुओं की कामना करते हैं। हम ज़मीन, नई मोटर कार, नाच करने की तारीख़, फर के कोट (या सिर्फ उसके फर कालर), पद, पति या पत्नी की चाह करते हैं। लोग अपनी शक्ति शासन करने के लिए, अपने धंधे अथवा व्यापार में सफलता के लिए, बहुत-सा धन कमाने के लिए, प्रशंसा अथवा ख्याति प्राप्त करने के लिए, चुनाव जीतने के लिए, रास्ते पर ध्यान आकर्षित करने के लिए, किसी समुदाय अथवा स्त्रियों की संस्था में शामिल होने के लिए, पुस्तक लिखने के लिए, अदाकार अथवा चलचित्र अभिनेता बनने के लिए, किसी सुधार को करने के लिए, बीमारों की सेवा-सुश्रूषा करने के लिए अथवा किसी महान् उद्देश्य को पूरा करने के लिए लगाते हैं।

इतना ही नहीं, मूल्यों के निर्णयों में हम सुख का मूल्यांकन निस्सन्देह सर्वोच्च शुभ के रूप में नहीं करते। कुछ अन्य बातें हैं, जिन्हें हम उच्चतर स्तर की मानते हैं, जैसे—प्रतिभा, योग्यता, आदर्शों के प्रति समर्पण, वीरता, आत्म-त्याग, जन-सेवा, तथा मौलिकता। हमारे जीवन-चरित्र सुखी लोगों के जीवन-चरित्र नहीं हैं। ईसा दुःख-प्रधान व्यक्ति था। सॉक्रेटीज़ को अपराधी के रूप में प्राण दण्ड दिया गया था। लिन्कन का बलिदान एक महान् कार्य के निमित्त हुआ। निश्चय ही, हम कह सकते हैं कि हम उनका आदर करते हैं क्योंकि उन्होंने अन्य लोगों के सुख के लिए कष्ट भोगे। किन्तु क्या वास्तव में उन्होंने कष्ट भोगे ? क्या वे किन्हीं विशेष बातों के निमित्त शहीद नहीं हुए, जिन्हें हम

1, *Utilitarianism*, p. 14.

अपने आपमें अच्छी मानते हैं, जैसे सत्यता, प्रज्ञा तथा स्वतन्त्रता ?

हम यह मान लेते हैं कि अच्छा जीवन प्रायः सुख से युक्त होता है: किन्तु निश्चय ही ऐसे अनेक जीवनों की गिनती कर सकते हैं जो सुखी नहीं हैं। सॉक्रेटीज़ की मृत्यु प्रज्ञा तथा ज्ञान की खोज में हुई। हम यह तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं कि प्रज्ञा तथा ज्ञान तब तक शुभ नहीं होते जब तक कि वे सुख का मार्ग न दिखलाएँ जो वास्तव में यहाँ समस्या का विषय है।

हम उन वीरों का आदर करते हैं जो युद्ध में शहीद हो गए हैं, किन्तु इसलिए नहीं कि शूरता कोई सुख का साधन है, अपितु इसलिए कि अपने देश के लिए युद्ध-भूमि में प्राण देना उच्च कार्य माना जाता है। हम अपने फुटवाल के खिलाड़ी को उनके सुख के कारण मान नहीं देते और इसलिए भी मान नहीं देते कि वे दर्शकों को सुख देते हैं, अपितु उनकी योग्यता, उनके अनुशासन, तथा उनके अपने पक्ष तथा कॉलेज के प्रति बलिदान के कारण हम उन्हें मान देते हैं। उनकी हार से वे दुःखी तथा जीत से वे सुखी होते हैं। किन्तु हम इन बातों पर अधिक ध्यान नहीं देते। हम उनका मान इसलिए करते हैं कि उनमें वे गुण होते हैं, जिन्हें हम आदर्श गुण मानते हैं। वे अपने अनुसार अच्छा से अच्छा करते हैं। और इसीलिए हम उनकी प्रशंसा करते हैं। हमें अपने अधिकांश अच्छे अनुभवों में यह नहीं कहना चाहिए कि यह सुख है, अपितु यह कहना चाहिए कि यह जीवन वास्तविक जीवन है। अनुभव ही हम पसन्द करते हैं अथवा उसके लिए साहस अथवा संघर्ष करते हैं। मैं एक नवयुवती से वार्ता कर रहा था जो एक राजधानी नगर में कला की विद्यार्थी थी। मैंने कहा, "क्या यह आश्चर्यजनक बात नहीं है कि हमारे इस सुरक्षित देश में एक आकर्षक लड़की इतने बड़े शहर में अकेली ही यहाँ से वहाँ जाती है और उसे कुछ नहीं होता।" "जी हाँ", उसने कहा, "यही तो परेशानी है। कभी कुछ नहीं होता।"

रुचि और इच्छा

किन्तु सुख एक बहुत ही सामान्य शब्द है। संभवतः यदि उसकी परिभाषा सावधानी के साथ की जा सकती अथवा उसका वर्णन किया जा सकता तो हम उसे सर्वोच्च सुख के रूप में तथा उसे आगे बढ़ाने वाले कार्य को शुभ आचरण के रूप में देख सकते थे। किन्तु हमें यह अवश्य जानना चाहिए कि उसका अर्थ क्या है। क्या उसका अर्थ है इच्छा का पूरा होना ? उन वस्तुओं की तालिका की ओर संकेत करते हुए जिनके लिए हम संघर्ष करते हैं, क्या हम संघर्ष इसलिए करते हैं कि हमें उनकी इच्छा होती है ? अच्छे जीवन के वर्णन में प्रायः कहा गया है कि वह "इच्छाओं की अधिक से अधिक पूर्ति होना है।" अतः शुभ कार्य वे हैं जो इच्छाओं की पूर्ति में अधिकतम व्यक्तियों के लिए और उनकी अगली पीढ़ी के सहायक होते हैं।

किन्तु कठिनाइयाँ दिखाई पड़ती हैं। इच्छाओं में विरोध शीघ्रता से उत्पन्न होता है तथा विभिन्न इच्छाओं का विभिन्न महत्त्व होता है। हम कुछ इच्छाओं की पूर्ति की स्वीकृति देते हैं, किन्तु सब इच्छाओं की पूर्ति की नहीं देते। तो क्या हम इच्छाओं के महत्त्व को मापने के लिए किसी माप की खोज कर रहे हैं। तो फिर यह माप क्या होगा ?

कुछ लोग **रुचि**[1] शब्द को अधिक पसन्द करेंगे। हम इच्छा की प्रत्येक वस्तु में रुचि रखते हैं, किन्तु हम अपनी रुचि की प्रत्येक वस्तु की इच्छा नहीं करते। जिन विशेष वस्तुओं के लिए हम प्रयत्न करते हैं वे कुछ गहन रुचि पैदा करने वाली होती हैं; उदाहरण के लिए नया कोट, नई मोटर कार, नया मकान, युवक मित्र, पति, पत्नी, व्यापार की साझेदारी आदि। हम कुछ अन्य वस्तुओं के बदले में कुछ वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

इस दृष्टिकोण से **मूल्य** वह होता है, जिसकी हम इच्छा करते हैं अथवा जिसमें हमारी रुचि होती है। यह बात चिन्तन के इतिहास के बहुत दिनों से चले आ रहे इस सिद्धान्त के विपरीत है कि मूल्य अथवा शुभ कोई वस्तुगत अथवा वास्तविक चीज़ें हैं, और ये हमारी अभिवृत्ति से प्रभावित नहीं। कहा यह जाता है कि हम चीज़ों की इच्छा इसलिए करते हैं कि वे अच्छी होती हैं।

यदि मूल्य रुचि पर आधारित होता है, तो स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है--हम चीज़ों में रुचि क्यों रखते हैं ? रुचि तथा इच्छा का स्रोत तथा अर्थ क्या होता है ? इन्हें कुछ मौलिक **अन्तःप्रेरणाओं**, या **अन्तर्नादों**, अथवा आवेगों में पाया जा सकता है, तथा इन अन्तःप्रेरणाओं, और अन्तर्नादों के विशेष रूप विकास काल के माध्यम से जीवों के पर्यावरण के साथ हुई परस्पर क्रिया से उत्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिए काम से सम्बन्धित कोई भी बात बूढ़े तथा जवानों में बराबर रुचि उत्पन्न करती है, और यह बात पीछे चलकर अपनी जाति के जीवन को बनाए रखने की प्राथमिक आवश्यकता ही होती है।

किन्तु यह स्पष्ट है कि हमारे भयानक रूप से जटिल तथा मिले-जुले आधुनिक समाज में अवश्य ही रुचियों के अनन्त रूप होते हैं—और उनमें भी अनेक परस्पर-विरोधी होते हैं। हमें उनमें से ही चुनाव करना चाहिए और यदि इस सिद्धान्त को बने रहना है तो इसका आधार होगा, **सामंजस्यपूर्ण** जीवन, जो अंततः स्थायी संतोष प्रदान करे। यहाँ तक कि बालक भी शीघ्र ही अपने अनुभव से पाठ लेकर, इच्छाओं को मोड़ना सीख जाता है। विलफर्ड वैरेट से उद्धरण है – "अनुभव ने हमें सिखाया है कि हमारी **इच्छित** प्रत्येक वस्तु **इच्छा**

1. तुलना करिए: Ralph Barton Perry, *General Theory of Value* (Longmans, Green and Company, 1926), तथा D. W. Prall. *Study in the Theory of Value* (University of California Publications in Philosophy), vol. III, no. 2.

करने के योग्य नहीं होती। सन्तायना कहता है, 'जब प्रत्येक इच्छा अपने पंख पसार चुकी होती है तथा भ्रम जाल के सामने उमड़ कर समाप्त हो चुकी होती है, तब किसी सम्भाव्य स्थायी संतोष को सुझाने के लिए विचार आ सकते हैं अथवा उस आधार में कुछ परिवर्तन हो सकते हैं जिसके द्वारा आशा की जाने वाली बातें अब भी प्राप्त की जा सकती हैं।' "[1]

उदाहरण के लिए भोजन के अनेक प्रकारों के चुनाव में, हम यह देखते हैं कि विटामिनों का ज्ञान हमारी समग्र सन्तुष्टि को बहुत हद तक बढ़ा देता है, यद्यपि आरम्भ में हमें इन विटामनों में कोई "रुचि" नहीं रहती। किसी समय में हमारी पसन्द तथा नापसन्द हमारे जीवन तथा स्वास्थ्य के लिए एक सफल निर्देशन का काम किया करती थी—किन्तु अब ऐसा नहीं है। दक्षिणी ध्रुव का अन्वेषण करने वाला अपने साहसिक कार्य के लिए आदमियों की इन "पसन्द" तक ही अपने भोजन को सीमित नहीं करेगा। जो उनको चाहिए उसे ही वह चुनेगा। किन्तु इसे कौन निश्चित करेगा कि उन्हें क्या "चाहिए" ?

इसका अर्थ यह नहीं होता कि रुचि से भिन्न किसी मानक का प्रयोग करना है, अपितु परस्पर-विरोधी रुचियों में जीवन को चलाने के लिए सापेक्ष महत्त्व का ज्ञान मात्र आवश्यक होता है। दक्षिणी ध्रुव की यात्रा करने वाले अच्छे स्वास्थ्य एवं शक्ति के साथ घर वापस आने में तथा अपनी पसन्द का भोजन करने में रुचि रखते हैं। विचार करने पर वे उन बातों की **स्वीकृति** दे देंगे जो उनके व्यापक हित में होंगी।

इस प्रकार यदि हम संगठित तथा पक्षपात-रहित हितों के अर्थ में इसे समझें तो मनुष्य के हितों की पूर्ति ही नैतिक समस्याओं का उचित समाधान मानी जा सकती है और यह स्वयं हितों को अन्य आवश्यक रूप से किसी अन्य कसौटी को ले आना नहीं, अपितु ऐसा चुनाव है, जो विमर्शात्मक चिन्तन के पश्चात् स्वीकार किया गया है। कोई भी नवयुवक अपने आवश्यक हितों को पूरा करने के लिए अपनी अनेक आवश्यक इच्छाओं को उपेक्षित कर देगा। युवा और प्रौढ़ता के बीच जो अंगीय सम्बन्ध होता है वही व्यक्ति और समाज के बीच भी रहता है और यह उलझाने वाली कर्त्तव्यों की समस्या को समझा देता है। अपने हितों को संगठित करते हुए मैं पाता हूँ कि जो सबसे अधिक गम्भीर और आवश्यक बात होती है वह है समाज की स्वीकृति और केवल सामाजिक स्वीकृति ही नहीं अपितु सामाजिक हित भी। क्योंकि शीघ्र ही मुझे यह पता चल गया कि मुझे **आवश्यकता** होती है, और इसलिए मुझे अपने साथियों की मित्रता, संरक्षता तथा सहानुभूति की इच्छा रहती है—और इन सब चीज़ों को मैं बिना अपनी सहज-प्रवृत्तियों तथा व्यक्तिगत हितों के परित्याग के प्राप्त नहीं कर

1. Clifford L. Barrett, *Ethics* (Harper and Brothers, 1933), p. I.

सकता। कोई भी व्यक्ति **कर्त्तव्य** अथवा **करना चाहिए** शब्दों को सुनकर ही विद्रोह कर सकता है, अथवा नैतिक उत्तरदायित्वों के लिए मुँह बिगाड़ सकता है अथवा नीतिशास्त्रियों के दबाव अथवा विधि के नियमों के उल्लंघन की धमकी से बहुत कम प्रभावित होता है, किन्तु यदि वह चिन्तन करने के योग्य रहता है, तो वह देखेगा कि "करना चाहिए" शब्द घटकर "चाहिए" ही रह जाता है, और उसके हित केवल उसके वर्तमान स्व को, उसके भविष्य के, तथा अन्त में समाज के व्यापक स्व को भी सम्मिलित करते हैं। नैतिक आचरण का वास्तविक अर्थ एक व्यापक तथा एक दूर की स्थिति के लिए प्रतिक्रिया करना है।

> सद्क्रिया ऐसा आचरण होती है जो अधिक विस्तार वाली, जटिल तथा अपनी पूर्ति के लिए उन स्थितियों की अपेक्षा अधिक समय लेती है जिनके लिए हम सहज ही प्रतिक्रिया कर देते हैं। बच्चा अच्छा अथवा बुरा नहीं जानता क्योंकि वह उसी बात के लिए प्रतिक्रिया कर सकता है जो उसे तत्काल प्रभावित करती है। मनुष्य जिस सीमा तक व्यापक स्थिति के लिए प्रतिक्रिया कर सकता है उसी हद तक उसके पास सद्गुण होता है।[1]

श्रीयुत् लिपमान ने राजनीतिज्ञों की तुलना सत्ताधारी राजनीतिज्ञों से निम्नांकित शब्दों में की है:

> सत्ताधारी राजनीतिज्ञ के शब्दों का महत्त्व होता है, क्योंकि वे मात्र उन इच्छाओं की अभिव्यक्ति नहीं करते जो तात्कालिक हों, अपितु उन स्थितियों को भी बतलाते हैं जिनमें ये इच्छाएँ यथार्थता में लाई जा सकती हैं। उसकी योजनाएँ ऐसी नीतियाँ होती हैं जो कार्य की एक व्यवस्थित योजना तैयार करती हैं, जिसमें प्रभावित सभी तत्त्व, अनुभव के पश्चात् कार्यरूप में आने पर सहयोग करने में लाभदायक होते हैं। **जब लोगों ने अपनी माँग स्पष्ट कर दी हो तब वे जो इच्छा करते हैं, उसे ही वह सत्ताधारी राजनीतिज्ञ नियमों में ढाल देता है।** उसके नियमों में शक्ति होती है क्योंकि वह उन शक्तियों को गतिमान कर सकता है जो उन्हें प्रभावकारी बना सकती हैं।[2]

किन्तु नैतिक आचरण केवल दूरदर्शी स्वार्थपरता नहीं साबित होती और ऐसा व्यक्ति एवं समाज के अंगीय सम्बन्धों के कारण होता है। इस प्रकार नैतिकता का एक संगत सिद्धान्त हितों की व्यवस्था के आधार पर किया जा सकता है, जिसकी पूर्ति अच्छे जीवन के लिए कसौटी का कार्य करती है।

---

1. Walter Lippmann, *A Preface to Morals* (The Macmillan Company), p. 224.

2. ऊपर उल्लिखित, पृ० 283। काले टाइप (bold face) में मुद्रित शब्द लेखक के हैं।

कार्यपरक मत

किन्तु अन्त में मुझे आश्चर्य होता है कि क्या हमें अच्छे जीवन को बताने के लिए किसी नई शब्दावली की आवश्यकता नहीं है—जो आनन्द, सुख, इच्छा, रुचि तथा संतोष से भिन्न हो। इस अध्यन तक पहुँचने का एक और भी मार्ग है। हम इसे कार्यपरक मत कह सकते हैं।[1] इसे प्लेटो और अरस्तू के योग द्वारा सम्मान प्राप्त हुआ है और अनेक आधुनिक लेखकों ने भी इसे स्वीकार किया है। प्लेटो ने कहा है कि मनुष्य का सर्वोच्च शुभ व्यक्तित्व का सम्मलित विकास होना है। यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें प्रत्येक संकाय पूर्ण रूप से बिना किसी अन्य संकाय पर आरोपित हुए कार्य करता है। अच्छा व्यक्ति वह है जिसमें क्षुधा, तर्कना, तथा साहस सामंजस्यता के साथ कार्य करते हैं, और इनमें किसी का भी आधिक्य नहीं होता।

अरस्तू की पुस्तक **निकोमेकियन एथिक्स** नैतिक सिद्धान्त पर जगत् की महान् पुस्तकों में से एक है। उसने कहा है कि कल्याण एक कार्यपरक संप्रत्यय है। एक अच्छा घोड़ा अथवा अच्छी तलवार वही है जो पूर्ण रूप से घोड़े अथवा तलवार का कार्य पूरा करती है। सर्वोच्च शुभ हमारी उच्चतम शक्तियों की सामान्य क्रिया में मिलता है। अरस्तू के अनुसार मनुष्य की उच्चतम क्रिया बौद्धिक है। वह एक चिंतक है, और चिंतन के अभ्यास को ही अरस्तू इतना ऊँचा स्थान प्रदान करता है। ईश्वर, उसके अनुसार आवश्यक रूप से एक चिंतक है, वह चिंतन का चिंतन—शुद्ध चिंतन है। इसलिए तार्किक क्रिया, अरस्तू की धारणा के अनुसार ऐसा उच्चतम शुभ है जो वैज्ञानिक अनुसंधान तथा दार्शनिक चिंतन तथा सत्य के अन्वेषण में अभिव्यक्त हुआ है।

आधुनिक समय में कार्यपरक सिद्धान्त सामान्यतः कुछ भिन्न रूप लिए है। हम अपने उत्तरी तथा पश्चिमी विचारों के साथ तर्क को ही मात्र मनुष्य का शुभ कार्य नहीं मानते, यद्यपि हम बौद्धिक क्रिया को बहुत उच्च स्थान प्रदान करते हैं। हम किसी भी प्रकार के सृजनात्मक कार्य को—आविष्कार, अनुसंधान, आत्मबल तथा साहसिक कार्य को—महत्त्व देते हैं। जैसा वास्तव में यूनानी कहते थे हम भी कलात्मक रचना तथा प्रशंसा की शक्ति के प्रयोग, धार्मिक क्रिया, आश्चर्य तथा पूजा को भी महत्त्व देते हैं। हम सुविधा के कार्य तथा क्रीड़ा, मनोरंजन तथा खेल-कूद तथा सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का विचार करते हैं। उद्देश्य होता है **मनुष्य** बनना, उन सभी शक्तियों का प्रयोग करना तथा सुविधाओं का आनन्द लेना, और जो व्यक्तित्व में अन्तर्निहित है उसका

---

1. इस सिद्धान्त को अनेक नाम दिए गए हैं, जैसे पूर्णतावाद, आत्मोपलब्धिवाद तथा ऊर्जावाद या शक्तिवाद। ये सभी शब्द भ्रामक हैं। आत्मोपलब्धिवाद का सिद्धान्त ग़लत रूप से आत्म-अभिव्यक्ति को प्रेरणा देने के लिए उपयोग में लाया जाता है—अमरीका में इसके परिणाम निराशाजनक रहे हैं।

विकास करना। इस नियम के अनुसार एवरेट ने अपनी पुस्तक **मॉरल वेल्यूज़** में कार्यपरक क्रिया के आधार पर मूल्यों की एक सारणी बनाई है। वह उन्हें निम्नलिखित आठ वर्गों में प्रस्तुत करता है:

I. आर्थिक मूल्य	V. चारित्रिक मूल्य
II. शारीरिक मूल्य	VI. सौन्दर्यपरक मूल्य
III. मनोरंजन के मूल्य	VII. बौद्धिक मूल्य
IV. साहचर्य के मूल्य	VIII. धार्मिक मूल्य[1]

थोड़ी देर के लिए हम एवरेट के पाँचवें वर्ग, **चारित्रिक मूल्य** पर ध्यान न दें तो उसकी यह सारणी शिक्षाप्रद होती है क्योंकि यह बताती है कि शारीरिक स्वास्थ्य तथा शक्ति, खेल-कूद और मनोरंजन, मित्र, कला-कृतियों की उत्पत्ति और उनकी प्रशंसा, बौद्धिक चिंतन, आश्चर्य एवं अर्चना स्वयं अपने आपमें अच्छी हैं, क्योंकि ये अपनी शक्तियों के अभ्यास का प्रतिनिधित्व करती हैं।

इस दृष्टिकोण के अनुसार अच्छा जीवन इच्छाओं की पूर्ति में होने की अपेक्षा क्रिया में देखा जाता है। हमें **कुछ न कुछ कार्य करने के लिए** अवश्य ढूँढ़ना चाहिए—कुछ ऐसा कार्य जो खाने-पीने, देखने-सुनने अथवा खरीदने की अपेक्षा हम कुछ अच्छा कर सकें; अच्छा तो यह हो कि वह पहले बुद्धि, लगन तथा दक्षता की माँग करने वाला हो—अथवा यहाँ तक कि कुछ जोखिम अथवा भय भी सम्मलित हो सकता है। नीत्शे कहता है कि मनुष्य दो बातें चाहता है—भय और खेल।

मानव की कहानी, चाहे वह काव्य में, वास्तु-शिल्प में, चित्रकला में, अथवा ऐतिहासिक वृत्तान्त किसी में हो, इस प्रकार के जीवन पर बहुत प्रकाश डालती है, जिसमें उसकी पूर्ति दिखाई पड़ती हो। हम उसे किसी ऐसे व्यवसाय में व्यस्त पाते हैं जिसमें वह अपनी शक्ति एवं भावना को, यहाँ तक कि अपनी चालाकी को, ऊपर उठने में प्रयोग कर सके। हम उसे युद्ध में, पीछा करने में, प्रेम करने में, कला को रूप देने में, राजनीतिक षड्यन्त्र में, संगीत तथा आमोद-प्रमोद में, तथा अध्ययन और ध्यान में पाते हैं। यह आनन्द नहीं जिसे वह खोजता और महत्त्व देता है, किन्तु विशेष चीज़ों की खोज में—निस्संदेह ही संतोष तथा आनन्द मिलता है।

वर्तमान समय का मनुष्य, तथा इतिहास का मनुष्य एक सृजनकर्त्ता है। वह चतुराई तथा निपुणता से प्रयोग में आने वाली किसी वस्तु को रूप देना पसंद करता है। वह योजना बनाना, प्रयोग करना तथा चीज़ों को इधर-उधर करना पसंद करता है। वह हमेशा किसी न किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए—किसी

1. Walter Goodnow Everett, *Moral Values* (Henry Holt and Company), p. 182

वस्तु को प्राप्त करने के लिए, सम्पत्ति को जीतने के लिए तथा किसी प्रतिष्ठा अथवा शक्ति के पद को प्राप्त करने के लिए , सामाजिक प्रतिष्ठा को प्राप्त करने के लिए, और किसी युवती की कृपा प्राप्त के लिए संघर्ष करता है। वह नवीनता तथा सनसनी पसंद करता है—जैसे जुए में, घुड़-दौड़ में, सरकारी हुण्डी वेचने के स्थल में, और ब्रिज खेलने की मेज़ पर। वह अपने साथी की खोज करने वाला एक प्रेमी है, वह एक विचारक, दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा सत्य को खोजने वाला जिज्ञासु है, वह अपने प्रयत्नों को लगाने के लिए नवीन क्षेत्रों की तलाश में है, वह एक पुजारी है जो प्रकृति तथा ईश्वर की शक्ति अथवा सौन्दर्य की खोज कर रहा है—वह शान्ति, सामंजस्य तथा क्षमा को खोजता है। वह किसी प्रकार के सहकारी व्यवसाय में भाग लेते हुए, सफल होने पर प्रशंसा की तथा असफल होने पर सहानुभूति की कामना करता हुआ एक सामाजिक प्राणी है। वह जगत् में शान्ति, न्याय तथा शुभ संकल्प की तस्वीर का स्वप्न देखने वाला है, जो युद्ध लोलुपता तथा अमानुषिकता का स्थान लेते हैं, और अंत में वह एक विचारक होता है जो साधन जुटा रहा है, अन्वेषण कर रहा है, और आविष्कार कर रहा है—वेहतर समाजिक व्यवस्था, अधिक सुन्दर न्याय की व्यवस्था, तथा जीवन के वेहतर तरीकों की योजना बना रहा है। उसका उद्देश्य आनन्द नहीं होता, किन्तु संतोष उसे देने के रूप में मिलता है।

यह निश्चय ही सत्य है कि मनुष्य का गठन चेतन सत्ता के रूप में हुआ है जिससे कि सामान्य कार्यों को करने में आनन्द का अनुभव होता रहता है, अच्छा होना, जीवित तथा शक्तिशाली होना आनन्द की बात है। किन्तु यदि हमें एक नवीन राज्य का संविधान बनाने का कार्य सौंपा जाए तो मन में यह उद्देश्य होगा कि ऐसा समाज हो जिसमें मनुष्य न केवल अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सकें, अपितु अपने व्यक्तित्व को पूरा विकसित कर सकें, जिसे कार्य करने सुअवसर, न्याय, एक सफल सौदा, उचित मज़दूरी पर कार्य करने का अवसर, विवाह करने व घर बसाने का अवसर, अपने बच्चों को शिक्षा देने के साधन, तथा सुख भोगने और आत्मवृद्धि करने के लिए समय के रूप में दर्शाया जा सकता है। इस प्रकार कार्यपरक सिद्धान्त के अनुसार सुख अथवा इच्छाओं की पूर्ति की अपेक्षा **स्वयं जीवन** ही सर्वोच्च शुभ होता है।

चारित्रिक मूल्य

अव हम परम शुभ के कार्यपरक मत के अनुसार एवरेट की दी हुई मूल्यों की तालिका की ओर ध्यान देंगे। उस तालिका में कुछ "चारित्रिक मूल्यों" का पाँचवाँ स्थान है। ये चारित्रिक मूल्य क्या हैं और वे मूल्यों की शृंखला में क्यों दिखाई पड़ते हैं ? ये किसी प्रकार "क्रियाएँ" प्रतीत नहीं होते। वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य की प्रकृति का एक और भी पक्ष है जो अभी तक उपेक्षित रहा

है। भूतकाल का मनुष्य **कार्य** करने वाला मनुष्य रहा है—किन्तु इसके साथ ही वह सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं से अनुशासित है। उसका जीवन उसके समाज के अन्य सदस्यों के साथ मिलकर काम करने पर आधारित होता है। उसने आज्ञा-पालन, संयम, आत्म-दमन, तथा अपने समूह अथवा नेता के प्रति निष्ठा के पाठ सीख रखे हैं। इस प्रकार मूल्यों का एक अन्य समुच्चय—जिसे चारित्रिक मूल्य कहते हैं, उसके सामाजिक सम्बन्धों में दिखाई पड़ता है। कभी-कभी "महान् जाति के प्रति निष्ठा" को सर्वश्रेष्ठ मूल्य समझा गया है, जैसे कि जाति का जीवन स्वयं ही अंतिम और महानतम शुभ हो। भूत एवं वर्तमान दोनों ही कालों के अनेक दार्शनिकों ने यह माना है कि राज्य अपने आपमें स्वयं ही उद्देश्य है— उसकी सुरक्षा, उसकी एकता, सत्यनिष्ठा और उसकी प्रतिष्ठा ही परम शुभ होता है—कभी-कभी अर्ध-दैवी भी होता है।[1]

अब ये चारित्रिक मूल्य क्या हैं ? क्या इन्हें एवरेट की तालिका में समस्त मूल्यों के लिए आवश्यक शर्तों के रूप में पहले रखा जाना चाहिए— अथवा इन्हें सर्वोच्च स्थान पर सबसे अंत में रखा जाना चाहिए ? स्पष्ट है कि यहाँ हमें व्यक्ति से समाज के सम्बन्ध पर विचार करना है।

मान लो हम तर्क करने के लिए यह अनुमान करें कि समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों की पूर्णता ही परम शुभ है। चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह जातियों के बीच में रहता में, यह स्पष्ट है कि इसके पहले कि वह अपने व्यक्तिगत उद्देश्यों को प्राप्त करने में लगे उसे अपने साथियों के साथ रहने के विषय में सोचना चाहिए। चूँकि उसके अपने हित अन्य लोगों के हितों से विरुद्ध पड़ते हैं, एक सामाजिक संहिता उत्पन्न होगी, जिसका पालन सामाजिक अस्तित्व को नियंत्रित करेगा। ईमानदारी, सत्यता, न्याय, अन्य व्यक्तियों के जीवन और सम्पत्ति के लिए सम्मान, अन्य लोगों की पत्नियों और कन्याओं के प्रति आदर आदि कुछ ऐसे कर्त्तव्य हैं जो एक स्वस्थ समाज में जीवन को सम्भव बनाते हैं। व्यक्ति का भाग्य समाज के भाग्य से बद्ध होता है। ये सामाजिक कर्त्तव्य ध्यान का केन्द्र होते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे स्वयं सबसे अधिक मूल्यवान् हैं, वरन् केवल यह होता है कि वे किसी भी मूल्य की प्राप्ति के लिए अनिवार्य होते हैं। इसलिए जब कोई व्यक्ति किसी समाज के लिए निष्ठावान् होने की बात—परम शुभ है कहता है, तो वह इसलिए कहता है कि यह बात नितान्त मौलिक है। समाज के प्रति हमारे कर्त्तव्य इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि **चरित्र शब्द** का संकेत प्रायः सामाजिक कर्त्तव्य के संदर्भ में ही होता है। इस तरह चारित्रिक मूल्यों को मूल्यों की किसी भी सूची में, अन्य सभी मूल्यों को अनुकूलित करते हुए सर्वप्रथम रखा जा सकता है। अतः एवरेट की सारणी में

---

1. हीगल, बोसांक्वेट, बर्नहार्डी, वान ट्राइट्स्के की रचनाओं से तुलना करिए।

दिए हुए क्रम की आलोचना की जा सकती है।

इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि सामाजिक कर्त्तव्य साधन मूल्य हैं, अथवा यह कि केवल विवेकपूर्ण अभिप्रेरणा ही सद्गुण में सम्मलित होती है, क्योंकि मनुष्य समाज को एक अंगीय एकता बनाते हुए और प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्ति के अच्छे बुरे में भाग लेता हुआ सहानुभूति के बंधन से बँधा रहता है। वास्तव में तो समाज एक व्यापक आत्मा होती है किन्तु जब हम नैतिक उद्देश्य के रूप में आत्मा के साक्षात्कार अथवा आत्मविकास की चर्चा करते हैं तब हमारा तात्पर्य जीव अथवा व्यक्ति की आत्मा से ही होता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार परम शुभ निर्धारित करने के ऐसे अनेक प्रयत्न किए गए हैं जो व्यक्ति तथा समाज को उनके उचित सम्बन्धों में बाँध सकें। नीचे लिखी बात इसके लिए एक दृष्टान्त का कार्य कर सकती है:

समस्त नैतिक कार्यों का उद्देश्य है "एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था जिसमें समुदाय के प्रत्येक सदस्य को अपना कार्य करने के लिए समुचित क्षेत्र तथा आत्म-विकास के लिए पूर्ण अवसर मिल सके, और वह अपने समुदाय के प्रत्येक अन्य सदस्य के ऐसे ही अधिकारों का वर्तमान अथवा भविष्य में अतिक्रमण न करे।"

यह सम्भव है कि आगे आने वाले वर्षों में हमें चारित्रिक मूल्यों पर अधिकाधिक बल देना हो; और इसका कारण यह होगा कि जैसे-जैसे जगत् मनुष्यों से भरता जाता है और भौगोलिक विस्तार अब सम्भव नहीं है, प्रत्येक महाद्वीप में विभिन्न राष्ट्र एक-दूसरे के साथ निकट सम्पर्क में आ रहे हैं, शान्ति तथा सामंजस्य के साथ रहना अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है। राष्ट्र एक-दूसरे को धक्का देते हैं और देश में दल आपस में लड़ते रहते हैं। युद्ध-कला अथवा सामाजिक संघर्ष अथवा राजनैतिक उथल-पुथल के समय उन अन्य मूल्यों के विकास के लिए बहुत कम अवसर मिलते हैं जो आत्मसाक्षात्कार—[1]बौद्धिक सौन्दर्यपरक अथवा मनोरंजन सम्बन्धी हैं। मनुष्य तथा राष्ट्रों के सामंजस्यपूर्ण ढंग से एक साथ रहने का यही एक मार्ग है कि वे चारित्रिक मूल्यों, परस्पर सहायता, न्याय के प्रति सम्मान, आत्म संयम तथा आत्म नियंत्रण का अभ्यास करें।

वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक सामाजिक परिस्थिति के परिणामस्वरूप नए-नए नैतिक मूल्य सामने आ रहे हैं। भूत काल में जिन मूल्यों के उपदेश हमें प्रत्येक मंत्र अथवा धर्मोपदेश के आसन से सिखाए गए हैं वे हैं, स्वतन्त्रता, समानता, अवसर, दक्षता, प्रजातन्त्र, संगठन, विज्ञान, अन्वेषण तथा खोज। हम अभी भी इनमें हृदय से पूर्णरूपेण विश्वास करते हैं, किन्तु अब समय आ गया है जब हमारा ध्यान कुछ ऐसे मूल्यों पर केन्द्रित किया जाना चाहिए जो स्वयं समाज के अस्तित्व तथा हित को नियंत्रित करते हैं, **जैसे अनुशासन, आत्म-संयम, आत्म-नियंत्रण, नियमों के प्रति सम्मान, विधि-आज्ञा पालन, सीमित**

इच्छाएँ, धैर्य, परस्पर सहायता, तथा शिक्षा। इन सद्गुणों का अभ्यास आवश्यक एवं अनिवार्य हो गया है।

चारित्रिक मूल्य कर्त्तव्यों के रूप में तथा नैतिक नियम

चारित्रिक मूल्य इतने चरम महत्त्व के हैं कि वे केवल मूल्यों के रूप में ही नहीं अपितु **कर्त्तव्यों** के रूप में हमें मिलते हैं—ये वे कर्त्तव्य हैं जो समाज अथवा ईश्वर के प्रति हमें करने चाहिएँ और ये केवल कर्त्तव्य ही नहीं हैं वरन् नियम भी हैं—नैतिक नियम। स्वयं समाज अपनी संगठित दशा में राज्य के रूप में उन्हें दृढ़ता के साथ पालन तथा लागू भी करता है, और ईश्वर उन्हें, पत्थरों पर स्वच्छता से खुदवा कर देते हुए प्रदर्शित किया जाता है, जो इन नियमों के उल्लंघन होने पर कठोर दण्ड देता है। तुम चोरी नहीं करोगे, और यहाँ तक कि अपने पड़ौसी की सम्पत्ति देखकर लालच भी नहीं करोगे, अथवा कोई हत्या अथवा व्यभिचार नहीं करोगे, अथवा झूठी गवाही नहीं दोगे। ये ऐसी न्यूनतम परिस्थितियाँ हैं जिन पर मनुष्यों का कोई भी समाज स्थित रहता है और प्रगति करता है। ये समाज में सफल जीवन के विषय में वर्षों से संचित तथा सुस्थिर अनुभव को वताते हैं और इस प्रकार अन्य सभी मूल्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक हो जाते हैं। अभी तथा आगे आने वाली पीढ़ियों में प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्तियों के उपयोग करने तथा अपने व्यक्तित्व के विकास करने के लिए समुचित क्षेत्र की माँग करता है। यह केवल ऐसी सामाजिक व्यवस्था में हो सकता है जिसमें न्याय का साम्राज्य है और वह अपनी जाति की संकुचित सीमाओं से आगे निकलकर समस्त मानवता तक विस्तारित होता है। अन्य लोगों के प्रति हमारे **कर्त्तव्य** इतने मौलिक हैं, यदि जैविक आनुवंशिकता से नहीं तो सामाजिक आनुवंशिकता से इतने अधिक पूर्ण हैं, कि वे वास्तव में मानव की अंतरात्मा के रूप में स्वयं ईश्वर की ही आवाज़ के समान दिखाई पड़ते हैं। यह हमें परम शुभ के उस तृतीय सिद्धान्त को समझाने में सहायक होगा जिस पर अब हम विचार कर सकते हैं।

अंतःप्रज्ञावाद

प्रथमतः तो **अंतःप्रज्ञावाद** अथवा **निरपेक्षवाद** अथवा जिसे कभी-कभी **प्रागनुभववाद** भी कहते हैं, समझने में कुछ कठिन है। हम यह तो देख सकते हैं कि सुख किस प्रकार सर्वोच्च शुभ माना जा सकता है—अथवा सामाजिक कल्याण अथवा आत्म-साक्षात्कार सर्वोच्च शुभ हो सकते हैं, इसके कहने का क्या अर्थ है कि **कर्त्तव्य** सर्वोच्च शुभ है ? हम तो यही मानते थे कि किसी नैतिक मूल्य को पूरा करने के लिए यह हमारा एक उत्तरदायित्व है और यह मूल्य स्वयं ही पहले निर्धारित किया जाना चाहिए। किन्तु अंतःप्रज्ञावादी, मुख्यतः

मूल्य के विषय में बात नहीं करते, वे सही और ग़लत, अंतर्विवेक तथा कर्त्तव्य के विषय में बात करते हैं। मनुष्य का मन अंत:प्रज्ञा से यह जान लेता है कि क्या ग़लत है और क्या सही है, और कर्त्तव्य का पालन स्वयं कर्त्तव्य के निमित्त ही अवश्य किया जाना चाहिए। मनुष्य में एक विशेष बोध संकाय अथवा सामर्थ्य होता है जिसके द्वारा नैतिक भेदों का तत्काल ही ज्ञान हो जाता है। शंका के समस्त अवसरों पर अपने अंतर्विवेक का अनुसरण करो, यह प्रत्येक मनुष्य की ईश्वर-प्रदत्त सम्पत्ति है। कार्यों के नैतिक गुणों की आन्तरिक प्रशंसा होती है, जो एक प्रकार की नैतिक रुचि होती है, जो अनुभव से नहीं आती और जिसके लिए किसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं होती।

दार्शनिक कान्ट ने अपनी सत्ता नैतिक तंत्र को दे रखी है। कान्ट का सम्पूर्ण नैतिक तंत्र ही कर्त्तव्य के ऊपर बल देता है। व्यावहारिक बुद्धि स्वयं अपने आपको **निरपेक्ष नियोग** के रूप में व्यक्त करती है, जिसे हम **कर्त्तव्य की आवाज़** कह सकते हैं। निरपेक्ष नियोग से कान्ट का तात्पर्य है बिना किसी शर्त का आदेश। संकल्प आत्म-विधायी है और वह निरपेक्ष रूप से आदेश देता है। नैतिक नियम का बिना शर्त पालन करना अपेक्षित है। वह यह नहीं कहता कि **यदि** तुम सुखी हो, अथवा **यदि** तुम पूर्ण हो जाओ, अथवा **यदि** तुम्हारा उद्देश्य सामाजिक कल्याण हो तो तुम्हें कुछ विशेष कार्य करना चाहिए। वह केवल कहता है, **सही करो!** नैतिक नियम की प्रतिष्ठा का मान रखना ही नैतिक क्रिया का एकमात्र लक्ष्य है। नैतिक नियम पूर्णत: पवित्र है।

> कान्ट उसकी प्रभावशाली अलौकिकता पर ही लम्बी अवधि तक विचार करना पसंद करता है...। निरपेक्ष सत्यनिष्ठा, अपने प्रत्येक साथी के अधिकार एवं स्वतंत्रता के लिए, उदार-चित्तता के उद्देश्य की लगन के साथ परम सम्मान, ईमानदारी, न्याय, सरलता और प्रतिष्ठा—ऐसा है कान्ट का आदर्श, और जहाँ तक उनका अपना सन्बन्ध है, वे स्वयं उनके अनुरूप ही थे।[1]

अत: शुभ संकल्प के अतिरिक्त और कुछ भी बिना किसी शर्त के शुभ नहीं है।

किन्तु इतना कहना ही पर्याप्त नहीं होता, **अपना कर्त्तव्य पालन करो।** मेरा कर्त्तव्य क्या है? कान्ट एक सूत्र बताता है जो प्रत्येक परिस्थिति में लागू होता है। **उस सिद्धान्त के अनुसार कर्म करो जिसके बारे में तुम यह इच्छा कर सको कि वह एक सार्वभौम नियम बन जाए।** मान लो किसी बालक के लिए कुछ धन राशि मुझे सौंपी गई। मान लो किसी महान् आर्थिक कठिनाई के दबाव से मैं इस राशि को कुछ समय के लिए उपयोग करने का विचार करता हूँ, जिसे

1. Royce, *Spirit of Modern Philosophy* (Houghton Mifflin Company), p. 133.

निश्चय ही कुछ सप्ताहों में वापिस कर दिया जाएगा। क्या यह उचित होगा ? केवल नियम को लागू करो। क्या मैं चाहूँगा कि यही कार्य करने का सामान्य नियम हो ?

इस उत्कृष्ट नियम के बराबर ही कान्ट एक और उतना ही पूर्ण नियम जोड़ता है: **समस्त मानवता को, चाहे वह अपने व्यक्तिगत के रूप में हो या किसी दूसरे व्यक्ति के रूप में — तुम प्रत्येक अवस्था में साध्य समझ सको, न कि साधन।** कोई भी बालक, महिला, अथवा परिश्रमी मनुष्य किसी के भी आनन्द अथवा लाभ के लिए कभी भी साधन नहीं माना जा सकता है। मनुष्य का व्यक्तित्व पवित्र है।

इतना विलक्षण है कान्ट के अंत:प्रज्ञात्मक नीतिशास्त्र का सिद्धान्त, मनुष्यों द्वारा सम्भवत: यही सामान्य रूप से स्वीकृत मत है। अपना कर्त्तव्य करो, और इसीलिए करो कि वह तुम्हारा कर्त्तव्य है। कुछ वर्ष पूर्व टीटेनिक नामक एक समुद्री जहाज़ यात्रियों की एक लम्बी सूची के साथ अपनी प्रथम यात्रा पर पश्चिम की ओर जा रहा था, जिसमें विख्यात तथा उल्लेखनीय व्यक्ति भी सम्मिलित थे, वह एक बर्फ की चट्टान से टकरा कर डूब गया। सबके लिए नौकाएँ नहीं थीं, और महिलाओं तथा बालकों को सहायता पहुँचाते हुए मनुष्य शान्ति से जहाज़ पर ही खड़े रहे और नीचे चले गए। उनके ऐसा करने का क्या अभिप्राय था ? कर्त्तव्य के अतिरिक्त किसी ने किसी अन्य अभिप्राय का सुझाव भी नहीं दिया। यह समाचार-पत्रों में प्रशंसा, अथवा स्वर्ग में इसके पुरस्कार अथवा किसी अन्य उपलब्धि के लिए नहीं था। यह मात्र एक **उचित कार्य को करना था।**

कान्ट के नैतिक सिद्धान्त की उस व्यावहारिकता अथवा महानता पर कोई सन्देह नहीं करता, जो कर्त्तव्य के कठिन और दृढ़ धारणा से पालन को उन्नत स्थान पर पहुँचाता है, किन्तु "संकल्प की स्वतन्त्रता" के अभ्युपगम की अपेक्षा अपने नैतिक बोध के प्राय: तात्कालिक और प्रत्यक्ष रूप से अंत:प्रज्ञात्मक लक्षण को बताया जा सकता है। इन्द्रियानुभववादी इसे नैतिक अनुशासन तन्त्र में रहने वाले व्यक्ति अथवा जाति के अनुभव के परिणाम के रूप में बताएँगे। और जहाँ तक ऊपर बताए हुए सूत्र का सम्बन्ध है, और जो उपयोग करने में इतना व्यावहारिक है, उसके लिए यह प्रश्न किया जाता है कि जब मैं कहता हूँ कि यदि मैं अपनी क्रिया के सिद्धान्त को सार्वभौम नियम बना देने की इच्छा करूँ तो शुभ जैसा कोई मानक पहले से ही निहित नहीं होता है।

यदि कोई कान्ट के कठोर अंत:प्रज्ञावाद को पूर्णत: स्वीकार न करे, तो भी इस सिद्धान्त में सत्य का एक ऐसा तत्त्व है जिसकी उपेक्षा कोई नहीं कर सकता। जब कान्ट हमारे आचरण के लिए एक व्यावहारिक नियम को प्रस्तुत करता है, अर्थात् उस सिद्धान्त के अनुसार कर्म करो जिसके बारे में हम यह इच्छा कर सकें

कि वह एक सार्वभौम नियम बन जाए, हम तार्किक विश्लेषण के पश्चात् यह देखते हैं कि यह सर्वोच्च शुभ किसी और अन्तिम सिद्धान्त में घट जाता है, किन्तु व्यवहार में यह कर्म करने का अत्यन्त सुरक्षित तथा बुद्धिमत्तापूर्ण नियम है, और इसमें आगे किसी विश्लेषण की आवश्कयता प्रतीत नहीं होती। कांन्ट का नीतिशास्त्र चारित्रिक मूल्यों—शुभ संकल्प तथा सामाजिक सहयोग पर निरन्तर बल देता है, और कान्ट के समय से लेकर अब तक इस पर बल देने की इतनी आवश्यकता कभी नहीं थी जितनी वर्तमान समय में है। यदि हमारी सभ्यता को विद्यमान रहना है तो हमें इस शुभ संकल्प तथा सहयोग के पाठ को अवश्य सीखना चाहिए। हमें यह भूल नहीं जाना चाहिए कि सर्वप्रथम हमें एक साथ रहना सीखना है, और सामाजिक वर्गों को एक साथ रहना सीखना है तथा राष्ट्रों को एक साथ रहना सीखना है। जगत् में भीड़-भाड़ बढ़ रही है, तथा और अधिक अनुशासन, आत्मसंयम तथा सहयोग करने का समय आ गया है। यह स्पष्ट है कि सहयोग करने का पाठ सबसे प्रथम है।

अनुशास्तियाँ

किन्तु यदि हम सहयोग न करें तो क्या? मनुष्य स्वतन्त्र कर्त्ता हैं, तथा स्वार्थ हित के शक्तिशाली उद्देश्य सामाजिक हित से विरोध रखते हुए प्रतीत होते हैं—इसलिए नैतिक नियमों का पालन हमेशा नहीं होगा। जब उनका पालन नहीं होगा तो क्या होगा? यह नैतिक तथा सामाजिक अनुशास्तियों की समस्या है—यह समस्या मानव-सुख के लिए दार्शनिक, आर्थिक, राजनीतिक, अथवा धन सम्बन्धी समस्याओं की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह समस्या सामाजिक नीतिशास्त्र के क्षेत्र में आती है इसलिए इसकी चर्चा यहाँ नहीं की जा सकती, केवल एक संक्षिप्त उल्लेख किया जा सकता है। इससे अधिक रुचिकर तथा लाभदायक और कुछ नहीं हो सकता कि हम इस पर विचार करें। कम ही लोग इसका प्रयत्न करते हैं। संभवतः कुछ लोगों ने पुलिस के सिपाही के डण्डे और उससे बचने की समस्या से अधिक विचार इस पर नहीं किया होगा। यदि मैं पाप करता हूँ तो कानून मुझे पकड़ लेगा। किन्तु संभवतः वह मुझे पकड़ नहीं पायेगा। यदि ऐसा है तो सब ठीक है।

इसके पश्चात् जनता की राय की अनुशास्ति आती है, हमारे साथियों की वह अस्वीकृति जो निश्चय ही राज्य के नियमों की अपेक्षा बुराई को रोकने के लिए अधिक शक्तिशाली है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति जनता की राय के विरुद्ध कार्य करे अथवा—यहाँ एक और भी अधिक गम्भीर प्रश्न है—कि यदि जनता की राय ढीली पड़ जाए जो समाज बुराई करने वाले पर क्रोधित न हो तो क्या होगा? "हर कोई कर रहा है," यह बुरे कार्यों के प्रति उस द्वेष को समाप्त कर देता है जो पहले उसके लिए रहता था। इन विभिन्न बातों का सामना करने के

लिए, और जो नैतिक नियम की अनुशास्तियाँ प्रदान करने के लिए परम आवश्यक प्रतीत होती थीं, उनके लिए भविष्य में पुरस्कार एक दण्ड के विधान में आस्था बहुत दिनों से चली आ रही है। इस जीवन में हम प्रायः देखते हैं कि दुर्जन उन्नति करते हैं और सज्जन कष्ट उठाते हैं। ऐसा लगता है कि न्याय के शाश्वत नियम की यह माँग है कि कहीं न कहीं इसकी पूर्ति अवश्य होनी चाहिए। यह अवश्य ही मृत्यु के बाद के जीवन में होनी चाहिए। यही सुविख्यात युक्ति दार्शनिक कान्ट ने ईश्वर के अस्तित्व तथा आत्मा के अमरत्व के लिए प्रस्तुत की थी।

किन्तु भविष्य के जीवन में पाप के लिए मिलने वाला दंड बुराई को रोकने के लिए तभी कारगर हो सकता है जब उसे विश्वास की एक वस्तु के रूप में स्वीकार कर लिया जाए—और तब भी वह पूर्णतः कारगर नहीं प्रतीत होता। इसलिए हमें पुनः यह प्रश्न उठाना चाहिए—ऐसे समाज में क्या होगा जिसमें अपराधी कानून से बचते हों, जहाँ जनता की राय ढीली हो और जहाँ भविष्य के जीवन में विश्वास धुँधला पड़ जाए ? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। यदि मूल-प्रवृत्तियाँ समाप्त हो जाएँ तो सामाजिक प्राणियों में क्या होगा ? पूरा समुदाय अथवा समस्त जाति ही लुप्त हो जाएगी। जब सामाजिक नैतिकता असफल हो गई है तब आदि-मानव में क्या हुआ ? वह समुदाय या तो समाप्त हो गया अथवा किसी ऐसे समुदाय में विलीन हो गया जिसकी नैतिकता भंग नहीं हुई है। यदि आचरण के उन नियमों का पालन न किया जा सके जिन्हें सामाजिक कल्याण के लिए पालन करना अनुभव से आवश्यक माना गया है तो हमारे जटिल सामाजिक समुदायों में क्या होगा। इसके परिणामस्वरूप अवश्य ही सामाजिक विघटन हो जाएगा। जब तक समाज का हृदय मज़बूत है अकेले-अकेले अपराधी के साथ सावधानी बर्ती जा सकती है। जब समस्त सामाजिक ढाँचा दूषित होने लगेगा तो सामाजिक व्यवस्था क्रमशः भंग हो जाएगी।

सामाजिक दृष्टिकोण

इतिहास में यह स्वयं हमारी सम्भावित भविष्य की सभ्यता पर आधारित रहता है। हमारे आधुनिक बहुत अधिक जनसंख्या वाले राज्यों के समकक्ष कोई स्थिति नहीं रही है। प्राचीन समय में जब सामाजिक नैतिकता भंग हो जाती थी, तब शक्तिवान् तथा पौरुषवान् व्यक्ति उत्तर की ओर होते थे जो नया खून तथा कठोर अनुशासन लाते थे। अब यदि सामाजिक नैतिकता भंग हो जाए और स्वस्थ जीवन के नियमों की उपेक्षा साधारण बात हो जाए तो उस आने वाले कठिन काल में क्या ऐसे तत्त्व होंगे जो नवीन तथा बेहतर समय ला सकेंगे ? मैं समझता हूँ कि यह पुनर्निर्माण जो यद्यपि अवश्य होगा बहुत मंद गति से आएगा। संभवतः इसके बीच में सामाजिक अवनति की लम्बी-लम्बी शताब्दियाँ भूख और

गरीबी, बीमारी तथा गन्दगी और असीम कष्ट और दुःख से भरी हुई होंगी।

किन्तु हो सकता है कि सामाजिक नैतिकता भंग न हो। अब समाज में पुनर्निर्माणात्मक ऐसी शक्तियाँ हैं जिनका ज्ञान पहले के समय में नहीं था। निश्चय ही वर्तमान काल में ही कुछ अंशों में विश्व-युद्ध के कारण तथा कुछ अंशों में परिवर्तनशील सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों और धार्मिक आस्थाओं के कारण सामाजिक नैतिकता गिर गई है। हम आए दिन हो रहे अपराधों, हत्याओं, गड़बड़ियों, तथा डाकों के वृत्तान्तों से परेशान हो चुके हैं। हम राजनीतिक भ्रष्टाचार के निरन्तर होने वाले विस्फोटों से भयग्रस्त हैं। हम अपनी जनता में आत्म-विश्वास की दृष्टिगत क्षीणता से तथा अपने राज्य तथा लोकतन्त्रीय सरकार पर बोझ डालने की बढ़ती हुई स्थिति से व्यथित हैं। हम उस यौन-सम्बन्धी नैतिकता के पतन से भयभीत हैं जो समाज की भौतिक एकता को चुनौती देता है। अब कोई भी सन्देह नहीं कर सकता कि जगत् की नैतिक उन्नति में संकट आ गया है।

किन्तु यहाँ फिर भी अनेक प्रोत्साहन देने वाले संकेत हैं। एक नवीन सामाजिक चेतना उत्पन्न हो रही है और व्यक्ति व्यक्ति के बीच, व्यक्ति और समाज के बीच, तथा सामाजिक और राजनीतिक समूहों के बीच नवीन मूल्यों के सपने हैं। युद्ध की अनुपयोगिता तथा असंगतता का आभास समस्त जगत् में बढ़ रहा है जो पीढ़ी दर पीढ़ी उसकी सम्भावना को उत्तरोत्तर कम करेगा और उसके पश्चात् जो नैतिक पतन होता है उसे भी कम करेगा। हम समाज के समुदायों तथा मानव की एकता के प्रति सचेत हो रहे हैं—और यह चेतना हमें युद्ध के भयानक व्यय तथा राष्ट्रों के बीच होने वाले सन्देह, और घृणा के विनाशकारी परिणामों से बचाएगी। और अब हम वर्तमान पीढ़ी की उस एकता के प्रति सजग हो रहे हैं जिसका हमें अनुसरण करना है। हमने यह समझना आरम्भ कर दिया है कि हम अपने जंगलों, कोयले की खानों, तेल के कुओं तथा मिट्टियों को असावधानी से समाप्त नहीं कर सकते, अपितु हमारे बच्चों तथा उनके बच्चों के प्रति हमारा कर्त्तव्य बढ़ कर हमारे समस्त भौतिक स्रोतों की सुरक्षा और जो इससे भी अधिक हमारे जातीय मूल्यों की रक्षा तथा हमारी जाति के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करना है। आगे आने वाली पीढ़ियों को स्वस्थ शारीरिक तथा मानसिक विरासत का अधिकार है। एक शब्द में हमने विमर्शात्मक चिन्तन की शक्ति से लाभ लेना आरम्भ कर दिया है जो जीवन के श्रेयस्कर तरीकों का धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से पता कर रहा है। संभवतः हम अपने लोकतन्त्रीय समाज में जगत् की रक्षा करने के लिए बड़े-बड़े नेताओं पर निर्भर नहीं रह सकते, किन्तु हम अपने महान् चिन्तकों के प्रभाव के द्वारा बच सकते हैं। हमें शायद सार्वभौमिक शिक्षा पर भरोसा करना चाहिए जो हमें यह बताएगी कि

हमारे बहुसंख्यकीय समुदायों में व्यक्ति को आत्म-साक्षात्कार केवल उस आत्म-त्याग तथा अनुशासन से ही मिल सकता है, जिससे सहयोग सम्भव होता है।

किन्तु ऐसा हो सकता है, क्योंकि मानव-समाज में प्राकृतिक चुनाव ने कार्य करना समाप्त कर दिया है, हमें सामाजिक विनाश को ईमानदारी, सत्यता, पवित्रता, तथा न्याय के प्राचीन नियम तथा आधुनिक समाज की परिस्थितियों के साथ जुड़े हुए प्रेम तथा सहयोग के नवीनतर नियम के अतिरिक्त कुछ नहीं बचा सकता।

> जब सभी कुछ कहा जा चुका है, तो हमारे प्राचीन न्याय, अन्तर्विवेक, शील, साहस, दया तथा प्रतिष्ठा के आर्यों के आदर्श में अभी तक कुछ भी परिवर्तन नहीं करना है। हमें केवल उनके समीप तक जाना है तथा और नज़दीक से पकड़ना है, और उन्हें उससे भी अधिक प्रभावी ढंग से समझना है, तथा, इसके परे जाने के भी पूर्व हमारे समक्ष सितारों के बीच अभी बहुत लम्बा और अच्छा मार्ग खुला हुआ है।[1]

नीतिशास्त्र तथा धर्म

किन्तु यदि नैतिक आचरण एक प्रकार का ऐसा निरपेक्ष मूल्य हो जिसे प्राप्त करने के लिए प्रकृति प्रयत्नशील हो तो भी ऐसा लगता है कि नैतिक नियम का वास्तविक कार्य हमारे जैसे चिन्तन करने वाले के लिए, जैसा कि हम इस अध्याय में विचार कर चुके हैं, कड़ाई का कुछ पहलू लिए रहता है। यदि तुम सुखी होगे तो अवश्य ही तुम सत्यनिष्ठ भी होगे। यदि तुम सत्यनिष्ठ नहीं होगे तो दुःख सहोगे—अथवा, यदि तुम नहीं तो तुम्हारी संतान, तुम्हारे पड़ौसी अथवा तुम्हारा सामाजिक वर्ग दुःख सहेगा। मैं समझता हूँ कि यह सत्य है कि नैतिक नियम कभी वास्तव में कठोर होता है। प्रकृति तथा ईश्वर के नियम झुकने वाले नहीं होते। अनुपयुक्त को तत्त्व मंच से अलग होकर उपयुक्त के लिए स्थान बनाते हैं। अनुपयुक्तों को उपयुक्त के लिए स्थान बनाना चाहिए, जो अंततोगत्वा लाभकारी होता है। संभवतः ईश्वर विकास की धीमी प्रक्रिया की अपेक्षा अथवा त्रुटियों और उनके दण्डों की अपेक्षा स्वतन्त्र बुद्धिमान् तथा नैतिक प्राणियों की रचना करने का कोई बेहतर तरीका सोच सकता था—किन्तु किसी भी मनुष्य ने इस बेहतर तरीके का प्रस्ताव नहीं किया।

एक साधन है जो नैतिक नियम की कठोरता को कुछ नरम करता हुआ प्रतीत होता है—वह साधन है धर्म। सभी कालों में धर्म ने कुछ अंशों तक बोझ को कम किया है—असत्यता के परिणामों को मेट कर नहीं, अपितु सत्यनिष्ठता

---

1. Maeterlinck, quoted by Drake, *The Problems of Conduct* (Houghton Mifflin Company).

के उद्देश्यों को प्रदान कर। कर्त्तव्य का दुर्गम मार्ग प्रेम तथा निष्ठा से सुगम बनाया जा सकता है। मैं समझता हूँ कि परिणामों के नियम से बचा नहीं जा सकता, किन्तु जो कठोर कर्त्तव्य के द्वारा कष्टकारी तथा कठिन होता है, वही ऐच्छिक निष्ठा के द्वारा सुख का कार्य बन जाता है। मनुष्य धमकी से चलाया जाना पसन्द नहीं करता, किन्तु मित्रता तथा प्रेम के द्वारा उसे सरलता से ले जाया जा सकता है। कभी-कभी जब मनुष्य बुरे परिणामों से बचने के लिए ठीक कार्य नहीं करते तब भी वे किसी महान् नेता अथवा किसी महान् उद्देश्य में निष्ठा होने के कारण उचित कार्य करेंगे।

प्रवर्त्तक उद्देश्य विवेकपूर्ण उद्देश्यों से अधिक शक्तिशाली होते हैं। मनुष्यों से कहो कि झूठे का नाश होगा तो भी वे वही करेंगे—जबकि वे जानते हैं कि ग़लत काम करने के परिणाम निश्चय ही उन पर, अथवा उनके सम्बन्धियों अथवा उनके समाज पर बुरे पड़ेंगे; परन्तु एक बार ईश्वर के प्रति, जगत् पिता के प्रति, अथवा मित्र के प्रति—पति, पत्नी, अथवा प्रेमी के प्रति—गिरजाघर, दल, अथवा मनोरंजन-गृह या बन्धुता के प्रति उनकी निष्ठा का आह्वान करो और ये सभी आत्म-त्याग तथा कठिनाई को सहन करने को तैयार हो जाएँगे।

धर्म सिखाता है कि विश्व मित्रतापूर्ण है—ईश्वर प्रेम है, तथा प्रतिद्वंद्विता के नियम की गहराई में सहकारिता का नियम विद्यमान है, परहितवाद उतना ही मौलिक है जितना अहंवाद। यह सिखाता है कि उचित के लिए संघर्ष करने में विश्व अपनी आध्यात्मिक गहराई में हमारे पक्ष में रहता है—इसलिए यह संघर्ष व्यर्थ नहीं होता। जब ये आध्यात्मिक शक्तियाँ अवतरित होती हैं अथवा किसी दृश्यमान नेता के रूप में आती हैं तब भक्ति अपनी पूर्णता पर पहुँचती है और तब महान् कार्य किए जा सकते हैं। जब ऐसा कोई नेता दिखाई नहीं पड़ता तो शिक्षा अनिवार्य हो जाती है—**क्योंकि मनुष्यों के पास या तो प्रकाश होना चाहिए या नेता।**

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Durant Drake, *The New Morality* (The Macmillan Company).

Aristotle, *Nicomachean Ethics*. Translated by Robert Williams (Longmans, Green and Company), book I.

अन्य सन्दर्भ

Walter G. Everett, *Moral Values* (Henry Holt and Company).

John Dewey and J. H. Tufts, *Ethics* (American Science Series. Henry Holt and Company).

Edward Westermarck, *The Origin and Development of the Moral Ideas*. 2 vols. (The Macmillan Company).

John Dewey, *Human Nature and Conduct* (Henry Hölt and Company).

John Stuart Mill, *Utilitarianism* (Longmans, Green and Company).

L. T. Hobhouse, *Morals in Evolution* (Chapman and Hall).

Josiah Royce, *The Philosophy of Loyalty* (The Macmillan Company).

Edgar S. Brightman, *Moral Laws* (Abingdon Press).

Clifford Barrett, *Ethics, An Introduction to the Philosophy of Moral Values* (Harper and Brothers, 1933).

W. M. Urban, *Fundamentals of Ethics* (Henry Holt and Company).

James H. Tufts, *America's Social Morality* (Henry Holt and Company, 1934).

Walter Lippmann, *A Preface to Morals* (The Macmillan Company).

Will Durant, "Our Morals" (*The Saturday Evening Post*, January 26, 1935).

H. W. Dresser, *Ethics in Theory and Application* (Thomas Y. Crowell and Company).

J. A. Leighton, *The Individual and the Social Order* (D. Appleton and Company), part IV.

अध्याय 29

कला का दर्शन

सुन्दरता के उद्देश्य

दक्षिण फ्रांस की कुछ कन्दराओं की दीवालों पर पाषाण काल के मनुष्यों ने जानवरों की तस्वीरें चित्रित की हैं। वे बहुत उच्च कोटि के कलात्मक गुणों का प्रदर्शन करती हैं, और इस प्रकार चित्रित की गई थीं, कि वे पच्चीस हज़ार वर्ष पार कर चुकी हैं। यह स्पष्ट है कि उन कलाकारों द्वारा इन पर बहुत मेहनत की गई होगी, ऐसी मेहनत जो आर्थिक दृष्टि से उत्पादक नहीं है, और भोजन, वस्त्र तथा किसी अन्य प्रकार की कोई भौतिक आवश्यकता पूरी नहीं करती। जब इन तस्वीरों का विवरण देने को कहा जाता है तो हम कहते हैं कि उनमें एक ऐसी विशेषता है जिसे हम **सुन्दरता** कहते हैं और वे देखने वालों को एक प्रकार का आनन्द प्रदान करती हैं, जिसे हम **सौन्दर्यपरक** आनन्द कहते हैं। वे **कला** के क्षेत्र की वस्तुएँ हैं, अतः वे परिचित आर्थिक उद्यम, या प्रेम, या युद्ध अथवा नैतिक तथा राजनीतिक संस्थाओं से परे हैं। वे हमें दार्शनिक अनुसंधान के नवीन क्षेत्र से परिचित कराती हैं, जिसमें नवीन समस्याएँ दृष्टिगत होती हैं।

यदि पाठक किसी विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय का विद्यार्थी है और वह अपने क्षेत्र की इमारत पर एक क्षण के लिए अपने विचारों को स्थिर करे, तो तत्काल ही वह इस तथ्य को देखेगा कि वे शिल्पी गुणों में भिन्नता रखती हैं, उनमें सम्भवतः कुछ कला की उच्चस्तरीय कृतियाँ हैं तो अन्य में ऐसी कला बहुत ही कम अथवा नहीं है। आगे चलकर वह यह भी देखेगा कि इमारत की उपयोगिता अथवा जिस प्रयोजन के लिए वह बनी है, उसकी सहूलियत के आधार पर इमारत का शिल्पी गुण नहीं आँका जाता और न ही सम्भवतः उसके स्थायित्व तथा स्थिरता पर आँका जाता है। उसमें कुछ और ऐसी बात होती है अथवा नहीं होती जिसे हम **सुन्दरता** कहते हैं।

वह यह भी देखेगा कि वह उस संगीत के विषय में भी वही निर्णय दे रहा है जिसे वह संकीर्तनों, गोष्ठियों, संगीत समारोहों, गिरजा घर की प्रार्थनाओं, नृत्यों तथा संगीतमय आमोदों में सुनता है। इनमें से कुछ में कलात्मक खूबी होती है तथा कुछ में नहीं होती। उसे यह भी मालूम है कि यह बात, कविता,

शिल्पकला, तथा प्राकृतिक दृश्य कला और मानव-आकृति और उसकी वेशभूषा के विषय में भी सत्य है।

यह भ्रामक वस्तु क्या है जिसे हम **सौन्दर्य** कहते हैं ? जो कुछ हम इसके विषय में जानते हैं वह यह है कि यह किसी न किसी रूप में विशेष तथा शाश्वत आनन्द से सम्बन्धित है जिसे हम **सौन्दर्यपरक आनन्द** समझते हैं। हम नहीं जानते कि सुन्दरता क्या है, और न ही यह जानते हैं कि अन्य रूपों से सौन्दर्यपरक आनन्द कैसे भिन्न है, किन्तु हम यह अवश्य जानते हैं कि एक सर्वोच्च आनन्द होता है जिसे हमने सुन्दर इमारत, चित्र, मूर्ति, प्राकृतिक दृश्य, स्त्री के मुख तथा उपयुक्त वस्त्र, अथवा संगीत, अथवा शैली या कीट्स की कविता सुनने में, अथवा फिर नृत्य की गहन भाव-मुद्राओं को देखने अथवा उसमें भाग लेने पर अनुभव किया है।

सौन्दर्य का विज्ञान

सौन्दर्य शास्त्र, सौन्दर्यपरक आनन्द का अर्थ, सुन्दरता के विषयनिष्ठ तथा विषयीनिष्ठ लक्षण, स्वयं सुन्दरता की प्रकृति, तथा कला के संवेग की उत्पत्ति तथा स्वभाव की खोज करता है। ये सभी प्रश्न सॉक्रेटीज़ के समय से चर्चा के विषय रहे हैं तथा इनके अनेक समाधान प्रस्तुत किए गए हैं।

सौन्दर्यपरक आनन्द हमारे जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण हिस्सा अदा करता है तथा नियामक विज्ञानों में सौन्दर्यशास्त्र की तुलना तर्कशास्त्र की अपेक्षा नीतिशास्त्र से बहुत अधिक की जा सकती है। यह विचार इससे स्पष्ट हो जाता है कि, **क्या वह मनमोहक** अथवा **सुन्दर नहीं है**। —अभिव्यक्ति हम **क्या यह सत्य अथवा शुभ है** की अपेक्षा अधिक सुनते हैं। व्यक्तिगत सुन्दरता तथा व्यक्तिगत सजावट भी, नैतिक प्रयासों, अथवा हमारी चर्चा की तार्किक संगति की अपेक्षा हमारे विचार तथा अवधान को अधिक आकर्षित करते प्रतीत होते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि सॉक्रेटीज़ के समय से चिंतक सुन्दरता तथा वस्तुओं में उस तत्त्व को, जो उन्हें सुन्दर बनाता है, आश्चर्य से देखते आ रहे हैं।

यह स्पष्ट है कि सुन्दरता के आनन्द में हमारा एक **मान** होता है जो हमारे जीवन को समृद्ध बनाने में योगप्रद होता है। व्यापार, राजनीति अथवा अपने व्यावसायिक कार्यों से त्रस्त हुए जीवन के लिए संगीत, कविता, नाटक, साहित्य, चित्रकला, तथा शिल्पकला शरण लेने के स्थान होते हैं। अमरीकी शहर अपनी नीरस वास्तुकला में वदसूरत हो सकते हैं, किन्तु ऐसे शहर अथवा कस्बे थोड़े ही होंगे जहाँ आते-जाते हमारी दृष्टि किसी सुन्दर इमारत पर न टिकती हो; जबकि प्राकृतिक सौन्दर्य तो सभी ओर हमारी प्रतीक्षा करता रहता है, जंगली तथा उगाए हुए पुष्पों में, ताज़े हरे घास के मैदानों में, जंगली अथवा अलंकृत वृक्षों में, लहराते हुए अन्य खेतों में, सरिताओं, सरोवरों, पर्वतों तथा सागर में इन्द्र-

धनुष में, मेघ के प्रभावों में, सूर्यास्त अथवा रात्रि के आकाश में, पक्षियों की चहक और चुलबुलाहट में, उनके रूप तथा परों में, शरद् काल के उज्ज्वल पर्वतों में, अथवा शीतकाल के हिमाच्छादित मैदानों तथा मनुष्य के रूपों तथा मुखाकृतियों में।

सौन्दर्य का आनन्द इतना अच्छा होता है कि इस बात की जाँच करने के लिए कि यह किस प्रकार का अनुभव होता है अथवा किसी सुन्दर वस्तु में इसका पता लगाना किन-किन बातों में उसकी सुन्दरता निहित है, अथवा फिर किसी महान् चित्रकला पर संलग्न कलाकार की अभिप्रेरणा का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए मनुष्य के पास दार्शनिक आवेग पर्याप्त रूप से शक्तिशाली होना चाहिए, ताकि वह अपने सौन्दर्यपरक आनन्द को भंग कर सके। फिर भी, समस्त ज्ञान को प्राप्त करने की अथक इच्छा के साथ मनुष्य आरम्भिक काल से ही इन प्रश्नों को पूछ रहा है तथा उन्हें हल करने के प्रयत्न कर रहा है। कला के सिद्धान्तों के पाठ्यक्रम का परामर्श वास्तव में बहुत ज़ोरदारी से दिया जाना चाहिए। इन सैद्धान्तिक प्रश्नों में हमारी रुचि होने के अतिरिक्त, इस अध्ययन से हमारी मूल्यांकन करने की शक्तियाँ भी बहुत दृढ़ हो सकती हैं तथा सौन्दर्यपरक आनन्द के विभिन्न स्रोतों के ज्ञान का समारम्भ करने से हमारे जीवन के आनन्द की भी असीम रूप में वृद्धि हो सकती है।

इतिहास में कला के काल

इधर कुछ समय से सुन्दरता के तत्त्वमीमांसीय पक्ष पर कम और ऐतिहासिक, सामाजिक, शैक्षिक, तथा मनोवैज्ञानिक पक्षों पर अधिक रुचि के साथ बल दिया जा रहा है। एक लेखक का मत है कि संगीत को छोड़ कर यूरोप की सभी कलाओं में सन् 1500 के पश्चात् से क्रमशः गिरावट की प्रवृत्ति है, तथा संगीत भी बीथोवन[1] की मृत्यु के बाद धीरे-धीरे नीचे आ रहा है। सम्भवतः वे सभी व्यक्ति जो ऐसा निर्णय करने के लिए योग्य नहीं हैं इस आलोचक के मत से सहमत होंगे। किन्तु यदि यह सत्य हो तो, बर्बस ही हमारे मुँह में यह प्रश्न आता है, कि ऐसा क्यों ? क्या ऐसा हमारे आधुनिक युग में प्रतिभा की कमी के कारण है, अथवा फिर हमारे मूल्यांकन करने के अविकसित संकाय होने के कारण है ? अमरीका में, कविता तथा वास्तुशिल्प में व्यापक रुचि विद्यमान है। किन्तु यदि हम ललित कलाओं में अपनी रुचि की तुलना अपनी यांत्रिक तथा उपयोगी कला तथा धन की प्राप्ति और बाह्य वस्तुओं के संचय करने से करते हुए सापेक्ष रुचि की बात करें, और फिर अपने काल की तुलना इतिहास के महान् कला के काल से करें, उदाहरणार्थ प्राचीन यूनान अथवा मध्यकालीन तथा यूरोप के नवजागरण काल

1. F. S. Marvin, *Progress and History*, chap. IX. Article by A. Clutton Brock.

से तो यह तुलना हमारे लिए सर्वथा विपरीत होगी।

कला के एक महत्त्वपूर्ण काल के लिए तीन बातों का होना आवश्यक प्रतीत होता है: प्रथम अभिव्यक्ति खोजती हुई गहन भावनाओं, द्वितीय उपयुक्त रूप में अभिव्यक्त करने की प्रतिभा, तृतीय ऐसे सहृदय दर्शक जो इस प्रतिभा की रचनाओं की प्रशंसा कर सकें तथा आनन्द ले सकें। उपर्युक्त कालों के लोगों की तुलना में सम्भवत: हम इनमें से सभी बातों के अनुपयुक्त सिद्ध होते हैं। किन्तु यह बात महत्त्वपूर्ण है कि मध्यकालीन वास्तु-शिल्प तथा बहुत हद तक महान् चित्रकला, संगीत, तथा पुनरुत्थान काल के काव्य की पृष्ठभूमि में यह एक शक्तिशाली धार्मिक अभिप्रेरणा रही है। धार्मिक तथा राष्ट्रीय भावना ने यूनान के कारीगरों को भी प्रेरित किया है। उनकी सुन्दर इमारतें थीं—मन्दिर; उनके उत्कृष्ट नाटकों की उत्पत्ति धार्मिक पूजाओं में होती थी, तथा उनके कथानक का मुख्य विषय धार्मिक इतिहास हुआ करता था, और उनकी वास्तुशिल्प कला, चित्रकला तथा काव्य में देवी-देवता मुख्य रूप में दिखाए जाते थे। यह एक रुचिकर प्रश्न होगा जिसका भविष्य निश्चय कर सकता है कि क्या धार्मिक अभिप्रेरणा के अभाव में भी किसी महान् कला के काल का प्रादुर्भाव हो सकता है, और यदि हो सकता है तो किस बड़े अभिप्राय को लेकर होगा।

वास्तव में, यह हमें सौंदर्यशास्त्र की विशेष समस्या से परिचित कराता है, जो प्राचीन सुन्दरता के स्वरूप के विषय में सैद्धान्तिक चर्चा की अपेक्षा वर्तमान काल में हमारी रुचि को आकर्षित करता है। यह **कला की भावना** का प्रश्न है। लोग संगीत क्यों बनाते हैं, कविता क्यों लिखते हैं, तथा मूर्ति क्यों गढ़ते हैं ? हम शीघ्र ही यह देख लेते हैं कि जो अभिप्राय मनुष्य की अन्य क्रियाओं के लिए लागू होता है, अर्थात् कुछ प्राप्ति, प्रसिद्धि अथवा वैयक्तिक प्रगति की आशा के लिए, वह यहाँ लागू नहीं होगा। कला की वस्तुएँ प्राय: आर्थिक रूप से अनुत्पादक होती हैं, और जब वे ऐसी नहीं होतीं, तो हममें से थोड़े ही लोग यह विश्वास करेंगे कि आर्थिक अथवा स्वार्थपूर्ण अभिप्राय कलाकार के रचनात्मक कार्य को समझा देने के लिए पर्याप्त होते हैं। हम यह देखते हैं कि यह अभिप्राय प्राचीन यूनान के नाटक, काव्य, अथवा वास्तुशिल्प के लिए अथवा इतिहास के किसी भी महान् कला के काल की कला वस्तु के लिए लागू नहीं होता। तब हम सौन्दर्य सिद्धान्त के इस अंग पर पहले विचार करें जो **कला की भावना** का अध्ययन करता है, और फिर दूसरे अंग में **सुन्दरता** के कुछ प्राचीन व नवीन सिद्धान्तों पर विचार कर सकते हैं। फिर अध्याय के अन्तिम तीसरे हिस्से में हम **सौन्दर्यपरक अनुभव** शीर्षक के अन्तर्गत कुछ निष्कर्षों को इकट्ठा रख सकते हैं।

I. कला की अन्त:प्रेरणा

ललित कलाएँ

जब उत्पादन क्रिया में बुद्धि तथा चतुराई का विकास होता है तो हम इस क्रिया को **कला** की संज्ञा देते हैं। जब यह क्रिया इस प्रकार की होती है कि वह उपयोगिता की वस्तुओं के उत्पादन की ओर ले जाए तो उसे हम **उपयोगी कला** कहते हैं; यदि वह सुन्दरता की वस्तुओं की ओर ले जाए तो हम उसे **ललित कला** कहते हैं। किसी भी सामाजिक संगठन में उपयोगी कलाओं की उपस्थिति को बताना कठिन नहीं है, जैसे लोहार का काम, जूते बनाना अथवा बुनाई करना, क्योंकि ये मनुष्यों की महत्त्वपूर्ण आवश्यकताएँ पूरी करती हैं। किन्तु जहाँ तक हम समझते हैं ललित-कला कृतियाँ ऐसी कोई आवश्यकता पूरी नहीं करतीं। और तो भी, केवल वर्तमान कला में ही नहीं वरन् मानव-इतिहास में कभी भी कलाकार की कलाकृति चाहे वह संगीत हो अथवा चित्रकला, काव्य, वास्तुकला, शिल्पकला अथवा साज-सज्जा, प्रत्येक सामाजिक संगठन में देखी जा सकती हैं। इसका क्या उत्तर है ?

यदि यह माँग और पूर्ति का मामला है तो यह आर्थिक जगत् के माँग और पूर्ति के कार्य-कलाप से बिल्कुल भिन्न है। सामान्य अर्थों में हम किसी भी कवि अथवा संगीतज्ञ की रचना की क्रिया की किसी माँग को पूरा करने के रूप में कल्पना नहीं कर सकते। यह क्रिया स्वतन्त्र तथा स्वत:चालित अथवा किसी **रचनात्मक अंत:प्रेरणा की अभिव्यक्ति** होती है। यह **आत्म-अभिव्यक्ति** के रूप में अधिक प्रतीत होती है। कलाकर को कुछ दर्शाना होता है, संभवत: ऐसा गहन संवेग, जिसे समझाने के लिए सामान्य भाषा अथवा संकेत अपर्याप्त होता है। भाषा को **अलंकृत** रहना चाहिए, जैसे कविता में जो तुकबन्दी तथा लय का योग लेती है; संगीतमय ध्वनि का लय तथा समस्वरता के साथ आह्वान करना चाहिए। कलाकार, कवि अथवा संगीतज्ञ किसी प्रेरक शक्ति से प्रेरित होकर ही कोई सुन्दर रचना बनाता है। यह स्वत: तथा सहज क्रिया होती है—एक प्रकार का उफान होता है। कलाकार स्वयं इस आवेग को नहीं समझा सकता। उसे यह एक प्रकार की प्रेरणा प्रतीत होती है।

सामाजिक अनुनाद का सिद्धान्त

किन्तु कला गहन संवेगों की अभिव्यक्ति से भी कुछ अधिक है। उसमें एक सामाजिकता का तत्त्व है जो उसका एक महत्त्वतूर्ण अंग है। कला मूलत: सामाजिक है। कला की अंत:प्रेरणा के विवरण की तलाश के लिए हमें मनो-वैज्ञानिक तथा समाजशास्त्री दोनों की ओर देखना चाहिए। एक कुशल कलाकार अपने गहन संवेग अथवा महान् विचार अथवा नवीन दृष्टिकोण के साथ

केवल अपनी मानसिक स्थिति की पर्याप्त अभिव्यक्ति करने की ही इच्छा नहीं रखता, अपितु वह अपने साथियों की सहानुभूति का अनुभव तथा उसकी अभिव्यक्ति की भी माँग करता है।

सहानुभूति के घनिष्ठतम सूत्र समूह के सदस्यों को बाँधते हैं। प्रत्येक एक दूसरे के सुख-दुःख में भागीदार होता है, और प्रत्येक अपने नवीन आनन्द में दूसरे को भागीदार बनाना चाहता है—जितने अधिक हो सकें उतनों को बच्चा, प्रायः जैसे ही बोलने योग्य होता है वह चिल्लाता है, "ओ, माँ, आओ, देखो।" जिस किसी सुन्दर वस्तु को हम पाते हैं उसमें अपने मित्र को भागीदार बनाने के लिए हम उसके पास दौड़ते हैं। यदि मित्र मौजूद न हो तो हम किसी अपरिचित को भी किसी शानदार सूर्यास्त अथवा अच्छे पहाड़ी दृश्य को देखने के लिए भागीदार बना सकते हैं।

अतः हम यह सोच सकते हैं कि कलाकार किसी पूर्ण रूप से विजय प्राप्त करने वाले संवेग की अभिव्यक्ति अथवा वास्तव में पराजित करने वाले विचार से प्रेरित होकर अभिव्यंजना कुछ इस ढंग से करता है कि वह इस नवीन उपलब्धि में अपने साथियों की सहानुभूतिपूर्ण हिस्सेदारी से सामाजिक अनुनाद प्राप्त कर सके। इस तरह कला की अंतःप्रेरणा को "सामाजिक अनुनाद की खोज"[1] भी कहा गया है, और यह सिद्धान्त केवल संगीतकार, कवि, चित्रकार तथा शिल्पकार तक ही नहीं, अपितु प्राचीन पाषाण काल के मनुष्य द्वारा अपनी कन्दरा की दीवालों पर जंगली बैल के चित्र बनाने अथवा अपने नगाड़े को बुरी तरह पीटने पर भी लागू किया जा सकता है।

किन्तु यह बात उससे अधिक है जिसकी कलाकार अपने साथियों से इच्छा करता है अथवा जो उनसे उसे प्राप्त होता है। यह तो उसकी भावनाओं, मनोभावों, तथा सृजनात्मक क्रियाओं का यथार्थ भागीदार होना है। समाज के सदस्यों की आपसी एकता उससे कहीं अधिक गहन है जिसे हमने पहले सहानुभूति की चर्चा करते समय सोचा था। सहानुभूति का मनोविज्ञान तथा उसका गठन अब ज्यादा अच्छी तरह से समझा गया है। सहानुभूति व्यापक होकर वास्तविक शारीरिक गतिविधियों तक आ जाती है, और जब बाह्य गतियों को रुक जाना चाहिए, तब वह बढ़कर आरम्भिक गतिविधियों—मांसपेशीय स्नायु शक्ति अथवा प्रेरक-प्रतिमाओं तक पहुँच जाती है। जब हम अन्य लोगों को नृत्य करते देखते हैं तब हम भी नृत्य करना चाहते हैं, किन्तु यदि हम अपने पूरे शरीर से नृत्य नहीं कर पाते हैं, तो हम कुछ अंगों से ही नृत्य करने लगते हैं और अपने पैरों तथा भुजाओं में जैसे-जैसे हम नृत्य देखते हैं, वैसे-वैसे सहानुभूतिपूर्ण तनाव व कम्पन

1. उत्कृष्ट विवरण के लिए देखिए: Hirn's *Origins of Art*, विशेषकर अध्याय 6, 7 और 8।

का अनुभव करते हैं। हिरेन उस घटना का स्मरण दिलाता है जिसमें व्यवधान डालने के अपराध में नर्तक न्यायालय में हाज़िर किए गए थे और जिनसे संदिग्ध नृत्य प्रदर्शन करने को कहा जाने पर उन्होंने न्यायाधीश तथा अभिनिर्णायकों को भी नृत्य करने के लिए लालायित कर दिया, जिससे समस्त बैठक एक नृत्यशाला में परिवर्तित हो गई। कला के रूपों के अधिकांश आनन्द का कारण अब, धुँधला, आरम्भिक तथा संभवत: उपचेतन गतिविधियाँ—संभवत: आँख, बाहु अथवा सुषुम्ना की मांशपेशियाँ माना जाने लगा है। मैं इस "आन्तरिक अनुकरण" का उल्लेख नीचे फिर करूँगा। इस सामाजिक विस्तार से उसके संवेगों के बढ़ जाने के कारण ही कलाकार को अपने साथियों से वास्तविक सहानुभूतिपूर्ण प्रतिक्रिया प्राप्त होती है, और इस सामाजिक विस्तार से ही उसके अपने संवेग में वृद्धि होती है।

इस तरह, कला की प्रेरणा एक प्रकार से व्यक्तित्व का विस्तार अथवा उसकी व्यापकता है। हम अपने व्यक्तित्वों को छड़ी, ऊँची एड़ी वाले जूतों, अथवा ऊँची टोपी, फर अथवा कलगी से व्यापक बनाना पसन्द करते हैं, किन्तु जिस कलाकार की बात हम यहाँ कर रहे हैं वह इससे भिन्न है। यह एक सामाजिक विस्तार है, अन्य व्यक्तियों द्वारा हमारे साथ सोचने और अनुभव करने की सहज आवश्यकता है, और कलाकार का क्षेत्र केवल उसके मित्रों अथवा नगरवासियों तक ही सीमित नहीं होता, अपितु उसका विस्तार समस्त विश्व तथा उसकी भावी पीढ़ी तक होता है।

कला और नैतिकता

मैं समझता हूँ कि **सामाजिक अनुनाद** का सिद्धान्त सौन्दर्यशास्त्र तथा नीतिशास्त्र के सम्बन्ध के विषय में पुरानी कठिनाई को स्पष्ट कर सकता है। क्या कला-कृतियों में नैतिकता का पाठ होता है ? क्या कलाकार किसी निर्देशन द्वारा ऊँचे उठाने का उद्देश्य रखता है ? क्या कविता किसी पाठ सिखाने के लिए लिखी जाती है ? उदाहरण के लिए ल्यूक्रीटियस की गणना रोम के महान् कवियों में है। उसकी **डि रेरम नेचुरा** भौतिकवादी दर्शन को स्थापित करने के लिए तथा मानव-मस्तिष्क को भय से मुक्त करने के उद्देश्य से यदि जानबूझ कर नहीं तो विशेष रूप से तो अवश्य लिखी गई है।

मैं समझता हूँ कि हमें यह उत्तर देना चाहिए कि, कला और आचरण का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है, वास्तविक कला का कोई आधारभूत नैतिक उद्देश्य नहीं हो सकता, उसका उद्देश्य होता है प्रसन्न करना, न कि आदेश देना। गेटे ने कहा है कि कला में नैतिक उद्देश्यों की आवश्यकता का अर्थ है उसका विनाश करना, यद्यपि किसी भी सच्ची कला के परिणाम नैतिक होते हैं। कलाकार उपदेशक अथवा शिक्षक कभी भी नहीं होता—वह तो मात्र मनोहर होता है। उसके

पास एक दिव्य विचार, एक गहन संवेग होता है, उसकी एकमात्र इच्छा होती है हमें और आपको हिस्सेदार बनाने की। शिक्षक और विद्यार्थी का सम्बन्ध कम होता है, कलाकार का प्रयोजन उच्चतर होता है। अतः इससे यह मालूम होता है कि कला का एक महान् नैतिक प्रभाव है, यह हमारे आध्यात्मिक आदर्शों की अभिव्यक्ति है, तथा शुभ के लिए कलाकार की शक्ति की कोई सीमा नहीं होती। अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में यूनान की कला स्पष्टतः नैतिक थी। उसमें एक महान् सीख थी किन्तु वह एक सीख के रूप में कभी नहीं रही। वह सामंजस्य, धैर्य, साहस तथा न्याय सामने लाई; किन्तु इन्हें सिखाया नहीं।

कला तथा सामाजिक नैतिकता

इस प्रकार कला एक महान् सामंजस्य कारक, शान्त करने वाला, तथा कष्ट निवारण करने वाला कारक है। यह सामाजिक तनाव को दूर करती है तथा शान्ति और सद्भाव को बनाने में सहायक होती है। कला-कृतियाँ इच्छा की वस्तुएँ नहीं होतीं। हम अपने सौन्दर्य सम्बन्धी आनन्द में अन्य लोगों को साझी-दार बनाना पसंद करते हैं, ताकि मकानों, ज़मीनों तथा अन्य भौतिक वस्तुओं में हमेशा चली आ रही मेरी और तेरी की भावना इस सौन्दर्य के आनन्द के समय में दूर रहे और जीवन एक उच्चतर स्तर पर उठ जाए। हमारे ऊपर व्यक्तियों के रूप में संगीत का शान्तिदायक प्रभाव तो सर्वविदित है ही, किन्तु यह सामाजिक सामंजस्य के साथ आत्मिक सामंजस्य की भी उत्पत्ति करता है।

इस तरह हम कला के सामाजिक महत्त्व को भी समझ सकते हैं। आदिम मनुष्यों के आरम्भिक काल से ही यह समाजीकरण करने का एक साधन रही है, जो व्यक्तियों को मिलाकर उन्हें सामाजिक सहानुभूति के सूत्र में बाँधती रही है। इसने सामाजिक नैतिकता को न मालूम कितना बल प्रदान किया है। दुर्भाग्यवश कला का समाजीकरण करने वाला तथा नैतिकता देने वाला प्रभाव इतना क्षीण कभी नहीं रहा, जितना वह आज है, किन्तु सम्भवतः यह कलात्मक उत्पत्ति की कमी के कारण नहीं; अपितु अपेक्षाकृत मनुष्यों की अन्य क्रियाओं की तुलना में इसमें कम रुचि होने के कारण है। अन्य कालों में जैसा कला का प्रभाव रहा है वैसा मनुष्यों के वास्तविक नैतिक जीवन को वह अब नहीं छूता।[1]

---

1. इस विषय में मेरे दिमाग़ में ललित कलाओं की एक स्वीकृत सूची है। यदि हम ऐसा कह सकें, तो कला के कुछ प्रकार हैं जिन्हें आजकल व्यापक रूप से प्रयोग में लाया जा रहा है। इनका नैतिक तथा सामाजिक दोनों ही तरह का प्रभाव अधिकतम सीमा तक है, उदाहरण के लिए प्रचलित संगीत, आधुनिक नृत्य तथा चलचित्र। इन प्रायः निचले स्तर की कलाओं के सामाजिक प्रभाव के विषय में मैं यहाँ नहीं कहूँगा, किन्तु इनका सामाजिक प्रभाव निश्चय ही बहुत अधिक है। आधुनिक मोटर कार में बहुत सीमा तक सुन्दरता तथा कार्य-कुशलता रहती है, इसके साथ ही इसमें अज्ञात शक्तियों से मेल-मिलाप करने का भी महत्त्व रहता है और

कला की अंतःप्रेरणा में खेल की भावना

अनेक लेखकों के अनुसार, विशेषकर कवि शिलर तथा दार्शनिक हर्बर्ट स्पेंसर के अनुसार, कलाकार की सृजनात्मक अंतःप्रेरणा बच्चों की खेल की सहज क्रिया के समान होती है जो स्वतंत्र तथा स्वतःचालित होती है। उसका कोई सीधा सम्बन्ध जीवन को चलाने के उद्देश्य से नहीं होता। हम कार्य करते हैं क्योंकि जो हमें चाहिए उसके लिए हमारा कार्य करना आवश्यक है—जैसे भोजन, मकान तथा वस्त्र। हम क्रीड़ा करते हैं, मात्र इसलिए कि हम क्रीड़ा करना चाहते हैं। हमारी शक्ति का आधिक्य किसी प्रकार के विकास की आवश्यकता होती है। कला के साथ ऐसा ही है, जो हमारी दैनिक आवश्यकताओं से परे की क्रियाओं में जाकर हमारी सृजनात्मक शक्तियों को अभिव्यक्त करने का सरल मार्ग है। यही बात डॉक्टर एडमेन के ललित कला के उद्‌गम के विवरण में रुचिकर ढंग से कही गई है:

> अपने पर्यावरण के साथ मनुष्यों के संघर्ष में केवल वे ही मूल-प्रवृत्तियाँ जीवित रह सकीं जो व्यावहारिक उपयोग की थीं। मनुष्य को अपने जन्म के समय जो प्राकृतिक आवेग प्रदान होते हैं, वे ही उसे अपने पर्यावरण में सफलतापूर्वक तथा कुशलता से सामंजस्य बनाने में मुख्यतः सहायक होते हैं। किन्तु अपने आदि काल में भी मानव की शक्ति इतनी परिपूर्ण तथा लचकदार थी कि वह आवश्यक परिश्रम के पश्चात् भी समाप्त नहीं होती थी। उदाहरण के लिए मूर्ति कला बर्तन बनाने तथा जुलाहे के व्यावहारिक धंधे से आरम्भ हुई है। वे बर्तन बनाने वाले और जुलाहे, जिन्होंने विशेष योग्यता प्राप्त की है और जिनके पास केवल उपयोगी वस्तु तैयार करने के अलावा भी कुछ और शक्ति होती है, कुछ ऐसी चीजें तैयार करते हैं जो साथ ही सुन्दर भी होती हैं। आदि काल के बर्तनों में जो सजावट बनाई जाती है वह बुद्धिमत्ता की अत्यधिक योग्यता तथा क्षमता प्रदर्शित करती है। इसी प्रकार धार्मिक रीति-रिवाज, जिन्हें हमने देवताओं के साथ व्यावहारिक सम्पर्क से उत्पन्न होते देखा है, स्वयं अपने आपमें इच्छित तथा सुन्दर होते हैं। वे मंत्र जो देवता को प्रसन्न करने के लिए स्थिर किए गए हैं, वे श्रवण करने वाले के लिए भी उतने ही रुचिकर होते हैं जितने वे गायन करने वाले के लिए होते हैं, नृत्य मात्र एक धार्मिक रूप न होकर सौन्दर्य तथा आनन्द प्राप्त करने का अवसर बन जाता है...। आदिमकालीय

वार्तालाप की एक सार्वभौम विषयवस्तु तथा सामाजिक आदान-प्रदान का साधन रहती है। एक सुसंस्कृत पाठक को आघात पहुँचाने का खतरा लेकर मैं कुछ ऐसे पैट्रोल पम्पों आदि के भी कलात्मक प्रभाव का उल्लेख कर सकता हूँ, जिन्होंने देश भर के प्रत्येक गाँव या शहर में पुरानी [illegible] इमारतों का स्थान ले लिया है।

जीवन में हम बार-बार देखते हैं कि कृषि, शिकार तथा हस्तकौशल अथवा देवत्व के साथ तीव्र सम्पर्क में भी उसकी शक्ति समाप्त नहीं हो जाती। अन्न काटने का समय त्यौहार बन जाता है, बर्तन बनाना सजावट का तथा प्रर्थना करना कविता का अवसर बन जाता है। आदिम जीवन में भी मनुष्य ने अपने अनुभव में कल्पना को आन्तरिक रूप से मनोहर कथाओं में इधर-उधर घूमने का अवसर दिया है।[1]

कल्पना सर्वोपरि है

अंत में कलाकार के कल्पनाशील कार्य में ही मनुष्य के मन की सृजनात्मक शक्ति अपनी पूर्णता प्राप्त करती है। पिछले अध्याय में हमने उस रचनात्मक कारक की तुलना की है जो कलाकार के लिए "कल्पना के कभी समाप्त न होने वाले स्रोतों" के साथ विकास में कार्यगत होता है। यह कारक, और चाहे जो भी हो, मानव का मन, इसकी उच्चतम उपलब्धि है—उच्चतम उपलब्धि इसलिए है कि मन स्वयं उच्चतर मूल्यों की रचना करने वाला है, और उसकी यह शक्ति अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में ललित कलाओं में देखी जा सकती है जहाँ प्रकृति की सुन्दरता भी पराजित हो जाती है। नैतिक मूल्यों के अध्ययन में, हमने यह देखा है कि **विवेकपूर्ण विचार** नामक अद्‌भुत शक्ति कैसे आचरण के निरंतर उच्चतर मानकों की खोज करती रहती है। किन्तु चिंतन के इन समस्त कार्यों में, तथा वैज्ञानिक खोजों और यांत्रिक अन्वेषणों में कल्पना एक क्रियाशील कारक होती है। इसे हम कभी-कभी अन्तर्दृष्टि अथवा काल्पनिक मानचित्र भी कहते हैं इसे हम चाहे जो कहें कलाकार की कृति में कल्पना सर्वोपरि है।

मैंने कला की भावना के विषय में कुछ इस प्रकार कहा है जैसे वह केवल कलाकार की ही सम्पत्ति हो। किन्तु कला की भावना तथा चिंतन और कल्पना की सृजनात्मक शक्ति, दोनों ही बातें सभी व्यक्तियों के लिए सामान्य हैं, और उनमें भेद केवल अंशों का होता है। हममें से अधिकांश लोगों ने किसी न किसी समय कविता करने, अथवा मिट्टी को रूप देने अथवा कलात्मक रचना करने, चित्र बनाने अथवा चित्रकारी करने के प्रयत्न किये हैं, जब कि सृजनात्मक कल्पना, दिवा-स्वप्नों, कहानी कहने अथवा काल्पनिक कथाओं को लिखने में भी इसकी अभिव्यक्ति होती है। ये शक्तियाँ, जो सभी लोगों में सामान्य हैं बहुत विकसित हो जाती हैं और उच्चस्तरीय तकनीकी योग्यता से युक्त होती हैं तो हमारे पास **प्रतिभा** आ जाती है, और तब महान् कवि, चित्रकार, मूर्तिकार, शिल्पकार, अथवा संगीतकार उत्पन्न होते हैं।

1. Irwin Edman, *Human Traits and Their Social Significance* (Houghton Mifflin Company), pp. 333, 334.

II. सौन्दर्य के सिद्धान्त

कला-दर्शक के दृष्टिकोण से

अभी हमने यह देखने का प्रयत्न किया कि सुन्दर वस्तु की रचना करने वाले कलाकार के दृष्टिकोण से कला क्या है। अब हमें इस बात की जाँच करनी चाहिए कि देखने वाले के दृष्टिकोण से यह क्या है। सौन्दर्यपरक अनुभव क्या वस्तु है ? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि यह वह अनुभव है जो हमें प्रकृति अथवा कला में, किसी भी प्रकार की सुन्दरता का ध्यान करने में प्राप्त होता है। अत: अन्तिम प्रश्न यह उठता है कि सुन्दरता क्या है ?—और सौन्दर्य की समस्या का यही अंग ऐसा है जिसकी बहुत चर्चा की गई है और जिसने विभिन्न उत्तरों के लिए रास्ता दिखाया है। हम जानते हैं कि सुन्दरता क्या है, किन्तु तभी तक जब तक हमसे पूछा नहीं जाता। पूछने पर तो हम नहीं जानते।

हमारे आधुनिक सिद्धान्तों की तुलना में, जो मनोवैज्ञानिक होते हैं, सौन्दर्य के प्राचीन सिद्धान्त तत्त्वमीमांसीय हैं। तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों ने सुन्दरता को कुछ वास्तविकता तथा विषयनिष्ठ—सम्भवत: एक प्रकार का तत्त्व, सत्ता अथवा कम से कम वस्तुओं का विषयनिष्ठ पक्ष अथवा गुण माना है। प्राचीन यूनान-वासियों ने सुन्दरता को दर्शक के मन में स्थित एक भावना मात्र मानने पर विचार नहीं किया।

ऐतिहासिक

ऐसा प्रतीत होता है कि प्लेटो अपने कुछ संवादों में सुन्दरता को एक विशेष तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त मानता है। जैसे वह स्वयं ही कोई सत्ता हो, एक प्रकार का शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील तत्त्व अथवा ''रूप'' हो, जिसमें कोई भी सुन्दर वस्तु इसकी तात्त्विक सुन्दरता में भाग लेती हुई कही जाती है। अन्य स्थलों पर जब वह सामंजस्य, अनुपात तथा सममिति को सुन्दरता के बनाने वाले तत्त्व कहता है तब भी वह उन्हें तत्त्वमीमांसीय रूप से वस्तुओं के विषयनिष्ठ गुणों के रूप में ही मानता है।

> जो इस मामले में ठीक तौर से बढ़ता है उसे युवावस्था में ही सुन्दर रूपों के पास जाना आरम्भ कर देना चाहिए, और यदि उसे अपने निर्देशक से ठीक-ठीक मार्ग मिल सके तो पहले उसे ऐसे किसी एक रूप से ही प्रेम करना चाहिए—फिर उसमें से उसे सुन्दर विचारों की रचना करनी चाहिए। तब वह स्वयं शीघ्र ही देखेगा कि एक रूप की सुन्दरता दूसरे रूप की सुन्दरता के ही समान है; फिर यदि सामान्यत: रूप की सुन्दरता को खोजना ही उसका ध्येय है तो यह समझ सकना कि प्रत्येक रूप में वही सुन्दरता होती है उसकी कितनी बड़ी मूर्खता होगी। जब वह इसे देखेगा तो वह अपने एक के प्रति तीव्र प्रेम को कम कर देगा जिसे वह तुच्छ

समझेगा और उसे छोटी चीज मानेगा और समस्त सुन्दर रूपों का प्रेमी बन जाएगा। दूसरे चरण में वह यह समझेगा कि बाह्य रूप की सुन्दरता की अपेक्षा मन की सुन्दरता का मान अधिक है। इसलिए यदि सद्गुणी आत्मा में कुछ सुन्दरता हो, तो वह उसे प्यार करने और उसकी रक्षा करने में संतुष्ट होगा। वह ऐसे विचारों की खोज करेगा और जन्म देगा जो तब तक युवकों में सुधार कर सकें, जब तक कि वे संस्थाओं तथा नियमों की सुन्दरता पर विचार नहीं कर लेते और उसे देख नहीं लेते और यह नहीं समझ लेते कि उन समस्त चीज़ों में विद्यमान सौन्दर्य का एक ही परिवार है, और व्यक्तिगत सुन्दरता क्षणिक होती है। फिर नियमों तथा संस्थाओं के पश्चात् वह विज्ञानों की ओर मुड़ेगा ताकि वह उनकी सुन्दरता देख सके। किसी युवक मनुष्य अथवा संस्था की सुन्दरता के साथ प्रेम में एक नौकर की भाँति नहीं, जिसमें वह स्वयं दास, नीच तथा संकुचित बुद्धि वाला हो, अपितु सुन्दरता के सागर की ओर आगे बढ़ते हुए तथा विचार करते हुए वह अनेक सुन्दर तथा शुभ विचारों और संप्रत्ययों का सृजन करेगा जो बुद्धि-मत्ता के असीम प्रेम से ओतप्रोत होंगे। उस सागर के तट पर ऐसा तब तक होगा जब तक वह विकसित होकर शक्तिशाली न बन जाए और उसे एक विज्ञान का दर्शन न हो जाए जो प्रत्येक स्थान पर सौन्दर्य का ही विज्ञान होता है...।

जिसे प्रेम की चीज़ों के आदेश प्राप्त हो चुके हैं, और जिसने सुन्दर वस्तु को अपने उचित क्रम में देखना सीख लिया है, वह जब अन्त की ओर बढ़ेगा तो अचानक ही आश्चर्यजनक सुन्दरता के स्वभाव का प्रत्यक्ष करेगा। यह ऐसा स्वभाव है जो चिरस्थायी है—न बढ़ता है और न घटता है, न लालसा करने वाला है, न क्षय होने वाला है ...किन्तु निरपेक्ष, विलग, सरल तथा शाश्वत सुन्दरता है, जो बिना किसी ह्रास, बुद्धि, अथवा परिवर्तन के सभी वस्तुओं का निरन्तर सभी वस्तुओं की विकसित होने वाली तथा नाश होने वाली सुन्दरता को प्रदान करने वाला है। वह जो इस वास्तविक प्रेम के प्रभाव से, इस क्रमिक उतार में उस सुन्दरता को देखना आरम्भ कर देता है, वह अपने लक्ष्य से दूर नहीं है। और चलने का वास्तविक क्रम अथवा प्रेम की वस्तुओं की ओर जाने के लिए सांसारिक सुन्दरता से आरम्भ करके ऊपर अन्य प्रकार की सुन्दरता के लिए चलना चाहिए और उसे प्रथम सोपान मानना चाहिए। फिर एक से दूसरे पर, दूसरे से समस्त सुन्दर रूपों पर, सुन्दर रूपों से परम्पराओं पर, सुन्दर परम्पराओं से सुन्दर अवधारणाओं पर, और जब तक सुन्दर अवधारणाओं से वह निरपेक्ष सुन्दरता की अवधारणा पर नहीं आ जाता और कम से कम यह नहीं जान लेता कि सुन्दरता का तत्त्व क्या है, तब तक चलता ही जाता है। मेन्टीनिया के एक आगन्तुक ने कहा,

"मेरे प्यारे सॉक्रेटीज़ यह जीवन उन समस्त जीवनों से ऊँचा है, इसे निरपेक्ष सुन्दरता के ध्यान में व्यतीत किया जाना चाहिए—दैवी सुन्दरता, अर्थात् मेरा तात्पर्य है, शुद्ध स्पष्ट तथा अभिव्यक्त सुन्दरता, जो विनाश की गन्दगी से तथा मानव-जीवन के समस्त रंगों तथा आडम्बरों से मुक्त हो—जो सरल, और वास्तविक दैवी सुन्दरता के प्रति उन्मुख हो।" विचार करो कैसे केवल उस तादात्म्य में ही वह मन के नेत्रों से सौन्दर्य को निहारता हुआ, सुन्दरता की प्रतिमाएँ नहीं वरन् वास्तविकताओं को समक्ष प्रस्तुत करेगा (क्योंकि उसने प्रतिमा नहीं वास्तविकता को पकड़ लिया है) और यदि नश्वर मनुष्य अमर हो सके तो अमर होने के लिए, ईश्वर से मित्रता के लिए वास्तविक सद्गुणों का पालन करने के लिए उन्हें सामने लाता है।[1]

इससे भी अधिक सुन्दरता का अध्यात्मवादी सिद्धान्त नव्य-प्लेटोवादी दार्शनिक प्लॉटिनस (205—70 ई०) ने माना था, जिसका यह विचार था कि दैवी प्रज्ञा की कान्ति ही सुन्दरता है। जब परम तत्त्व अपनी पूर्ण दैवी सत्ता में चमकता है अथवा अभिव्यक्त होता है, वही सुन्दरता होती है। कलाकार वह दर्शक होता है जो उस दैवी सौन्दर्य को देख सकता है।

हीगल का सिद्धान्त, अधिक नवीन तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण का एक उदाहरण है। सम्पूर्ण प्रकृति निरपेक्ष प्रत्यय की अभिव्यक्ति है। सौन्दर्य निरपेक्ष प्रत्यय है जो कुछ इन्द्रिय-जन्य माध्यम द्वारा प्रकाशित होता है। यह एक प्रकार का आत्म-प्रकाशन है। हीगल के लिए कला, धर्म एवं दर्शन, आत्मोन्नति के मार्ग में, उच्चतर स्तर हैं।

> जगत् का कला-निर्माण सुन्दरता में मानव जाति की अंतर्दृष्टि की गहनता बताता है, और विश्व के देशों ने इस प्रकार अपने गहनतम विचारों तथा संस्थाओं को इस प्रकार छोड़ रखा है। कला भौतिक प्रपंच को वह वास्तविकता प्रदान करती है जो मन में उत्पन्न होती है। और कला के माध्यम से वे बाह्य आडम्बर नहीं अपितु उच्चतर सत्ताएँ बन जाती हैं। और इस प्रकार मानो कला अपने कड़े छिलके को तोड़ देती है और हमारे लिए उसकी गिरी प्रस्तुत कर देती है।[2]

शॉपेनहावर का सौंदर्य का सिद्धान्त जो तत्त्वमीमांसीय है, बहुत ध्यानाकर्षक है। निरपेक्ष संकल्प, जो एक सत्ता है, स्वयं को प्लेटोवादी प्रत्ययों में अथवा जैसा हम कहते हैं—प्रत्यय प्रकार, उपजाति अथवा जाति में अप्रत्यक्ष रूप से एक-एक वस्तु में विषयनिष्ठ करता है। जो भी वस्तु अपने प्रकार के समीप होती है अथवा

---

1. Plato, *The Symposium.* जॉवेट द्वारा अनूदित (Oxford University Press).

2. William Knight, *The Philosophy of the Beautiful,* part I, p. 71, हीगल पर चर्चा करते हुए।

उस अनुपात में सुन्दर होती है जिस अनुपात में वह उसे प्राप्त करती है। अपने विशुद्ध ध्यान के क्षणों में, जब हम समस्त इच्छाओं को छोड़ देते हैं और "जीवन की इच्छा" का बहिष्कार कर देते हैं तब हम इस आदर्श सौन्दर्य को देखने में समर्थ होते हैं। एक सामान्य व्यक्ति दो-तिहाई संकल्प और इच्छा और एक-तिहाई बुद्धि का हिस्सा होता है। कलाकार दो-तिहाई बुद्धि और एक-तिहाई संकल्प रखता है, इसलिए वह प्रपंच के पीछे बाहरी पर्दे से ढंकी हुई आदर्श सुन्दरता को देख सकने में समर्थ होता है। इसलिए वैज्ञानिक की अपेक्षा कलाकार वास्तविकता को जानता है। कलाकार "क्यों", "कब" और "कहाँ" पूछना बन्द कर देता है और केवल "क्या" को ही महत्त्व प्रदान करता है। वह कला निम्नतम होती है जो जड़-पदार्थ के बोझ से लदी होती है। यह भवन-निर्माण विद्या है। उसके पश्चात् वास्तुशिल्प-कला, फिर चित्रकारी तथा पद्य-रचना, और अंत में संगीत आता है, जो ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ है और जिसमें निरपेक्ष का तत्काल ही विषयीकारण होता है। रचनाकार जगत् की आन्तरिक प्रकृति का रहस्योद्घाटन करता है और गहनतम ज्ञान की अभिव्यक्ति ऐसी भाषा में करता है जिसे उसकी तर्क बुद्धि नहीं समझती।[1]

एक अन्य प्रकार का तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त रस्किन का है जिसका विश्वास था कि वस्तुओं की सुन्दरता कुछ गुणों में रहती है, जैसे एकता, शान्ति, एकरूपता, शुद्धता, तथा संशोधन आदि में, जिनमें दैवी गुणों की छाप होती है।

अभी हाल का एक विषयीनिष्ठवादी तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त इटली के दार्शनिक बैनेडिटो क्रोचे का है, जिसका कथन है कि सौन्दर्य भौतिक वस्तुओं में नहीं होता, वह पूर्णतः मानसिक होता है। सौन्दर्य का सृजन मानसिक क्रिया का सबसे प्राचीन तथा तात्त्विक रूप है। क्रोचे इसे "अभिव्यक्ति" कहता है; किन्तु इससे उसका तात्पर्य मानसिक संप्रत्ययों का बाह्य भौतिक स्वरूपों में रूपान्तर करना नहीं है। सौन्दर्यपरक क्रिया एक आध्यात्मिक कार्य है, जिसके द्वारा हम अपनी छापों को अंतःप्रज्ञा में परिवर्तित कर देते हैं। यही शुद्ध अंतःप्रज्ञा है।[2]

सौन्दर्यपरक जाँच को कान्ट ने एक बिल्कुल ही नवीन दिशा प्रदान की, जिसकी तीक्ष्ण बुद्धि अनेक दार्शनिक समस्याओं के हृदय तक पहुँची हुई प्रतीत होती है। कान्ट सौन्दर्यपरक सिद्धान्त के आधुनिक वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक अध्ययन का प्रतिनिधि है। अपनी तृतीय महान् कृति **दि क्रिटीक ऑफ़ जजमेन्ट** में कान्ट कहता है कि तर्क तथा संकल्प के भी परे मन का तीसरा संकाय होता है

---

1. Arthur Schopenhauer, *The World as Will and Idea*, vol. I, p. 336.

2. देखिए: Benedetto Croce, *Aesthetic*. डगलस आइन्सली द्वारा अनूदित। देखिए: H. Wildon Carr, *The Philosophy of Bendetto Croce*, chaps. III and IX.

भावना का। सौन्दर्यपरक भावना अथवा सौन्दर्य के सुख का एक विशेष लक्षण यह है कि वह **स्वार्थरहित** होता है। यह भेद इसे अन्य सभी प्रकार के ऐसे सुखों से अलग कर देता है जिनमें व्यक्तिगत अथवा महत्त्वपूर्ण हितों को लेकर इच्छा का तत्त्व रहता है। उदाहरण के लिए चीनी अनुकूल होती है, किन्तु वह सुन्दर नहीं होती। उसका आनन्द लेने के लिए हमें उसे पाना होता है। इसी प्रकार नैतिक कार्य सुन्दर नहीं होता, वह **शुभ** होता है। हम उसे स्वीकृति प्रदान करते हैं। इसलिए उसमें हमारी रुचि रहती है। दूसरी ओर सुन्दर सदा ही निस्वार्थ संतोष की वस्तु होती है जो समस्त इच्छाओं से अलग होती है। किन्तु यद्यपि सुन्दरता मानसिक है, तथापि वह विषयनिष्ठ भी है, क्योंकि वह हमेशा ही निर्णय की जाने वाली वस्तु रहती है; जिसमें हम कहते हैं, "यह बहुत सुन्दर है", और इस प्रकार सुन्दरता को मात्र (विषयी) व्यक्तिनिष्ठ रुचि की वस्तु न मानकर उसे वस्तुओं के गुण के रूप में मानते हैं।

कला का क्रीड़ा सिद्धान्त

कला भावना का अध्ययन करते हुए ऊपर हम देख चुके हैं कि कलाकार की सृजनात्मक क्रिया किस प्रकार क्रीड़ा के ही समान होती है। किन्तु क्रीड़ा का सिद्धान्त दर्शक के लिए भी उतनी ही कुशलता से लागू होता है और सौन्दर्यपरक सुख को समझने के लिए यह मूल्यवान् सहायक सिद्ध हुआ है। एक सुझाव जिसे कान्ट ने प्रस्तावित किया, कवि शिलर ने जिसका अनुसरण किया, और हर्बर्ट स्पेन्सर[1] ने जिसका विकास किया वह क्रीड़ा भावना सिद्धान्त अथवा जर्मन भाषा में **श्पीलट्रीब** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। **क्रीड़ा** शब्द मनुष्य की उन समस्त क्रियाओं के लिये प्रयुक्त हो सकता है जो स्वतन्त्र तथा स्वतःचालित हैं, जिन्हें केवल स्वयं अपने लिए किया जाता हो। उनमें रुचि स्वयं विकासशील होती है तथा उनका चालन किसी आन्तरिक अथवा बाह्य दबाव के कारण नहीं होता। इसके विपरीत शब्द **कार्य** उन समस्त क्रियाओं को सम्मिलित करता है जिनमें व्यक्ति अपने निरन्तर बनाए हुए ऐच्छिक ध्यान से उस क्रिया के अतिरिक्त किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए करता है। कार्य में मानसिक तनाव, प्रयत्न, दबाव तथा ध्यान निहित होता है। खेल स्वयं प्राणतत्त्व की स्वतःचालित अभिव्यक्ति होता है, इसलिए वह इन्हें सम्मिलित नहीं करता, अपितु वह उच्चतर का आनन्द देने वाला होता है। अब जबकि क्रीड़ा के समान क्रिया दृष्टि तथा श्रवण की दो उच्चतर इन्द्रियों को, उच्चतर मानसिक शक्तियों को तथा हमारे संवेगों को भी सम्मिलित करती है तब स्पेन्सर के कथनानुसार उस सौन्दर्यपरक सुख को प्राप्त करने के लिए उपयुक्त स्थिति बन जाती है जो अधिक शक्ति की बाढ़ से उत्पन्न

1. *Principles of Psychology*, vol. II, part IX, chap. IX.

होती है। "सौन्दर्यपरक उत्तेजना वह है जो कुछ विशेष संकायों से अपने अप्रत्यक्ष लाभों के अन्यथा स्वयं अपनी क्रियाओं से उत्पन्न होती है।"

इसलिए अपने अनेक रूपों में सुन्दरता का मनन करने में आँख, कान और मन क्रीड़ा करते हैं और यह सौन्दर्यपरक सुख होता है। एक उदाहरण यह है कि विविधता में एकता देखना मन की सर्वाधिक क्रियाओं में से एक है, जिसका उपयोग वास्तविक जीवन में नित्य ही होता है। जब यह क्रिया केवल उसमें प्रेम के कारण की जाती है और कोई गम्भीर उद्देश्य सामने नहीं होता, तो उसके साथ होने वाली प्रभावकारी ध्वनि सौन्दर्यपरक होती है। इस प्रकार विविधता में एकता कला के प्रत्येक कार्य में देखी जा सकती है, चाहे वह संगीत-रचना हो अथवा चित्रकारी, अथवा पद्य की कोई उत्कृष्ट कृति हो। हम सभी लोग विविधता में एकता, और विशेषकर उसका पता लगाना, पसन्द करते हैं। इससे हमें शान्ति, और संतोष प्राप्त होता है, और मन को किसी के कथनानुसार "घरेलू शान्ति" प्राप्त होती है। संगीत-रचना में वादी स्वर के पता लगने पर एक विशेष प्रकार का सुख मिलता है, जो पहले विविधता प्रतीत होती थी उसमें वह एकरूपता लाता है।

यह सुझाव दिया गया है कि प्राथमिक रंगों तथा ध्वनियों और रंगों के सामंजस्य का जो सुख हमें प्राप्त होता है उसे भी इसी तरह क्रीड़ा सिद्धान्त के द्वारा समझाया जा सकता है। हम लाल, नारंगी तथा पीले जैसे तेज़ रंगों का, सूर्यास्त, इन्द्रधनुष, लगाए हुए फूलों और वसन्त ऋतु के पत्तों तथा चित्रकारी, सजावट और वस्त्र आदि का भी आनन्द बहुत लेते हैं। हमारे नेत्र केवल उपयोग करने की ही दृष्टि से अपनी संवेदनशील शक्तियों के प्रयोग का आनन्द लेते हैं, और जैसा ग्रान्ट एलन का कथन है कि हम चारों ओर भूरे, हरे, नीले रास्तों, मैदानों तथा आकाश से घिरे हुए हैं, और जब भी हमें अवसर मिलता है अपनी आँखों को चमकीले रंगों का आनन्द देते रहते हैं। पुनः नृत्य में, जब सामंजस्य-पूर्ण तथा सन्तुलित अभ्यास अधिपोषित तथा अल्प-पोषित पेशियों को तथा शरीर के कार्यवाही केन्द्रों को अपेक्षित कसरत का अवसर प्रदान करता है, तो संगीत और लय सौन्दर्यपरक आनन्द में "आशान्वित वृद्धि" करते हैं।

शिलर और स्पेन्सर के समय से कला का क्रीड़ा सिद्धान्त सफलता के साथ अपनी आलोचना का सामना करता चला आ रहा है। हमें अब यह मालूम है कि क्रीड़ा अधिक तथा अविकसित शक्ति का उफान उतना नहीं है जितना कि वह उस शक्ति का बाहर निकलना है, जो स्वयं जीवन का द्योतक है। किन्तु स्पेन्सर के सिद्धान्त का यह पुनरीक्षण, जहाँ तक कला-निर्माण और सौन्दर्यपरक सुख का सम्बन्ध है इसे कमज़ोर करने की अपेक्षा शक्तिशाली ही बनाता है। कला कोई बच्चों का खेल अथवा खाली समय व्यतीत करने का कोई साधन नहीं है, और

न ही वह अपने दिन भर का कार्य समाप्त कर लेने के पश्चात् **बचे** हुए समय में करने वाली क्रिया है।

हमारे आधुनिक औद्योगिक समाज ने हमारे समग्र जीवन में कार्य के सापेक्ष महत्त्व को यहाँ तक व्यापक रूप दे दिया है कि कुछ समाज-सुधारकों ने इस असंगत सिद्धान्त का भी प्रतिपादन कर दिया है कि केवल औद्योगिक कर्मचारियों को ही नागरिकता का अधिकार होना चाहिए। बालक इसलिए नहीं खेलता कि "अधिक" शक्ति के विकसित होने की आवश्यकता है, वह इसलिए खेलता है कि वह बालक है, क्रीड़ा उसके लिए स्वतःप्रवृत्त क्रिया है।[1] इस तरह मनुष्य का स्वाभाविक जीवन बोझ के रूप में कार्य करना नहीं है, किन्तु कुछ इस प्रकार की स्वतःप्रवृत्त रचनात्मक क्रिया है जिसमें निश्चय ही वह किसी वस्तु का निर्माण करता है। वह किसी ऐसी उपयोगी वस्तु का निर्माण कर सकता है, जिसे हम कार्य कह सकते हैं, अथवा वह किसी सुन्दर वस्तु को भी बना सकता है, जिसे हम कला कहते हैं। यह बाद वाली बात कार्य के साथ वास्तविक जीवन का अंग है, किन्तु स्वतन्त्रता तथा स्वतःप्रवृत्ति में वह क्रीड़ा के ही समान है।

तदनुभूति

तदनुभूति शब्द उन सहानुभूतिपूर्ण कार्यवाही प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयोग किया जाता है, जिन्हें दर्शक सुन्दर वस्तुओं की उपस्थिति में धारण करता है। यह शब्द टिश्नर ने जर्मन भाषा के आइनफ्यूःलुन्ग (Einfuhlung) के लिए रखा है, और थ्योडर लिप्स ने जिसका प्रयोग किया है। थ्योडर लिप्स ने ही तदनुभूति सिद्धान्त को इस शताब्दी के आरम्भ में लिखकर प्रचलित किया। इस सिद्धान्त का स्पष्ट विवरण लैंगफेल्ड की पुस्तक **दि ऐस्थिटिक एटीट्यूड** में देखा जा सकता है। वह कहता है:

> जब हम गीत सुनते हैं तो लय की गति के साथ चलने की और उसी तान के साथ गले से स्वरों को दुहराने की हमारी प्रवृत्ति होती है। चुपचाप पढ़ते समय प्रायः ओठों के अथवा स्वरयन्त्र की पेशियों के साथ ही गति होती है। स्वयं एकता का कार्य, जो अनुभव के लिए मौलिक है, कार्यवाही की शब्दावली में चीजों को एक साथ रखने वाला समझा जाता है। यह आपत्ति उठाना ठीक ही होगा कि प्रत्यक्ष करने के अनेक दृष्टांतों में ऐसी गति की कोई चेतना नहीं होती और जैसा अभी कहा गया है कि नकल करने की मुखाकृति की प्रवृत्ति का भी लेशमात्र ज्ञान नहीं होता। इसका उत्तर यह है कि ये पेशीय विन्यास प्रायः उप-चेतन ही होते हैं। प्रत्यक्ष की

1. देखिए लेखक की पुस्तक: *Psychology of Relaxation* (Houghton Mifflin Company), chap. II, "The Psychology of Play."

हुई वस्तु चाहे वह आँख, कान अथवा किसी भी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष की गई हो, पहले की गतियों का इस प्रकार स्मरण कराती है कि उनकी पुनरावृत्ति तन्त्रिका प्रतिदर्श का रूप लेती है, उर्थात् अनिवार्य पेशियों की ओर जाने वाली तन्त्रिकाएँ खुल जाती हैं, और जो पेशियों के समूह के विपरीत होती हैं वे बन्द हो जाती हैं, और यह प्रतिदर्श जो वास्तविक गति को उत्पन्न करने के लिए अतिरिक्त उद्दीपन के लिए तत्पर रहता है, वह हमें स्थान का प्रत्यक्ष वचन, रूप, चिकनापन, कोमलता, तथा हमारे अन्य अनेक अनुभव का रूप देने में प्रर्याप्त है। इसके अनुसार किसी में भी मनोवैज्ञानिक की अपेक्षा शारीरिक शब्दों में गति को वताने की प्रवृत्ति अवश्य रहनी चाहिए।[1]

प्रायः कोई भी मनुष्य नाव खेते हुए, नर्तकों को कमरे में थिरकते हुए, अथवा किसी मोटर को कोने में फिसलते हुए सोचकर इन गति-प्रवृत्तियों के प्रति सचेत हो सकता है। जैसे ही आप इन गतियों के विषय में सोचते हैं, आप स्वयं इन बाहों, पैरों अथवा कमर में अपनी प्रवृत्ति को देख सकते हैं। किन्तु अब ये गति-प्रवृत्तियाँ केवल कल्पना में ही नहीं अपितु प्रत्यक्ष में भी स्वीकार कर ली गई हैं, और यह प्रत्यक्ष भी केवल नाचने वाले लोगों जैसी चीज़ों का नहीं, अपितु इमारतों. मूर्तियों, तथा चित्रकारी और संगीत का प्रत्यक्ष अब पहले से मान लिया गया है। सौन्दर्यपरक ध्यान में हम इन गतिविधियों से पूर्णतः अभिज्ञ रहते हैं जिससे कि वे हमारे लिए विषयीनिष्ठ घटनाएँ न होकर सुन्दर वस्तु के गुण बन जाते हैं। हम यह नहीं कह सकते कि वे वस्तु पर "आरोपित" किए जाते हैं, उनका तो मात्र अनुभव किया जाता है, ये वस्तु में होते हैं और उसे तुरन्त ही अपने पहले के अनुभवों के समृद्ध अर्थों से आलोकित कर देते हैं। वस्तुएँ इसलिए सुन्दर हो जाती हैं कि वे ऐसे अर्थों से अलंकृत होती हैं जो हमारे क्रियाशील जीवन से प्राप्त होते हैं, वस्तु को अनुप्राणित किया जाता है। उदाहरण के लिए, यूनानी मन्दिर का डारिक स्तम्भ अपनी सुन्दरता और अर्थ आंशिक रूप से हमारे अपने जीवन के अचेतन कार्यवाही तन्त्र से प्राप्त करता है, क्योंकि हमारी प्रवृत्ति पैरों को मज़बूती से जमाकर अधिक वज़न को उठा सकने की रहती है। ऐसा प्रतीत होता है कि अनुभव में सुख शक्तियों के सफल सन्तुलन में होता है और वस्तु में सुन्दरता का गुण माना जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि तदनुभूति का सिद्धान्त कला के दर्शन को समझने के लिए एक महत्त्वपूर्ण देन है। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कला के कार्य में ध्यान लगाने से ये गति-प्रवृत्तियाँ वास्तव में, उपस्थित होती हैं, और ये हमारी सुन्दर वस्तु को समझने तथा उसकी प्रशंसा करने में योग देती हैं। ये उसे विलक्षण

1. Herbert Sidney Langfeld, *The Aesthetic Attitude* (Harcourt, Brace and Company), pp. 110, 111.

जीवन तथा शक्ति प्रदान करती हैं। किन्तु केवल तदनुभूति सौन्दर्यपरक सुख के दर्शन की अपेक्षा केवल प्रशंसा का दर्शन प्रदान करती हुआ प्रतीत होती है। तदनुभूति अनुभव में सुख का स्रोत बहुत स्पष्ट नहीं होता।

तदनुभूति सिद्धान्त का एक ऐसा पहलू है, जो महत्त्वपूर्ण है। हमें याद है कि कला भावना का उल्लेख करते हुए हमने देखा कि कलाकार का मूल उद्देश्य मानव के साथ अपने अनुभव को बाँट कर उसे विस्तृत एवं गहन बनाना होता है। वह अपने संवेगों अथवा महान् विचारों के लिए सामाजिक प्रतिक्रिया की कामना करता है। यदि दर्शक तदनुभूति के साथ उन गतियों को देखता है जिन्हें कलाकार अपनी कला के निर्माण में लगाता है तो निश्चय ही यह उच्चतम रूप में प्राप्त हो जाती है। सहानुभूति इसकी अपेक्षा और अधिक आगे नहीं जा सकती। इस प्रकार तदनुभूति का सिद्धान्त कुछ अंशों तक उस विशेष तथा आवश्यक सामाजिक एकता की व्याख्या कर सकता है जिसकी वृद्धि करना समस्त कला का कर्त्तव्य होता है।

सामंजस्यपूर्ण कार्य में एकता तथा स्थिरता के तत्त्व पर ईथल डी० पफ़र ने अपनी प्रशंसनीय पुस्तक **दि सायकोलॉजी ऑफ़ ब्यूटी** में बहुत बल दिया है, ''सुन्दर वस्तु में वे गुण होते हैं, जो व्यक्तित्व को एकता तथा आत्मपूर्णता की एक अवस्था प्रदान करते हैं।'' वह कहती है:

> अपने सरलतम तथा सर्वाधिक ऐन्द्रिक रूप में सौन्दर्यपरक अनुभव ने हमें एक नियम प्रदान किया है—सामंजस्यपूर्ण कार्य करने में एकता का नियम। इस नियम ने हमें प्रत्ययों तथा नैतिक प्रवृत्तियों के जटिल क्षेत्र में सुन्दरता के मार्ग का अनुसरण करने के योग्य बनाया है। और यह पता लगाया है कि वहाँ भी आन्तरिक सम्बन्ध का नियम और अनुकरण करने की प्रतिक्रिया की उपयुक्तता सम्पूर्ण सौन्दर्य के मूर्त्तरूपों के लिए लागू होती है। यह सामंजस्यपूर्ण, अनुकरणायक अनुक्रिया, और सौन्दर्यपरक सुख के रूप में भावना के पक्ष में स्थित मनोभौतिक दशा को हमने देखा है कि प्रथम, एक प्रकार के शारीरिक सन्तुलन, ''विपरीत आवेगों का सह-अस्तित्व जो अस्तित्व के अर्थ को ऊपर करता है'', जबकि वह क्रिया में रुकावट डालता है, ज्यामिति की एकरूपता के समान ही जाति के आवेग की भाँति होता है; द्वितीय, एक मनोवैज्ञानिक साम्य जिसमें विचारों तथा आवेगों का प्रवाह अपने चारों ओर घूमता हुआ एक वृत्त के समान होता है और जिसमें समस्त साहचर्य भाव, संवेग, प्रमुख विचार से सम्बन्ध आकाक्षाएँ जो पुन: उसकी ओर संकेत करती हों, और अखण्ड क्रम में आगे बढ़ती हों, और जो अभी तक मानव के अनुभवों की सम्भावनाओं के साथ समायोजित हों; तृतीय, प्रदत्त नैतिक अभिवृत्ति की स्वीकृति में संकल्प सन्तुलन के लिए समस्त जीवन की योजना। इस प्रकार मानसिक जीवन के

इन तीन क्रमों के मेल में, एकता तथा आत्म-पूर्णता की पूरी गति प्रस्तुत की गई है।[1]

III. सौन्दर्यपरक अनुभव

मनोवैज्ञानिक पक्ष

यद्यपि, संभवतः हम अभी तक यह नहीं कह सकते कि सौन्दर्य के विज्ञान ने पुराने "सिद्धान्त" का स्थान ले लिया है तो भी मैं समझता हूँ कि हम उस प्रगति से पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त कर सकते हैं, जिसने सुन्दरता की "समस्या" कहलाने वाली अनेक पहेलियों का रहस्योद्घाटन कर दिया है। **सुन्दरता वस्तु के उन विशेष गुणों का नाम है जिनके द्वारा वे हमें सौन्दर्यपरक विशेष सुख प्रदान करते हैं।** ऐसे सुख पक्षपात-रहित, सार्वभौम, तथा स्थायी रूप से सुखदायी होते हैं, यहाँ तक कि स्मृति की पुनर्चेतना में भी ये सुखदायी रहते हैं।[2] सौन्दर्यपरक सुखों को सार्वभौम कहने से हमारा तात्पर्य इसके अन्यथा और कुछ नहीं है कि वे प्रत्यक्ष गोचर हैं और वे हमारी अपनी ही भावनाओं के अनुकूल नहीं, अपितु वस्तुओं के ऐसे गुण होते हैं जो हम सभी लोगों को सुख देते रहेंगे। सौन्दर्यपरक ध्यान में जीवात्मा स्वयं को भूल जाता है। सुन्दर वस्तु में एक प्रकार की सोख लेने की शक्ति होती है, एक प्रकार की पूर्ण एकता, स्वतन्त्रता तथा पूर्णता की भावना होती है।[3]

तो फिर स्थायी, सार्वभौम तथा पक्षपात-रहित सुख मनुष्य के मन में किन स्थितियों में उत्पन्न होते हैं। जैसा कि हमें स्मरण है सुख ऐसी प्रभावकारी ध्वनि है जो सामान्य तथा स्वस्थ मानसिक तथा शारीरिक प्रक्रियाओं के साथ होता है, जब जीवन अपने पूरे उभार पर रहता है, जब सब कुछ ठीक चलता रहता है और व्यक्ति की महत्त्वपूर्ण इच्छाएँ पूरी होती रहती हैं। पीछे एक अध्याय में जब हम मन का अध्ययन कर रहे थे तो हमने देखा था हमारे जीवन में गहन भावनाएँ, अथवा इच्छाएँ, **क्रियावृत्तियाँ**—और संभवतः जीवन का संकल्प ही प्राथमिक वस्तुएँ हैं। व्यक्ति अपने पूर्ण तथा स्वतन्त्र जीवन के संघर्ष में कभी-कभी अपने वातावरण को प्रतिकूल और कभी अनुकूल पाता है। अपने मित्रता-पूर्ण सम्पर्कों में प्रकृति ने सुख जैसी कुछ और वस्तु भी जोड़ ली है—जो एक नवीन तथा चमत्कारी मूल्य है।

---

1. Ethel D. Puffer, *The Psychology of Beauty* (Houghton Mifflin Company), pp. 285, 286.

2. तुलना कीजिए: Marshall's *Aesthetic Principles*, chaps. I and II.

3. *Jour. of Phil., Psych., and Sci. Meth.*, vol. VI, p. 233 में मान्टेग्यु के "The True, the Good, and the Beautiful from a Pragmatic Standpoint", शीर्षक लेख में स्पष्ट और संक्षिप्त विवरण देखिए।

अतः यह स्पष्ट है कि जिन स्थितियों में ये स्थायी, सार्वभौम तथा पक्षपात-रहित **सौन्दर्यपरक** सुख उत्पन्न होते हैं उनमें व्यक्ति तथा पर्यावरण के बीच पूर्ण सामंजस्य रहता है। तो फिर ऐसी हालत में व्यक्ति का अपने चारों ओर की स्थिति से पूर्ण **सामंजस्य** रहेगा। एकता तथा शान्ति की भावना रहेगी, और यह तभी होगा जब समस्त सांसारिक इच्छाएँ पूर्ण होंगी, और शुद्ध स्वतःप्रेरणा के क्षणों में जब व्यक्तित्व का कोई अंग कार्य में रत होगा और उसके सुख पूर्णतः पक्षपात-रहित होंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुन्दरता कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो वस्तुओं का प्रत्यक्ष करने वाले व्यक्ति से भिन्न स्वयं अपने आपमें कुछ हो; यह कोई ऐसी चीज़ भी नहीं है जो केवल व्यक्ति के पास होती हो, यह प्रत्यक्ष की जाने वाली वस्तु के प्रत्यक्ष करने वाले जीव के साथ सम्बन्ध पर आधारित होती है। यह सम्बन्ध कुछ इस प्रकार का होता है जो व्यष्टिनिष्ठ अभिप्रायों से मुक्त परि-स्थितियों में मन तथा शरीर के सामंजस्यपूर्ण तथा शान्तिपूर्ण कार्य करने में योग देता है। इसे हम सामंजस्य तथा अभियोजन की विशेषताओं से आभूषित कर सकते हैं। केलन कहता है:

> वस्तु जब देखी जाती है तो वह स्वयं अपने साथ सीधी तथा सामंजस्य-पूर्ण ढंग से समस्त जीव की क्रियात्मक कार्य-कुशलता को जागृत कर देती है, उसे चारों ओर के वातावरण से विलग कर देती है, उस जगत् को कुछ समय के लिए बाहर से बन्द कर देती है और एक ऐसी पूर्ण, सामंजस्यपूर्ण एवं पर्याप्त व्यवस्था बनाती है, जो इस बात में अनूठी और विलक्षण होती है कि फिर कार्य से आगे वस्तु के साथ अभियोजन करने का अवसर नहीं रहता। संघर्ष तथा भिन्नता समाप्ति पर होती है और जो भी क्रिया अब चलती रहती है वह स्वयं संचय करने वाली, स्वतःचालित तथा स्वतन्त्र होती है। पुनः समायोजन की आवश्यकता का लोप हो चुका है और इसके साथ ही तनाव, बाधा तथा प्रतिरोध की भावनाओं का भी लोप हो चुका है, जो इसके चिह्नों के रूप में रहते हैं। वस्तु से अन्यथा और कुछ नहीं होता, और वह पूर्णतः संतोष को अपनाए हुए होता है, जैसे वह सदा के लिए हो। एक शब्द में कला ऐसा पर्यावरण प्रदान करती है, जिसमें से संघर्ष, परायापन, बाधा तथा मृत्यु समाप्त कर दी गई होती है। वह पर्यावरण में एकता, आध्यात्मिकता तथा शाश्वतता को लाती है, वह आत्मा के जीवन की वृद्धि करती है, और उसे स्वतन्त्र बनाती है। कला जिस पर्यावरण का सफलतापूर्वक सृजन करती है, मन उसमें सामंजस्यपूर्ण ढंग से तथा पूरी तौर से आरम्भिक प्रत्यक्ष में अपने को अभियोजित पाता है।

कला जगत् में मूल्य तथा अस्तित्व एक ही हैं।[1]

चलिए हम देखें कि क्या ये सिद्धान्त यथार्थ में कलाकार की कृतियों पर भी लागू किए जा सकते हैं अथवा नहीं। हमें मालूम है कि कलाकार का उद्देश्य प्रसन्न करके आकर्षित करना होता है। अपने सरलतम रूप में यह संभवतः किसी यान्त्रिक कला के नित्य अभ्यास के द्वारा विकसित करने की भावना के अतिरिक्त, संभवतः टोकरी बनाने, मिट्टी के बर्तन और धनुष-बाण बनाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसमें कारीगर की शक्ति उसे केवल **आकर्षक** ही नहीं अपितु उपयोगी बनाने में भी लगी होती है। वह अपनी उत्पत्ति को **सँवारेगा** और ऐसा करने से ही वह कलाकार बन जाता है।

अब, कलाकार संभवतः मनोविज्ञान अथवा शरीर-विज्ञान को कम समझता है और शायद मनुष्य के सुख के स्रोतों के विषय में तर्क नहीं करता: सहजभाव से तथा इन्द्रियानुभव के आधार पर आगे बढ़ता है। किन्तु ऐसा होता है कि उसे मनुष्य के कार्यवाही तन्त्र का, ज्ञानेन्द्रियों की संरचना तथा कार्यवाही तथा मन की कार्य-प्रणाली का पूर्ण ज्ञान रहता हो, और वह यह जानता रहा हो कि कला के कार्य को किस प्रकार सँवारा जाए कि दर्शक में लीन होने की, त्याग और "दूरी" की भावना और समस्त जीवन में एकता तथा शान्ति की स्थिति, वह आत्म-संचय, स्वतःचालन तथा सामंजस्य का कार्य होने लगे जिससे सौन्दर्यपरक अनुभव का निर्माण होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह जानता है कि मनुष्य के मन और उसके कार्यवाही तन्त्रों के साथ किस प्रकार खेल किया जाए कि उन **सौन्दर्यपरक** कहलाने वाले स्थायी पक्षपात-हीन तथा सार्वभौम सुखों को उत्पन्न करे।

कलाकार ये सभी कार्य अन्तर्चेतना के द्वारा करता हुआ प्रतीत होता है। यदि उसका ज्ञान सहजक्रिया-मूलक नहीं होता तो कम से कम इन्द्रियानुभविक तो अवश्य होता है। पहले उसने यह पता लगा लिया होता है कि क्या वह निर्दिष्ट बात **चमकीले रंगों, विशुद्ध रंगों** अथवा **रंग-सामंजस्यों से, शुद्ध ध्वनियों, ध्वनि-सामंजस्यों,** तथा **ताल, लय और संगीत से** प्राप्त कर सकता है। लय की खोज के परिणामस्वरूप वह विशेष कर अधिक प्रसन्न होता है, क्योंकि नृत्य, संगीत तथा पद्य में वह एक ऐसा आकर्षण उत्पन्न करेगी जिसे कोई दबा नहीं सकेगा।

जैसे-जैसे वह कला के और व्यापक क्षेत्र में प्रवेश करता है वह पाता है कि **विभिन्नता में एकता, एकरूपता** तथा **सम्यक् अनुपात** सुख का निश्चित स्रोत है। वह पाएगा कि कुछ ऐसे रूप, रेखाएँ तथा मोड़ होते हैं जो सार्वभौम रूप से सुखप्रद होते हैं। वह देखेगा कि चित्रकारी तथा शिल्पकारी में प्रकृति में परिचित

1. Horace M. Kallen, "Value and Existence in Philosophy, Art, and Religion," in *Creative Intelligence* (Henry Holt and Company), p. 439.

वस्तुएं, विशेषकर जानवर और मनुष्य के रूप में तथा उनके चेहरे ऐसा सुख प्रदान करते हैं, जिन्हें वह खोजता है। कविता में वह सीखेगा कि उसके श्रोता किस प्रकार अपने जीवन के दृश्यों तथा घटनाओं के पाठ को सुनकर आकर्षित होते हैं—युद्ध और प्रेम तथा धंधे के जीवन को भी सुनकर जिनमें उनके आनन्द को बढ़ा-चढ़ा कर बताया गया होता है, और सभी दुःख भुलाए जाते हैं।

अन्त में वह देखेगा कि सबसे अधिक आनन्द प्राकृतिक सुन्दरता के दृश्यों तथा जानवरों और आदमियों के रूपों और मुखाकृतियों को बनाने में, प्रकृति की नक़ल करने में नहीं, अपितु एक ऐसे ''प्रतिनिधित्व'' में होता है, जिसमें दर्शक की कल्पना का एक हिस्सा होता है, अथवा जिसमें आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को एकत्रित किया जाता है, अथवा सम्भवतः जानबूझकर बढ़ाया जाता है। इस प्रकार कलाकार की प्रतिभा वास्तविक सूर्यास्त से भी अधिक सुन्दर सूर्यास्त चित्रपट पर बनाती है, अथवा किसी वास्तविक युवती के सुन्दर मुख से भी अधिक सुन्दर कुमारी मेरी की मुखाकृति बनाती है। अब इन सब बातों पर विचार करने के बाद मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक कुछ अंशों तक यह समझ सकने में समर्थ होता है कि विभिन्न रूपों में इस विशेष सुख को जगाने के क्या कारण हैं। इनमें से कुछ व्याख्याओं का संकेत इस अध्याय में किया गया है, कुछ अन्य का अभी भी पता लगना शेष है।

सारांश

संक्षिप्ततम रूप में, जो हमने सीखा है उसे सारांश रूप में बताते हुए हम कह सकते हैं कि कला एक सामाजिक घटना है जो कलाकार के मन की सृजनात्मक भावना से उत्पन्न होती है। यह ऐसी भावना होती है, जो किसी गहन संवेग अथवा महान् विचार को, जिसे वह अपने समुदाय के अन्य सदस्यों के साथ अथवा सभी मानवों के साथ बाँटना चाहता है, उसके सृजनात्मक रूप में अभिव्यक्ति पाने के लिए होती है। और सहज-प्रवृत्ति के रूप में ही वह अपने साथियों को साझीदार बनाने का साधन ढूंढ़ लेता है। वह सीधे ही उनके रंगों के प्रेम, सामंजस्यता के प्रेम, और उनके एकता तथा अनुपात के प्रेम को प्रभावित करता है। वह खेल की भावना को और प्रत्येक संकाय तथा प्रत्येक अंग की सामंजस्यपूर्ण क्रियाशीलता के आनन्द को प्रभावित करता है। वह उन गहन आवश्यकताओं को जिन्हें प्रत्येक मनुष्य शान्ति के क्षणों के लिए, निरन्तर चलने वाले संघर्ष से आराम पाने के लिए, अथवा संघर्षमय जीवन में पूर्ण अभियोजन के मध्यान्तर की आवश्यकता, जिसे वह ऐसा अभियोजन कर सके जो उसे संघर्ष कभी भी प्रदान नहीं कर सकता, को प्रभावित करता है। कलाकार दर्शक के पास एक उपहार लेकर आता है—सामंजस्य और शान्ति का उपहार और एक पूर्णता तथा एकता की भावना। ऐसा ही अनुभव **सौन्दर्यपरक अनुभव** होता है। **यह सौन्दर्यपरक**

सुख प्रदान करता है, जिसे हम बेहतर रूप में **सौन्दर्यपरक आनन्द** कह सकते हैं। और ध्यान करने वाली वस्तु को दर्शक एक गुण प्रदान करता है जिसे वह **सुन्दरता** कहता है। इसलिए कला की वे कृतियाँ जो इन भावों को उत्पन्न करती हैं, सुन्दर होती हैं। प्रकृति की चीज़ें भी इन सौन्दर्यपरक भावनाओं को उत्पन्न कर सकती हैं। तो क्या ऐसे मामले में हम कहेंगे कि प्रकृति कलाकार है जो कला-भावना की ही भाँति प्रेरित होकर सुन्दरता तथा प्रशंसा दोनों में आत्म-पूर्णता से प्रेरित होती है? क्या प्रकृति भी आत्म-अभिव्यक्ति करने का प्रयास करती है, और सुन्दर वस्तु का निर्माण करने तथा उसका आनन्द लेने के उद्देश्य से किसी महान् विचार अथवा भावना को अभिव्यक्त करने का निरन्तर प्रयास कर रही है? इस बाद वाले प्रश्न का उत्तर हम नहीं दे सकते, किन्तु सौन्दर्यपरक ध्यान में हम जानते हैं कि प्रकृति तथा मनुष्य में एक प्रकार की एकता तथा सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है।

यह हमारे सौन्दर्यपरक अनुभव के अपूर्ण ज्ञान का अपूर्ण सारांश है। किन्तु यह आकर्षित करने वाले विषय का और अधिक अध्ययन करने की दृष्टि से उपयोगी कदम हो सकता है। विशेषकर संगीत में अपने विचित्र संवेगात्मक पक्ष के प्रभावों के मनोवैज्ञानिक आधारों को निर्धारित करना इसने कठिन सिद्ध कर दिया है।[1]

संगीत का रहस्य

यदि स्वर-सामंजस्य, लय और राग की सुन्दरता को समझ भी लिया जाए तो संगीत में सौन्दर्यपरक सुख का एक गहन अव्याख्यात अवशेष समझने के लिए रह जाता है। एक प्रश्न जो प्रायोगिक जाँच की प्रतीक्षा में है यह है कि "रहस्यमय" उपस्वर तथा उनके विभिन्न संयोग किस सीमा तक भूली हुई व्यक्तिगत अथवा जातीय स्मरण-शक्ति को लौटा सकते हैं, और **मनुष्य की आवाज़** के माध्यम से प्रेम, युद्ध अथवा सामाजिक साहसपूर्ण कार्य को धीरे-धीरे बतलाते हुए परस्पर व्यवहार में संवेगों को किस सीमा तक बतला सकते हैं।

संगीत की सौन्दर्यपरक मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं के असफल होने पर अनेक तत्त्वमीमांसीय व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। कुछ लोगों का यह विचार है कि नेत्रों की अपेक्षा कान के माध्यम से हम उस वास्तविकता के केन्द्र के अधिक संपर्क में रहते हैं, क्योंकि नेत्र हमें बाहरी प्रपंच तक ही सीमित रखते हैं। शॉपेनहावर ने

1. प्रायः नशा ला देने वाले लय के प्रभावों को हम आंशिक रूप में समझा चुके हैं। शिक्षाप्रद लेख देखिए: Carl E. Seashore, "The Sense of Rhythm as a Musical Talent," *The Musical Quarterly*, vol. IV no. 4, pp. 507—15.

कहा है कि, संगीत प्रपचात्मक जगत् से पूर्णतः स्वतन्त्र होता है और पूर्णतः उसकी उपेक्षा करता है, और यदि जगत् न होता तो भी एक प्रकार से उसका अस्तित्व रह सकता था। इस प्रकार संगीत एक सार्वभौम भाषा है, जो अंतः-प्रज्ञा से समझी जाती है, और जब वह शब्दों से युक्त होता है तो उसका कुछ आन्तरिक अर्थ कम हो जाता है। जगत् "संगीत का ही शरीर" है:

> समस्त संगीत की अकथनीय गहराई जिसके कारण वह हमारे स्वर्ग की कल्पना की भाँति चेतना में तैरता रहता है और जिस पर विश्वास किया जाता है, तो भी वह हमसे सदा दूर होता है। इस विश्वास के कारण इसे इतनी अच्छी तरह समझा जाता है और तभी उसे बताया नहीं जा सकता, वह ऐसे तथ्यों पर आधारित होता है जो हमारी अंतरतम प्रकृति के भावों को पुनः जागृत कर देता है, किन्तु वास्तविकता और उसके कष्टों के पूर्ण अभाव में।[1]

सौन्दर्य प्रत्ययात्मक मूल्य के रूप में

एक और प्रश्न का उल्लेख यहाँ कर देना चाहिए जो अभी भी उलझन पैदा कर रहा है। चूँकि आजकल हम सौन्दर्यपरक सुख की जितनी चर्चा करते हैं उतनी सौन्दर्य की नहीं, यह समस्त व्यवहार अत्यन्त मनोवैज्ञानिक तथा अत्यन्त विषयीनिष्ठ प्रतीत होता है। तो क्या स्वयं अपने आपमें सुन्दरता कोई चीज़ नहीं होती ? क्या प्लेटो पूर्णतः ग़लत था ? क्या वे जंगली फूल जो मनुष्य के भी आगमन के शताब्दियों पूर्व घास के मैदान पर फूले थे, आँख के आने के और उनकी प्रशंसा करने के पूर्व भी सुन्दर नहीं थे ? क्या इन्द्रधनुष तभी सुन्दर होने लगा जब से मनुष्य ने उसे सबसे पहले देखा था ?

पुनः यदि सुन्दरता विषयीनिष्ठ होती है, जो कुछ विशेष प्रकार के सुखों को जागृत करने पर आधारित होती हो, तो यह प्रतीत होगा कि कोई भी वस्तु उस अनुपात में सुन्दर होगी जिस अनुपात में वह इस प्रकार के सुख को उत्पन्न करे। किन्तु यह बात इस तथ्य से असंगत सिद्ध हो जाती है कि कला में अच्छी रुचि शिक्षा तथा संस्कृत पर्यावरण के परिणामस्वरूप होती है। यदि कोई व्यक्ति अच्छे संगीत का आनन्द नहीं लेता (अर्थात् वह संगीत जो हमें प्रतीत होता हो) अथवा यदि वह महान् कलाकारों (साहित्यकारों) की कृतियों का सम्मान नहीं कर सकता, अर्थात् कलाकार या साहित्यकार जो महान् होने के लिए सामान्य-तया विख्यात हैं) तो हम कहते हैं कि उसकी रुचि सस्ती है, और यह मान लेते हैं कि सुन्दरता का एक **माप** अथवा **मानक** होता है जिसे यह व्यक्ति नहीं

1. Schopenhauer, *The World as Will and Idea*. Translated by R. B. Haldane and J. Kemp, vol. 1, p. 341.

समझ सकता। चेन्डलर अपने एक हाल के लिखे लेख[1] में इस आपत्ति को दूर करने का प्रयत्न यह कह कर करता है कि प्रचुर अनुभव वाले व्यक्ति के निर्णय में सुन्दरता का स्तर देखा जाता है, किन्तु इसमें कोई उद्देश्य निहित प्रतीत होता है जिसकी ओर यह विकास प्रवृत्त होता है।

यदि हम यह विचार करें कि सुन्दरता अंततः एक **मूल्य** है—एक अन्तिम मूल्य है—अथवा यदि आप चाहें तो "शाश्वत मूल्य" कह सकते हैं, जिसे विकास की प्रक्रिया के माध्यम से प्राप्त किया जाता है, तो सम्भवतः इस कठिनाई का सामना किया जा सकता है। वस्तुओं के कुछ विशेष गुणों के बीच सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करते हुए समूची स्थिति में सुन्दरता की अवधारणा उत्पन्न होती है, जैसे रंगों, स्वरों, समानता, एकता, अनुपात एक ओर, और दूसरी ओर अत्यन्त जटिल तथा विकसित मन के साथ मनुष्य का शरीर जिसने उन गुणों के साथ विशेष सम्बन्धों को बनाने की क्षमता प्राप्त कर ली है और **सौन्दर्यपरक आनन्द** नामक एक विशेष सुख प्राप्त करने की भी क्षमता प्राप्त कर ली होती है। अतः सुन्दरता एक नवीन **मूल्य** होगी जिसे सृजनात्मक विकास के माध्यम से प्राप्त किया जाता है; यह ऐसा उद्देश्य होता है जिसके लिए समूची परिस्थितियों में कारक आवश्यक होते हैं।

यदि हम यह मत स्वीकार कर लें कि सुन्दरता एक मूल्य है और नैतिक शुभ के साथ सम्भवतः वह हमारे ज्ञान का सर्वोच्च मूल्य है, तो मैं समझता हूँ कि इस बहुत ही उच्च प्रत्ययवादी सिद्धान्त की व्याख्या के तीन मार्ग हो सकते हैं। हम इन नैतिक तथा सौन्दर्यपरक मूल्यों को "नवीनताएँ" मान सकते हैं—उच्चतम मूल्य की नवीनताएँ जो विकास की दीर्घकालीन प्रगति में अन्त में **उत्पन्न** हुई हैं। ये किसी भी मानवीय अथवा दैवी मन से पहले नहीं सोची गई थीं, न इनकी योजना, इच्छा अथवा कोई संकल्प ही पहले से था। किन्तु ये यहाँ विद्यमान हैं और शुभ हैं, और यह सम्भव नहीं है कि भविष्य में उच्चतर मूल्य न आए। मैं मानता हूँ कि व्याख्या की यह प्रणाली अर्थक्रियावादी के हृदय को प्रिय है, और यह मत ऐसा है, जिसकी छाप निश्चय ही हमारे ऊपर गहरी पड़ेगी।

द्वितीय मत नैतिक तथा सौन्दर्यपरक मूल्यों को ऐसे उद्देश्यों के रूप में मानेगा जिनके लिए प्रकृति सचेष्ट प्रयत्न कर रही है। वे किसी ब्रह्मांडीय मन अथवा ईश्वरेच्छा द्वारा संकल्प पहले से जानी या समझी, सामने देखी या विचारी जा चुकी है। वे "प्रत्यय" हैं तथा आदर्श भी हैं। ऐसा मत वैयक्तिक अथवा ईश्वरवादी समस्त सम्प्रदायों को सहर्ष स्वीकार होगा, और पुनः हममें से अनेक लोगों पर बहुत गहरा प्रभाव डालने वाला होगा।

---

1. Albert R. Chandler, "The Nature of Esthetic Objectivity," *Jour. of Phil., Psych., and Sci. Meth.*, vol. XVII, p. 692.

एक तीसरा सिद्धान्त इन नैतिक तथा सौन्दर्यपरक मूल्यों को उस सृजनात्मक विकास की उत्पत्ति मानेगा जो **प्राप्ति** की एक प्रक्रिया के स्वभाव में है, और सौन्दर्य जिसमें प्राप्त किया जाने वाला एक मूल्य है अतः न्याय तथा अन्य शाश्वत मूल्यों की भाँति सौन्दर्य भी स्वयं अपने आपमें एक लक्ष्य होगा जो यथार्थ में उसकी प्राप्ति के लिए साधन निर्धारित करने में एक कारक होता है, और इस उद्देश्य के लिए विकासवादी कार्यक्रम के विभिन्न चरण **अनिवार्य** होते हैं, तथा स्वयं इन मूल्यों के द्वारा समस्त जगत् की गतिविधि पर कुछ **नियंत्रण** रखा जाता है। इसलिए हमें जगत् को केवल ऐसे घटना-क्रम की शृंखला मात्र ही नहीं समझना चाहिए, जिसमें केवल पूर्ववर्ती घटनाएँ ही कारण होते हैं—जो भौतिक विज्ञानों में हमारे कार्य के लिए एक सुविधाजनक संकेत देते हैं—किन्तु प्राप्ति की प्रक्रिया के रूप में, जिसमें काल की शृंखला की घटनाएँ आदर्श मूल्यों की प्राप्ति के लिए अनिवार्य स्थितियाँ मानी जाएँगी। इस प्रकार से विचार करने पर मूल्यों के योग के रूप में ईश्वर पुनः जगत् का सृजनकर्ता होगा, किन्तु कारण की अपेक्षा वह एक आकर्षण होगा। ऐसा मत प्रत्ययवादी तथा प्रयोजनात्मक दोनों ही होगा, किन्तु यह शब्द प्रयोजनात्मक अपने प्राचीन अर्थों से कुछ भिन्न अर्थों में समझा जाएगा। सन्तायना के शब्दों में "इसलिए समस्त प्राकृतिक जीवन प्रत्ययों की प्राप्ति तथा दर्शनों के लिए एक आकांक्षा है, तथा समस्त कार्य ध्यान करने के निमित्त होता है।"

इस अध्याय से सम्बन्धित सन्दर्भ

Irwin Edman, *Human Traits and Their Social Significance* (Houghton Mifflin Company), chap. XIII.

अन्य सन्दर्भ

Herbert Sidney Langfeld, *The Aesthetic Attitude* (Harcourt, Brace and Company).

DeWitt Henry Parker, *The Principles of Aesthetics* (Silver, Burdett and Company).

W. T. Stace, *The Meaning of Beauty* (The Cayme Press. 1929).

C. J. Ducasse, *Philosophy of Art* (Dial Press, 1929).

C. E. Spearman, *Creative Mind* (D. Appleton and Company 1931).

E. F. Carritt, *What Is Beauty* ? (Oxford, 1932).

George Santayana, *The Sense of Beauty* (Charles Scribner's Sons).

Henry Rutgers Marshall, *Aesthetic Principles* (The Macmillan Company).

Aristotle, *The Poetics.*

S. Alexander, *Art and Instinct* (Oxford, 1927).

H. H. Powers, *The Message of Greek Art* (The Macmillan Company).

Irving Babbitt, *The New Laocoön* (Houghton Mifflin Company).

M. H. Bird, *Study in Aesthetics* (Harvard University Press, 1932).

Ethel D. Puffer, *The Psychology of Beauty* (Houghton Mifflin Company).

Edward Howard Griggs, *The Philosophy of Art* (B. W. Huebsch).

Arthur Schopenhauer, *Selected Essays of Arthur Schopenhauer* by E. B. Bax (George Bell and Sons), "On the Metaphysics of the Beautiful and on Aesthetics," 274—318.

Yrjö Hirn, *The Origins of Art* (The Macmillan Company).

D. W. Prall, *Aesthetic Judgment* (Thomas Y. Crowell Company).

John Dewey, *Art as Experience* (Minton, Balch and Company).

पारिभाषिक शब्दावली

[हिन्दी-अंग्रेज़ी]

अंत:प्रज्ञा intuition
अंत:प्रज्ञावाद intuitionism
अंत:प्रवृत्ति nisus
अंत:प्रेरण urge
अंत:मुखिता introversion
अंत:संबंध सिद्धान्त theory of internal relations
अंत:स्थ intrinsic
अंतर्वर्तिता immanence
अंतर्वस्तु content
अंतर्विवेक conscience
अंतर्विवेकशील conscientious
अंतर्विवेकशीलता conscientiousness
अंतस्तत्त्व entelechy
अंधभक्ति-प्रतीक fetish
अंधविश्वास superstition
अंशभागिता participation
अग्रचेतनी preconscious
अज्ञेयवाद agnosticism
अणु molecule
अणुविश्व microcosm
अतिक्रमण transgression
अतिक्रिया hyperactivity
अतिनैतिक supermoral
अतिबौद्धिक supra-rational
अतिभावुकता sentimentalism
अतिमानव superman
अतिरक्षण overprotection
अतिवाद extremism
अतींद्रिय supersensible
अतींद्रिय प्रत्यक्ष extra-sensory perception
अत्यहम् super-ego
अदेववाद adeism
अद्भुत-प्रतिभाशाली prodigy
अधर्मिता profanity
अधिनिर्णय verdict
अधिनीतिशास्त्र meta-ethics
अधिभूतोपासना elementalism
अधिविज्ञान metascience
अधिष्ठान substratum
अनवबोध्य incomprehensible
अनवस्था-दोष regressus ad infinitum
अनासक्ति detachment
अनियतत्ववाद indeterminism
अनिर्धार्यता-सिद्धान्त principle of indeterminacy
अनुकंपी तंत्रिका sympathetic nerve
अनुकूलन adaptation
अनुकूलनशीलता adaptability
अनुकूली व्यवहार adaptive behaviour

अनुक्रम succession
अनुक्रिया response
अनुताप remorse
अनुनाद resonance
अनुपंथिता orthodoxy
अनुपयोग-नियम principle of disuse
अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र applied ethics
अनुबंधित उद्दीपन conditioned stimulus
अनुभवनिरपेक्ष तर्क a priori reasoning
अनुभववाद experientialism
अनुभवसापेक्ष a posteriori
अनुभवातीत अहम् transcendental ego
अनुभवातीतवाद transcendentalism
अनुमति assent
अनुमस्तिष्क cerebellum
अनुमान inference
अनुमोदन approval
अनुवर्तन tropism
अनेकत्व plurality
अनेकत्ववाद pluralism
अनेक-न्यायवाक्य poly-syllogism
अनेकार्थक equivocal
अनैतिकता immorality
अन्यताभाव alienation
अन्योन्य क्रिया interaction
अन्योन्य क्रियावाद interactionism
अन्योन्याश्रय interdependance
अन्वेषण investigation
अपचार delinquency
अपराध offence
अपवर्तन refraction
अपसमायोजन maladjustment
अपसामान्य मनोविज्ञान abnormal psychology
अभाव कारक negative factor
अभिज्ञता awareness
अभिप्रेरण motivation
अभिरुचि interest
अभिविन्यास orientation
अभिवृत्ति attitude
अभ्युक्ति dictum
अभ्युपगम postulate
अमरत्व immortality
अमूर्त abstract
अर्थक्रियावाद pragmatism
अर्थवितंडा sophistic
अलौकिक supernatural
अवधान attention
अवरोध inhibition
अवसाद depression
अवस्तुता nothingness
अविकार्यता, immutability
अविश्ववाद acosmism
अव्यवहितत्व immediacy
अशुभ evil
असंयम intemperance
असहिष्णुता intolerance
असाक्षात् प्रमाण indirect proof
अस्तित्व existence
अस्तित्वपरक आशय existential import
अस्तित्ववाद existentialism
अहंकार egotism
अहंकेंद्रिक egocentric
अहंकेंद्रिक विषमावस्था ego-predicament
अहंमात्रवाद solipsism

अहंवाद egoism
अहंवादी egoist
अहम् ego
आकस्मिकतावाद casualism
आकारवाद formalism
आकारिक कारण formal cause
आगमन induction
आचरण practice, conduct
आत्मचिंतन self-contemplation
आत्मत्व self-hood
आत्मनिंदा self-reproach
आत्मनिर्धारण self-determination
आत्मनिष्ठ subjective
आत्मपरिरक्षण self-preservation
आत्मपूर्णतावाद eudaemonism
आत्मवंचना self-deception
आत्मसंगति self-consistency
आत्म-संमोह self-delusion
आत्मसंस्कार self-culture
आत्मसिद्धि self-realization
आत्मा spirit
आदर्श, ideal
आदर्शीकरण idealization
आदिप्ररूप prototype
आदिम धर्म primitive religion
आदिमपरतावाद primitivism
आधारवाक्य premise
आध्यात्मिक spiritual
आनंद bliss
आनुवंशिकता heredity
आपात contingency
आप्तवाद authoritarianism
आभास appearance
'आभासी apparent
आराधन, propitiation
आवेग impulse
आशंका apprehension
आशय import
आसक्ति attachment
आसन्न कारण proximate cause
आस्था faith
आस्थाशास्त्र pistology
इंद्रिय-गुण sense quality
इंद्रिय-दत्त sense datum
इंद्रियानुभववाद empiricism
इंद्रियानुभूतिक, इंद्रियानुभवाश्रित empirical
इड, इदम् id
इडिपस-मनोग्रंथि oedipus complex edipus complex
इतरीकरण heterization
ईश्वरनिंदा blasphemy
ईश्वर सायुज्य communion with God
ईश्वरात्मवाद psychotheism
उत्पीड़न persecution
उदासीनता apathy
उद्गत emergents
उद्गमन emergence
उद्गामी गुण emergent quality
उद्गामी विकास emergent evolution
उद्दीपन stimulus
उन्माद mania
उपनिगमन corollary
उपयोगितावाद utilitarianism
उपलब्धि achievement
उपसमाधि trance
उपागम approach
उपादान कारण material cause

उपार्जित acquired
उपार्जित व्यवहार acquired behaviour
उपासना worship
उभयत:पाश dilemma
उभयमुखिता ambiversion
उल्लास elation
ऊर्जा energy
एकचित्तवाद monopsychism
एकतत्त्ववाद monism
एकत्ववाद singularism
एकरूपता uniformity
एकाग्रता concentration
एकैक संबंध one-one relation
एकैक-संवाद one-one correspondence
एकैकाधिदेववाद henotheism
कणिका-सिद्धान्त corpuscular theory
कपालीय तंत्रिका cronial nerve
करण-सिद्धान्त instrumental theory
करुण compassion
कर्त्तव्यनिष्ठ dutiful
कर्त्ता agent
कर्म action
कर्मकांडवाद ritualism
कला-प्रेरणा art impulse
कांति brilliance
कामुकता sexuality
कायरता cowardice
कारक factor
कारण cause
कारणता causation
कारण संबंध causal relation
कार्यकारणभाव causality
कार्य-प्रणाली modus operandi
कुंठा frustration
कुंठा-आक्रामकता-सिद्धान्त frustration-aggression theory
कुंठा-सहिष्णुता frustration-tolerance
कोटि category
कोशिका द्रव्य cytoplasm
कोशिका विज्ञान cytology
क्रियात्मक conative
क्रियाविधि mechanism
क्रियावृत्ति conation
खंडन refutation
गत्यात्मक परमाणुवाद dynamic atomism
गुण attribute
गुणधर्म property
गुण-विवेचन appreciation
गुणांतरण alteration
गुणार्थ intension
गूढ़ abstruse, occult
गूढ़ोक्ति enigma
गौण गुण secondary quality
ग्रहणशक्ति receptivity
घटक component
घटना event
चमत्कारी numinous
चाक्षुष ocular
चिंतन cogitatio
चित्त psyche
चित्तकल्प psychoid
चिदणु monad
चेतना consciousness
छल-प्रश्न catch question

छायाभास phantasm
जड़त्व inertia
जड़बुद्धि idiot
जड़बुद्धिता idiocy
जनन कोशिका germ cell
जन्मजात congenital
जाति genus
जीवजनन biogenesis
जीवद्रव्य protoplasm
जीवनतत्त्ववाद biotism
जीवनशक्ति elan vital
जीववाद animism
जैवभौतिक biophysical
ज्योति cuminosity
झिल्ली membrane
टोलेमी प्राक्कल्पना ptolematic hypothesis
तंत्रिका कोशिका nerve cell
तंत्रिका-चाप neural arc
तंत्रिका तंत्र nervous system
तंत्रिका मनश्चिकित्सा neuropsychiatry
तंत्रिकावेग nervous impulse
तंत्रिकीय nervous
तटस्थ-ईश्वरवाद deism
तटस्थ एकतत्त्ववाद neutral monism
तत्त्वमीमांसा metaphysics
तत्त्वोक्ति maxim
तदनुभूति empathy
तदात्मीकरण identification
तपस्या, तप penance
तर्कदोष fallacy
तर्क-द्वेष misology
तर्कबुद्धिवाद rationalism
तर्कमूलक उपागम logical approach
तर्कवाक्य proposition
तर्कातीत alogical
तर्काभास paralogism
तर्कीय प्रत्यक्षवाद logical positivism
तादात्म्य identity
त्वचीय cutanious
दंड-न्याय punitive justice
दंड संहिता penal code
दक्षता efficiency
दमन repression
दिव्यवाणी oracle
दुर्भीति phobia
दुश्चक्र vicious circle
दृश्यते इति वर्तते esse est percipi
दृष्टिपटल retina
दृष्यप्रपंचवाद phenomenology
देवीकरण deificaton
दैवी समाधान deus ex machina
द्रव्य substance
द्रोह malice
द्वंद्व conflict
द्विपक्ष सिद्धांत two-aspect theory
द्विपक्षी संबंध dyadic relation
द्वेष aversion
द्वैतवाद dualism
धर्म religion
धर्मतंत्र theocracy
धर्मनिरपेक्ष secular
धर्मांधता fanaticism
धार्मिकता piety
धार्मिक प्रागनुभव religious a priori
धीर nervous
ध्रुवता polarity
नव्य प्रत्ययवाद neo-idealism
नानात्व multiplicity

नाममात्रवाद nominalism
नारी-द्वेष misogyny
निगमन deduction
निगमनात्मक deductive
निदान diagnosis
निद्राभ्रमण somnambulism
निपुणता dexterity
निमित्तकारण efficient cause
नियतत्ववाद determinism
नियति destiny
नियामक regulative
निरपेक्ष absolute
निरपेक्षवाद absolutism
निराशावाद pessimism
निरीश्वरवाद atheism
निरुपाधिक categorical
निर्नैतिकता amorality
निर्वैयक्तिकवाद impersonalism
निवारणार्थ-दंड-सिद्धांत deterrent theory of punishment
निश्चय ज्ञान apodeictic knowledge
निश्चय-तर्कवाद apodeictic proposition
निश्चय-मात्रा modality
निषेधक तर्कवाक्य negative proposition
निषेधात्मक negative
निष्क्रिय प्रतिरोध passive resistance
निष्ठा loyalty
निहितार्थ implication
नीतिभ्रष्ट demoralized
नीतिशास्त्र ethics
नैतिक परमाणुवाद ethical atomism
नैदानिक clinical
पंथभेद schism
पक्ष aspect; thesis
पक्ष-आधारवाक्य minor premise
पदानुक्रम, सोपान, तारतम्य hierarchy
पदार्थ predicament
परंपरावाद traditionalism
परम प्रत्यय absolute idea
परमशुभ summum bonum
परमाणुवाद atomism
परमानंद rapture
परमार्थसत् noumenon
पररूपधारण impersonation
परस्पर क्रिया interaction
पराचेतना supra-consciousness
परामानसिकी parapsychology
परार्थवाद, परहितवाद altruism
पराहम् absolute ego
परिकल्पना speculation
परिणाम सापेक्ष नीति teleological ethics
परिताप grief, penitence
परिधीय तंत्रिका peripheral nerve
परिमाण quantity
परिवर्तनशीलता vafiability
परिवर्तित converse
परिवेदना anguism
पर्याय mode
पर्यावरण environment
पलायन escape
पश्चगामी retrogressive
पावनवाद holyism
पीतस्थल yellow spot
पुनरुक्ति tautology
पुनरुज्जीवन resurrection

पुनरुद्धारवृत्ति revivalism
पुनर्घटन reintegration
पुनर्जन्म reincarnation
पुनर्समायोजन readjustment
पुराण विद्या mythology
पुरालक्षी retrospective
पुरोधानवाद presentationism
पूँजीवादी पद्धति capitalistic system
पूर्णतावाद perfectionism
पूर्णत्वक्षमता perfectibility
पूर्वग्रह prejudice
पूर्वदृष्टि foresight
पूर्वधारणा preconception
पूर्वनिर्धारण predetermination
पूर्वप्रवणता predisposition
पूर्ववर्तिता priority
पूर्ववर्ती precedent
पूर्वस्थापित सामंजस्य pre-established harmony
पूर्वाभिरुचि predilection
पृथक्करण segregation
पोटलिका सिद्धांत 'bundle' theory
प्रकृत-ज्ञान assertoric knowledge
प्रकृतिवाद naturalism
प्रक्रम process
प्रक्रिया procedure
प्रक्षेपण projection
प्रजनन procreation
प्रज्ञा intellect
प्रज्ञातीत supra-intellectual
प्रज्ञान gnosis
प्रज्ञानवाद gnosticism
प्रणाली method
प्रणालीविज्ञान methodology
प्रतिकारार्थ दंड सिद्धांत retributive theory of punishment
प्रतिकारी न्याय retributive justice
प्रतिक्रिया reaction
प्रतिगमन regression
प्रतिनिधानवाद representationism
प्रतिपादन exposition
प्रतिप्रज्ञावाद anti-intellectualism
प्रतिमा image
प्रतिवर्त reflex
प्रतिशोध vengeance
प्रतिसुखवाद anti-hedonism
प्रतिस्थानिक vicarious
प्रतीक symbol
प्रतीक चिंतन symbolic thinking
प्रतीकवाद symbolism
प्रतीकांध भक्ति fetishism
प्रत्यक्ष percept
प्रत्यक्षवाद positivism
प्रत्यय idea, ideatum
प्रत्ययन ideation
प्रत्ययवाद idealism
प्रत्ययसत्तावाद ontology
प्रत्यर्पण restitution
प्रदर्शन-वृत्ति exhibitionism
प्रधान चिदणु monad queen
प्रबलन reinforcement
प्रबुद्ध स्वार्थ enlightened self-interest
प्रबोध enlightenment
प्रभाव effect
प्रभावक effector
प्रमस्तिष्क cerabrum
प्रमाण-दायित्व onus probandi

प्रयोजन कारण final cause
प्रयोजनमूलक hormic
प्रयोजनवाद teleology
प्ररूप form
प्रवचन serman
प्रशांतता serenity
प्रसंगवाद occasionalism
प्रसादन proptiation
प्राक्कल्पना hypothesis
प्रागस्तित्व pre-existence
प्राग्ज्ञान fore-knowledge
प्राज्ञ intellectual
प्राण तत्त्व anima
प्राणात्ममीमांसा pneumatology
प्राणात्मा pneuma
प्रात्यक्षिक दिक् perceptual space
प्रायिकतावाद probabilism
प्रासंगिकता relevance
प्रेक्षक observer
प्रेरक motor
प्लेटोवाद Platonism
प्लोटिनसवाद Plotinism
बंधुता affinity
बर्कलेवाद Berkeleianism
बल-प्रयोग coercion
बहुतत्त्ववाद pluralism
बहुदेववाद polytheism
बहुविकल्प multiple choice
बाध्यता compulsion
बाह्य extrinsic
बाह्य-संबंध सिद्धांत theory of external relations
बाह्यीकरण externalization
बुद्धि intelligence
बुद्धिगम्य intelligible
बुद्धि-लब्धि intelligence quotient
बोध comprehension
ब्रह्मचर्य celibacy
भक्ति devotion
भग्नाशा despair
भाव being; affection; feeling
भाव कारक positive factor
भाव दशा mood
भावातिरेक ecstacy
भ्रम illusion
भ्रांति delusion
मंदन retardation
मताग्रह dogma
मताग्रहिता dogmatism
मताग्रही dogmatic
मन:शारीरिक psychosomatic
मन mind
मनन reflection
मनश्चिकित्सा psychotherapy
मनस्ताप neurosis
मनोगतिविज्ञान psycho-dynamics
मनोग्रस्ति obsession
मनोबल morale
मनोबाह्य extramental
मनोमिति psychometrics
मनोविक्षिप्त psychotic
मनोविज्ञानपरता psychologism
मनोविश्लेषण psycho-analysis
मानक norm
मानकीकरण standardization
मानवतावाद humanism
मानवत्वारोप anthropomorphism

मानव-द्वेष misanthropy
मानव-पूजा anthropolatry
मानव-प्रेम philanthropy
मानवेश्वरवाद homotheism
मानसवाद mentalism
मानसिक अपसामान्यता mental abnormality
मानसिक द्वंद्व mental conflict
माप measurement
मिताचार moderation
मूर्तिपूजा idolatry
मूर्त्त संप्रत्यय concrete concept
मूलगुण primary quality
मूल सिद्धांत fundamental principle
मूल्य value
मूल्यमीमांसा axiology
मेस्मरवाद mesmerism
मोक्ष emancipation
मौलिक primordial
यतित्ववाद asceticism
यदृच्छा-विभेद chance variation
यांत्रिक कारण mechanical cause
यादृच्छिक random
युक्ति argument
युद्ध प्रवृत्ति pugnacity
योग्यता ability
यौवनारंभ puberty
रचना constitution, composition
रटना rote
रहस्यानुभवी mystic
रूढ़ि custom
रूढ़िवाद conservatism
रूढ़िवादी conservative
लाघव न्याय law of parsimony

लिंग sex
लोभ avarice
वंशागति heritage
वदतोव्याघात self-contradiction
वर्गीकरण classification
वर्जित taboo
वस्तु object
वस्तुकरण objectivization
वस्तुपरक उपागम objective approach
वस्तुपरक सामग्री objective data
वादविवाद polemics
वास्तववाद realism
वास्तविक actual
वास्तविकता actuality
विकल्प alternative
विकास evolution
विकासवादी नीतिशास्त्र evolutionary ethics
विकृति deformity
विकृतिविज्ञान pathology
विचारधारा ideology
विच्छेदन extirpation
विजातीयता heterogeneity
विधायक affirmative
विधि law
विधेय-धर्म predicable
विपंथिता heterodoxy
विपरिवर्तन inversion
विपरीत contrary
विप्रतिषेध antinomy
विभौतीकरण dematerialization
विभ्रम hallucination
विमा dimension
विमुखता antipathy

वियोजक disjunctive
विरोधाभास paradox
विलगन isolation
विवेक discretion
विवेकशील rational
विशरण dissipation
विशेषाधिकार privilege
विश्लेषण analysis
विश्लेषात्मक निर्णय analytic judgment
विश्व cosmos
विश्व-कारण-युक्ति cosmological argument
विश्वेश्वरवाद cosmotheism
विश्वोत्पत्तिमीमांसा cosmogony
विषयनिष्ठ objective
विषयनिष्ठता objectivity
विषयनिष्ठवाद objectivism
विषयिनिष्ठवाद subjectivism
विषयी subject
विषादी melancholic
विसंगति absurdity
विस्तार extension
वैकल्पिक alternative
वैधता validity
वैधिक नीतिशास्त्र jural ethics
वैषम्य contrast
वैषम्यावस्था disequilibrium
व्यक्तिवाद personalism
व्यतिकरण interference
व्यभिचार adultery
व्यवहारवाद behaviourism
व्यवहित कारण remote cause
व्यष्टित्व individuality
व्यष्टिवाद individualism
व्याघात contradiction
शक्ति potency
शब्द-प्रमाण testimony
शांतिवाद pacifism
शाश्वतता eternity
शिरोबिंदु zenith
शुद्ध तर्कबुद्धि pure reason
शुद्ध भाव pure being
शुभाशुभातीत beyond good and evil
शून्यवाद nihilism
श्रद्धा reverence
श्रवण audition
श्रुति revelation
संकल्प will
संकल्पवाद voluntarism
संकाय faculty
संकुचन contraction
संक्रिया operation
संख्येय numberable
संगति consistency
संगोष्ठी seminar
संघटक constitutive
संज्ञान cognition
संज्ञानात्मक cognitive
संज्ञा-संज्ञातृमीमांसा pragmatics
संज्ञासंज्ञिमीमांसा semantics
संज्ञासंबंधमीमांसा syntactics
संपरिवर्तन conversion
संपरीक्षा critique
संपात coincidence

संपुष्टि confirmation
संप्रत्यय concept
संप्रत्ययवाद conceptualism
संप्रत्ययाभास pseudo-concept
संबंधन affiliation
संबंधवाद connectionism
संभ्रांति paranoia
संमोह hypnosis
संमोहन hypnotism
संयोग-नियम law of chance
संरचना structure
संलयन fusion
संवित्त-विविधक sense-manifold
संवृत्ति phenomenon
संवेग emotion
संवेगवाद emotionism
संवेगात्मक परिपक्वता emotional maturity
संवेगात्मक पुनर्बलन emotional reinforcement
संवेगात्मक प्रतिगमन emotional regression
संवेगात्मक स्थिरता emotional stability
संवेदनवाद sensationalism
संवेदी sensory
संवेदी तंत्रिका sensory nerve
संशयवाद scepticism
संश्लेषात्मक synthetic
संसक्तता coherence
संस्थान configuration
संस्मृति reminiscence
सक्रियतावाद activism
सचेतना, संवेदिता sentience
समजातीयता homogeneity

सत्यनिष्ठा integrity
सत्यवादिता veracity
सत्यशीलता truthfulness
सत्यापन verification
सदोष fallacious
सद्गुण virtue
सप्रयोजन प्रत्ययवाद teleological idealism
समग्राकृति Gestalt
समचित्तता equanimity
समतावाद equalitarianism
सममित symmetry
समाकल्पन apperception
समाकृति schema
समानांतरवाद parallelism
समीक्षा criticism
समीक्षात्मक वास्तववाद critical realism
समीक्षापूर्व precritical
समूहवाद collectivism
सर्वक्रियावाद panactivism
सर्वग्राही all-inclusive
सर्वचित्तवाद panpsychism
सर्वप्राणवाद panpneumatism
सर्वबाह्यार्थवाद panobjectivism
सर्वबुद्धिवाद panlogism
सर्वव्यापी all-pervasive
सर्वेश्वरवाद pantheism
सर्वोद्धार apocatastasis
सह-अस्तित्व co-existence
सहकार्य coeffect
सहचेतन coconscious
सहजज्ञानवाद nativism
सहज-प्रत्ययवाद innatisn.
सहज-प्रवृत्ति instinct

सहज वास्तववाद native realism
सहजात connate
सहसंबंध co-relation
सांकल्पिक अनुक्रिया volitional response
सांख्यिकीविद् statistician
साक्षात्कार interview
सातत्य (काल) continuity
साध्य-आधारवाक्य major premise
सापेक्षवाद relativism
सामंतवाद feudalism
सामरस्य rapport
सामाजिक अनुकूलन social adaptation
सामान्य normal
सामान्यबुद्धि-वास्तववाद common sense realism
सामान्यीकरण generalization
साम्यावस्था equilibrium
सार, तत्त्व essence
सारसंग्राही दृष्टि synoptic view
साहचर्यवाद associationism
सिद्धांत principle
सिद्धांतमात्रवादी doctrinaire
सुखवाद hedonism
सुजननविज्ञान eugenics
सुधारवाद meliorism
सूक्ष्म शरीर astral body
सृष्टि creation
सौंदर्यानुभव aesthetic experience
स्तर level
स्थानापन्न substitute
स्थायीभाव sentiment
स्थिर static
स्थैर्य persistence
स्राव secretion
स्वजातिक sui generis
स्वघाती self-defeating
स्वतःप्रामाण्य self-evidence
स्वयंभू causa-sui
स्वयंभूत्व perseity
स्वयंसिद्ध axiom
स्वसुखवाद egoistic hedonism
स्वायत्त तंत्रिका autonomic nerve
हताशा despondancy
हल solution
हीनता-मनोग्रंथि inferiority complex
हीनबुद्धि imbecile
हेत्वाश्रित तर्कवाक्य hypothetical proposition

अनुक्रमणिका

अंत:प्रज्ञा, 56
अंत:प्रज्ञावाद, 335—36; नीतिशास्त्र में, 449—52
अंतर्विवेक, 434
अंतस्तत्त्व, 107, 140, 242
अचेतन, 262
अज्ञेय, 125
अज्ञेयतावाद, 50, 126, 392
अतिप्राकृतिक सत्ता, 43—45
अध्यात्मवाद, 212
अनंत, 74
अननुकूलन, 160
अनन्यता प्राक्कल्पना, 298
अनिर्धार्यता का नियम, 25, 92, 306, 323—26
अनिश्चितता का नियम, अनिर्धार्यता का नियम देखिए
अनुकूलन (पर्यावरण के प्रति), 131, 160, एवं अनुवर्ती, 280 एवं अनुवर्ती
अनुभव, 56, 257, 272, 342, 375 एवं अनुवर्ती
अनुशास्तियाँ (नैतिक), 452—53
अन्जेल, जेम्स रोलैंड, 321
अन्योन्य क्रिया (मन और शरीर की), 295 एवं अनुवर्ती, 297
अभिज्ञा, 288
अभिलाषा, फ्रायड की, 267
अमरत्व, 221, 242, 292—93, 453
अलिओटा, 226
अलेक्ज़ेन्डर, एस०, 86, 112, 288, 305, 322, 360, 362 419, 485
अरस्तू, 14, 48, 50, 51, 65, 81, 98, 106, 107, 112, 114, 127, 147, 150, 162, 178, 179, 189, 222, 231, 243, 263, 264, 267, 276, 279, 284, 300, 301, 302, 329, 392, 398, 444, 456, 485
अरेस्टीपस, 438
अरैनियस, स्वान्ते, 96
अर्जित लक्षणों का परंपरा में आना, 127, 134
अर्थक्रियावाद, 257—60, 368—88
अर्थक्रियावादी सिद्धान्त, सत्य का, 382—85
अर्नफेल्स, 261
अर्बन, डब्ल्यू० एम०, 457
अशुभ, 71, 233; की समस्या, 408—11, नैतिक, 411—14
अस्तित्व के लिए संघर्ष, 131, 137
अहंकेंद्रिक विषमावस्था, 351

आंतरिक संबंध, 361
आइनफ्यूः लुन्ग, 474

आइन्स्टाइन, एलबर्ट, 30, 44, 63, 64, 65, 74, 86, 88, 89, 91, 166, 207
आकस्मिक घटना, 160, 316
आकस्मिकता, 317 एवं अनुवर्ती
आगस्टाइन, सेन्ट, 9, 51, 183, 189, 243, 302
आत्मकल्प, 107
आत्मा, 184, 239, 240, 250—51
आदि कारण, 28, 161 एवं अनुवर्ती, 393
आद्यचालक, 162, 179
आध्यात्मिकता, 37—38
आनुवंशिकता, 134, 138—42
आनुवंशिकी, 124, 134 एवं अनुवर्ती, 138 एवं अनुवर्ती
आप्तवाद, 330—32, 391
आभास, 181, 217, 355
आयोनियन दार्शनिक, 181, 183, 202
आर्किमिडिज़, 369
आर्नल्ड मेथ्यू, 8, 114, 420
आलोचनात्मक वास्तववाद, 360, 362—65
आशावाद, 418 एवं अनुवर्ती

इंद्रिय-दत्त सामग्री, 31
इंद्रियानुभववाद, 61, 338—39, 342, 375 एवं अनुवर्ती
इपीक्यूरस, 14, 163, 189, 201, 204, 438
इपीक्यूरसवादी, 48, 163, 189, 201, 204
इब्सन, 14, 404
इमर्सन, राल्फ वाल्डो, 37, 56, 395
इलियट, चार्लस डब्ल्यू०, 399
इलेक्ट्रॉन, 191 एवं अनुवर्ती
इवान्स, डी० लूथर, 119, 132, 180, 186, 199, 204, 264, 339, 367

ईथर, 90—92, 194, 207
ईश्वर, 27, 31, 35 एवं अनुवर्ती, 56, 71, 78, 95—96, 114, 115, 124, 159 एवं अनुवर्ती, 162 एवं अनुवर्ती, 221, 233, 236, 356, 390—405, 407 एवं अनुवर्ती 453
ईसाई धर्म, 40
ईसा मसीह, 414, 436, 439

उत्कट इंद्रियानुभववाद, 375—77
उत्परिवर्तन, 134, 135—36
उद्गत विकास, 112, 150—52
उन्नयनवाद (सुधारवाद) 418, 426
उन्मज्जन, 110 एवं अनुवर्ती, 151, 234; मनस् का, 300—304
उपयोगितावाद, 438
उपयोगी कला, 462
उपोत्पादवाद, 247, 299

ऊर्जा, 31, 78 एवं अनुवर्ती, 94, 193, 195, 198

ऋण इलेक्ट्रॉन, 192

एकतत्त्ववाद, 69, 182, 184—85, 201, 228—30, 255, 299
एकरूपता (और प्रकृति में एकरूपता), 26, 29 एवं अनुवर्ती

एकहार्ट, माइस्टर, 56
एक्लॉम, जॉर्ज मार्वी, 89
एचिलस, 12, 407
एटकेन्स, रॉवर्ट ग्रान्ट. 166
एडमन, इर्विन, 400, 467, 484
एडम्स, जॉर्ज पी० 222, 226, 346, 404
एडिन्गटन, सर आर्थर, 23, 81, 86, 89, 91, 92, 93, 166, 185, 198, 199, 323, 326
एडिसन, टॉमस, 32, 284
एनाक्सागोरस, 114, 161, 183, 188
एनाक्सामिनीज़, 187
एन्ट्रॉपी सिद्धांत, 78 एवं अनुवर्ती
एम्पीडॉक्लीज़, 183, 186, 188, 228
एम्स, ई० एस०, 40
एरिस्टोफेनीज़, 12
एर्नाल्ड, एडविन, 419
एलन, ग्रान्ट, 406, 473
एलवुड, चार्लस ए०, 40
एवरेट, वाल्टर गुडनो, 326, 445, 447, 456

ऐक्स-किरणें, 194
ऐवे, ए० ई०, 265

ओकम की तलवार, 99
ओकम के विलियम, 99
ओटो, एम० सी०, 44, 54
ओवरस्ट्रीट, एच० ए०, 15
ओसबर्न, हैनरी फेयरफील्ड, 119

कनिन्घम, जी० डब्ल्यू०, 132, 265 294, 305
करणवाद, 258, 304, 369, 371, 377—78
कला, 461 एवं अनुवर्ती; तथा समाज 462—64; तथा नैतिकता, 464—65, समाजीकरण अभिकण के रूप में, 465; तथा खेल, 466—67; तथा कल्पना, 467; का क्रीड़ा सिद्धांत, 472—74
कान्ट, 9, 51, 65, 66, 84, 175, 219, 220, 221, 222, 223, 250, 325, 330, 355, 393, 398, 434, 450, 451, 452, 453, 471, 472
कॉफिन, एच० एस०, 46
कार एच० विल्डन, 471
कारण (आदि कारण एवं प्रयोजन कारण भी देखिये), 24 एवं अनुवर्ती, 60, 169, 315
कारनेप, रुडोल्फ, 366
कार्बनिक सिद्धांत, 111—12
कार्यपरक मत, नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में, 444—46
कार्योत्पादन, देखिए कारण
कार्लायल, टॉमस, 416
काल, 31, 76 एवं अनुवर्ती, 83, 85 एवं अनुवर्ती
कॉलिन्स, मेरी टी०, 31
कॉल्किन्स, मेरी व्हिटन, 16, 222, 237, 245
किरणें, 194—95
कीट्स, 13, 459
कीसर, केसियस जे०, 54
कुल्पे, 248
कूक, जॉर्ज विलिस, 40
केअर्ड, एडवर्ड, 222

केपलर, 64
केबट, डॉ० रिचर्ड क्लार्क, 46, 396
केरिट, ई० एफ०, 484
केसर हिलिस, 324
केसिरर, अर्नस्ट, 366
कैलन, होरेस मेयर, 233, 371, 479
कैलॉग, वरनॉन एल०, 134, 135, 156
को, जी० ए०, 406
कोन्कलिन, एडविन ग्रांट, 155, 156, 166, 401
कोन्गर, जी० पी०, 27, 112, 122, 156, 367
कोपर्निकस, 64, 99, 130, 243
कोर्जिब्सकी, एल्फ्रड, 53
कोर्याट, आउब्रे, 425
कोलॉयड, 203
कोह्लर, वुल्फगैंग, 261
कौम्ते, आगस्ट, 47—48
क्यूरी, प्रोफेसर मेडम, 190
क्रम, 31
क्राइटन, जे० ई०, 222
क्राइल, जी० डब्ल्यू०, 205
क्रूक्स, सर विलियम, 191
क्रोचे, वेनेडेटो, 471
क्रोदर, जेम्स आर्नोल्ड, 166
क्रोमोसोम, 139—40
क्लाइस, स्कडर, 50
क्लार्क, ऑस्टिन एच०, 135, 136, 156
क्लिफर्ड, डब्ल्यू० के०, 217, 249
क्वान्टम सिद्धांत, 195—96

खगोलिकी, 63 एवं अनुवर्ती, 73 एवं अनुवर्ती
खेल की भावना, कला में, 466—67, 472—74
खैयाम, ओमर, 13, 409, 419

गति, 74, 125, के विरोधास, 332
गतिवाद, 193
गालोवे, 46
गाल्टन, 134
गाल्सवर्दी, 14
गिब्सन, बॉयस, 320
गुण, 231
गुरुत्वाकर्षण, 29, 64, 88, 207
गेटे, 12, 13, 99, 108, 127, 163, 414, 464
गेडिस पी०, 107, 132, 134
गेमर्टस्फेल्डर, वाल्टर एस०, 54, 119, 132, 180, 186, 199, 204, 264, 339, 367
गेलिलियो, 99, 130, 243, 359
गेस्टाल्ट सिद्धांत, 260—61
गोल्डस्मिथ, विलियम एम०, 130
गौण गुण, 359, 360
ग्रंथि, 262
ग्रहों के संबंध में परिकल्पना, 76
ग्रिगोरी, सर रिचर्ड, 63
ग्रिग्ज़ ई० एच०, 485
ग्रीन, टी० एच०, 222

घटना, 87—88

चतुर्विम, 87 एवं अनुवर्ती
चरित्र, 412, 434, 446 एवं अनुवर्ती
चादविक, 191
चिंतन, 379

चिदणु, 189, 216, 228, 249, 297
चेतना, 247, 251, 252, 272, 286—91, 317, 378 एवं अनुवर्ती
चैन्डलर, एल्बर्ट आर०, 483

जड़तत्त्व, देखिए पुद्गल
जॉन, क्रॉस के संत, 56
जॉन्सन, सेम्युल, 351
जार्जिअस, 48
जीन, 140
ज़ीनो, 332, 334
जीन्स, सर जेम्स, 44, 54, 63, 65, 67, 77, 79, 81, 92, 166, 198, 199, 207, 208, 210, 327
जीव, 97
जीव-द्रव्य, 138 एवं अनुवर्ती
जीवन, 80 एवं अनुवर्ती, 94 एवं अनुवर्ती; की उत्पत्ति, 95—97; का स्वभाव, 97 एवं अनुवर्ती; के यंत्रपरक संप्रत्यय, 98 एवं अनुवर्ती; की स्वायत्तता, 105—06, 156
जीवन-शक्ति, 114, 140, 318
जीववाद, 27, 35, 248
जीवाणु-विज्ञान, 95
जुन्ग, सी०जी० 262
जेनिन्स, एच० एस०, 111, 112, 152
जेम्स, विलियम, 7, 16, 46, 52, 61, 65, 66, 86, 186, 225, 231, 232, 237, 239, 248, 249, 251, 255, 287, 290, 294, 300, 306, 314, 315, 316, 317, 322, 327, 348, 370, 371, 373, 374, 376, 382, 383, 387, 388, 392, 396, 397, 398, 399, 400, 401, 413, 426
जैक्स, एल० पी०, 39, 210
जैनोफेन्स, 389
जैववाद (प्राणतत्त्ववाद), 98, 106 एवं अनुवर्ती
जैविक (कार्बनिक) विकास, 122, 127, 137
जोकिम, एच० एच०, 222
जोसफ, एच० डब्ल्यू० बी० 122
ज्ञान, 50, 62 एवं अनुवर्ती, 329 एवं अनुवर्ती; के स्रोत, 341—48
ज्ञान-मीमांसा, 32, 71, 329
ज्यामिति विज्ञान, 85

टफ़्ट्स, जेम्स एच०, 371, 457
टॉड, ए० जे०, 52
टान्सले, ए० जी०, 262, 263
टॉम्सन, जे०आर्थर, 19, 33, 66, 82, 102, 107, 110, 132, 134, 149, 166, 180, 191, 312, 427
टॉम्सन, जेम्स, 420
टालेमी, 64
टिन्डाल, 133, 146
टिलिऑलॉजी, 157—80
टेनिसन, 56, 141
टेरेसा, संत, 56
टेलर, ए० ई०, 122, 222, 322
ट्राइएके, एच० वान, 447

डॉट्रर, रे एच०, 34
डायोगनीज़, 422
डार्विन, इरासमस, 127

डार्विन, चार्लस, 51, 99, 107, 121, 122, 123, 125, 127, 128, 130, 131, 132, 133, 134, 135, 136, 137, 142, 146, 147, 150, 160, 164, 203, 222, 284, 308, 320, 377, 404
डार्विनवाद, 122, 130—32, 147, 308, 435
डार्विन, सी०जी०, 195, 197, 199
डाल्डेन, विस्काउंट, 170
डिडेरा, 204
डिमाक्रीटस, 9, 48, 65, 162, 184, 188, 189, 200, 201, 204, 241, 247, 320, 359
डिवी, जॉन, 40, 41, 46, 57, 59, 66, 257, 259, 342, 344, 345, 348, 369, 370, 371, 375, 386, 387, 388, 389, 457, 485
डीइज़्म, 392
डुकेस, सी० जे०, 484
डेनर, डब्ल्यू० एम०, जूनियर, 260
डेल्टन, 190
डेविड स्टार, जॉर्डन, 417
ड्यूरेन्ट, विल, 44, 119, 265, 456
ड्रीश, हन्स, 106, 107, 119, 166, 210
ड्रेक, ड्यूरेन्ट, 23, 38, 41, 112, 152 294, 305, 326, 340, 348, 362, 363, 401, 403, 456
ड्रेसर, एच० डब्ल्यू०, 457

तटस्थ एकतत्त्ववाद, 255
तटस्थवाद, 184—85, 255
तत्त्व, 190, 364—65
तत्त्व-मीमांसा, 12, 51
तत्त्वमीमांसीय द्वितत्त्ववाद, 183—84
तथ्य, 31
तदनुभूति, 474—77
तर्कबुद्धिवाद, 54, 337—38, 346—48
तात्त्विक अर्थक्रियावाद, 386

थीइज़्म, 389
थैलीज़, 8, 181, 183, 187, 202

दर्शन, का सामान्य स्वरूप, 8 एवं अनुवर्ती; की परिभाषा, 11; की व्युत्पत्ति, 11; और काव्य, 12 एवं अनुवर्ती; और विज्ञान, 20 एवं अनुवर्ती; और धर्म-मीमांसा, 35—45; की अनिवार्यता, 50—51; अनुप्रयुक्त तथा अनुप्रयुक्त विज्ञान, 52 एवं अनुवर्ती; चिंतन 55 एवं अनुवर्ती; का इतिहास, 65 एवं अनुवर्ती; का परिचय 65
दहॉल्बाख, 204
दान्ते, 13, 64, 163, 165, 414
दार्शनिक प्रकरण, 68—72
दार्शनिक सिद्धान्त, 58 एवं अनुवर्ती
दिक्, 31, 74 एवं अनुवर्ती, 83 एवं अनुवर्ती संप्रत्ययिक, 84—85; गणितीय, 85; और गुरुत्वाकर्षण, 88, 189
दिक्-काल, 86 एवं अनुवर्ती
दुरखीम, एमाइल, 40
दूरी, 84
दृश्यते इति वर्तते, 351
देकार्त, 9, 55, 65, 99, 106, 163,

164, 184, 185, 189, 243, 244, 247, 263, 279, 295, 296, 297, 302, 330, 337
दे ब्रॉग्ले, 191
दे व्रीज़, ह्यूगो, 134, 135
द्रव्य, 184, 185, 231, 243, 279
द्वीप विश्व, 76, 78
द्वैतवाद, 69, 183 एवं अनुवर्ती, 217, 242, 243 एवं अनुवर्ती, 247—48

धन इलेक्ट्रॉन, 191
धर्म-मीमांसा तथा दर्शन, 35—45; परिभाषा, 36—37; और नीतिशास्त्र, 39; की सामाजिक विशेषता, 39—43; तथा विकास 122—24; तथा अर्थक्रियावाद, 371 एवं अनुवर्ती

नन, टी० पी०, 66
नवीनतर प्राणतत्त्ववाद, 107 एवं अनुवर्ती
नव्य-वास्तववाद, 254—55, 360—62
नाइट, विलियम, 470
नाउस, 183, 188
नाभिक, 192
नॉर्थरॉप, एफ० एस० सी०, 2, 34, 340
निगमन, 59 एवं अनुवर्ती
निध्यात्मक वास्तववाद, 360
नियम, प्रकृति के, 28 एवं अनुवर्ती, 62, 118, 124, 151, 198, 310
निरपेक्ष प्रत्ययवाद, 221—22
निरपेक्ष संकल्प, 219
निराशावाद, 407—11, 414—18 419—26
निर्देश, 84
निवास-योग्य विश्व, 79 एवं अनुवर्ती
नीतिशास्त्र, 39, 71, 72, 428; तथा कला, 464
नीत्शे, 114, 404, 445
नीहारिका, 76 एवं अनुवर्ती
नीहारिका परिकल्पना, 76
नेगेली, 107
नोबल, एडमन्ड, 180
न्यूकोम्ब, साइमन, 30
न्यूटन, सर आइज़क, 30, 51, 61, 63, 86, 88, 89, 92, 99, 130 163, 194, 198, 207, 208, 213, 230, 243
न्यूट्रॉन, 191 एवं अनुवर्ती
न्यू मैन, एच० एच०, 140, 141

पफ़र, ईथल डी० 476, 485
परमतत्त्व, निरपेक्ष मनस्, 230, 470
परमाणु, 188, 190—93, 249
परमाणुवाद, 162, 188, 201, 227
परमाणुवादी, 188, 201
परामानसिकीय एकतत्त्ववाद, 299
पश्चजननवाद, 146
पाइरो, 48
पार्कर, डीविट एच०, 294, 300, 484
पॉलसन, फ्रीड्रिख़, 173, 186, 217, 218, 219, 246, 249, 305, 326, 427
पॉली, 164, 165
पॉलीथीइज़्म, 392
पावर्स, एच० एच०, 485

पास्टियर, 95
पिटकिन, वाल्टर बी॰ 360
पियर्स, चार्लस, 370
पियर्सन, कार्ल, 19, 27, 29, 30, 34 354
पुद्गल (जड़तत्त्व), 31, 57, 74, 87 एवं अनुवर्ती, 125, 182, 187—99, 235, 243, 283
पूर्व-स्थापित सामंजस्य, 297
पृथ्वी, 74 एवं अनुवर्ती
पेटन, विलियम, 115, 116, 153, 154, 155, 156, 267, 401
पैट्रिक, जी॰ टी॰ डब्ल्यू॰, 294
पैन्थीइज्म, 392
पैरीक्लीज़, 188
पैरी, राल्फ बार्टन, 12,15, 33, 210, 226, 255, 316, 327, 351, 360, 362, 367, 441
पोज़ीट्रॉन, 191
प्रकाश, 90, 194—95
प्रकाश का कणिका-सिद्धांत, 194—95
प्रकाश का तरंगमय सिद्धांत, 194—95
प्रकाश किरणें, 194
प्रकृति, 43
प्रकृतिवाद, 98 एवं अनुवर्ती, 202, 209, 235
प्रज्ञा, 11—12
प्रतिनिध्यात्मक वास्तववाद, 360
प्रत्यय प्लेटोवादी, 161, 189, 213, 369, 470 एवं अनुवर्ती
प्रत्ययवाद, 69, 185; प्लेटो का 213—14; लायबनित्स का, 216; सर्वचित्तवाद, 217—19; संकल्पात्मक, 219—20; कान्ट का 220—21; निरपेक्ष, 221—22; आधुनिक 222 एवं अनुवर्ती, 248—49, 283, 299, 349
प्रत्यय सत्ता युक्ति, ईश्वर की सत्ता की, 337—38, 393
प्रपंचशास्त्र, 221, 355
प्रयोगात्मक, 56, 257
प्रयोजन (उद्देश्य) 28, 141, 157—80
प्रयोजन कारण, 28, 162, 178
प्रयोजन (प्रकृति में) 157 एवं अनुवर्ती
प्रयोजनात्मक प्रमाण, ईश्वर की सत्ता का, 393
प्रसंगवाद, 297
प्राकृतिक चुनाव, 99, 108, 130, 134, 142 एवं अनुवर्ती
प्राक्कल्पना, 59—62
प्राणतत्त्ववाद, देखो जैववाद
प्राथमिक गुण, 358, 359—60
प्राल, डी॰ डब्ल्यू॰, 441, 485
प्रिन्स, मार्टन, 305
प्रेट, जेम्स बी॰, 37, 46, 264, 305 362, 405
प्रोटॉन, 192
प्लॉटीनस, 56, 243, 470
प्लेटो, 8, 14, 31, 44, 48, 65, 114, 162, 178, 179, 183, 186, 188, 189, 204, 213, 214, 216, 222, 228, 235, 241, 242, 243, 264, 267, 270, 293, 329, 362, 392, 398, 425, 444, 468, 470, 482
प्लैन्क, मैक्स, 7, 25, 34, 48, 62, 63, 191, 197, 324, 327

फॉक्स, जॉर्ज, 56
फिख्टे, 114, 173, 221, 222, 227, 249
फित्सगेराल्ड, ई०, 91
फीगल, हर्वर्ट, 366
फेख्नर, 114 173, 218, 250
फेरियर, जे० एफ०, 329
फैराडे, माइकल, 63
फोटॉन, 195
फ्रॉमेन चार्लस, 412
फ्रॉयड, 250, 251, 261, 262

बटलर, सेमुअल, 217
वरवेन्क, लूथर, 32, 284
वर्कले, जॉर्ज, 214, 215, 216, 219, 220, 330, 350, 351, 353, 354, 355, 356, 357, 398
वर्गसाँ, हेनरी, 56, 97, 105, 112, 114, 115, 119, 149, 248, 264, 269, 270, 300, 304, 306, 314, 317, 318, 319, 322, 327, 335, 336, 404
बर्ड, एम० एच०, 485
बर्थाउड, एलफ्रेड, 199
बर्नहार्डी, 447
बर्मन लुइस, 267
बूल, 125, 206
बस्से, गर्ट्रूड कार्मेन, 314, 317, 326
बहुतत्त्ववाद, 69, 182, 185, 228—37
बाइरन, 13, 420
ब्राउने, बोर्डेन पी०, 173, 222, 223
बार्टन, जी० ए०, 46
बाह्य जगत्, 62, 197, 350 एवं अनुवर्ती, 360 एवं अनुवर्ती
बाह्य संबंध, 361
बीक्वेरल, 191
बीथोवन, लुडविग वान, 284, 460
बीमे, जाकोव, 56
बुद्धि, 258, 272, 378
बुश, वेन्डेल टी०, 286
बूडिन, जोन ई०, 150, 156, 180, 405
वेकन, फ्रैंसिस, 38, 58, 65, 163
वेन्थम, जर्से, 438
वेलफोर, लार्ड आर्थर जे०, 391, 411
बैबिट, इर्विन्ग, 155, 485
बैरेट, विलफर्ड एल०, 442, 457
बैल, ऐरिक टैम्पल, 389
बोइस- रेमन्ड, एमिल डु, 295
बोट्रॉक्स, एमाइल, 320
बोडे, एच० बायड, 258, 294, 371, 378
बोर, नील, 63, 191
बोर परमाणु, 191 एवं अनुवर्ती
बोरिन्ग, एडविन जी, 261
बोरो, जॉन, 108, 143, 144
बोर्न, 191
बोसान्क्वेट, बर्नर्ड, 31, 174, 178, 222, 225, 294, 322, 365, 447
बौद्ध दर्शन, 419
ब्रह्मांडीय किरणें, 194
ब्रह्मांडीय विकास, 103, 121, एवं अनुवर्ती, 125—26, 150
ब्राइटमैन, एडगर एस०, 45, 180, 457
ब्राउन, हैरल्ड सी०, 371
ब्राउनिन्ग, राबर्ट, 12, 13, 49, 391, 404, 414, 418

ब्रॉड, सी०डी०, 16, 21, 34, 86, 93 112, 305, 327, 348
ब्रिजमैन, पी० डब्ल्यू०, 323, 325
ब्रिफाल्ट, रॉबर्ट, 424
ब्रिल, ए० ए०, 262
ब्रूनो, 9, 114, 163
ब्रेडले, एफ० एच०, 173, 222, 249, 398
ब्रेनटानो, एफ०, 261
ब्लेक, विलियम, 404

भविष्य, 86
भावना, 241
भू-केंद्रीय सिद्धांत, 81
भूत, 86
भूतजीववाद, 202
भेद, 130, 135, 137
भौतिकवाद (जड़वाद), 69, 98 एवं अनुवर्ती, 184, 193, 200—202, 246—47, 283

मन और शरीर, 295—304
मनस्, 31, 57, 69—70, 97 एवं अनुवर्ती, 156, 161, 178, 183, 188, 212, 238 एवं अनुवर्ती; का सिद्धांत, आदिम, 241; प्लेटो का, 241—42; अरस्तू का, 242—43; देकार्ते का 243—44; ह्यूम का, 244—45; कान्ट का 245—46; भौतिकवादी, 246—47; द्वितत्त्ववादी अथवा जीववादी, 247—48; प्रत्ययवादी, 248—49; द्विपक्षीय, 249—50; नवीनतर, 250—52; वस्तुपरक, 252—53; व्यवहारवादी, 254; नव्य-वास्तववादी 254—57; अर्थक्रियावादी, 257—60; गेस्टाल्ट, 260—61; फ्रायड, 261—63; तीन पक्ष : क्रियात्मक, 266—72; मानसिक प्रक्रियाएँ, 272—86; चेतना, 286—91; 280 एवं अनुवर्ती; शरीर का प्रतिफल, 284—85; आत्मा के रूप में, 285—86; उद्गामी, 300—04
मनस्-उपादान, 25, 49
मनोवाद, 215
मनोविज्ञान, 239 एवं अनुवर्ती, 250 254
मरे, गिल्बर्ट, 44
मरे, डेविड लैस्ली, 385, 389
मर्फी, जेम्स, 197
माच, अर्न्स्ट, 354
मानवतावाद, 368, 371
मानवत्वारोपण, 26, 206, 394
मानसिक क्रियाएँ, 253
मॉन्टेग्यु, डब्ल्यू ०पी०, 15, 290, 339, 346, 360, 376, 385, 477
माप, 62
मारविन, डब्ल्यू० टी०, 27, 360
मॉरिस, सी० डब्ल्यू०, 264, 389
मॉर्गन, टी० एच०, 139
मॉर्गन, सी० लॉयड, 112, 115, 151 156, 166, 301
मार्गेनो, हैनरी, 34
मार्विन, एफ० एस० 460
मार्शल, हैनरी रूजर्स, 477, 484
मिकल्सन-मोर्ले प्रयोग, 90—91

मिन्कोस्की, एच० 88
मिल, जॉन स्टूअर्ट, 27, 163, 427, 438, 439, 457
मिलीकन, रॉबर्ट ए०, 93, 166, 191 195, 199, 406
मिल्टन, जॉन, 394
मिल्स, जोन, 22
मीड, जी०एच०, 371
मुइरहैड, जे० एच०, 54
मूर, ए० डब्ल्यू०, 371, 389
मूर, जार्ड स्पार्क्स, 20
मूर, जी० ई०, 360, 362 384
मूर, बेन्जामिन, 104, 108
मूल-प्रवृत्तियाँ, 267
मूल्य, 37 एवं अनुवर्ती, 53, 71, 156, 162, 169, 178, 182, 226, 235, 284 एवं अनुवर्ती, 402—03, 428 एवं अनुवर्ती, 441 एवं अनुवर्ती, 445, 482 एवं अनुवर्ती
मूल्यांकन, 282
मेकफार्लेन, जे० एम०, 108
मेकब्राइड, अर्नेस्ट विलियम, 109, 119
मेक्टेगर्ट, जे० एम० ई०, 222, 223, 322
मेक्डूगल, विलियम, 112, 152, 166, 186, 241, 248, 252, 264, 267, 298, 305, 321
मेक्सवेल, जे० सी, 90
मेजर, डी० आर, 293
मेदर, के० एफ०, 166
मेन्डॅल, 102, 138, 139
मेयर, मेक्स एफ०, 205, 254
मैलेब्रान्श, निकोलस, 296
मैक्केय, जेम्स, 93
मैक्कोनेल, फ्रांसिस जे०, 406
मैक्गिफर्ट, आर्थर सी०, 46
मैक्गिलवेरी, ई० बी०, 290
मैटरलिन्क, 455
मैथ्यूज़, एल्बर्ट पी०, 108
मैसन, फ्रांसिस, 166
मैसिन्तोश, डी० सी०, 67, 384
मोनोथीइज़्म, 392
मोर, एल० टी०, 34
मोरिस, जी० एस०, 222
मोरे, पॉल एल्मर, 179
मोलिरे, 99
मोलेशॉट, 204
म्युन्स्टरवर्ग, ह्यूगो, 220

यथार्थता, 162
यांत्रिकतावादी जगत् विषयक मत, 200—10
यांत्रिकत्व, 91, 98 एवं अनुवर्ती, 140
यूकेन, रुडोल्फ, 320, 398
यूक्लिड, 51, 85, 230
यूरिपिडीज़, 12
योग्यतम की जीविता, 130

रन्डल, जे० एच०, जूनियर, 210
रशडाल, एच०, 223, 427
रसल, बर्ट्रन्ड, 27, 49, 67, 199, 287, 291, 311, 327, 348, 354, 367, 389, 411
रस्किन, 471
रहस्यवाद, 56 एवं अनुवर्ती, 334, 395
राइट, डब्ल्यू० के०, 45, 326, 405, 427
रॉजर्स, आर्थर कैनियन, 226, 362, 389, 411

रॉन्जन, डब्ल्यू०, 191
रॉबिन्सन, जेम्स हार्वे, 348
रॉबिन्सन, डी०, एस०, 264
रॉयस, जोसिया, 31, 46, 51, 65, 173, 179, 222, 225, 226, 232, 249, 294, 327, 389, 392, 398, 406, 426, 450, 457
रॉवेल, चैस्टर, 4, 6
रॉस, ई० ए०, 410
रिचर्डसन, सी० ए०, 237
रिटर, डब्ल्यू० ई०, 106, 112
रुचि, 267, 440 एवं अनुवर्ती
रूदरफोर्ड, सर अर्नेस्ट, 191
रूपांतरित वास्तववाद, 360
रूसो, जे० जे०, 404
रेनक, सालोमन, 46
रेफेल, 414
रेसर, ऑलिवर एल०, 261
रोहरबाफ, एल० जी०, 82

लन्गेर, सुसेन के०, 16
ललित कला, 462
लवज्वॉय, आर्थर ओ०, 112, 152, 259, 260, 362, 389
लांगडन-डेविस, जॉन, 78
लाइटन, जे० ए०, 186, 265, 294, 345, 367, 457
लॉक, जॉन, 65, 251, 329, 330, 339, 341, 342, 358, 359, 360
लॉज, सर ऑलीवर, 166
लॉजिकल पॉज़ीटिविज़्म, 366
लात्से, 173, 248
लॉयब, 99, 119, 180, 205
लायबनित्स, 65, 163, 189, 216, 228, 229, 249, 297, 330, 337, 374, 418
लारेन्स, 91
लालसा, 54
लिनाओस, 130
लिन्कन, एब्राहम, 414, 439
लिपमान, वाल्टर, 443, 457
लिप्स थ्योडर, 474
लूथर, 436
लेक, किर्सोप, 46
लेड, जार्ज० टी०, 35, 248
लेन, एच० एच०, 132
लेन्ज़न, वी० एफ०, 93, 197, 326
लेमेट्रे, 204
लेयड, जोन, 274, 278, 294
लेविस, जार्ज हैनरी, 301
लेवेरिये, 64
लेसिंग, 54
लैंगफेल्ड, हर्बर्ट सिडनी, 474, 475, 484
लैरेबी, एच० ए०, 16
लोटका, अलफ्रेड जे०, 122
ल्यूक्रेटियस, 12, 95, 163, 184, 189, 201, 204, 320, 413, 464
ल्यूबक, सर जॉन, 418
ल्यूबा, जे० एच०, 46
ल्यूसिपस, 188, 204

वर्ड्सवर्थ, विलियम, 12, 13, 56, 395
वर्तमान, 86
वर्ती, 234
वर्दाइमर, एम०, 260
वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद, 220, 221—22, 349

वाइज़, ए०, पी०, 100, 205
वाइज़मन, 133, 138
वॉग्त, 204
वॉट्सन, जॉन बी०, 119, 205, 227, 254, 265, 275, 277
वॉट्सन, विलियम, 123
वारेन, हॉवर्ड सी०, 250, 256, 257, 260, 264
वार्जिल, 13
वार्ड, जेम्स, 34, 52, 132, 210, 217, 223, 249, 316, 320, 427
वाल, जीन, 237
वालेस, अलफ्रेड रसेल, 130
वॉल्टेयर, 163
वास्तववाद, 233 एवं अनुवर्ती, 349, 359—66
वास्तविकता, 181—86
विकास, 99 एवं अनुवर्ती; —का दर्शन, 120—32; —तथा धर्म मीमांसा 122—24; —केवल एक प्रणाली की भाँति, 124; —डर्विन के समय से, 133—156; शब्द का सामान्यीकृत दुष्प्रयोग, 144 एवं अनुवर्ती; मनुष्य का—148 एवं अनुवर्ती; —एक व्यूह-रचना के तौर पर, 153—55
विकिरण, 194
विज्ञान, और दर्शन, 20 एवं अनुवर्ती; और प्रकृति के नियम, 28 एवं अनुवर्ती; अनुप्रयुक्त, 32 एवं अनुवर्ती; एवं प्रणालियाँ, 55 एवं अनुवर्ती
विद्युत्, 193
विद्युत् आकर्षक सिद्धांत, 90
विन्डलवेन्ड, विल्हेल्म, 175, 177, 279, 388
विमर्शात्मक चिंतन, 57 एवं अनुवर्ती
विलसन, ई० बी० 103
विश्लेषण, 361
विश्व, 31, 68, 73 एवं अनुवर्ती
विश्व का प्रसार, 78 एवं अनुवर्ती
विश्व-कारण युक्ति, ईश्वर की सत्ता की 393
विश्व मनस्, 173 एवं अनुवर्ती, 221—22, 248
विश्व-विज्ञान, 68, 73
विषयिनिष्ठ आदर्शवाद, 214—16, 349
विषयिनिष्ठवाद, 349 एवं अनुवर्ती
वुडब्रिज, एफ० जे० ई०, 280, 281, 287, 290, 294
वुन्ट, विल्हेल्म, 37, 114, 147, 173, 220
वेन्ले, आर० एम०, 427
वेल्स, एच० जी०, 423, 424
वेस्टरमार्क, ई०, 406, 456
वैज्ञानिक प्रणाली, 57 एवं अनुवर्ती
वोल्फ, क्रिश्चियन, 330, 337, 338
व्यक्तित्व, 277—79
व्यक्तिवाद, 223
व्यवहारवाद, 251, 254, 256
व्हाइटहेड, एल्फ्रड नॉर्थ, 66, 113, 141, 150
व्हीलर, रेमन्ड होल्डर, 261

शरीर, इसका मन से संबंध, 295—304
शॉपेनहावर, 114, 219, 220, 249, 414, 415, 427, 470, 471, 482, 485

शॉ, वर्नार्ड, 14, 109, 404
शिअरमेन, जे० एन०, 164
शिलर, एफ० सी० एस०, 320, 371, 378, 385, 389
शिलर, जे० सी० एफ०, 466, 472, 473
शुभ, 161, 428 एवं अनुवर्ती
शेक्सपियर, 13, 160, 284, 414
शेलिन्ग, 114
शैपले, हार्लो, 82
शैरिन्गटन, सी० एस०, 294
शैली, 13, 56, 459
श्टूम्फ, 248
श्रोडिन्गर, 63, 191

संकल्प, 219—20, 320 एवं अनुवर्ती
संकल्प-स्वातंत्र्य, देखिए स्वातंत्र्य
संगति, 381
संगीत, 481
संदेह, 49
संप्रत्ययों का विश्लेषण, 23 एवं अनुवर्ती, 335—36; करणों के रूप में, 369
संबंध, 361
संवादिता सिद्धांत, 379—81
संशयवाद, 48—50, 332—34
संसक्तता सिद्धांत, सत्य का, 381—82
सत्तामीमांसा, 68—69, 181, 193
सत्य, 379—85
सन्तायना, जार्ज, 38, 268, 347, 362, 364, 406, 442, 484
समग्राकृति सिद्धांत, देखिए गेस्टाल्ट सिद्धांत
सर्वचित्तवाद, 217—19, 299
सली, जेम्स, 427
सलीवन, जे० डब्ल्यू० एन०, 44
सांख्यिकीय लक्षण, प्रकृति के नियमों के 198
सांतता, 74
सॉक्रेटीज़, 14, 48, 161, 163, 165, 329, 419, 438, 439, 440, 459
साधन तथा साध्य, 169
साध्य, 28
साफो, 13
सालिप्सिज़्म, 353
सिन्क्लेयर, मे, 226
सीशोर, कार्ल ई०, 481
सुंदर (कला तथा सौंदर्यशास्त्र भी देखिए), 161, 282, 458, 468 एवं अनुवर्ती, 477 एवं अनुवर्ती
सुंदरता, 477 एवं अनुवर्ती
सुख, 413, 438 एवं अनुवर्ती
सुखवाद, 437—40
सृजन, 78 एवं अनुवर्ती, 123, 147
सृजनात्मक विकास, 97, 146—47, 150—152
सृजनात्मक संश्लेषण, 109 एवं अनुवर्ती 178, 212, 234, 284
सेलर्स, रॉय वुड, 93, 112, 119, 186, 203, 210, 305, 339, 348, 362
सेवोनारोला, 436
सोफोक्लीज़, 12, 409, 436
सोमरफेल्ड, 191
सौंदर्यपरक अनभव, 468 एवं अनुवर्ती 477—480
सौंदर्यपरक अभिवृत्ति, 464 एवं अनुवर्ती, 467
सौंदर्यपरक आनंद, 458 एवं अनुवर्ती,

473, 475, 477
सौंदर्यशास्त्र, 71—72, 459—484
सौर-मंडल, 75 एवं अनुवर्ती
स्टर्ट, एच०, 223, 327
स्टाउट, जी० टी०, 223
स्टारबक, एडविन बी०, 46
स्टीवेन्सन, राबर्ट लूइस, 231
स्टुअर्ट, एच० डब्ल्यू०, 371
स्टेस, डब्ल्यू० टी०, 340, 484
स्टोइक, 14, 48, 398
स्टोरी, मिं० जस्टिस, 425
स्ट्रांग, सी० ए०, 217, 249, 305, 362
स्तरों का सिद्धांत, 109—13, 234, 284, 301
स्थित, 234
स्पाल्डिन्ग, एडवर्ट ग्लीसन, 233, 234, 236, 237, 291, 305, 348, 360, 362, 403
स्पिनोज़ा, 9, 51, 65, 114, 163, 185, 235, 250, 297, 330, 337, 398
स्पिरिट, 241
स्पीयरमैन, सी० ई०, 484
स्पेन्गलर, ओसवल्ड, 426, 427
स्पेन्सर, हूर्बर्ट, 9, 11, 50, 66, 99, 101, 114, 122, 125, 126, 145, 147, 360, 398, 466, 472, 473
स्मट्स, जे० सी० 149, 156
स्मिथ, विलियम बेन्जेमिन, 180
स्मिथ, टी० वी०, 54
स्लॉसन, एडविन ई०, 88
स्वत: उत्पादन सिद्धांत, 95
स्वत: चालन, 311
स्वत्व, 244 एवं अनुवर्ती
स्वातंत्र्य, 25, 196, 221, 234, 306—07, 309, 313; बर्गसाँ के मत में, 317—19, 319—26
स्वान, डब्ल्यू० एफ० जी०, 81, 93, 118, 119, 199
स्विनबर्न, 13
स्वेन, रिचर्ड ला रू, 406

हक्सले, जुलियन, 166
हक्सले, टॉमस, 50, 99, 133, 247, 354
हन्ट, लाय, 416
हबल, ई० पी०, 74, 76
हमबोल्ट, ए० वॉन, 284
हाइसन्बर्ग, डब्ल्यू० (अनिश्चितता का नियम भी देखिए), 25, 63, 92 191, 207, 323
हाउसटन, डेविड एफ०, 424
हॉकिन्ग, डब्ल्यू० ई०, 210, 405
हॉफडिन्ग, हैराल्ड, 298
हॉबहाउस, एल० टी०, 116, 175, 180, 264, 271, 457
हॉब्स, 163, 204, 438
हार्टमान, एडुअर्ड वॉन, 114
हार्डी, टॉमस, 420
हाल्डेन, जे० एस०, 101, 107, 119, 210, 264
हॉवीसन, जी० एच०, 222, 223, 237
हिराक्लीटस, 187, 241
हिर्न, यर्जो, 463, 485
हीगल, 9, 114, 156, 173, 221, 222, 249, 398, 447, 470
हुसर्ल, ई०, 261

हेकेल, अर्न्स्ट, 133, 184, 201, 202
204, 247, 250
हेन्डर्सन, लारेन्स टी०, जूनियर, 81,
167, 168, 180, 269
हेर्त्स, हेनरिच, 63
हैरिसन, जेन एलन, 40
होमर, 13
होरेस, 13
होर्न्ले, आर० एफ० ए०, 119, 171,
222, 226, 282, 348
होल्ट, एडविन वी० 253, 255, 294
360
ह्यूम, डेविड, 26, 27, 49, 65, 244
245, 246, 250, 263, 264,
327, 330
ह्विट्मेन, वाल्ट, 56
ह्वीलर, विलियम मॉर्टन, 112, 117,
156, 209